व्याख्याकार
मुनि श्री हेमचन्द्र जी

सम्पादक
श्री अमर मुनि

सूत्रकृतांग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

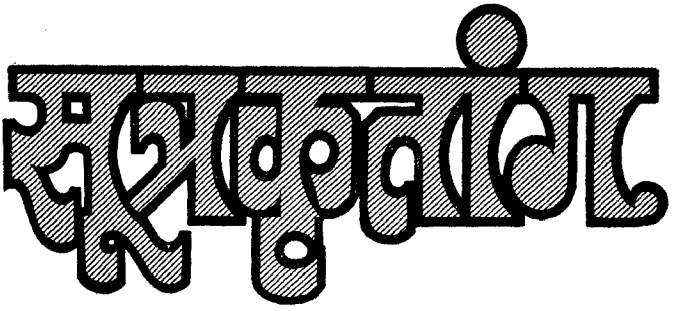

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पंचम गणधर सुधर्मास्वामि-प्रणीत

श्री सूत्रकृतांग सूत्र

[द्वितीय श्रुतस्कन्ध]

[मूल-छाया-अन्वयार्थ भावार्थ एवं अमरसुखबोधिनी व्याख्या समन्वित]

अनुवादक और व्याख्याकार

पंडितरत्न श्री हेमचन्द्रजी महाराज

प्रेरक

नवयुगसुधारक पंडित श्री पदमचन्दजी म० 'भंडारी'

प्रधान सम्पादक

प्रवचन भूषण अमर मुनि

सह-सम्पादक

मुनि श्री नेमिचन्द्रजी

प्रकाशक

आत्म-ज्ञान-पीठ; मानसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनधर्म दिवाकर आगमरहस्यवेत्ता स्व० आचार्य सम्राट श्री आत्मारामजी महाराज
की जन्म शताब्दी (वि० सं० २०३९) के उपलक्ष्य में प्रकाशित

☐ **श्री सूत्रकृतांग सूत्र** (द्वितीय श्रुतस्कंध)

☐ **अनुवादक एवं व्याख्याकार**
पंडितरत्न श्री हेमचन्द्रजी महाराज

☐ **सम्पादक**
प्रवचनभूषण श्री अमरमुनिजी महाराज

☐ **प्रकाशक**
आत्म-ज्ञानपीठ
जैन-धर्मशाला
मानसा मण्डी (पंजाब)

☐ वीर नि० संवत् २५०७
वि० सं० २०३८ माघ, वसन्त पंचमी
ई० सन् १९८१, फरवरी

☐ **मुद्रक**
श्रीचन्द सुराना (आगरा) के निदेशन से
प्रिंट सेंटर, आगरा

● **मूल्य** : लागत मात्र ३५) पैंतीस रुपया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समर्पण

जिन की साधना की निर्मल पवित्र ज्योति
जन-मन में व्याप्त अज्ञान, कषाय के अन्धकार को
दूर करने में सतत प्रज्वलित रही
जिनकी समता, फक्कड़पन और त्याग भावना
हजारों श्रद्धालुओं के मन को अभिभूत किया,
उन

स्थविरपद भूषित परम श्रद्धेय, तपोयोगी

स्वामी श्री जयरामदासजी महाराज

की

पावन-स्मृति में

सविनय, सभक्ति

—अमर मुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तपोधनी स्व० श्री जयरामदास जी महाराज
(बाबा जी महाराज)

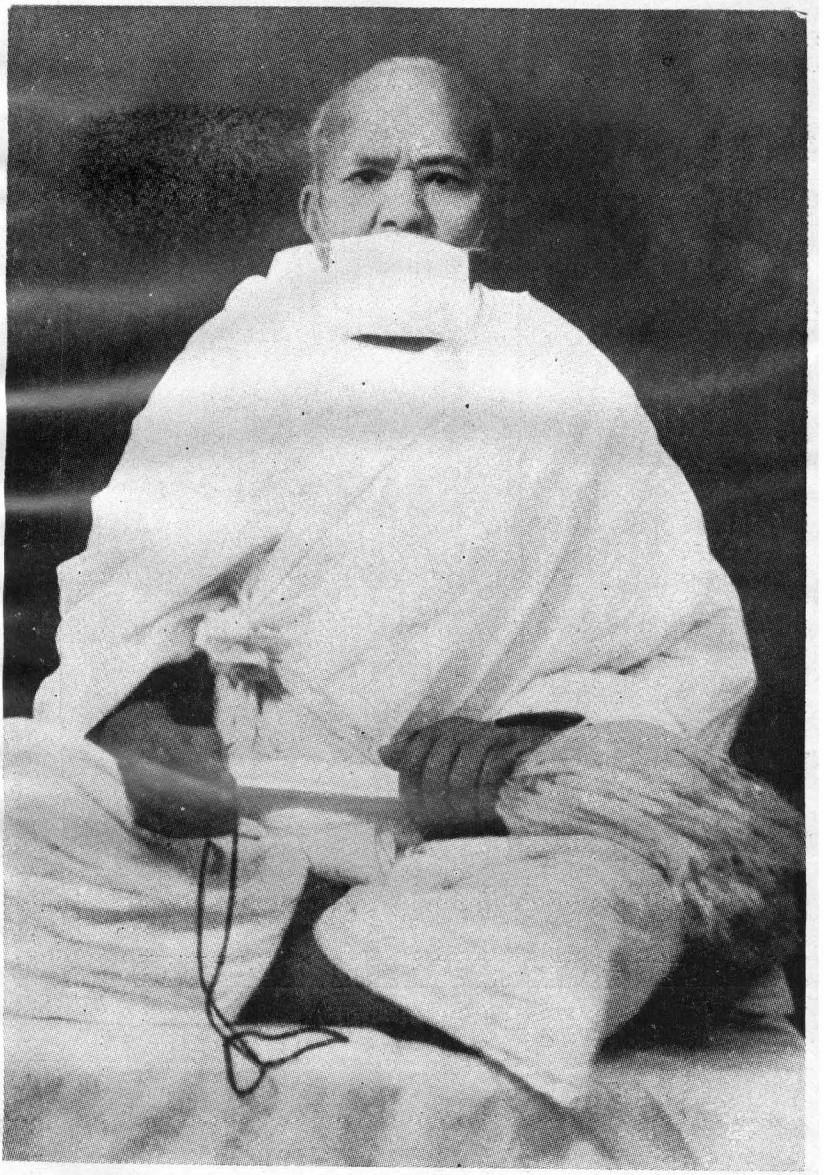

जन्म :
रूपाहेड़ी

दीक्षा :
माछीवाड़ा

स्वर्गवास :
लुधियाना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

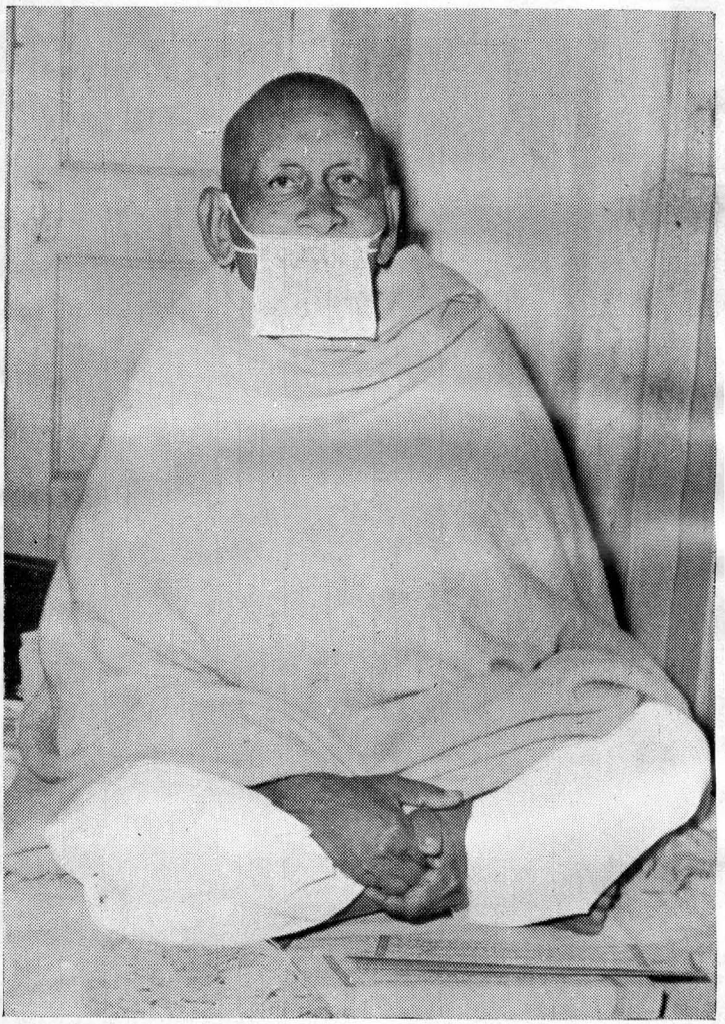

श्रुतविशारद, पण्डित रत्न

श्री हेमचन्द्र जी महाराज

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महान तपोयोगी स्वामी श्री जयरामदासजी म०

[जीवन परिचय]

भगवान महावीर ने कहा है—

जहा पोमं जलेजायं नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तं कामेहिं तं वयं बूम माहणं॥

जिस प्रकार कमल जल में पैदा होकर भी जल से अलिप्त—ऊपर रहता है। वैसे ही संसार में जन्म लेकर जो साधक संसार की विषय-वासना से अलिप्त—निर्लेप रहता है, उसे हम ब्राह्मण/श्रमण कहते हैं।

वास्तव में साधक वही है जो संसार में रहता हुआ भी संसार से मुक्त—विरक्त रहता है। स्वर्गीय तपोयोगी स्वामी श्री जयरामदासजी म० भी एक ऐसे ही निर्लेप—निःस्पृह कमल-सम जीवन जीने वाले आदर्श साधक थे।

आपका जन्म वि० सं० १९२० में रूपाहेड़ी ग्राम (पंजाब) में हुआ। आपके पिता श्री नोखामलजी वैश्य वंश के सम्मानित सद्गृहस्थ थे। माता श्री भोलीदेवी परम धर्मशीला थी।

नोखामलजी के तीन पुत्र व एक पुत्री थी। श्री जयरामदासजी सबसे बड़े थे। छह वर्ष की आयु में आप गाँव की पाठशाला में विद्याध्ययन हेतु गये। बचपन से ही आप सरल-विनम्र वृत्ति के थे। बुद्धि बड़ी तीव्र थी और आप गुरुजनों के आज्ञाकारी थे। इसलिए जल्दी ही पढ़-लिखकर होशियार हो गये।

श्री जयरामदासजी के पूर्वजन्म के ऐसे शुभ संस्कार थे कि वे बचपन से ही विरक्त और शांत स्वभाव के थे। संसार के खेल-कूद, खान-पान, विषय-तृष्णा आदि में उन्हें कोई दिलचस्पी और लगाव नहीं था। सदा एकान्त में बैठना, प्रभु नाम स्मरण करना, शान्ति और प्रसन्नता से मुस्कराते रहना, किसी प्रलोभन या लालच में नहीं फँसना—यह आपके स्वाभाविक गुण थे।

तीव्र बुद्धि, सुडौल गौर गठित शरीर, तेजस्वी आँखें और निखरता रंग-रूप—सब को बहुत ही प्यारा लगता था। माता-पिता ने विवाह करने की बात की तो जयरामदासजी ने स्पष्ट इन्कार करके संसार-विरक्ति और साधु बनकर आत्म-साधना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने की तीव्र इच्छा प्रकट की। माता-पिता और परिवार के बहुत आग्रह पर भी आप अपनी दृढ़ भावना से चलित नहीं हुए। पक्का वैराग्य साधना का मार्ग स्वयं ही ढूँढ़ लेता है। आखिर आप भी एक दिन घर से निकल पड़े, गुरु की खोज में। एक मन्दिर में पहुँचे, एक सनातनी संत के दर्शन हुए। आपने साधु बनने की इच्छा प्रकट की। संत आपके सुन्दर तेजस्वी रूप व विनम्र बुद्धिशाली स्वरूप को देखकर पुलकित हो गये। आप सनातनी साधु बन गये।

गुरुजी ने नये साधु को अपने नियम आदि समझाये। उन्हें अपने साधुओं के विशाल डेरे पर—मीलपुर ले गये। यह मीलपुर राजपुरा से लगभग दो माइल दूर है। गुरुजी इस डेरे के महंत थे। गाँव में उनका बड़ा प्रभाव था। जयरामदासजी को योग्य समझकर उन्होंने डेरे का महंत बना दिया और स्वयं अन्यत्र यात्रा पर चले गये। जयरामदासजी का प्रभाव शीघ्र ही बड़ी तेजी से बढ़ता गया। सर्व-साधारण इन्हें 'बाबाजी' के नाम से ही जानने लगे। आपका बाबाजी नाम इतना लोकप्रिय व प्रसिद्ध हो गया कि जैन साधु बनने के बाद भी आप 'बाबाजी महाराज' नाम से पुकारे जाते थे।

हाँ तो, बाबाजी महाराज के एक मित्र थे पंडित जीवाराम। ये विद्वान भी थे, और साधु-सन्तों का सत्संग भी करते रहते थे। बाबाजी महाराज भी तत्त्वजिज्ञासु और ज्ञान की खोज में लगे हुए थे। पं० जीवारामजी से आपकी ज्ञान-चर्चा होती रहती थी।

पं० जीवारामजी ब्राह्मण होकर भी जैन सन्तों से विशेष प्रभावित थे। वे सभी ज्ञानी और चारित्रवान साधुओं की भक्ति करते, जैन साधुओं के आचार-विचार व ज्ञान के प्रति वे खास श्रद्धा और सम्मान रखते थे।

पं० जीवारामजी एक बार राजपुरा गये। वहाँ परम श्रद्धेय आचार्य पूज्यश्री मोतीरामजी महाराज के विद्वान शिष्य श्रद्धेय स्वामी गणपतिरायजी विराजमान थे। आप त्याग-वैराग्य की साकार मूर्ति थे। ध्यान-तप-जप के पहुँचे हुए अभ्यासी थे। पं० जीवारामजी स्वामी गणपतिरायजी महाराज के सत्संग में आये तो बस, मुग्ध हो गये। आपके साथ ज्ञानचर्चा करके और आपकी पवित्र आचार क्रिया, साधना देखकर पं० जीवारामजी उनके भक्त बन गये।

पं० जीवारामजी एक दिन रात के समय बाबाजी महाराज के सत्संग में आये। चर्चा चलने पर उन्होंने स्वामी गणपतिरायजी महाराज की प्रशंसा करते हुए कहा—साधु हो तो वैसा ही हो, बहुत ही त्यागी, विरागी और विद्वान! स्वामीजी की प्रशंसा सुनकर तत्त्वजिज्ञासु बाबाजी का मन भी उनके दर्शनों के लिए लालायित हो उठा। वे भी स्वामीजी के सत्संग के अवसर की प्रतीक्षा करने लगे।

बाबाजी महाराज अकेले ही राजपुरा पहुँच गये और स्वामीजी के निवास-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थान पर जाकर दर्शन किये। स्वामीजी का ओजस्वी-तेजस्वी व्यक्तित्व देखकर मुग्ध हो गये। अध्यात्मचर्चा करके तो बाबाजी का हृदय ही पिघल गया। आपने प्रार्थना की—"महाराज ! मुझे तो अपना शिष्य बना लीजिए।"

स्वामीजी म० ने कहा—"आप सनातनी साधु हैं, डेरे के महंत हैं। अभी जैन धर्म से परिचय हुआ है। जैन साधुओं के कठोर आचार-विचार का निभा पाना बड़ा कठिन है। अभी अपने मन को तोलिए।"

किंतु सच्चा वैराग्य और सच्ची श्रद्धा कभी कष्टों की परवाह नहीं करते।

कुछ दिनों बाद स्वामीजी म० अम्बाला पधारे। बाबाजी महाराज अब उनका शिष्यत्व स्वीकार करने को आतुर थे। अतः अपने डेरे का प्रबन्ध किसी अन्य साधु को सौंपा और स्वयं वहाँ से मुक्त होकर अम्बाला स्वामीजी म० के चरणों में आ डटे। स्वामीजी म० ने आपकी दृढ़ भावना, विरक्ति, कष्टसहिष्णुता और ज्ञान-पिपासा देखकर कुछ तत्त्वज्ञान, प्रतिक्रमण आदि सिखाया, साधु आचार का ज्ञान कराया और वि० सं० १९४४ माछीवाड़ा (जि० लुधियाना) में आपको जैन-दीक्षा दे दी।

बाबाजी महाराज ने अपने ज्ञानी गुरुदेव से शास्त्रों का अध्ययन किया। और मन-वचन-कर्म से साधना में जुट गये।

आपके जीवन में सेवा का बहुत ही विशिष्ट गुण था। पूज्य श्री मोतीरामजी म० तथा श्रद्धेय स्वामी गणपतराय जी महाराज की आपने तन-मन से एकनिष्ठ होकर सेवा की। इसी कारण स्वामीजी म० की कृपादृष्टि आप पर विशेष रूप में हुई। गुरु-कृपा के परिणामस्वरूप श्री बाबाजी महाराज के जीवन में अनेक विशिष्टताएँ आ गईं।

श्री बाबाजी महाराज की सेवा-भावना अद्वितीय थी। अपने गुरुजनों की ही नहीं, किंतु हरेक साधु-साध्वी की सेवा में स्वयं को झोंक देते थे। ७० वर्ष की वृद्धावस्था में भी वे वृद्ध-युवा-रुग्ण एवं नवदीक्षित साधु-साध्वियों के लिए आहार लाकर देते, वस्त्र-पात्र-रजोहरण आदि भी उन्हें लाकर देते। हर प्रकार से सभी सन्त-सतियों की सेवा करके वे महान पुण्यों का अर्जन करते।

आपकी अक्षर-लिपि भी बहुत सुन्दर थी। कथावाचक सन्तों को भजन आदि लिखकर देते। शास्त्र भी लिखते। आपके अक्षर मोती जैसे सुघड़ थे। स्व० पूज्य गुरुदेव आचार्य सम्राट आत्मारामजी महाराज तो बाबाजी महाराज द्वारा लिखे हुए शास्त्रों का स्वाध्याय किया करते थे। शास्त्र-सेवा के क्षेत्र में श्री बाबाजी महाराज की यह सेवा चिरस्मरणीय रहेगी।

श्री बाबाजी महाराज का जीवन अनेक चमत्कारों से भूषित था। आपकी उच्चकोटि की अध्यात्म-साधना, निस्पृहता और सरलता तथा सेवा-भावना के कारण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आपका जीवन सिद्धयोगी जैसा बन गया। आपके विषय में प्रसिद्ध था कि बाबाजी महाराज की वाणी अमोघ वाणी थी। आपकी वैराग्य भाव से ओत-प्रोत वाणी श्रोता के मन को वैराग्य सरोवर में निमग्न कर देती। आपश्री की वाणी से प्रभावित होकर अनेक व्यक्तियों ने साधना-पथ पर चरण बढ़ाये और जीवन सफल किया। जिस पर भी आपकी कृपादृष्टि हो जाती वह निहाल हो जाता।

मेरे गुरुदेव श्री भंडारी पदमचन्दजी महाराज पर पूज्यश्री बाबाजी महाराज की विशेष कृपादृष्टि रही। पूज्य गुरुदेव ने भी तन-मन समर्पित करके पूज्य बाबाजी की सेवा बजाई, जो चिरस्मरणीय है। इस सेवानिष्ठा की प्रशंसा आचार्य सम्राट स्व० श्री आत्मारामजी म० ने भी अपने श्रीमुख से की थी।

बाबाजी महाराज का स्वर्गवास वि० सं० १९९५ बुधवार को लुधियाना में हुआ। उस समय आपकी सेवा में पूज्यपाद आचार्य सम्राट आत्मारामजी महाराज, पं० श्री हेमचन्द्रजी म०, स्वामी प्रेमचन्द्रजी म०, भंडारी श्री पदमचन्दजी म० आदि मुनिराज थे।

स्व० बाबाजी महाराज के प्रमुख शिष्य थे महान् सेवाभावी चारित्रनिष्ठ स्वामी शालिग्राम जी महाराज। जैनधर्म दिवाकर आचार्य सम्राट श्री आत्मारामजी महाराज आपके ही शिष्यरत्न थे। श्रद्धेय बाबाजी महाराज के दूसरे शिष्य थे स्वामी गोविन्दरामजी महाराज। आप जैन समाज में 'सेठजी' के नाम से प्रख्यात थे।

इस प्रकार श्रद्धेय बाबाजी श्री जयरामदासजी महाराज जैसे प्रतापी और त्याग-सेवा-संयम की साकार मूर्ति का संक्षिप्त परिचय पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है।

उस महान दिव्यात्मा के चरणों में कोटि कोटि वन्दना !

—अमर मुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नवयुग सुधारक धर्म-प्रसारक

भन्डारी श्री पदमचन्द जी महाराज

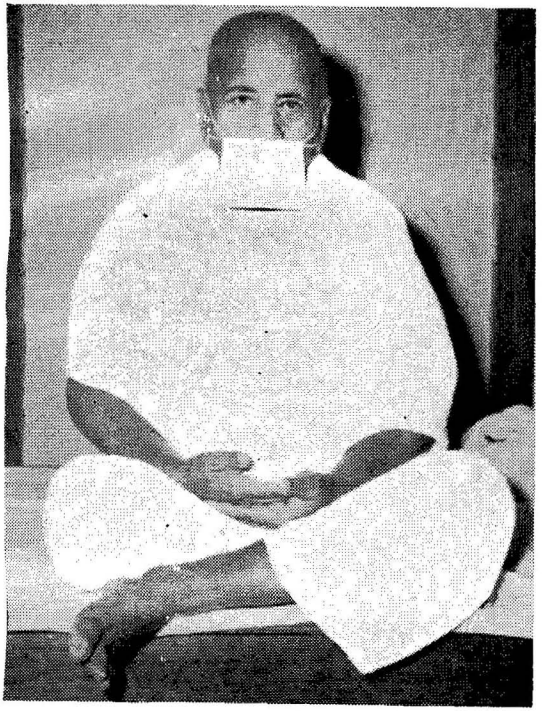

जन्म :
वि०सं० १९७४ विजयदशमी
हलालपुर (जिला, सोनीपत)

दीक्षा :
वि०सं० १९९१ माघवदी ५
(पं० श्री हेमचन्द्र जी म० के हस्त)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचभूषण श्री अमरमुनि जी महाराज

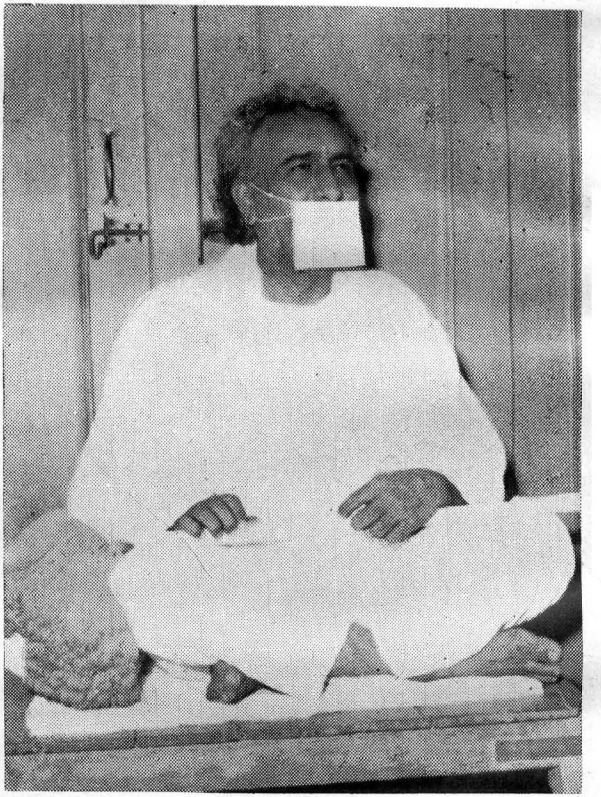

जन्म :
वि०सं० १९९२ भादोंसुदी ५
कोटा (बलोचिस्तान)

दीक्षा :
वि०सं० २००८ भादोंसुदी ६
सोनीपत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

जैनधर्म दिवाकर स्व० आचार्य सम्राट श्री आत्मारामजी महाराज ने जिन-वाणी की अपूर्व प्रभावना की थी। अर्द्धमागधी भाषागत जैन शास्त्रों का हिन्दी अनुवाद और विस्तृत टीकाएँ लिखकर उन्होंने आगमों का अमृत जन-जन के लिए सुलभ बनाने का ऐतिहासिक कार्य सम्पन्न किया था। उन्हीं की प्रेरणा व मार्गदर्शन से स्थानकवासी श्रमण परम्परा के अनेक विद्वान् मुनियों ने आगमों का सरल-सुबोध हिन्दी भाषा में सम्पादन-प्रकाशन कर श्रुतज्ञान-दान का महान् कार्य किया है। इसी परम्परा में संस्कृत-प्राकृत भाषा के मर्मज्ञ पंडितप्रवर श्री हेमचन्द्रजी महाराज ने श्री सूत्रकृतांग सूत्र का अनुवाद एवं विद्वत्तापूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है। इसका सम्पादन, पण्डितश्री जी के सुयोग्य शिष्य नवयुगसुधारक भण्डारी श्री पदमचन्दजी महाराज के विद्वान शिष्य प्रवचनभूषण श्री अमरमुनिजी महाराज ने किया है।

भंडारी श्री पदमचन्दजी महाराज जिनधर्म की प्रभावना में सदा अग्रणी रहे हैं। स्थान-स्थान पर चिकित्सालय, विद्यालय, वाचनालय, पुस्तकालय तथा असहाय सहायता केन्द्र आदि की स्थापना में प्रबल प्रेरणा देकर आप मानव-जाति की महान सेवा कर रहे हैं, साथ ही भगवान महावीर के उच्च सिद्धान्तों का सक्रिय-सजीव प्रसार कर रहे हैं। आपश्री के सद्प्रयत्नों से सम्पूर्ण मानवता धन्य हो रही है। पंजाब विश्वविद्यालय में जैन विद्या की चेयर स्थापना में भी आपश्री का मार्गदर्शन व सहयोग प्रमुख रहा है। पंजाब के गाँव-गाँव में सच्चरित्र व सद्ज्ञान की ज्योति जलाने की आपकी भावना सफल हो रही है।

प्रस्तुत सूत्र श्रीसूत्रकृतांग का संपादन व प्रकाशन भी आपश्री की प्रखर प्रेरणा का ही सुफल है। आपश्री की प्रेरणा से संपादन भी शीघ्र सम्पन्न हुआ और मुद्रण एवं प्रकाशन भी। हम आपके सदा आभारी रहेंगे।

प्रवचनभूषण श्री अमर मुनिजी महाराज इस शास्त्र के मूल प्रेरणा स्रोत है। आपकी वाणी में जैसे सरस्वती विराजमान है। जो भी श्रोता आपकी वाणी सुन लेता है, मंत्रमुग्ध-सा दुबारा सुनने को आतुर रहता है। गतवर्ष लुधियाना चातुर्मास आपश्री का एक ऐतिहासिक सफल चातुर्मास कहा जा सकता है। जैनधर्म, श्रमण संघ और स्थानकवासी जैन समाज की जो गरिमापूर्ण तस्वीर इस चातुर्मास में उभर कर आई, उसका मूल श्रेय भी आपको ही है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आप ओजस्वी वक्ता भी हैं, तटस्थ चिन्तक भी हैं, सुकवि और लेखक भी हैं। पंजाब में स्कूल-कालिज-चिकित्सालय एवं स्थानक आदि के निर्माण में आपश्री का मार्गदर्शन एवं प्रेरणा प्रमुख रही है।

शास्त्र-सेवा के इस पुनीत कार्य में हम सेवाभावी श्री रत्नमुनि जी महाराज का स्मरण किये बिना नहीं रहेंगे। आप आचार्य सम्राट श्री आत्मारामजी महाराज के प्रिय शिष्य रहे हैं। सेवा आपके जीवन का मूल मन्त्र रहा है। सरलता और समता की साधना से आपश्री ने अपना जीवन कृतार्थ किया है।

सुलेखक श्री नेमिचन्द्रजी महाराज का सहयोग भी इस पुनीत कार्य में सदा स्मरणीय रहेगा।

प्रकाशन में सहयोग देने वाले दानी सज्जनों ने शास्त्र-सेवा के पुण्यकार्य में दिल खोलकर सहयोग दिया है। हम उनको संस्था की तरफ से हार्दिक धन्यवाद देते हैं। साथ ही सुप्रसिद्ध साहित्यसेवी श्रीचन्दजी सुराना ने इस गम्भीर आगम ग्रन्थ का सुन्दर व शुद्ध मुद्रण आदि कार्य सम्पन्नकर हमें उत्साहित किया है, हम उनके सहयोग को भी सदा स्मरण रखेंगे।

आशा है हमारी संस्था का यह द्वितीय पुष्प पाठकों के लिए उपयोगी व उपकारी सिद्ध होगा।

मन्त्री—

हाकमचन्द जैन

आत्म ज्ञानपीठ, मानसामन्डी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सादर धन्यवाद !

भगवद्वाणी का अमृत जन-जन को सुलभ हो सके, इसलिए शास्त्र का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने की प्रबल प्रेरणा नवयुगसुधारक भंडारी श्री पदमचन्दजी महाराज की वाणी से मिली। उनके सुयोग्य शिष्य, प्रवचनभूषण श्री अमरमुनिजी के प्रवचनों से उत्साह दुगुना बढ़ा। सेवाभावी श्री रतनमुनिजी महाराज ने भी प्रेरणा, प्रोत्साहन व सहयोग दिलाकर हमें गतिशील बनाया। हमारे पुण्यशाली गुरुभक्त सज्जनों ने उदारतापूर्वक अर्थ सहयोग दिया, और यह कार्य सुन्दरतापूर्वक सम्पन्न हुआ।

यहाँ उन भाग्यशाली दाताओं की शुभ नामावली आदर और आभार पूर्वक प्रकाशित की जाती है—

१. श्री एस. एस. जैन विरादरी (रजि.), लुधियाना
२. श्री मदनलाल अशोककुमार जैन, मानसा मंडी
३. श्री अभयकुमार जैन, जैन ज्वेलर्स, होशियारपुर
४. श्री बनारसीदास कृष्णचन्द्र जैन, मलोट मंडी
५. श्री भोजराज जैन, भटिंडा
६. श्रीमती शान्तिदेवी जैन,
   धर्मपत्नी—श्री राजकुमार जैन, मंडी निहालसिंहवाला (पंजाब)
७. श्री सुन्दरलाल जयकुमार जैन, सोनीपत मंडी
८. श्री कश्मीरीलाल जैन
   फर्म—भानामल दीपचन्द जैन, सफीदों मंडी
९. श्रीचन्द सुराना, आगरा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्मतियां

डॉ० वेदप्रकाश उपाध्याय,
एम० ए०, एल-एल० बी०, डी० फिल०,
डिप० इन जर्मन, दर्शनाचार्य, धर्मशास्त्राचार्य, प्राप्त स्वर्णपदक,
प्राध्यापक (अनुसन्धान)
वी० वी० बी० आई० एस० ऐण्ड आई० एस०,
पंजाब यूनिवर्सिटी, साधु आश्रम, होशियारपुर (पंजाब)

संस्कृत और प्राकृत भाषा के प्रकाण्ड विद्वान, दार्शनिक, पण्डित-प्रवर श्री हेमचन्द्रजी महाराज के द्वारा अनूदित श्री सूत्रकृतांग सूत्र नवयुग-सुधारक पण्डित श्री पदमचन्दजी महाराज 'भण्डारीजी' की अमोघ प्रेरणा के परिणामस्वरूप प्रवचन-भूषण श्री अमरमुनिजी महाराज के द्वारा सम्पादित एक वैज्ञानिक कृति है, जिसके सहसम्पादक के रूप में मुनि श्री नेमिचन्द्रजी का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। प्रस्तुत विशालकाय ग्रन्थ मूल, छाया, अन्वयार्थ एवं अमरसुखबोधिनी नामक व्याख्या से समन्वित है। प्रस्तुत ग्रन्थ के अनुशीलन से संस्कृत भाषा के विद्वान, प्राकृत भाषा से अनभिज्ञ होते हुए भी अनायास प्राकृत भाषा में नैपुण्य प्राप्त करके जैनदर्शन एवं धर्म में निष्णात हो सकते हैं। यह शास्त्र प्राकृत भाषा में **'सूयगडंग'** नाम से अभिहित है, जो धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। अंगप्रविष्ट द्वादश शास्त्रों में क्रम की दृष्टि से 'सूयगडंग' का दूसरा स्थान है। अंगप्रविष्ट श्रुतज्ञान को आगम शास्त्रों में सर्वप्रमुख माना जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्ययन से सूत्रकृतांग के व्याख्याकार मुनि श्री हेमचन्द्रजी महाराज के वैदुष्य, वाग्वैखर्य और शास्त्र-व्याख्यान-कौशल का जितना अधिक परिचय मिलता है, उतना ही अधिक बोध श्री अमरमुनिजी के शास्त्रीय ज्ञान और सम्पादन-कुशलता का होता है। यह पण्डित श्री पदमचन्दजी महाराज 'भण्डारीजी' की प्रेरणा का ही सुफल है, जो गणधर श्री सुधर्माप्रणीत द्वितीय अंग श्री सूत्रकृतांग सूत्र का बृहद अद्वितीय भाष्य जैन धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में समाविष्ट हो गया है। मूल पाठ का भाष्य करते समय विद्वान भाष्यकार ने अनेक शास्त्रों से सन्दर्भ देते हुए शंका-समाधानपूर्वक प्रतिपाद्य विषय को उपस्थापित किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यद्यपि 'सूयगडंग' पर भद्रबाहुस्वामी की प्राकृत भाषा में 'निर्युक्ति' और आचार्य शीलाक की संस्कृत भाषा में "बृहदवृत्ति" उपलब्ध हैं, किन्तु इस ग्रन्थ के हिन्दी व्याख्यासहित जितने भी संस्करण मिलते हैं, उनमें पण्डित श्री पदमचन्दजी महाराज 'भण्डारीजी' की प्रेरणा से प्रवचनभूषण श्री अमरमुनिजी महाराज द्वारा सम्पादित एवं पंडितरत्न श्री हेमचन्द्रजी महाराज के बृहदभाष्य से समलंकृत श्री सूत्रकृतांग सूत्र अनुपम एवं अद्वितीय है।

आत्म ज्ञानपीठ, मानसा से प्रकाशित यह ग्रन्थ पुस्तकालयों के लिए संग्रहणीय, पुरातन भारतीय संस्कृति की संरक्षा के लिए उपादेय एवं भावी प्रशस्त परम्परा के निर्माण में सक्षम है।

Prof. *Dr. W. Bollee*,
University of Heidelberg, West Germany.

".....First, I welcome every interest in the *Sūyagaḍa* of late, in fact of every new edition of an Ardhamāgadhī text, as it shows that the Jain community is still conscious of its cultural heritage and ours are difficult times.....—As for their text the editors most times follow the *vṛtti* tradition which I believe is better than Jambūvijaya's; because of the elimination of the *ta-śrutis*..... In a stanza like 1, 1, 2, 20 the *chāyā* must read *nyāyārthino* as I pointed out on p. 97 of my *Studien*. This example illustrates very well the grade of difficulty of the *Sūyagaḍa* which often does not rank far below the *Rigveda*. The criteria for judging a work like the one under discussion are different from those applied to *e.g.*, a German Doktorarbeit, of course. The editors and the author of the commentary are monks learned in the tradition..... Nevertheless, such a book has its use also for us, because *paṇḍits* know the texts by heart, whereas we often have access to them. If they possess an index or a glossary, what I look for in it is *e.g.*, the identification of a quotation or its adducing a parallel from another text....."

Prof. *Dr. J. Deleu*,
University of Ghent, Belgium.

The work in question I would, in a general way, say that every new attempt to deal with this very important canonical text is extremely welcome, whether it comes from India or elsewhere. The editors have taken great pains to provide a neat text. A *chāyā* always is the best way to let the reader know what you think is the true linguistic

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

interpretation of the text..... As for the Hindi translation and commentary, I would say that the extent of the *vyākhyā* would show that it is the fruit of thorough thinking about the text. That the book represents a modern Jain (*Sthānakvāsī*) view of the *Sūyagaḍa* makes it very interesting also for western scholars.

Prof. *Dr. K. R. Norman,*
University of Cambridge, England.

It goes without saying that I welcome its appearance. Anything which helps to make Jaina texts better known and more easily accessible cannot fail to be appreciated. The Sanskrit *chāyā* and the Hindi translation will clearly be of great value to readers.

Prof. *Dr. (Mrs.) A. Mette*

University of Munich, West Germany.

The edition appears to me to be valuable especially for its numerous quotations which are included in the commentary. Undoubtedly, the extensive commentary offers essential help in interpretation. For Europeans, who are less familiar with Hindi, like me, it is obviously difficult to grasp the commentary effectively and fully, also because, we often cannot—or, can only with difficulties verify the interesting quotations which belong to the tradition of the commentaries. So it is naturally a great help, when also an Indian paṇḍit mark the quotations with source material..... Personally I am always strongly interested in restoring the old texts.

□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

FOREWORD

The Sūyagaḍa, a text in Prakrit language has been assigned a second place—after the Āyāra—in the aṅga (primary) literature of the Śvetāmbara Jaina canon. The first of its two divisions into suyakkhandhas consists of many sub-divisions, some of them composed in anuṣṭubh while some in other meters such as vaitālīya, triṣṭubh, etc. Yet, at this stage, we can hardly trace from the corpus of the Sūyagaḍa I (except I. 4) any āryā meter which is a later development from the anuṣṭubh. Apart from some other elements concerning its teaching, language, style, etc., the Sūyagaḍa I on the basis of employment of such meters as stated above can without any doubt be credited as one of the earliest Prakrit texts of the Jainas. Its second suyakkhandha (*i.e.*, Sūyagaḍa II) which is partly in prose and partly in verses, however, carries by no means less importance in Jainism, even if it reflects a later stage of development in many respects. The Sūyagaḍa along with other senior texts in the Śvetāmbara canon precedes even the early literature of the Digambaraṣ.

Sūtrakṛta—a popular sanskritization of the Prakrit title Sūyagaḍa seems hardly to be correct according to philology,—since, "sūtra" in Sanskrit is "sutta" in Prakrit, but "sūya" in Prakrit can be "śruta" or "sūcī" in Sanskrit. In Prakrit, "y" and "i" are often interchanged (cp. "vai" or "vaya" for Sanskrit "vacas"=speech ; so, "sūi" or "sūya" for Sanskrit "sūcī" =indication). Schubring (Doctrine. § 45.2) has rendered "sūya"/ "sūi" (Prakrit) into "sūcī" (Sanskrit)="dṛṣṭi", and substantiated his view on the basis of Samavāya 212 (Suttāgame edition pp. 362-63) in which the verb "sūijjanti" is used in the context of Sūyagaḍa, e. g., in the context of Thāṇa, the verb "ṭhāvijjanti" (ibid. 213, p. 363) ; in the context of Viyāhapaṇṇatti, the verb "viāhijjanti" (ibid. 215, p. 364).

This interpretation of the term "sūya" (indication of various views) in the title Sūyagaḍa is well reflected in the Sūyagaḍa-nijjutti (edition : Sūtrakṛtāṅga with Niryukti and Śīlāṅka's commentary, Motilal Banarsidass, Delhi 1978), which is the

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

earliest available tradition in interpreting the Sūyagaḍa text. The Niryukti verse 3[b] provides us twofold meaning of "sūyagaṃ nāṇaṃ", viz. "sūcaka-jñāna"—"indicating various views" (cp. Sīlāṅka on p. 2 : "sva-parartha-sūcakatvāt") and "śruta-jñāna" "canonical text as such" which is generally known as "sūtra". Further, in the Niryukti verse 16[c] the subject matter in the text at hand is expressed by the words "sa-samaya-sueṇa pagayaṃ" —"the matter at hand is about the sūya (sūcī/śruta) of one's own views". It seems, in the title Sūyagaḍa, the term "sūya" (="sūcī") is later on sanskritized as "sūtra", a derived meaning of a homonymous Prakrit term "sūya" (="śruta"). Such a subject matter of mentioning and refuting views of other thinkers ("anna-diṭṭhiya-sayāṇaṃ") and establishing one's own views ("sa-samae ṭhāvijjati") is clearly stated also in the Samavāya 212 (ibid. p. 363).

Study of the Sūyagaḍa text thus remains quite inevitable for examining some contemporary views held by different thinkers of the time. Various text material in the Sūyagaḍa itself raises many issues before us. Weber (Indische Studien p. 260) finds a reference of Hīnayāna and Mahāyāna of Buddhism in the word "jāṇaya" (inter alia Sūyagaḍa I. 1). The second chapter of the Sūyagaḍa I is called Veyāliya, since, it is composed in the vaitālīya meter (vide Sūyagaḍa-nijjutti verse 38[ab] : "veyāliyaṃ tahā vittam atthi teṇ' eva nibaddhaṃ", ". . . .also vaitālīya is a meter—"vṛtta", and this chapter is composed in it."). This meter has been given a treatment by Piṅgala (Chandaḥśāstra 4.32), and "māgadhī" is a synonym given to it by Varāhamihira (ca. 5. cent. A. D.), probably because it can be connected with the Māgadhī language as such. It is therefore suggested by Weber that the Veyāliya chapter might be composed after Piṅgala (ca. 2-1. cent. B.C.). Early stage in the development of the vaitālīya meter is traced from the Pali Dhammapada.

Sūyagaḍa-nijjutti verse 37[b] (". . . kahiyaṃ. . . Usabheṇaṃ") ascribes the precepts of the Veyāliya chapter to Ṛṣabha, the first titthayara of the Jainas. But according to the Veyāliya chapter itself (vide 3. verse 31 : "evaṃ se. . . arahā Nāya-putte bhagavaṃ Vesālie viyāhie."), it seems, the precepts in question can most probably be ascribed to Lord Mahāvīra himself.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

In Jaina Order, the Sūyagaḍa is prescribed for study in the fourth year of accepting monkhood, probably because it is difficult to study at an initial stage. But it is indeed a matter of great pleasure that the present edition of the Sūyagaḍa will surely be of much help not only to a novice in the Jaina church but also to anyone interested in Jainism, comparative religions and philosophies of ancient India. Publication of the Jaina canonical texts and such literary activities were stimulated by the late revd. ācārya śrī Ātmārāmajī mahārāja and are well carried out by a successive chain of learned munis in this part of India. Revd. Pt. śrī Hemacandrajī mahārāja is one of them with distinct scholarly aptitude. Sanskrit rendering of the original Prakrit text, Hindi translation and lucid explanation of the main text,—all this in this edition of the Sūyagaḍa will itself speak well for his scholarship. Students of Jainism will surely be benefited by this Sūyagaḍa edition of revd śrī Hemacandrajī mahārāja. It comes into light on account of able guidance and inspiration from revd. bhaṇḍārī-muni śrī Padmacandrajī mahārāja,—the devout disciple of śrī Paṇḍitajī mahārāja, and through careful and valuable efforts of the "pravacana-bhūṣaṇa" revd. śrī Amaramunijī mahārāja,—the learned disciple of śri Bhaṇḍārī-munijī mahārāja. I am sure, this edition will be appreciated by scholars from all directions. I wish all the munijīs a long healthy and religious life so as to oblige the world of scholars by means of publishing such valuable texts in the future.

Patiala
Date : 3. 9. 1979.
Birthday of revd. ācārya
śrī Ātmārāmajī mahārāja.

Dr. B. Bhatt, Dr. Phil. (Germany)
Professor and Head :
Mahāvīra Chair for Jaina Studies
Punjabi University, Patiala.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पादकीय

भगवान श्री महावीर के अमूल्य उपदेश आज जिस रूप में उपलब्ध हैं, उसे 'आगम' कहा जाता है। आगम कोई एक ग्रन्थ-विशेष नहीं है, किन्तु जिनवाणी के संकलित स्थिर संग्रह को ही 'आगम' संज्ञा दी गई है। उसमें मुख्य रूप से भ० महावीर की वाणी तथा अन्य स्थविर-गणधर आदि के उपदेश संकलित हुए हैं। श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन मान्यतानुसार वर्तमान में बत्तीस आगम प्रमाणस्वरूप माने गये हैं। उनमें सर्वप्रमुख हैं—ग्यारह अंग आगम। अंग आगमों में आचारांग सूत्र प्रथम आगम है। प्रस्तुत सूत्रकृतांग सूत्र द्वितीय अंग आगम है। आचारांग में आचारधर्म का अनेक दृष्टियों में वर्णन हुआ है। सूत्रकृतांग में दार्शनिक विवेचन अधिक है इसलिए इसे दर्शनशास्त्र का प्रमुख आगम कहा जाता है।

स्थानकवासी परम्परा में आगम प्रकाशन का कार्य पिछली एक शताब्दी से हो रहा है। अनेक विद्वान मुनि और आचार्यों ने अपनी विशिष्ट प्रतिभा के बल पर गंभीर आगम वचनों का अनुवाद व विवेचन कर उसे सर्वजन-सुबोध भाषा में रखने का प्रयत्न किया है। आचार्यों की इस पुनीत नाम गणना में पूज्य आचार्य श्री अमोलक ऋषिजी महाराज, पूज्य आचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज तथा जैनधर्म दिवाकर पूज्य आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज के शुभ नाम स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य हैं।

मेरे परदादागुरु आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज जैन आगमों के महान मर्मज्ञ, सरल व्याख्याकार और सुयोग्य संपादक थे। अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा के बल पर उन्होंने अनेकानेक आगमों पर हिन्दी भाषा में विस्तृत टीकाएँ लिखीं और अनेक दुर्लभ ग्रन्थों का सम्पादन किया। उनके असीम प्रयत्नों का ही यह सुफल है कि आज स्थानकवासी जैन श्रमणों में अनेक श्रमण प्राकृत-संस्कृत के अधिकारी विद्वान तथा आगमों के गंभीर ज्ञाता हैं और सुलेखक, संपादक एवं ओजस्वी वक्ता बनकर श्रमण वर्ग की गौरव गरिमा में चार चाँद लगा रहे हैं।

पंडितरत्न, प्राकृत भाषा के मर्मज्ञ श्री हेमचन्द्रजी महाराज स्व० आचार्य प्रवर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के सुयोग्य शिष्यरत्न हैं और आप मेरे दादागुरु हैं। आपश्री की प्रेरणा व मार्गदर्शन से मैंने दो अक्षरों का बोध प्राप्त किया। आपश्री द्वारा किये गये अनुवाद एवं व्याख्या को मैंने अपनी शैली में ढालने का प्रयत्न किया है।

मेरे जीवन-विकास और यत्किंचित् साहित्यसेवा का जो कुछ भी श्रेय है, वह मेरे गुरुदेव नवयुग-सुधारक, सेवा और सरलता के मूर्तिमंत रूप भंडारी श्री पदमचन्दजी महाराज को है। मैं जो कुछ कर पाया हूँ, यह स्व० गुरुदेव का आशीर्वाद और पूज्य गुरुदेव भंडारीजी महाराज के मार्गदर्शन तथा सतत सहयोग का ही सुफल है।

परममनीषी राष्ट्रसंत कवि श्री अमर मुनि जी महाराज के योग्य मार्गदर्शन और स्नेहपूरित प्रेरणाओं को भी मैं भुला नहीं सकता। कविश्री की बलवती प्रेरणा और समयोपयोगी सुझावों ने मुझे कुछ करने योग्य बनाया है।

निश्री नेमिचन्द्रजी महाराज ने भी मेरे इस भगीरथ कार्य को भाषा-शैली आदि विविध दृष्टियों से सुन्दर और उपयोगी स्वरूप प्रदान किया है। सुचिन्तक विद्वद्रत्न श्री विजय मुनि शास्त्री ने इस सूत्र रत्न पर विशेष प्रस्तावना लिखी है और जैन समाज के प्रसिद्ध साहित्यकार श्रीचन्दजी सुराना 'सरस' ने इसे शुद्ध मुद्रण आदि की दृष्टि से निखारा है।

पूज्य गुरुदेवश्री की प्रेरणा से अनेक जिन-प्रवचन-श्रद्धालुओं ने प्रकाशन में हाथ बटाया है।

इस प्रकार मेरा यह एक संपादन-प्रयत्न गुरुजनों के आशीर्वाद तथा मार्गदर्शन, सहयोगीजनों के सहकार और श्रद्धालु भक्तों के उदार सौजन्य के बल पर पाठकों के हाथों में प्रस्तुत है। यह संपादन-विवेचन कैसा बना है, इसका निर्णय जिज्ञासु पाठक ही करेंगे, मैं तो जिन-प्रवचन की एक तुच्छ सेवा करके अपने को भाग्यशाली मानकर ही प्रसन्न व आनन्दित हूँ।

—अमर मुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्रकृतांग सूत्र : एक अनुचिन्तन

☐ श्री विजयमुनि शास्त्री

वैदिक परम्परा में जो स्थान वेदों का मान्य है, तथा बौद्ध-परम्परा में जो स्थान पिटकों का माना गया है, जैन-परम्परा में वही स्थान आगमों का है। जैन-परम्परा, इतिहास और संस्कृति की विशेष निधि आगम-शास्त्र ही हैं। आगमों में जो सत्य मुखरित हुआ है, वह युग-युगान्तर से चला आया है, इसमें दो मत नहीं हो सकते। परन्तु इस मान्यता में जरा भी सार नहीं है कि उनमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ है। भाव-भेद, भाषा-भेद और शैली-भेद आगमों में सर्वत्र दृष्टि-गोचर होता है। मान्यता-भेद भी कहीं-कहीं पर उपलब्ध हो जाते हैं। इसका मुख्य कारण है—समाज और जीवन का विकास। जैसे-जैसे समाज का विकास होता रहा, वैसे-वैसे आगमों के पृष्ठों पर विचार-भेद उभरते रहे हैं। आगमों की निर्युक्तियों में, आगमों के भाष्यों में, आगमों की चूर्णियों में और आगमों की टीकाओं में तो विचार-भेद अत्यन्त स्पष्ट हैं। मूल आगमों में भी युग-भेद के कारण से विचार-भेद को स्थान मिला है और यह सहज था। अन्यथा, उनके टीकाकारों में इतने भेद कहाँ से प्रकट हो पाते।

आगमों की रचना का काल

आधुनिक पाश्चात्य विचारकों ने इस बात को माना है कि भले ही देवर्द्धिगणी ने पुस्तक-लेखन करके आगमों के संरक्षण कार्य को आगे बढ़ाया, किन्तु निश्चय ही वे उनके कर्ता नहीं है। आगम तो प्राचीन ही हैं। देवर्द्धिगणी ने तो केवल उनका संकलन और संपादन ही किया है। यह सत्य है कि आगमों में कुछ प्रक्षिप्त अंश हैं, पर उस प्रक्षेप के कारण समग्र आगम का काल देवर्द्धिगणी का काल नहीं हो सकता। पूरे आगमों का एक काल नहीं हो सकता। सामान्य रूप में विद्वानों ने अंग आगमों का काल पाटलिपुत्र की वाचना के काल को माना है। पाटलिपुत्र की वाचना इतिहासकारों के अनुसार भगवान महावीर के परिनिर्वाण के बाद पंचम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के काल में हुई। और उसका काल है ईसापूर्व चतुर्थ शताब्दी का द्वितीय दशक। अतएव आगमों का काल लगभग ईसापूर्व छठी शताब्दी से ईसा की पाँचवीं शती तक माना जा सकता है। लगभग हजार वर्ष अथवा बारह सौ वर्षों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का समय आगम संरचना का काल रहा है। कुछ विद्वान् इस लेखन के काल का और अंग आगमों के रचना के काल का सम्मिश्रण कर देते हैं और इस लेखन को आगमों का रचनाकाल मान लेते हैं। अंग आगम भगवान महावीर का उपदेश है, और उसके आधार पर उनके गणधरों ने अंगों की रचना की है। अतः आगमों की संरचना का प्रारम्भ तो महावीर भगवान के काल से माना जाना चाहिए। उसमें जो प्रक्षेप अंश हो उसे अलग करके उसका समय-निर्णय अन्य आधारों से किया जा सकता है। अंग आगमों में सर्वाधिक प्राचीन आचारांग सूत्र का प्रथम श्रुतस्कंध माना जाता है। इस सत्य को स्वीकार करने में किसी भी विद्वान को किसी भी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। सूत्रकृतांगसूत्र और भगवतीसूत्र के सम्बन्ध में भी यही समझा जाना चाहिए। स्थानांगसूत्र और समवायांग सूत्र में कुछ स्थल इस प्रकार के हो सकते हैं, जिनकी नवता एवं पुरातनता के सम्बन्ध में आगमों के विशिष्ट विद्वानों को गम्भीर विचार करके निर्णय करना चाहिए।

अंगबाह्य आगम

अंग-बाह्य आगमों में उपांग, मूल, छेद आदि की परिगणना होती है। अंग-बाह्य आगम गणधरों की रचना नहीं हैं। अतः उनका काल निर्धारण जैसे अन्य आचार्यों के ग्रन्थों का समय निर्धारित किया जाता है, वैसे ही होना चाहिए। अंग बाह्यों में प्रज्ञापना के कर्त्ता आर्य श्याम हैं। अतएव आर्य श्याम का जो समय है, वही उनका रचना समय है। आर्य श्याम को वीर निर्वाण संवत् ३३५ में युगप्रधान पद मिला और ३७६ तक वे युगप्रधान रहे। अतः प्रज्ञापना सूत्र की रचना का समय भी यही मानना उचित है। छेदसूत्रों में दशाश्रुत, बृहत्कल्प और व्यवहार सूत्रों की रचना चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु ने की थी। आचार्य भद्रबाहु का समय ईसापूर्व ३५७ के आसपास निश्चित है। अतः इनके द्वारा रचित इन तीनों छेदसूत्रों का समय भी वही होना चाहिए। कुछ विद्वानों का मत है कि द्वितीय आचारांग की चार चूलाएँ और पञ्चम चूला निशीथ भी चतुर्दशपूर्वी आचार्य भद्रबाहु की संरचना हैं। मूल-सूत्रों में दशवैकालिक की रचना आचार्य शयंभव ने की है, इसमें किसी भी विद्वान को विप्रतिपत्ति नहीं रही। परन्तु, इसका अर्थ यह होगा कि दशवैकालिक की रचना द्वितीय आचारांग और निशीथ से पहले की माननी होगी। द्वितीय आचारांग का विषय और दशवैकालिक का विषय एक जैसा ही है, भेद केवल है तो संक्षेप और विस्तार का, गद्य और पद्य का एवं विषय की व्यवस्था का। तुलनात्मक अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाव, भाषा तथा विषय प्रतिपादन की शैली दोनों की करीब-करीब एक ही है। उत्तराध्ययन सूत्र के सम्बन्ध में दो मत उपलब्ध होते हैं—एक का कहना है कि उत्तराध्ययन सूत्र किसी एक आचार्य की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कृति नहीं, किन्तु संकलन है। दूसरा यह है कि उत्तराध्ययन सूत्र भी चतुर्दश-पूर्वी आचार्य भद्रबाहु की ही कृति है। कल्पसूत्र, जिसकी पर्युषणा कल्प के रूप में वाचना की जाती है, वह भी चतुर्दशपूर्वी आचार्य भद्रबाहु की ही कृति है। इस प्रकार अन्य अंगबाह्य आगमों के सम्बन्ध में भी कुछ तो काल निर्णय हो चुका है और कुछ होता जा रहा है।

अंगों का क्रम

एकादश अंगों के क्रम में सर्वप्रथम आचारांग है। आचारांग को क्रम में सर्व-प्रथम स्थान देना तर्क-संगत भी है एवं परम्परा-प्राप्त भी है। क्योंकि संघ व्यवस्था में सबसे पहले आचार की व्यवस्था अनिवार्य होती है। आचार-संहिता की मानव-जीवन में प्राथमिकता रही है। अतः आचरांग को सर्वप्रथम स्थान देने में प्रथम हेतु है उसका विषय, दूसरा हेतु यह है कि जहाँ-जहाँ अंगों के नाम आये हैं, वहाँ-वहाँ मूल में अथवा वृत्ति में आचारांग का नाम ही सबसे पहले आया है। आचारांग के बाद जो सूत्रकृतांग आदि नाम आये हैं, उनके क्रम की योजना किसने किस प्रकार की, इसकी चर्चा के हमारे पास उल्लेखनीय साधन नहीं है। इतना अवश्य है कि सचेलक एवं अचेलक दोनों परम्पराओं में अंगों का एक ही क्रम है। सूत्रकृतांग सूत्र में विचार-पक्ष मुख्य है और आचार-पक्ष गौण, जबकि आचारांग में आचार की मुख्यता है और विचार की गौणता। जैन-परम्परा प्रारम्भ से ही एकान्त विचार-पक्ष को और एकान्त आचार-पक्ष को अस्वीकार करती रही है। विचार और आचार का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करना ही जैन-परम्परा का मुख्य ध्येय रहा है। यद्यपि आचारांग में भी पर-मत का खण्डन सूक्ष्म रूप में अथवा बीज रूप में विद्य-मान है, तथापि आचार की प्रबलता ही उसमें मुख्य है। सूत्रकृतांग में प्रायः सर्वत्र पर-मत का खण्डन और स्व-मत का मण्डन स्पष्ट प्रतीत होता है। सूत्रकृतांग की तुलना बौद्ध-परम्परा-मान्य अभिधम्म पिटक से की जा सकती है, जिसमें बुद्ध ने अपने युग में प्रचलित ६२ मतों का यथाप्रसंग खण्डन करके अपने मत की स्थापना की है। सूत्रकृतांग सूत्र में स्व-समय और पर-समय का वर्णन है। वृत्तिकारों के अनुसार इस में ३६३ मतों का खण्डन किया गया है। समवायांग सूत्र में सूत्रकृतांग सूत्र का परिचय देते हुए कहा गया—इसमें स्व-समय, पर-समय, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध तथा मोक्ष आदि तत्त्वों के विषय में कथन किया गया है। १८० क्रियावादी मतों की, ८४ अक्रियावादी मतों की, ६७ अज्ञानवादी मतों की एवं ३२ विनयवादी मतों की, इस प्रकार सब मिलाकर ३६३ अन्ययूथिक मतों की परिचर्चा की गई है। श्रमण सूत्र में सूत्रकृतांग के २३ अध्ययनों का निर्देश है—प्रथम श्रुतस्कंध में १६, द्वितीय श्रुतस्कंध में ७। नन्दीसूत्र में कहा गया है कि सूत्र-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कृतांग में लोक, अलोक, लोकालोक, जीव, अजीव आदि का निरूपण है तथा क्रिया-वादी आदि ३६३ पाखण्डियों के मतों का खण्डन किया गया है। दिगम्बर-परम्परा के मान्य ग्रन्थ राजवार्तिक के अनुसार सूत्रकृतांग में ज्ञान, विनय, कल्प, अकल्प, व्यवहार-धर्म एवं विभिन्न क्रियाओं का निरूपण है।

सूत्रकृतांगसूत्र का संक्षिप्त परिचय

जैन-परम्परा द्वारा मान्य अंग सूत्रों में सूत्रकृतांग का द्वितीय स्थान है। किन्तु दार्शनिक-साहित्य के इतिहास की दृष्टि से इसका महत्त्व आचारांग से अधिक है। भगवान महावीर के युग में प्रचलित मत-मतान्तरों का वर्णन इसमें विस्तृत रूप से हुआ है। सूतकृतांग का वर्तमान समय में जो संस्करण उपलब्ध है, उसमें दो श्रुतस्कंध हैं—प्रथम श्रुतस्कन्ध और द्वितीय श्रुतस्कन्ध। प्रथम में सोलह अध्ययन हैं और द्वितीय में सात अध्ययन। प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम समय अध्ययन के चार उद्देशक हैं—पहले में २७ गाथाएँ हैं, दूसरे में ३२, तीसरे में १६ तथा चौथे में १३ हैं। इस में वीतराग के अहिंसा-सिद्धान्त को बताते हुए अन्य बहुत से मतों का उल्लेख किया गया है। दूसरे वैतालीय अध्ययन में तीन उद्देशक हैं। पहले में २२ गाथाएँ, दूसरे में ३२ तथा तीसरे में २२। वैतालीय छन्द में रचना होने के कारण इसका नाम वैतालीय है। इसमें मुख्य रूप से वैराग्य का उपदेश है। तीसरे उपसर्ग अध्ययन के चार उद्देशक हैं। पहले में १७ गाथाएँ हैं, दूसरे में २२, तीसरे में २१ तथा चौथे में २२। इसमें उपसर्ग अर्थात् संयमी जीवन में आने वाली विघ्न-बाधाओं का वर्णन है। चौथे स्त्री-परिज्ञा अध्ययन के दो उद्देशक हैं। पहले की ३१ गाथाएँ हैं और दूसरे की २२। इसमें साधकों के प्रति स्त्रियों द्वारा उपस्थित किये जाने वाले ब्रह्मचर्यघातक विघ्नों का वर्णन है। उपसर्ग अध्ययन में प्रतिकूल विघ्नों का वर्णन था और इसमें अनुकूल विघ्नों का वर्णन है। पाँचवे निरय-विभक्ति अध्ययन के दो उद्देशक हैं। पहले में २७ गाथाएँ हैं और दूसरे में २५। दोनों में नरक के दुःखों का वर्णन है। छठे वीरस्तुति अध्ययन का कोई उद्देशक नहीं है, इसमें २९ गाथाओं में भगवान महावीर की स्तुति की गई है। सातवें कुशील-भाषित अध्ययन में ३० गाथाएँ हैं, जिसमें कुशील एवं चारित्रहीन व्यक्ति की दशा का वर्णन है। आठवें वीर्य अध्ययन में २६ गाथाएँ हैं, इसमें वीर्य अर्थात् शुभ एवं अशुभ प्रयत्न का स्वरूप बताया है। नौवें धर्म अध्ययन में ३६ गाथाएँ हैं, जिसमें धर्म के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। दशवें समाधि अध्ययन में २४ गाथाएँ हैं, जिसमें धर्म में समाधि अर्थात् धर्म में स्थिरता का कथन किया गया है। ग्यारहवें मार्ग अध्ययन में ३८ गाथाएँ हैं, जिसमें संसार के बन्धनों से छुटकारा प्राप्त करने का मार्ग बताया गया है। बारहवें समवसरण अध्ययन में २२ गाथाएँ हैं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिसमें क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी और अज्ञानवादी मतों की विचारणा की गई है। तेरहवें याथातथ्य अध्ययन में २३ गाथाएँ हैं, जिसमें मानव-मन के स्वभाव का सुन्दर वर्णन किया गया है। चौदहवें ग्रन्थ अध्ययन में २७ गाथाएँ हैं, जिनमें ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग का वर्णन किया गया है। पन्द्रहवें आदानीय अध्ययन में २५ गाथाएँ हैं, जिनमें भगवान महावीर के उपदेश का सार दिया गया है। सोलहवाँ गाथा अध्ययन गद्य में है, जिसमें भिक्षु अर्थात् श्रमण का स्वरूप सम्यक् प्रकार से समझाया गया है।

सूत्रकृतांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध के सात अध्ययन हैं। उनमें प्रथम अध्ययन पुण्डरीक है, जो गद्य में है। इसमें एक सरोवर के पुण्डरीक कमल की उपमा देकर यह बताया गया है कि विभिन्न मत वाले लोग राज्य के अधिपति राजा को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु स्वयं ही कष्टों में फँस जाते हैं। राजा वहाँ का वहीं रह जाता है। दूसरी ओर सद्धर्म का उपदेश देने वाले भिक्षु के पास राजा अपने आप खिंचा चला आता है। इस अध्यमन में विभिन्न मतों एवं विभिन्न संप्रदायों के भिक्षुओं के आचार का भी वर्णन किया गया है। द्वितीय अध्ययन क्रियास्थान है, जिसमें कर्मबन्ध के त्रयोदश स्थानों का वर्णन किया गया है। तृतीय अध्ययन आहार-परिज्ञा है, जिसमें बताया गया है कि आत्मार्थी भिक्षु को निर्दोष आहार-पानी की एषणा किस प्रकार करनी चाहिए। चौथा अध्ययन प्रत्याख्यान है, जिसमें त्याग, प्रत्याख्यान, व्रत एवं नियमों का स्वरूप बताया गया है। पाँचवाँ आचार-श्रुत अध्ययन है, जिसमें त्याज्य वस्तुओं की गणना की गई है, तथा लोकमूढ़ मान्यताओं का खण्डन किया गया है। छठा अध्ययन आर्द्रकीय है, जिसमें आर्द्रककुमार की धर्मकथा बहुत सुन्दर ढंग के कही गई है। यह एक दार्शनिक संवाद है, जो उपनिषदों के संवाद की पद्धति का है। विभिन्न सम्प्रदायों के लोग आर्द्रककुमार से विभिन्न प्रश्न करते हैं और आर्द्रक उनकी विभिन्न शंकाओं का समाधान करते हैं। सातवाँ अध्ययन नालन्दीय है, जिसमें भगवान महावीर के प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम का नालन्दा में दिया गया उपदेश अंकित है।

सूत्रकृतांग सूत्र में जिन मतों का उल्लेख है, उनमें से कुछ का सम्बन्ध आचार से है और कुछ का तत्त्ववाद अर्थात् दर्शन-शास्त्र से है। इन मतों का वर्णन करते समय उस पद्धति को अपनाया गया है, जिसमें पूर्वपक्ष का परिचय देकर बाद में उसका खण्डन किया जाता है। इस दृष्टि से सूत्रकृतांग का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान जैन आगमों में माना जाता है। बौद्ध-परम्परा के अभिधम्मपिटक की रचना भी इसी शैली पर की गई है। दोनों की तुलनात्मक दृष्टि मननीय है।

पञ्च महाभूतवाद

दर्शनशास्त्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह रहा कि यह लोक क्या है?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसका निर्माण किसने किया ? और कैसे हुआ ? क्योंकि लोक प्रत्यक्ष है अतः उसकी सृष्टि के सम्बन्ध में जिज्ञासा का उठना सहज ही था। इसके सम्बन्ध में सूत्रकृतांग में एक मत का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि यह लोक पृथ्वी जल, अग्नि, वायु और आकाश रूप पाँच भूतों का बना हुआ है। इन्हीं के विशिष्ट संयोग से आत्मा का जन्म होता है और इनके वियोग से विनाश हो जाता है। यह वर्णन प्रथम श्रुतस्कंध, प्रथम अध्ययन और प्रथम उद्देशक की ७-८ गाथाओं में किया गया है। मूल में इस वाद का कोई नाम नहीं बताया गया है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने इसे पञ्चभूतवाद कहा है, किन्तु सूत्रकृतांग के टीकाकार आचार्य शीलांक ने इसे चार्वाक मत बताया है। इस मत का उल्लेख दूसरे श्रुतस्कंध में भी है। वहाँ इसे पञ्चमहाभूतिक कहा गया है।

तज्जीव-तच्छरीरवाद

इस वाद के अनुसार संसार में जितने शरीर हैं, प्रत्येक में एक आत्मा है। शरीर की सत्ता तक ही जीव की सत्ता है। शरीर का नाश होते ही आत्मा का भी नाश हो जाता है। यहाँ शरीर को ही आत्मा कहा गया है। इसमें बताया गया है कि परलोकगमन करने वाला कोई आत्मा नहीं है। पुण्य और पाप का भी कोई अस्तित्व नहीं है। इस लोक के अतिरिक्त कोई दूसरा लोक भी नहीं है। मूलकार ने इस मत का कोई नाम नहीं बताया। निर्युक्तिकार तथा टीकाकार ने इस मत को 'तज्जीव-तच्छरीरवाद' कहा है। सूत्रकृतांग के दूसरे श्रुतस्कंध में इस वाद का अधिक विस्तार से वर्णन किया गया है। शरीर से भिन्न आत्मा को मानने वालों का खण्डन करते हुए वादी कहता है—कुछ लोग कहते हैं कि शरीर अलग है और जीव अलग है। वे जीव का आकार, रूप, गंध, रस और स्पर्श आदि कुछ भी नहीं बता सकते। यदि जीव शरीर से पृथक होता है, तो जिस प्रकार म्यान से तलवार, मूँज से सींक तथा मांस से अस्थि अलग करके बताई जा सकती है, उसी प्रकार आत्मा को भी शरीर से अलग करके बताया जाना चाहिए। जिस प्रकार हाथ में रहा हुआ आँवला अलग प्रतीत होता है तथा दही में से मक्खन, तिल में से तेल, ईख में से रस एवं अरणि में से आग निकाली जाती है, इसी प्रकार आत्मा भी शरीर से अलग प्रतीत होता, पर ऐसा होता नहीं। अतः शरीर और जीव को एक मानना चाहिए। तज्जीव-तच्छरीरवादी यह मानता है कि पाँच महाभूतों से चेतन का निर्माण होता है। अतः यह वाद भी चार्वाकवाद से मिलता-जुलता ही है। इस प्रकार के वाद का वर्णन प्राचीन उपनिषदों में भी उपलब्ध होता है।

एकात्मवाद की मान्यता

जिस प्रकार पृथ्वी-पिण्ड एक होने पर भी पर्वत, नगर, ग्राम, नदी एवं समुद्र आदि अनेक रूपों में प्रतीत होता है, इसी प्रकार यह समस्त लोक ज्ञान-पिण्ड

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के रूप में एक होने पर भी भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रतीत होता है। ज्ञान-पिण्ड-स्वरूप सर्वत्र एक ही आत्मा है। वही मनुष्य, पशु, पक्षी तथा वृक्ष आदि में अनेक रूपों में परिलक्षित होता है। मूलकार ने इसका कोई नामोल्लेख नहीं किया। निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने इसे 'एकात्मवाद' कहा है। टीकाकार आचार्य शीलांक ने इसे 'एकात्म-अद्वैतवाद' कहा है।

नियतिवाद

कुछ लोगों की यह मान्यता थी कि भिन्न-भिन्न जीव जो सुख और दुःख का अनुभव करते हैं, यथाप्रसंग व्यक्तियों का जो उत्थान-पतन होता है, यह सब जीव के अपने पुरुषार्थ के कारण नहीं होता। इन सबका करने वाला जब जीव स्वयं नहीं है, तब दूसरा कौन हो सकता है? इन सबका मूल कारण नियति है। जहाँ पर, जिस प्रकार तथा जैसा होने का समय आता है, वहाँ पर, उस प्रकार और वैसा ही होकर रहता है। उसमें व्यक्ति के पुरुषार्थ, काल अथवा कर्म आदि कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकते। जगत् में सब कुछ नियत है, अनियत कुछ भी नहीं। सूत्रकृतांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध में इस वाद के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा गया है—कुछ श्रमण तथा ब्राह्मण कहते हैं कि जो लोग क्रियावाद की स्थापना करते हैं और जो लोग अक्रियावाद की स्थापना करते हैं, वे दोनों ही नियतिवादी हैं। क्योंकि नियतिवाद के अनुसार क्रिया तथा अक्रिया दोनों का कारण नियति है। इस नियतिवाद के सम्बन्ध में मूलकार, निर्युक्तिकार तथा टीकाकार सभी एकमत हैं, वे तीनों इसे नियतिवाद कहते हैं। भगवान् महावीर के युग में गोशालक का भी यही मत था, जिसका उल्लेख भगवती सूत्र आदि अन्य आगमों में भी उपलब्ध होता है। निश्चय ही यह नियतिवाद गोशालक से भी पूर्व का रहा होगा। पर गोशालक ने इस सिद्धान्त को अपने मत का आधार बनाया था। सूत्रकृतांग सूत्र में इसी प्रकार के अन्य मत-मतान्तरों का भी उल्लेख है। जैसे क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद, अज्ञानवाद, वेदवाद, हिंसावाद, हस्तितापसवाद आदि अनेक मतों का सूत्रकृतांग सूत्र में संक्षेप रूप में और कहीं पर विस्तार रूप में उल्लेख हुआ है। परन्तु निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने इसे विस्तार दिया तथा टीकाकार आचार्य शीलांक ने मत-मतान्तरों की मान्यताओं का नाम लेकर उल्लेख किया है। आचार्य शीलांक का यह प्रयास दार्शनिक क्षेत्र में बहुत ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

आचारांग और सूत्रकृतांग

एकादश अंगों में आचारांग प्रथम अंग है, जिसमें आचार का प्रधानता से वर्णन किया गया है। श्रमणाचार का यह मूलभूत आगम है। आचारांग सूत्र दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है—प्रथम श्रुतस्कंध तथा द्वितीय श्रुतस्कंध। निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु ने आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध को ब्रह्मचर्य अध्ययन कहा है। यहाँ ब्रह्मचर्य का अर्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संयम है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध को आचाराग्र कहा जाता है। यह आचाराग्र पाँच चूलाओं में विभक्त था। पाँचवी चूला, जिसका नाम आज निशीथ है तथा निर्युक्तिकार ने जिसे आचार-प्रकल्प कहा है, वह आचारांग से पृथक् हो गयी। यह पृथक्करण कब हुआ, अभी इसकी पूरी खोज नहीं हो सकी है। आचारांग में अथ से इति तक आचारधर्म का विस्तार के साथ वर्णन हुआ है। जैन-परम्परा का यह मूलभूत आचार-शास्त्र है। दिगम्बर-परम्परा का आचार्य वट्टकेरकृत मूलाचार आचारांग के आधार पर ही निर्मित हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है। सूत्रकृतांगसूत्र, जो एकादश अंगों में द्वितीय अंग है, उसमें विचार की मुख्यता है। भगवान् महावीर-कालीन भारत के जो अन्य विभिन्न दार्शनिक मत थे, उन सबके विचारों का खण्डन करके अपने सिद्धान्त-पक्ष की स्थापना की गई है। सूत्रकृतांग जैन-परम्परा में प्राचीन आगमों में एक महान् आगम है। इसमें नवदीक्षित श्रमणों को संयम में स्थिर रखने के लिए और उनके विचार-पक्ष को शुद्ध करने के लिए जैनसिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन है। आधुनिक काल के अध्येता को, जिसे अपने देश का प्राचीन बौद्धिक विचार-दर्शन जानने की उत्सुकता हो, जैन तथा अजैन दर्शन को समझने की दृष्टि हो, उसे इसमें बहुत कुछ उपलब्ध हो सकता है। प्रस्तुत आगम में जीव, अजीव, लोक, अलोक, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष का विस्तृत विवेचन हुआ है। सूत्रकृतांग के भी दो श्रुतस्कन्ध हैं। दोनों में ही दार्शनिक विचार-चर्चा है। प्राचीन ज्ञान के तत्त्वाभ्यासी के लिए सूत्रकृतांग में वर्णित अजैन सिद्धान्त भी रोचक तथा ज्ञानवर्द्धक सिद्ध होंगे। जिस प्रकार की चर्चा प्राचीन उपनिषदों में उपलब्ध होती है उसी प्रकार की विचारणा सूत्रकृतांग में उपलब्ध होती है। बौद्ध-परम्परा के त्रिपिटक-साहित्य में इसकी तुलना ब्रह्मजालसुत्त से की जा सकती है। ब्रह्मजाल-सुत्त में भी बुद्धकालीन अन्य दार्शनिकों का पूर्वपक्ष के रूप में उल्लेख करके अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है इसी प्रकार की शैली जैन-परम्परा के गणिपिटक में सूत्रकृतांग की रही है। भगवान् महावीर के पूर्व तथा भगवान् महावीरकालीन भारत के सभी दर्शनों का विचार अगर एक ही आगम से जानना हो तो वह सूत्रकृतांग से ही हो सकता है। अतः जैन-परम्परा में सूत्रकृतांग एक प्रकार से दार्शनिक विचारों का गणिपिटक है।

प्रस्तुत सम्पादन

सूत्रकृतांग सूत्र का स्थानकवासी-परम्परा में सुन्दर प्रकाशन ज्योतिर्धर आचार्य जवाहरलालजी महाराज के तत्त्वावधान में चार भागों में प्रकाशित हो चुका है। यह प्रकाशन पर्याप्त सुन्दर था, व्यवस्थित था। इसका सम्पादन व्यापक दृष्टि-कोण से हुआ था। परन्तु, वह प्राचीन संस्करण अब सर्वसामान्य को उपलब्ध न था। अतः मुझे प्रसन्नता है कि सूत्रकृतांग जैसे गम्भीर आगम का प्रकाशन एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुयोग्य विद्वान् के द्वारा हो रहा है। प्रस्तुत संस्करण सूत्रकृतांग एक विराट्काय संस्करण है। सर्वप्रथम शुद्ध मूलपाठ है, तदनन्तर संस्कृत-छाया, पदान्वयार्थ, मूलार्थ और विस्तृत विवेचन है, जिनसे मूल का स्पष्ट अर्थ-बोध हो जाता है। साधारण से साधारण पाठक भी मूल सूत्र के गंभीर भावों को आसानी से समझ सकता है। अतः प्रस्तुत संस्करण की अपनी एक पृथक विशिष्टता है, जिसमें व्याख्याकार का गहन एवं विस्तृत अध्ययन, दार्शनिक चिन्तन एवं प्रगाढ़ पाण्डित्य सर्वत्र प्रतिबिम्बित हो रहा है।

व्याख्याकार पण्डित श्री हेमचन्द्रजी महाराज

प्रस्तुत संस्करण के व्याख्याकार मेरे अपने श्रद्धेय गुरुदेव उपाध्याय अमरमुनि के अभिन्न स्नेही सुहृद्वर पण्डित श्री हेमचन्द्रजी महाराज हैं। संस्कृत-प्राकृत भाषाओं का उनका अध्ययन गंभीर एवं व्यापक है। व्याकरण की मर्मज्ञता तो उनकी सब ओर प्रसिद्ध रही है। जैनधर्म दिवाकर आचार्यदेव श्री आत्मारामजी महाराज के श्रीचरणों में जब से दीक्षा ली, तभी से अध्ययन में संलग्न हुए और अपने अध्ययन को निरन्तर सूक्ष्म, गंभीर एवं व्यापक बनाते गये। जैनधर्म दिवाकर श्री आत्मारामजी महाराज स्वयं भी महान् आगमधर, दार्शनिक एवं विचारक थे। अपने युग में वे आगमों के सर्वमान्य लब्धप्रतिष्ठ अध्येता एवं व्याख्याता माने जाते थे। आगम-सागर का उन्होंने तलस्पर्शी अवगाहन किया था। अनुयोगद्वार, आचारांग, स्थानांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक तथा नन्दी आदि अनेक गंभीर एवं गूढ़ कहे जाने वाले आगमों पर उन्होंने हिन्दी टीकाएँ लिखी हैं जिनका सर्वत्र समादर हुआ है। आचार्यश्री की विवेचन शैली स्पष्ट, अर्थबोधक एवं हृदयग्राहिणी है। अतः श्री संघ ने उन्हें जैनागम-रत्नाकर के महनीय पद से समलंकृत किया था। गुरु-परम्परा से ज्ञान की यह उज्ज्वल ज्योति उनके प्रिय शिष्य में भी समवतरित हुई। आचार्यश्री के साहित्य-निर्माण में भी पंण्डितप्रवर श्री हेमचन्द्रजी महाराज का प्रारम्भ से ही बहुमूल्य योगदान रहा है। पण्डितजी महाराज की यह बौद्धिक सेवा आचार्यश्री के साहित्य के साथ समाज की चेतना में चिर-स्मरणीय रहेगी।

प्रस्तुत संस्करण के प्रेरक एवं सम्पादक

प्रस्तुत आगम प्रकाशन के मूल प्रेरक रहे हैं—पण्डित मुनि श्री पदमचन्दजी महाराज, जो भण्डारीजी महाराज के नाम से समाज में सर्वत्र विश्रुत हैं। भंडारीजी मेरे पूज्य गुरुदेव के शिष्यवत् श्रद्धासिक्त स्नेही रहे हैं। उनकी काफी समय से इच्छा थी कि अपने गुरुदेव की यह रचना जनता के समक्ष आये। सूत्रकृतांग का लेखन बहुत पहले हो चुका था। अपने सौम्य स्वभाव के कारण अथवा ख्याति की आकांक्षा न होने के कारण उन्होंने (पं० हेमचन्द्रजी महाराज ने) इसके प्रकाशन की दिशा में कोई सक्रिय प्रयत्न नहीं किया। फलतः यह महती कृति वर्षों तक यों ही रखी रही।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पण्डितजी के प्रिय शिष्य श्री भण्डारीजी महाराज के अन्तर्मन में भावना जगी कि यह विराट शास्त्र आधुनिक शैली से पुनः सम्पादित होकर जन-चेतना के समक्ष आए। मुझे हार्दिक प्रसन्नता है कि भण्डारीजी की उक्त मंगल-भावना ने आज सुचारु रूप से मूर्त रूप लिया है।

पूर्व प्रकाशित प्रश्नव्याकरणसूत्र के समान सूत्रकृतांग के सम्पादन का यह महान् कार्य भी भंडारीजी के प्रिय शिष्य प्रवचनभूषण श्री अमरमुनिजी के द्वारा सम्पन्न हुआ है। श्री अमरमुनिजी प्रस्तुत आगम के व्याख्याकार पं० हेमचन्द्रजी महाराज के प्रशिष्य हैं। वे एक महान् कर्मठ, योग्य विचारक एवं जिनशासनरसिक तरुण मुनि हैं। वर्तमान पंजाब जैन श्रमणसंघ में मुनिजी एक महान् यशस्वी प्रवक्ता हैं। उनकी वाणी से सहज ही वह अमृतकल्प रसधारा बरसती है, जो हजारों-हजार श्रोताओं के अन्तर्मन को गहराई से स्पर्श कर जाती है, आनन्द से सराबोर कर देती है। वस्तुतः वे सही अर्थ में प्रवचनभूषण हैं। सेवा की तो वे जीवित प्रतिमूर्ति ही हैं। सन् १९६४ के पूज्य गुरुदेव के जयपुर वर्षावास में उनकी अस्वस्थता के समय उन्होंने जो उदात्त सेवा-परिचर्या की है, वह हम सब के स्मृति-कोष की एक अक्षुण्ण निधि है। वस्तुतः अमर मुनिजी में अपने पूर्व गुरुजनों की संस्कारधारा प्रवाहित है, जो उन्हें यशस्वी बनाती रही है और बनाती रहेगी। इन दिनों में पूज्य गुरुदेव का स्वास्थ्य ठीक नहीं चल रहा है। अतः इस महान् कार्य में प्रस्तावना के रूप में अपना योगदान देकर परम प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ। मुझे आशा है कि भविष्य में भण्डारीजी और अमरमुनिजी आगम प्रकाशन के इस महान् कार्य की परम्परा को आगे भी चालू रखेंगे।

प्रस्तुत सूत्रकृतांग सूत्र के व्याख्याकार की व्याख्या भी सुन्दर है, सम्पादक का सम्पादन भी मधुर है और प्रेरक की प्रेरणा भी प्रशंसा के योग्य है। प्रस्तुत प्रकाशन से आगमाभ्यासी एवं स्वाध्यायप्रेमी भाई-बहन अधिक से अधिक लाभान्वित हों, यही मेरी मंगल-भावना है। सुरभित सुमन की सुगन्ध सब ओर मुक्तगति से फैलनी ही चाहिए।

वीरायतन, राजगृह
अक्षय तृतीया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[सूत्रकृतांगसूत्र : द्वितीय श्रुतस्कन्ध]

विषय–सूची

प्रथम अध्ययन : पुण्डरीक १-१०५

अध्ययन का संक्षिप्त परिचय, पुष्करिणी के मध्य में खिला हुआ एक श्वेतकमल, उत्तम श्वेतकमल को पाने में असफल चार पुरुष, उत्तम श्वेतकमल को पाने में सफल भिक्षु, दृष्टान्त का अर्थघटन, तज्जीवतच्छरीरवादी : प्रथम व्यक्ति, दूसरा पंचमहाभूतिकपुरुष : स्वरूप और विश्लेषण, ईश्वरकारणवादी तृतीय पुरुष : स्वरूप और विश्लेषण, चतुर्थ पुरुष नियतिवादी : एक विश्लेषण, भिक्षाचर्या के लिए उद्यत साधु का यथार्थ चिन्तन, गृहस्थ तथा श्रमण-माहन एवं जैन मुनियों के आचार में अन्तर, पंचम पुरुष : भिक्षु का स्वरूप, विश्लेषण।

द्वितीय अध्ययन : क्रियास्थान १०६-२१६

अध्ययन का संक्षिप्त परिचय, संसार के समस्त जीव : इन्हीं तेरह क्रियास्थानों में, अर्थदण्डप्रत्यय क्रियास्थान का निरूपण, अनर्थ-दण्ड : क्या, कैसे और किसके लिए ? हिंसादण्डप्रत्ययिक : स्वरूप और विश्लेषण, चतुर्थ क्रियास्थान : अकस्माद्दण्डप्रत्ययिक, पञ्चम क्रियास्थान : दृष्टिविपर्यासदण्डप्रत्यय, छठा क्रियास्थान : मृषाप्रत्ययिक, सप्तम क्रियास्थान : अदत्तादानप्रत्ययिक, आठवाँ क्रियास्थान : अध्यात्म-प्रत्ययिक, नौवां क्रियास्थान : मानप्रत्ययिक, दसवाँ क्रियास्थान : मित्रदोषप्रत्ययिक, ग्यारहवाँ क्रियास्थान : मायाप्रत्ययिक, बारहवाँ क्रियास्थान : लोभप्रत्ययिक, तेरहवाँ क्रियास्थान : ऐर्यापथिक, प्रतिकूल विद्याओं के प्रयोग से प्रतिकूल गति, महापापियों के विभिन्न महापातककर्म और प्रसिद्धि, प्रथम स्थान : अधर्मपक्ष का स्वरूप और विश्लेषण, द्वितीयस्थान : धर्मपक्ष का स्वरूप और विश्लेषण, तृतीय स्थान : मिश्रपक्ष का स्वरूप और विश्लेषण, ये अधर्मस्थान के अधिकारीपुरुष !, नरक और वहाँ का वातावरण, अधर्मपक्षीय नरक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में कहाँ, कैसे, किस स्थिति में ?, धर्मपक्षीय मनुष्यों का आचार-विचार, तृतीय मिश्रस्थान : स्वरूप और विश्लेषण, अधर्मपक्ष में ३६३ मतवादियों का समावेश, ३६३ प्रावादुक उनके दुर्विचार और दुष्परिणाम, तेरह ही क्रियास्थानों का प्रतिफल।

तृतीय अध्ययन : आहार-परिज्ञा २१७-२७०

अध्ययन का संक्षिप्त परिचय, निक्षेपदृष्टि से आहार पर विचार, बीजकायिक जीवों की उत्पति एवं आहार क्या व कैसे ?, वृक्षयोनिक वृक्षों की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और आहार, वृक्षयोनिक वृक्षों में उत्पन होने वाले वृक्षयोनिक वृक्ष, वृक्ष के मूल आदि अवयवों की उत्पत्ति एवं आहार आदि का निरूपण, अध्यारुह की उत्पत्ति और आहार, तृणरूप, औषधिरूप एवं हरितरूप आदि के आहार वगैरह का निरूपण, उदकयोनिक वृक्षों के आहारादि का वर्णन, विभिन्न योनिक वनस्पतियों की उत्पत्ति एवं आहारादि का विश्लेषण, मनुष्यों की उत्पत्ति और आहार का निरूपण, तिर्यञ्च जीवों की उत्पत्ति और आहार के सम्बन्ध में, विकलेन्द्रिय प्राणियों की उत्पत्ति और आहार, त्रस-स्थावरयोनिक जीवों के आहारादि का वर्णन, अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों के आहारादि का निरूपण, पृथ्वीकायिक जीवों के प्रकार एवं आहारादि का विवरण, समस्त प्राणियों की अवस्था, आहारादि तथा साधक के लिए प्रेरणा।

चतुर्थ अध्ययन : प्रत्याख्यान-क्रिया २७१-२९८

अध्ययन का संक्षिप्त परिचय, अप्रत्याख्यानी आत्मा के प्रकार, पापकर्म में सदा लिप्त कौन है, कौन नहीं ?, अव्यक्त अज्ञात प्राणियों का पापकर्म करना : सम्भव या असम्भव ?, संज्ञी या असंज्ञी दोनों प्रकार के अप्रत्याख्यानी प्राणी सदैव सर्वपापरत, संयत, विरत, पापकर्म प्रत्याख्यानी कौन और कैसे ?

पंचम अध्ययन : अनगारश्रुत-आचारश्रुत २९९-३४०

अध्ययन का संक्षिप्त परिचय, आशुप्रज्ञ साधक के लिए अनाचार-सेवन का निषेध, एकान्त नित्यानित्यात्मक पक्ष अव्यवहार्य एवं अनाचरणीय, ये एकान्तवचन अव्यवहार्य एवं अनाचरणीय, क्षुद्र और महाकाय प्राणी की हिंसा से समान या असमान वैरबन्ध नहीं, आधाकर्मदोषी साधु : उपलिप्त या अनुपलिप्त ?, पांच शरीरों को एकान्त भिन्न अथवा अभिन्न न कहे, सबमें सर्व शक्तियाँ विद्यमान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं या अविद्यमान, लोक-अलोक के अस्तित्व यथार्थ ज्ञान, जीव और अजीव के अस्तित्व का यथार्थ ज्ञान, धर्म और अधर्म के अस्तित्व का यथार्थ ज्ञान, बंध और मोक्ष का अस्तित्व मानना ही चाहिए, पुण्य और पाप को मानना यथार्थ है, आस्रव और संवर के अस्तित्व की यथार्थता, वेदना और निर्जरा के अस्तित्व का सम्यग्ज्ञान, क्रिया और अक्रिया दोनों का अस्तित्व मानना, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग और द्वेष के अस्तित्व का यथार्थ ज्ञान, चातुर्गतिक संसार है—यही विचार यथार्थ है, सिद्धि, असिद्धि और सिद्धिस्थान का निश्चय, साधु-असाधु, कल्याणवान या पापी का अस्तित्व, कोई एकान्त कल्याणकारी या पापी नहीं होता, एकान्त नित्य या अनित्य कहना ठीक नहीं, सारा जगत् एकान्त दुःखमय है—यह कथन युक्तिसंगत नहीं, ये प्राणी वध्य हैं अवध्य हैं—यह वचन भी न कहे, सुसाधु के विषय में मिथ्या कल्पना मत करो, दानप्राप्ति अमुक से होगी या नहीं होगी—ऐसा न कहे, पूर्वोक्त सभी बातों का मोक्ष-प्राप्तिपर्यन्त ध्यान रखे।

छठा अध्ययन : आर्द्रकीय ३४१-३८५

छठे अध्ययन का संक्षिप्त परिचय, आक्षेप गोशालक के : उत्तर आर्द्रक मुनि के, गोशालक के भोगवादी धर्म का आर्द्रक मुनि द्वारा प्रतिवाद, दार्शनिकों के विवाद के सम्बन्ध में आर्द्रक की दृष्टि, डरपोक होने के आक्षेप का उत्तर, गोशालक द्वारा प्रदत्त वणिक् की उपमा का प्रतिवाद, बौद्धों के अपसिद्धान्त का आर्द्रक मुनि द्वारा खण्डन, कुशील-ब्राह्मण-भोजन का फल : शंका-समाधान, एकदण्डीमत और आर्द्रक मुनि द्वारा समाधान, हस्तितापसों को आर्द्रक मुनि का करारा उत्तर, सद्धर्म को अंगीकार करने वाले त्राता का जीवन।

सप्तम अध्ययन : नालन्दीय ३८६-४५४

सप्तम अध्ययन का संक्षिप्त परिचय ! नालन्दा की विशेषताएँ, लेप श्रमणोपासक की विशेषताएँ, प्रत्याख्यानप्रतिज्ञाभंग : एक शंका, उदकपेढालपुत्र द्वारा प्रस्तुत सुप्रत्याख्यान का स्वरूप, उदक निर्ग्रन्थ को गौतमस्वामी का स्पष्ट उत्तर, प्रश्न उदक निर्ग्रन्थ के : उत्तर गौतमस्वामी के, अटपटी शंका : स्पष्ट समाधान, निर्ग्रन्थों से श्री गौतमस्वामी के प्रश्न-प्रतिप्रश्न, श्रमणोपासक का त्रसहिंसा-प्रत्याख्यान निर्विषय नहीं, विभिन्न पहलुओं से श्रावक के प्रत्याख्यान की सार्थकता उदक निर्ग्रन्थ का जीवन-परिवर्तन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सोऊण जिणवरमतं
गणहारी काउ तक्खओवसमं ।
अज्झवसाणेण कयं
सुत्तमिणं तेण सूयगडं ॥

अक्खरगुणमतिसंघायणाए
कम्मपरिसाडणाए य ।
तदुभयजोगेण कयं
सुत्तमिणं तेण सूयगडं ॥

—आचार्य श्री भद्रबाहु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्रकृतांग सूत्र

[द्वितीय श्रुतस्कन्ध]

[मूलपाठ-संस्कृतछाया-अन्वय-व्याख्या सहित]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्रकृतांग सूत्र

[द्वितीय श्रुतस्कन्ध]

(अमरसुखबोधिनी-व्याख्या सहित)

प्रथम श्रुतस्कन्ध सोलह अध्ययनों में समाप्त हो जाने के पश्चात् द्वितीय श्रुतस्कन्ध प्रारम्भ किया जाता है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में जिन बातों का संक्षेप में निरूपण किया गया है, द्वितीय श्रुतस्कन्ध में वे ही बातें विस्तार एवं युक्ति के साथ कही गई हैं। जो बातें संक्षेप और विस्तार दोनों तरह से समझाई जाती हैं, वे अच्छी तरह समझ में आ जाती हैं। इसलिए प्रथम श्रुतस्कन्ध में कहे गये पदार्थों का इस श्रुतस्कन्ध में विस्तार के साथ वर्णन करना युक्तियुक्त ही है। अथवा प्रथम श्रुतस्कन्ध में जो बातें बताई गई हैं, उन्हें दृष्टांत देकर स्पष्ट रूप से समझाने के लिए ही इस द्वितीय श्रुतस्कन्ध की रचना की गई है। इसलिए ये दोनों ही श्रुतस्कन्ध संक्षिप्त और विस्तृत रूप से एक ही अर्थ के प्रतिपादक हैं।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सात अध्ययन हैं। निर्युक्तिकार ने इन सात अध्ययनों को महाध्ययन कहा है। क्योंकि ये अध्ययन बहुत बड़े-बड़े हैं, इसलिए ये महाअध्ययन कहे जाते हैं। वृत्तिकार ने इन्हें महाअध्ययन कहने का कारण बताते हुए लिखा है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध में जो बातें संक्षेप में कही गई हैं वे ही इन अध्ययनों में विस्तार से बताई गई हैं। इसीलिए इन्हें महाअध्ययन कहा गया है। अथवा प्रथम श्रुतस्कन्ध के पहले अध्ययन की अपेक्षा द्वितीय श्रुतस्कन्ध का प्रथम अध्ययन बड़ा होने से भी इसका नाम महाअध्ययन है। इन सात अध्ययनों के नाम ये हैं—(१) **पुण्डरीक,** (२) **क्रिया-स्थान,** (३) **आहारपरिज्ञा,** (४) **प्रत्याख्यान क्रिया,** (५) **आचार श्रुत या आगार श्रुत,** (६) **आर्द्रकीय और** (७) **नालन्दीय।**

इनमें से आचारश्रुत और आर्द्रकीय, ये दो अध्ययन पद्यरूप हैं, शेष पाँच अध्ययन गद्यरूप हैं। आहारपरिज्ञा में सिर्फ चार पद्य आते हैं, बाकी का सारा अध्ययन गद्यमय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम अध्ययन : पुण्डरीक

अध्ययन का संक्षिप्त परिचय

प्रथम अध्ययन का नाम पुण्डरीक है। पुण्डरीक सौ पंखुड़ियों वाले उत्तम श्वेत कमल को कहते हैं। उसकी उपमा देकर धर्म में दिलचस्पी पैदा करने के लिए महान् पुरुषों का आख्यान बताकर जीवों को विषय-भोगों से निवृत्त करके सुसाधुओं ने उन्हें मोक्षमार्ग का पथिक बनाया। इस अध्ययन में संसार से मुक्त कराने वाले सुमुनियों का वर्णन है।

आशय यह है कि जिस प्रकार प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन में भूतवादी, तज्जीव-तच्छरीरवादी, आत्मषष्ठवादी, ईश्वरवादी, नियतिवादी आदि वादियों के मतों का उल्लेख है, उसी प्रकार द्वितीय श्रुस्कन्ध के पुण्डरीक नामक प्रथम अध्ययन में उन वादियों के मतों की चर्चा है। प्रस्तुत अध्ययन में पुण्डरीक के रूपक की कल्पना की गई है और उसका परमार्थ समझाया गया है। रूपक इस प्रकार है—एक विशाल पुष्करिणी है। उसमें चारों ओर सुन्दर-सुन्दर कमल खिले हुए हैं। उसके ठीक मध्य में एक पुण्डरीक (कमल) खिला हुआ है। यहाँ पूर्व दिशा से एक पुरुष आया और उसने इस पुण्डरीक को देखा। देखकर कहने लगा—"मैं क्षेत्रज्ञ या खेदज्ञ हूँ, कुशल हूँ, विद्वान् हूँ, व्यक्त हूँ, मेधावी हूँ, ज्ञानी (अ-बाल) हूँ, मार्गस्थ हूँ, मार्गवेत्ता हूँ, और मार्ग पर पहुँचने के गति-पराक्रम का भी ज्ञाता हूँ। मैं इस उत्तम कमल को तोड़ लाऊँगा।" यों कहता हुआ वह पुष्करिणी में घुसा। और ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ने लगा, त्यों-त्यों गहरा पानी एवं भयंकर कीचड़ आने लगा। फलतः वह किनारे से दूर ही कीचड़ में फँस गया। अतः न इस ओर वापस आ सका और न ही उस ओर जा सका। इसी प्रकार पश्चिम, उत्तर और दक्षिण से आये हुए तीन अन्य पुरुष भी उस कीचड़ में फँस गये। इतने में एक सुसंयमी निःस्पृह एवं कुशल भिक्षु वहाँ आ पहुँचा। उसने इन चारों व्यक्तियों को कीचड़ में फँसे देखकर सोचा कि "ये लोग अकुशल, अमेधावी और अपण्डित मालूम होते हैं। इस तरह क्या ऐसा उत्तम कमल प्राप्त किया जा सकता है? मैं इस कमल को प्राप्त कर सकूँगा।" यों सोचकर पानी में न उतरते हुए किनारे पर खड़ा रहकर ही कहने लगा—"हे श्रेष्ठ श्वेतकमल! मेरे पास उड़कर आ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जा, मेरे पास उड़ आ।" यों कहते ही वह कमल वहाँ से उठकर उस भिक्षु के पास आ गया।

इस रूपक का परमार्थ सार बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं—यह संसार पुष्करिणी के समान है। इसमें कर्मरूपी पानी एवं काम-भोगरूपी कीचड़ भरा है। अनेक जनपद चारों ओर फैले हुए कमल के समान हैं। मध्य में स्थित पुण्डरीक राजा के समान है। पुष्करिणी में प्रविष्ट होने वाले चारों पुरुष अन्यतीर्थिकों के समान हैं। कुशल भिक्षु धर्मरूप है। किनारा धर्मतीर्थरूप है। भिक्षु द्वारा उच्चारित शब्द धर्म-कथारूप हैं और पुण्डरीक कमल का उठना निर्वाण के समान है।

उपर्युक्त चार पुरुषों में से पहला पुरुष तज्जीव-तच्छरीरवादी है। उसके मत से शरीर और जीव एक हैं, अभिन्न हैं। यह अनात्मवाद है। इसका दूसरा नाम नास्तिकवाद भी है। प्रस्तुत अध्ययन में इस वाद का वर्णन है। यह वर्णन सामञ्ञ-फलसुत्त में निरूपित तथागत बुद्ध के समकालीन अजित केशकम्बल के उच्छेदवाद के वर्णन से हूबहू मिलता है। इतना ही नहीं, इनके शब्दों में भी समानता दिखायी देती है।

दूसरा पुरुष पंचमहाभूतवादी है। उसके मतानुसार पाँच भूत ही यथार्थ हैं। उन्हीं से प्राणियों की उत्पत्ति होती है। तज्जीव-तच्छरीरवाद एवं पंचभूतवाद में अन्तर यह है कि प्रथम के मत से जीव और शरीर एक हैं, दोनों में कोई अन्तर नहीं है; जबकि दूसरे के मत से जीव की उत्पत्ति पंचमहाभूतों के सम्मिश्रण से शरीर के बनने पर होती है और शरीर के नष्ट होने के साथ ही जीव का भी नाश हो जाता है। पंचभूतवादी भी आचार-विचार में तज्जीव-तच्छरीरवादी से मिलते-जुलते हैं। पंचभूतवादी की चर्चा में आत्मषष्ठवादी के मत का भी उल्लेख किया गया है जो इन पंचमहाभूतों के अतिरिक्त छठे आत्म तत्त्व का भी अस्तित्व स्वीकार करता है। वृत्ति-कार ने आत्मषष्ठवादी को सांख्यदर्शन बताया है।

तीसरा पुरुष ईश्वरकारणवादी है जिसके मतानुसार यह लोक ईश्वरकृत है। अर्थात् संसार का कारण ईश्वर है।

चौथा पुरुष नियतिवादी है। नियतिवाद का स्वरूप प्रथम श्रुतस्कन्ध के पहले अध्ययन के दूसरे उद्देशक के प्रारम्भ की तीन गाथाओं में बताया गया है। उसके मतानुसार जगत् की समस्त क्रियायें नियत हैं, अपरिवर्तनीय हैं। जो कार्य जिस रूप में नियत है, उसी रूप में वह पूर्ण होगा। उसमें कोई किसी प्रकार की तब्दीली नहीं कर सकता।

सबसे अन्त में, जो सुविहित भिक्षु आता है, वह इन चारों से अलग किस्म का है। वह संसार को असार समझकर भिक्षु बनता है और धर्म का यथार्थ स्वरूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जान-समझकर त्याग-प्रधान धर्म (मोक्षमार्ग) का उपदेश देता है, जिससे निर्वाण प्राप्त होता है। वह धर्म जिन-प्ररूपित है, वीतरागकथित है। जो अनासक्त हैं, निस्पृह हैं, अहिंसा, सत्यादि महाव्रतों का निष्ठापूर्वक पालन करते हैं, वे ही निर्वाण को प्राप्त कर सकते हैं; इसके विपरीत जिनका आचार-विचार है, वे मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते। यही प्रथम अध्ययन का निष्कर्ष है। प्रथम अध्ययन में प्रयुक्त कुछ शब्द और वाक्य आचारांग के वाक्यों और शब्दों से मिलते-जुलते हैं।

इस अध्ययन का मूल उद्देश्य विषय-भोग से या गलत आचार-विचार से निवृत्त करके मुमुक्षुजीवों को मोक्षमार्ग में प्रवृत्त करना है। जो लोग प्रव्रज्याधारी होकर भी विषय-पंक में निमग्न हैं, वे साधु नहीं हैं। वे स्वयं संसार-सागर से पार नहीं हो सकते, तब फिर वे दूसरों को संसार-सागर से कैसे पार कर सकते हैं? यह भी इस अध्ययन में बताया गया है।

इस सम्बन्ध से प्राप्त द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन का प्रथम सूत्र इस प्रकार है—

मूल पाठ

सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु पोण्डरीए णामज्झयणे। तस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते—से जहाणामए पुक्खरिणी सिया बहुउदगा बहुसेया बहुपुक्खला लद्धट्ठा पुण्डरिकिणी पासादीया दरिसणिया, अभिरूवा पडिरूवा, तीसे णं पुक्खरिणीए तत्थ तत्थ देसे देसे तहिं तहिं बहवे पउमवरपोंडरीया बुइया, अणुपुव्वुट्ठिया उस्सिया रुइला वण्णमंता गंधमंता रसमंता फासमंता पासादीया दरिसणिया अभिरूवा पडिरूवा। तीसे णं पुक्खरिणीए बहुमज्झदेसभाए एगे महं पउमवरपोंडरीए बुइए, अणुपुव्वुट्ठिए उस्सिए रुइले वण्णमंते गंधमंते रसमंते फासमंते पासादीए जाव पडिरूवे। सव्वावंति च णं तीसे पुक्खरिणीए तत्थ तत्थ देसे देसे तहिं तहिं बहवे पउमवरपोंडरीया बुइया अणुपुव्वुट्ठिया ऊसिया रुइला जाव पडिरूवा, सव्वावंति च णं तीसे णं पुक्खरिणीए बहुमज्झदेसभाए एगं महं पउमवरपोंडरीए बुइए अणुपुव्वुट्ठिए जाव पडिरूवे ॥सू० १॥

संस्कृत छाया

श्रुतं मया आयुष्मन्! तेन भगवता एवमाख्यातम्। इह खलु पुण्डरीक नामाध्ययनम्, तस्य खल्वयमर्थः प्रज्ञप्तः—तद्यथा नाम पुष्करिणी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्यात् बहूदका, बहुसेया, बहुपुष्कला, लब्धार्था, पुण्डरीकिणी, प्रसादिका, दर्शनीया, अभिरूपा, प्रतिरूपा। तस्याः खलु पुष्करिण्यास्तत्रतत्र देशे देशे तस्मिन् तस्मिन् बहूनि पद्मवरपुण्डरीकानि उक्तानि, आनुपूर्व्या उत्थितानि उच्छ्रितानि, रुचिराणि, वर्णवन्ति, गन्धवन्ति, रसवन्ति, स्पर्शवन्ति, प्रसादिकानि दर्शनीयानि, अभिरूपाणि, प्रतिरूपाणि। तस्याः पुष्करिण्याः बहुमध्यदेशभागे एकं महत् पद्मवरपुण्डरीकमुक्तम् आनुपूर्व्या उत्थितं उच्छ्रितं रुचिर वर्णवत् गन्धवत् रसवत् स्पर्शवत् प्रसादिकं यावत् प्रतिरूपम्। सर्वस्या अपि च खलु तस्याः पुष्करिण्यास्तत्र तत्र देशे देशे तस्मिन् तस्मिन् बहूनि पद्मवर-पुण्डरीकाणि उक्तानि आनुपूर्व्या उत्थितानि उच्छ्रितानि रुचिराणि यावत् प्रतिरूपाणि, सर्वस्या अपि तस्याः पुष्करिण्याः बहुमध्यदेशभागे एकं महत पद्मवरपुण्डरीकमुक्तम् आनुपूर्व्या उत्थितं यावत् प्रतिरूपम् ॥सू० १॥

अन्वयार्थ

(**सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं**) श्रीसुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन् ! मैंने सुना है, उन भगवान् ने ऐसा कहा था। (**इह खलु पोंडरीए णामज्झयणे**) इस आर्हत्-प्रवचन में पुण्डरीक नामक एक अध्ययन है, (**तस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते**) उसका यह अर्थ—भाव उन्होंने बताया था (**से जहाणामए पुक्खरिणीए सिया**) कल्पना करो कि जैसे कोई पुष्करिणी (कमलों वाली बावड़ी) है। (**बहुउदगा**) जो अगाध जल से परिपूर्ण है, (**बहुसेया**) बहुत कीचड़वाली है। (**बहुपुक्खला**) बहुत पानी होने से अत्यन्त गहरी है, अथवा बहुत-से कमलों से युक्त है। (**लद्धट्ठा**) पुष्करिणी (कमलों से युक्त) नाम को सार्थक करने वाली अथवा यथार्थ नाम वाली अथवा जगत् में प्रतिष्ठित है, (**पुण्डरिकिणी**) उसमें पुण्डरीक यानी श्वेतकमल हैं। (**पासादीया दरिसणिया अभिरूवा पडिरूवा**) वह पुष्करिणी देखने मात्र से चित्त को प्रसन्न करने वाली, दर्शनीय, प्रशस्त रूपसम्पन्न, अद्वितीय रूपवाली तथा अत्यन्त मनोहर है। (**तीसे णं पुक्खरिणीए तत्थ तत्थ देसे देसे तहिं तहिं**) उस पुष्करिणी के उन-उन देशों और उन-उन प्रदेशों में यत्र तत्र (**बहवे पउमवरपोंडरीया बुइया**) बहुत से उत्तमोत्तम श्वेतकमल विद्यमान हैं (**अणुपुव्वुट्ठिया**) वे श्वेतकमल क्रम से ऊँचे उठे हुए हैं, (**उस्सिया**) वे पानी और कीचड़ को उल्लंघन करके ऊपर स्थित हैं। (**रुइला**) वे अत्यन्त दीप्तिमान हैं। (**वण्णमंता**) वे रंग-रूप में अत्यन्त सुन्दर हैं, (**गंधमंता**) सुगन्धित हैं, (**रसमंता**) रसों से युक्त हैं, (**फासमंता**) उत्तम कोमल स्पर्श वाले हैं (**पासादीया दरिसणिया अभिरूवा पडिरूवा**) वे देखने में चित्त को प्रसन्न करने वाले, दर्शनीय, मनोहर एवं अनुपम सुन्दर हैं। (**तीसे णं पुक्खरिणीए बहुमज्झदेसभाए**) उस पुष्करिणी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के ठीक बीचोंबीच (मध्य भाग में) **(एगे महं)** एक बहुत बड़ा **(पउमवरपोंडरीए बुइए)** उत्तम श्वेतकमल सुशोभित कहा गया है। **(अणुपुव्वुट्ठिए)** वह उत्तमोत्तम क्रम से विलक्षण रचना से युक्त है। **(उस्सिए)** वह कीचड़ और जल से ऊपर उठा हुआ है अथवा बहुत ऊँचा है, **(रुइले वण्णमंते गंधमंते रसमंते फासमंते पासादीए जाव पडिरूवे)** वह अत्यन्त रुचिकर या दीप्तिमान है, मनोज्ञ है, सुन्दर नीले-पीले-हरे आदि वर्णों से रंग-बिरंगा है, उत्तम सुगन्ध से युक्त है, विलक्षण रसों से सम्पन्न है, कोमल स्पर्श से युक्त है, अत्यन्त आल्हादक, दर्शनीय, मनोहर और अद्वितीय सुन्दर है। **(सव्वावंति च णं तीसे पुक्खरिणीए तत्थ तत्थ देसे देसे तहिं तहिं)** उस सारी पुष्करिणी (बावड़ी) में जहाँ-तहाँ इधर-उधर सभी देशों-प्रदेशों में **(बहवे पउमवरपोंडरीया बुइया अणुपुव्वुट्ठिया उस्सिया रुइला जाव पडिरूवे)** बहुत से उत्तमोत्तम सफेद कमल भरे पड़े हैं। वे क्रमशः उतार-चढ़ाव से सुन्दर रचना से युक्त हैं, कीचड़ और पानी से ऊपर उठे हुए हैं जिनकी विलक्षण चमक-दमक है, उत्तम वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श से युक्त हैं, एवं पूर्वोक्त गुणों से सम्पन्न, अत्यन्त मनोहर तथा दर्शनीय हैं। **(सव्वावंति च णं तीसे णं पुक्खरिणीए बहुमज्झदेसभाए)** उस समग्र पुष्करिणी के ठीक मध्य भाग में **(एगं महं पउमवरपोंडरीए बुइए अणुपुव्वुट्ठिए जाव पडिरूवे)** एक महान् उत्तम श्वेतकमल (बताया गया) है, जो क्रमशः उभरा हुआ तथा पूर्वोक्त सभी गुणों से सुशोभित बहुत ही सुन्दर है।

व्याख्या

पुष्करिणी के मध्य में खिला हुआ एक उत्तम श्वेतकमल

इस सूत्र में शास्त्रकार ने पुष्करिणी का एक सुन्दर रूपक प्रस्तुत किया है। वास्तव में जिज्ञासुओं और मुमुक्षु साधकों को सृष्टि का स्वरूप सरलता से समझाने के लिए और मोक्ष की ओर उन्मुख करने के लिए शास्त्रकार ने इस रूपक का अवलम्बन लिया है। उन्होंने बताया है कि कल्पना करो—एक बहुत बड़ी, सुन्दर, दर्शनीय, चित्ताल्हादक, मनोज्ञ, अनेक कमलों से परिपूर्ण हो, अगाध जल से युक्त हो, ऐसी असाधारण सारी पुष्करिणी (वापी) के कोने-कोने में, यत्र-तत्र-सर्वत्र रंग-बिरंगे, सुगन्धित, रसयुक्त, कोमल स्पर्श वाले, विविध प्रकार के कमल खिले हों, वे क्रमशः उन्नत हों, दूर से देखने वाले को अत्यन्त मनोहर लगते हों, दर्शक उन्हें देखकर मुग्ध हो जाता हो, और फिर उस पुष्करिणी के ठीक बीचों-बीच बहुत से पद्मवरपुण्डरीक (उत्तम जाति के श्वेत कमल) खिले हुए हों, जिनकी रचना बहुत ही विलक्षण हो, जो कीचड़ से बहुत ही ऊपर उठे हुए हों, बहुत ही ऊँचे हों, उत्तम वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श से युक्त हों, दर्शकों के चित्त में प्रसन्नता पैदा करने वाले हों, तथा पूर्वोक्त सभी गुणों से युक्त हों।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानलो, उस सारी पुष्करिणी के ठीक मध्य में उत्पन्न उन समस्त पुण्डरीकों (पद्म कमलों) के बिल्कुल बीच में, सबका केन्द्ररूप, सारी बावड़ी का शिरोमणिरूप बहुत बड़ा सहस्रदल पुण्डरीक कमल हो, जिसे देखने के लिए दूर-दूर से दर्शक आते हों, जो देखने मात्र से दर्शक के चित्त में आल्हाद उत्पन्न करता हो, जिसके पत्ते क्रमशः उभरे हुए हों, जो अपने तेज से चमकता हो, जो अपने सौन्दर्य एवं आकर्षण से द्रष्टाओं को आकर्षित और प्रभावित कर देता हो भला ऐसा उत्तम और उन्नत पद्मवरपुण्डरीक किसका मन नहीं मोह लेगा ?

सारांश

कल्पना करो, संसारभर में प्रसिद्ध एक पुष्करिणी है, जो अत्यन्त सुन्दर एवं दर्शनीय है, उसमें स्थान-स्थान पर सुन्दर कमल खिले हैं। उस सारी पुष्करिणी (बावड़ी) के बीचोंबीच बहुत से पुण्डरीक नामक उत्तम श्वेतकमल खिले हुए हैं, वे भी अत्यन्त रमणीय और चित्ताकर्षक हैं। क्रमशः उभरे हुए, उन्नत और ऊँचाई पर स्थित हैं। उन सबके मध्य में एक सर्वश्रेष्ठ, भव्य, चित्तचमत्कारक, अत्यन्त चमकीला, जन-मन-नयनप्रभावक पद्मवरपुण्डरीक नामक श्रेष्ठ श्वेतकमल है।

ऐसा महान् श्वेत पुण्डरीक किस द्रष्टा को कैसे आकर्षित करता है तथा उसे देखकर कौन आसक्तिपूर्वक उसमें फँस जाता है, कौन व्यक्ति अनासक्त एवं निर्लिप्त रहकर निर्वाण प्राप्त कर लेता है ? इसे बताने के लिए इसी रूपक को शास्त्रकार विस्तृत करते हैं—

मूल पाठ

अह पुरिसे पुरित्थिमाओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरिणीं तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासइ, तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं अणुपुव्वुट्ठियं ऊसियं जाव पडिरूवं। तए णं से पुरिसे एवं वयासी—अहमंसि पुरिसे खेयन्ने कुसले पंडिए वियत्ते मेहावी अबाले मग्गत्थे मग्गविऊ मग्गस्स गइपरिक्कमण्णू अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामि त्ति कट्टु इइ बुया से पुरिसे अभिक्कमेइ तं पुक्खरिणीं, जावं जावं च णं अभिक्कमेइ तावं तावं च णं महंते उदए महंते सेए पहीणे तीरं अपत्ते पउमवरपोंडरीयं णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा पोक्खरिणीए सेयंसि निसण्णे पढमे पुरिसजाए ॥ सू० २॥

अहावरे दोच्चे पुरिसजाए, अह पुरिसे दक्खिणाओ दिसाओ आगम्म तं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुक्खरिणीं तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासइ तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं अणुपुव्वुट्ठियं पासादीयं जाव पडिरूवं। तं च एत्थ एगं पुरिसजायं पासइ पहीणतीरं अपत्तं पउमवरपोंडरीयं णो हव्वाए णो पाराए, अन्तरा पोक्खरिणीए सेयंसि णिसन्नं। तए णं से पुरिसे तं पुरिसं एवं वयासी—अहो णं इमे पुरिसे अखेयन्ने अकुसले अपंडिए अवियत्ते अमेहावी बाले णो मग्गत्थे णो मग्गविऊ णो मग्गस्स गइपरक्कमण्णू जन्नं एस पुरिसे, अहं खेयन्ने कुसले जाव पउमवरपोंडरीयं उन्निखिस्सामि णो य खलु एयं पउमवरपोंडरीयं एवं उन्निक्खेयव्वं, जहा णं एस पुरिसे एवं मन्ने, अहमंसि पुरिसे खेयन्ने कुसले पंडिए वियत्ते मेहावी अबाले मग्गत्थे मग्गविऊ मग्गस्स गइपरक्कमण्णू अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामि त्ति कट्टु इइ बुच्चा से पुरिसे अभिक्कमे तं पुक्खरिणिं, जावं जावं च णं अभिक्कमेइ तावं तावं च णं महंते उदए महंते सेए पहीणे तीरं अपत्ते पउमवरपोंडरीयं णो हव्वाए णो पाराए अंतरा पोक्खरिणीए सेयंसि णिसन्ने दोच्चे पुरिसजाए ।।सू० ३।।

अहावरे तच्चे पुरिसजाए, अह पुरिसे पच्चत्थिमाओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरिणीं, तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासइ तं एगं महं पउमवरपोंडरीयं अणुपुव्वुट्ठियं जाव पडिरूवं, ते तत्थ दोन्नि पुरिसजाए पासइ पहीणे तीरं अपत्ते पउमवरपोंडरीयं णो हव्वाए णो पाराए जाव सेयंसि णिसन्ने, तए णं से पुरिसे एवं वयासी—'अहो णं इमे पुरिसा अखेयन्ना अकुसला अपंडिया अवियत्ता अमेहावी बाला णो मग्गत्था णो मग्गविऊ णो मग्गस्स गइपरक्कमण्णू जं णं एए पुरिसा एवं मन्ने, अम्हे एयं पउमवरपोंडरीयं उण्णिक्खिस्सामो, नो य खलु एयं पउमवरपोंडरीयं एवं उन्निक्खेयव्वं जहा णं एए पुरिसा मन्ने, अहमंसि पुरिसे खेयन्ने कुसले पंडिए वियत्ते मेहावी अबाले मग्गत्थे मग्गविऊ मग्गस्स गइपरक्कमण्णू अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामि त्ति कट्टु इइ बुच्चा से पुरिसे अभिक्कमे तं पुक्खरिणिं जावं जावं च णं अभिक्कमे तावं तावं च णं महंते उदए, महंते सेए जाव अंतरा पोक्खरिणीए सेयंसि णिसन्ने, तच्चे पुरिसजाए ।।सू० ४।।

अहावरे चउत्थे पुरिसजाए अह पुरिसे उत्तराओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरिणिं, तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासइ तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं अणुपुव्वुट्ठियं जाव पडिरूवं, ते तत्थ तिन्नि पुरिसजाए पासइ पहीणे तीरं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपत्ते जाव सेयंसि णिसन्ने। तए णं से पुरिसे एवं वयासी—अहो णं इमे पुरिसा अखेयन्ना जाव णो मग्गस्स गइपरक्कमण्णू जण्णं एए पुरिसा एवं मन्ने—अम्हे एयं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामो णो य खलु एयं पउमवरपोंडरीयं एयं उन्निक्खेयव्वं जहा णं एए पुरिसा मन्ने, अहमंसि पुरिसे खेयन्ने जाव मग्गस्स गइपरक्कमण्णू, अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामि त्ति कट्टु इति बुच्चा से पुरिसे तं पुक्खरिणिं जावं जावं च णं अभिक्कमे तावं तावं च णं महन्ते उदए महंते सेए, जाव णिसन्ने, चउत्थे पुरिसजाए ॥सू० ५॥

संस्कृत छाया

अथ पुरुषः पुरस्ताद् दिशः आगत्य तां पुष्करिणीं, तस्याः पुष्करिण्यास्तीरे स्थित्वा पश्यति तन्महदेकं पद्मवरपुण्डरीकम् आनुपूर्व्या उत्थितं उच्छ्रितं यावत्प्रतिरूपम्। ततः खलु स पुरुषः एवमवादीत्—अहमस्मि पुरुषः खेदज्ञः कुशलः पण्डितः व्यक्तः मेधावी अबालः मार्गवित् मार्गस्य गतिपराक्रमज्ञः अहमेतत् पद्मवरपुण्डरीकमुन्निक्षेप्स्यामीति कृत्वा (आगतः) इत्युक्त्वा स पुरुषः अभिक्रामति तां पुष्कारिणीं यावद् यावदभिक्रामति तावत तावत् महदुदकं, महान् सेयः प्रहीणस्तीराद् अप्राप्तः पद्मवरपुण्डरीकम् नोऽर्वाचे नो पाराय अन्तरा पुष्करिण्याः सेये निषण्णः प्रथमः पुरुषजातः ॥सू०२॥

अथापरो द्वितीयः पुरुषजातः, अथ पुरुषो दक्षिणस्याः दिशः आगत्य तां पुष्करिणीं, तस्याः पुष्करिण्यास्तीरे स्थित्वा पश्यति तन्महदेकं पद्मवरपुण्डरीकं आनुपूर्व्योत्थितं प्रसादिकं यावत् प्रतिरूपम्। तं चात्रैकं पुरुषजातं पश्यति प्रहीणतीरमप्राप्तपद्मवरपुण्डरीकं नोऽर्वाचे नो पाराय अन्तरा पुष्करिण्याः सेये निषण्णम्। ततः खलु स पुरुषः तं पुरुषमेवमवादीत् अहो! खल्वयं पुरुषोऽखेदज्ञोऽकुशलोऽपण्डितोऽव्यक्तोऽमेधावीबालो नो मार्गस्थो, नो मार्गवित्, नो मार्गस्य गतिपराक्रमज्ञो यस्मादेष पुरुषः (एतत्कृतवान्) एवं मन्यते—अहं खेदज्ञः, कुशलः, पण्डितो, व्यक्त, मेधावी, अबालो, मार्गस्थो, मार्गविद्, मार्गस्य गतिपराक्रमज्ञोऽहमेतत् पद्मवरपुण्डरीकम् उन्निक्षेप्स्यामि न च खलु एतत् पद्मवरपुण्डरीकम् एवम् उन्निक्षेप्तव्यं यथैष पुरुषो मन्यते। अहमस्मि पुरुषः खेदज्ञः कुशलः पण्डितः व्यक्तः मेधावी अबालो मार्गस्थो मार्गस्य गतिपराक्रमज्ञोऽहमेतत् पद्मवरपुण्डरीकम् उन्निक्षेप्स्यामीति कृत्वा (अत्रागत) इत्युक्त्वा स पुरुषोऽभिक्रामति एतां पुष्करिणीं। यावद् यावद्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिक्रामति च खलु तावत् तावच्च खलु महदुदकं महान् सेयः प्रहीणस्तीरादप्राप्तः पद्मवरपुण्डरीकं नोऽर्वाचे नो पाराय अन्तरा पुष्करिण्याः सेये निषण्णः द्वितीय पुरुषजातः ।।सू० ३।।

अथापरस्तृतीयः पुरुषजातः, अथ पुरुषः पश्चिमायाः दिश आगत्य तां पुष्करिणीं, तस्याः पुष्करिण्यास्तीरे स्थित्वा पश्यति तद् महदेकं पद्मवरपुण्डरीकमानुपूर्व्योत्थितं यावत् प्रतिरूपम् । तौ तत्र द्वौ पुरुषजातौ पश्यति प्रहीणौ तीरादप्राप्तौ पद्मवरपुण्डरीकं नोऽर्वाचे नो पाराय यावत् सेये निषण्णौ । ततः स पुरुषः एवमवादीत्—अहो ! इमौ पुरुषौ अखेदज्ञौ, अकुशलौ, अपण्डितौ, अव्यक्तौ, अमेधाविनौ, बालौ, नो मार्गस्थौ, नो मार्गविदौ, नो मार्गस्य गतिपराक्रमज्ञौ, यतः इमौ पुरुषौ मन्येते—आवामेतत् पद्मवरपुण्डरीकम् उन्निक्षेप्स्यावः । न च खलु एतत् पद्मवरपुण्डरीकमेवम् उन्निक्षेप्तव्यम्, यथैतौ पुरुषौ मन्यते । अहमस्मि पुरुषः खेदज्ञः कुशलः पण्डितो व्यक्तो मेधावी अबालो मार्गस्थो मार्गविद् मार्गस्य गतिपराक्रमज्ञः अहमेतत् पद्मवरपुण्डरीकम् उन्निक्षेप्स्यामीति कृत्वाऽऽगतः, इत्युक्त्वा स पुरुषोऽभिक्रामति तां पुष्करिणीं, यावद् यावद् अभिक्रामति तावत् तावच्च खलु महदुदकं महान् सेयः यावदन्तरा पुष्करिण्याः सेये निषण्णः तृतीयः पुरुषजातः ।।सू० ४।।

अथापरश्चतुर्थः पुरुषजातीयः । अथ पुरुषः उत्तरस्याः दिशः आगत्य तां पुष्करिणीं, तस्याः पुष्करिण्यास्तीरे स्थित्वा पश्यति तन्महदेकं पद्मवरपुण्डरीकम् आनुपूर्व्या उत्थितं यावत् प्रतिरूपम् । तान् त्रीन् पुरुषजातान् पश्यति प्रहीणान् तीरादप्राप्तान् यावत् सेये निषण्णान् । ततः स पुरुषः एवमवादीद्—अहो ! इमे पुरुषाः अखेदज्ञाः यावद् नो मार्गस्य गतिपराक्रमज्ञाः । यस्मादेते पुरुषाः एवं मन्यन्ते वयमेतत् पद्मवरपुण्डरीकमुन्निक्षेप्स्यामः । न च खलु पद्मवरपुण्डरीकमेवमुन्निक्षेप्तव्यं यथैते पुरुषाः मन्यन्ते । अहमस्मि पुरुषः खेदज्ञो यावन्मार्गस्य गतिपराक्रमज्ञः अहमेतत् पद्मवरपुण्डरीकमुन्निक्षेप्स्यामीति कृत्वा (अत्रागतः) इत्युक्त्वा स पुरुषः पुष्करिणीं यावद् यावच्चाभिक्रामति तावत तावच्च महदुदकं महान सेयः यावन्निषण्णश्चतुर्थः पुरुषजातीयः ।।सू० ५।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**अह**) अब या कल्पना करो, (**पुरिसे**) कोई पुरुष (**पुरित्थिमाओ दिसाओ तं पुक्खरिणीं आगम्म**) पूर्वदिशा से उस पुष्करिणी (बावड़ी) के पास आकर (**तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा**) उस पुष्करिणी के किनारे पर खड़ा होकर (**तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं पासइ**) उस महान उत्तम एक श्वेतकमल को देखता है। (**अणुपुव्वुट्ठियं ऊसियं जाव पडिरूवं**) कि यह कमल अनुक्रम से उत्थित है। अर्थात् जिस-जिस स्थान पर जैसी-जैसी रचना होनी चाहिए, वैसी ही उतार-चढ़ावदार रचना है। तथा यह पानी और कीचड़ पर स्थित है तथा पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त अतीव मनोहर, दर्शनीय तथा सुन्दर है। (**तए णं से पुरिसे एवं वयासी**) उस कमल को देखकर उस पुरुष ने इस प्रकार कहा—(**अहं पुरिसे असि**) मैं पुरुष हूँ, (**खेयन्ने**) खेद यानी मार्ग में होने वाले श्रम को जानता हूँ, (**कुसले**) मैं हित की प्राप्ति और अहित के त्याग करने में निपुण हूँ, (**पंडिए**) मैं पाप से निवृत्त हूँ या सद्-असद् विवेक से सम्पन्न हूँ (**वियत्ते**) मैं बालभाव से निवृत्त हूँ अर्थात् मैं प्रौढ़ एवं परिपक्व हूँ। (**मेहावी**) मैं बुद्धिशाली हूँ (**अबाले**) मैं बाल नहीं हूँ, अर्थात् युवक हूँ (**मग्गत्थे**) मैं सत्पुरुषों द्वारा आचरित मार्ग पर स्थित हूँ (**मग्गविऊ**) मैं मार्ग का वेत्ता हूँ। (**मग्गस्स गइपरक्कमण्णू**) जिस मार्ग पर चलकर जीव अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त करता है, उसे जानता हूँ। (**अहमेयं पउमवरपोंडरीयं**) मैं इस उत्तम श्वेतकमल को (**उन्निक्खिस्सामि**) उखाड़कर ले आऊंगा (**त्ति कट्टु**) इस प्रकार अपनी शेखी बघारता हुआ (**इइ बुया**) यह कहकर (**से पुरिसे तं पुक्खरिणीं अभिक्कमेइ**) वह पुरुष उस पुष्करिणी में प्रवेश करता है। (**जावं जावं च णं अभिक्कमेइ**) वह ज्यों-ज्यों उस पुष्करिणी में आगे बढ़ता जाता है, (**तावं तावं च णं महंते उदए महंते सेये**) त्यों-त्यों उस पुष्करिणी में उसे अधिकाधिक पानी और कीचड़ का सामना करना पड़ता है। (**तीरं पहीणे**) वह व्यक्ति किनारे से हट चुका है और (**पउमवरपोंडरीए अपत्ते**) और उस श्वेतकमल तक पहुँच नहीं पाया है। (**णो हव्वाए णो पाराए**) वह इस पार का रहता है, न उस पार का। (**अंतरा पोक्खरिणीए सेयंसि निसण्णे पढमे पुरिसजाए**) किन्तु वह पुष्करिणी के बीच में ही गहरे कीचड़ में फँसकर अत्यन्त क्लेश पाता है। यह प्रथम पुरुष की कथा है ॥२॥

(**अहाव रेदोच्चे पुरिसजाए**) यहाँ से अब दूसरे पुरुष का वृत्तान्त बताया जाता है। (**अह पुरिसे दक्खिणाओ दिसाओ तं पुक्खरिणीं आगम्म**) पहले पुरुष के कीचड़ में फँस जाने के बाद दूसरा पुरुष दक्षिण दिशा से उस पुष्करिणी के पास आकर (**तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा**) उस पुष्करिणी के दक्षिण तट पर खड़ा होकर (**तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं पासइ**) उस विशाल एक श्रेष्ठ श्वेतकमल (पुण्डरीक) को देखता है। (**अणुपुव्वुट्ठियं पासादीयं जाव पडिरूवं**) जो विशिष्ट एवं क्रमबद्ध रचना से युक्त,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चित्त को प्रसन्न करने वाला और पूर्वोक्त गुणों से सम्पन्न अतीव सुन्दर है। (**तं च एत्थ एगं पुरिसजातं पासइ**) तथा वहाँ उस पुरुष को भी देखता है, (**पहीणतीरं अपत्तं पउमवरपोंडरीयं, णो हव्वाए णो पाराए अंतरा पोक्खरिणीए सेयंसि निसण्णं**) जो किनारे से बहुत दूर हट चुका है, और उस प्रधान श्रेष्ठ श्वेतकमल तक भी पहुँच नहीं पाया है, जो न इधर का रहा है, न उधर का; मगर बेचारा उस पुष्करिणी के बीच में ही कीचड़ में फँस गया है। (**तए णं से पुरिसे तं पुरिसं एवं वयासी**) तब दक्षिण दिशा से आया हुआ वह दूसरा पुरुष उस पहले पुरुष के विषय में, (जो कमल को लाने के लिये बावड़ी में घुसा था) इस प्रकार कहता है—(**अहो णं इमे पुरिसे**) अहो ! यह पुरुष (**अखेयन्ने**) मार्गजनित परिश्रम (खेद) को नहीं जानता, अथवा यह व्यक्ति इस क्षेत्र का अनुभवी नहीं है; (**अकुसले अपंडिए अवियत्ते अमेहावी बाले**) वह कार्यकुशल नहीं है, हिताहित विवेकी नहीं है; इसकी बुद्धि परिपक्व नहीं है; तथा चतुर नहीं है; अभी नादान है। (**णो मग्गत्थे**) यह सत्पुरुषों के मार्ग में स्थित नहीं है; (**णो मग्गविऊ**) वह मोक्षमार्ग का ज्ञाता नहीं है। (**णो मग्गस्स गइपरक्कमण्णू**) जिस मार्ग से अपने अभीष्ट उद्देश्य को प्राप्त करना है, उस मार्ग की गतिविधि तथा परिश्रम को नहीं जानता; (**जण्णं एस पुरिसे अहं खेयन्ने कुसले जाव पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामि**) जैसा कि इस व्यक्ति ने यह समझा था कि मैं बड़ा खेदज्ञ हूँ, कुशल हूँ तथा पूर्वोक्त विशेषताओं से युक्त हूँ, मैं इस प्रधान श्वेतकमल को उखाड़कर ले आऊंगा। (**णो य खलु एयं पउमवरपोंडरीयं एवं उन्निक्खेयव्वं, जहा णं एस पुरिसे मन्ने**) परन्तु यह उत्तम श्वेतकमल इस तरह उखाड़कर लाना आसान नहीं है; जैसा कि यह व्यक्ति समझ रहा है। (**अहं खेयन्ने कुसले पंडिए वियत्ते मेहावी अबाले मग्गत्थे मग्गविऊ मग्गस्स गइपरक्कमण्णू अस्मि**) मैं इस श्वेतकमल के लाने में होने वाले श्रम को जानता हूँ; मैं इस कार्य में कुशल हूँ; मैं हिताहित विज्ञाता हूँ; परिपक्व बुद्धिवाला प्रौढ़ तथा मेधावी हूँ; मैं नादान बच्चा नहीं हूँ; जवाँ मर्द हूँ; मैं पूर्वज सज्जनों द्वारा आचरित मार्ग पर स्थित हूँ, उस पथ का ज्ञाता हूँ; उस मार्ग की गतिविधि और पराक्रम को जानता हूँ। (**अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामि त्ति कट्टु**) मैं अवश्य ही इस उत्तम श्वेतकमल को उखाड़कर बाहर निकाल लाऊँगा (मैं ऐसी प्रतिज्ञा करके ही यहाँ आया हूँ) (**इइ बुच्चा से पुरिसे तं पुक्खरिणीं अभिक्कमे**) यों कहकर वह दूसरा पुरुष उस पुष्करिणी (बावड़ी) में उतर गया। (**जावं जावं च णं अभिक्कमेइ तावं तावं च णं महंते उदए महंते सेये**) ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता गया त्यों-त्यों उसे अधिकाधिक जल और अधिकाधिक कीचड़ मिलता गया। (**तीरं पहीणे पउमवरपोंडरीयं अपत्ते**) इस तरह वह भी बेचारा किनारे से दूर हट गया और उस प्रधान पुण्डरीक कमल को भी प्राप्त न कर सका (**णो हव्वाए णो पाराए**) यों वह न इस पार का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहा और न उस पार का रहा। **(अंतरा पोक्खरिणीए सेयंसि णिसन्ने)** वह पुष्करिणी के बीच में ही कीचड़ में फँसकर रह गया और दुःखी हुआ। **(दोच्चे पुरिसजाए)** दूसरे पुरुष का यही हाल हुआ ॥३॥

(अहावरे तच्चे पुरिसजाए) प्रथम और द्वितीय पुरुष का वर्णन करने के बाद अब तीसरे पुरुष का वर्णन किया जाता है। **(अह पुरिसे पच्चत्थिमाओ दिसाओ आगम्म)** दूसरे पुरुष के पश्चात् तीसरा पुरुष पश्चिम दिशा से उस पुष्करिणी के पास आकर **(तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा)** उस पुष्करिणी के किनारे खड़ा होकर **(तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं पासइ)** उस एक विशाल पद्मवरपुण्डरीक (श्वेत कमल) को देखता है, **(अणुपुव्वुट्ठियं जाव पडिरूवं)** जो विशेष रचना से युक्त एवं पूर्वोक्त गुणों से सम्पन्न बड़ा ही मनोहर है। **(ते तत्थ दोन्नि पुरिसजाए पासइ)** तथा वह वहाँ उन दोनों पुरुषों को भी देखता है, **(तीरं पहीणे पउमवरपोंडरीयं अपत्ते)** जो तीर से भ्रष्ट हो चुके हैं, और उस उत्तम श्वेतकमल को भी नहीं पा सके हैं, **(णो हव्वाए णो पाराए)** तथा जो न इस पार के रहे हैं, न उस पार के, **(जाव सेयंसि णिसन्ने)** किन्तु पुष्करिणी के अधबीच में ही अगाध कीचड़ में फँसकर दुःख भोग रहे हैं। **(तए णं से पुरिसे एवं वयासी)** इसके पश्चात् उस तीसरे पुरुष ने उन दोनों पुरुषों के लिए इस प्रकार कहा—**(अहो णं इमे पुरिसे अखेयन्नो अकुसला अपंडिया अविपत्ता अमेहावी बाला णो मग्गत्था णो मग्गविऊ णो मग्गस्स गइ-परक्कमण्णू)** ओहो ! ये दोनों व्यक्ति तो खेदज्ञ नहीं, कुशल भी नहीं हैं, पण्डित भी नहीं हैं और न जवां मर्द हैं, न बुद्धिमान हैं, ये अभी नादान बालक-से हैं, ये मार्ग पर स्थित नहीं हैं, जिस मार्ग से चलकर जीव अभीष्ट को सिद्ध करता है, उसे ये नहीं जानते। **(जण्णं एए पुरिसा एवं मन्ने—अम्हे एतं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामो)** अतएव ये दोनों पुरुष ऐसा समझते हैं कि हम दोनों इस श्रेष्ठ श्वेत कमल को उखाड़कर ले आएँगे, **(णो य खलु एवं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खेयव्वं जहा णं एए पुरिसा मन्ने)** परन्तु यह उत्तम श्वेतकमल इस प्रकार उखाड़ लाना इतना सरल नहीं है, जितना कि ये दोनों पुरुष समझते हैं। **(अहं खेयन्ने कुसले पंडिए वियत्ते मेहावी अबाले मग्गत्थे मग्गविऊ मग्गस्स गइपरक्कमण्णू)** अलबत्ता मैं खेदज्ञ, कुशल, पण्डित, युवक, मेधावी, ज्ञानवान तथा मार्गस्थ, मार्गवेत्ता, मार्ग की गतिविधि एवं पराक्रम का विशेषज्ञ हूँ। **(अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामि त्ति कट्टु)** मैं इस उत्तम श्वेतकमल को बाहर निकालकर ही रहूँगा, मैं यह संकल्प करके ही यहाँ आया हूँ। **(इइ बुच्चा से पुरिसे तं पुक्खरिणीं जावं जावं च णं अभिक्कमे)** यों कहकर उस (तीसरे) पुरुष ने पुष्करिणी में प्रवेश किया और ज्यों-ज्यों उसने आगे कदम बढ़ाए, **(तावं तावं च णं महंते उदए महंते सेये)** त्यों-त्यों उसे बहुत अधिक पानी और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिकाधिक कीचड़ का सामना करना पड़ा। (**जाव....णिसन्ने**) अतः वह वहीं कीचड़ में फँसकर रह गया और अत्यन्त दुःखी हो गया। वह न इस पार का रहा, न उस पार का। उसकी स्थिति चक्की के दो पाटों के बीच में अनाज की-सी हो गई। (**तच्चे पुरिसजाए**) यह तीसरे पुरुष की कष्टकथा है ॥४॥

(**अहावरे चउत्थे पुरिसजाए**) एक-एक करके तीन पुरुषों के वर्णन के बाद अब चौथे पुरुष का वर्णन किया जाता है। (**अह पुरिसे उत्तराओ दिसाओ आगम्म**) तीसरे पुरुष के पश्चात् एक पुरुष (चौथा व्यक्ति) उत्तर दिशा से आकर (**तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा**) उस पुष्करिणी के तट पर खड़ा होकर (**तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं पासइ**) उस एक विशाल श्वेतकमल को देखता है, (**अणुपुव्वुट्ठियं जाव पडिरूवं**) जो विशिष्ट रचना से युक्त, पूर्वोक्त गुणों से सम्पन्न तथा मनोहर है। (**ते तत्थ तिन्नि पुरिसजाए पासइ**) तथा वह उन तीनों पुरुषों को भी देखता है, (**पहीणे तीरं अपत्ते जाव सेयंसि णिसन्ने**) जो किनारे से बहुत दूर हट चुके हैं, और श्वेतकमल तक भी नहीं पहुँच सके हैं, किन्तु पुष्करिणी के बीच में ही कीचड़ में फँस गये हैं। (**तए णं से पुरिसे एवं वयासी**) इसके पश्चात् उन तीनों को देखकर चौथे पुरुष ने इस प्रकार कहा--(**अहो णं इमे पुरिसा अखेयन्ना जाव णो मग्गस्स गइपरक्कमण्णू**) ओ हो ! ये तीनों पुरुष खेदज्ञ नहीं हैं, कुशल, पंडित तथा पूर्वोक्त गुणों से युक्त नहीं हैं, न ये मार्ग पर स्थित हैं, न मार्गवेत्ता हैं और न ही मार्ग की गतिविधि, उद्देश्य एवं पराक्रम को ही जानते हैं। (**जण्णं एए पुरिसा एवं मन्ने अम्हे एयं पउमवर पोंडरीयं उन्निक्खिस्सामो**) फिर भी ये तीनों समझते हैं कि हम इस पद्मप्रवरपुण्डरीक कमल को उखाड़कर ले आएँगे। (**णो य खलु एयं पउमवरपोंडरीयं एवं उन्निक्खेयव्वं जहा णं एए पुरिसा मन्ने**) मगर यह श्वेतकमल इस तरह कदापि नहीं उखाड़कर लाया जा सकता, जैसा कि ये लोग मान रहे हैं। (**अहमंसि खेयन्ने जाव मग्गस्स गइपरक्कमण्णू**) अलबत्ता, मैं खेदज्ञ हूँ, कुशल हूँ, पण्डित हूँ, मार्गस्थ हूँ, मार्गवेत्ता हूँ, जवां मर्द हूँ और जिस मार्ग से चलकर जीव अपने इष्ट देश को प्राप्त कर लेता है, उसे जानता हूँ। (**अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामि त्ति कट्टु**) मैं इस प्रधान श्वेतकमल को उखाड़कर ले आऊँगा, इसी अभिप्राय से ही तो मैं कृतसंकल्प होकर यहाँ आया हूँ (**इइ बुच्चा से पुरिसे तं पुक्खरिणीं जावं जावं च णं अभिक्कमे**) यों डींग मारकर वह (चौथा) व्यक्ति भी उस पुष्करिणी में उतरा और ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता गया, (**तावं तावं च णं महंते उदए महंते सेए जाव णिसन्ने**) त्यों-त्यों उसे अधिकाधिक पानी और अधिकाधिक कीचड़ मिलता गया। वह पुरुष उस पुष्करिणी के बीच में ही भारी कीचड़ में फँसकर दुःखी हो गया। अब न तो वह इस पार का रहा और न उस पार का रहा ! (**चउत्थे पुरिसजाए**) चौथे पुरुष का भी वही हाल हुआ ॥५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

उत्तम श्वेतकमल को पाने में असफल चार पुरुष

इससे पूर्व पहले सूत्र में एक पुष्करिणी और उसमें खिले हुए विशाल सर्वश्रेष्ठ श्वेतकमल की स्थिति बताई गई थी। उसके पश्चात् दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें सूत्र में एक-एक करके क्रमशः पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे, यों चारों पुरुषों का वर्णन किया गया है, जो उक्त गुणसम्पन्न विशाल श्वेतकमल को पाने के लिए चले थे, और अपनी विशेषताओं की डींग हाँकते हुए तथा अपने से पहले उक्त श्वेतकमल को पाने में असफल पुरुषों को कोसते हुए ज्यों ही आवेश में आकर पुष्करिणी में आगे बढ़े, और ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते गये, त्यों-त्यों उन्हें अधिकाधिक गहरे पानी एवं भारी कीचड़ का सामना करना पड़ा, जिससे वे पस्तहिम्मत होकर वहीं कीचड़ में फँसकर रह गये। उनके पैर न तो आगे बढ़ सके, और न ही वे किनारे की ओर लौट सके, क्योंकि कीचड़ में धँस जाने से उनके कदम वहीं जाम हो गये थे। फलतः 'चौबेजी छब्बे बनने गये, मगर रह गये दुबे ही' वाली कहावत चरितार्थ हुई। ये चारों व्यक्ति बड़ी शेखी बघारते हुए और श्वेतकमल को पाने का दावा करते हुए पुष्करिणी में घुसे थे, मगर वे रास्ते में ही अटककर रह गये। उनसे किनारा भी काफी दूर रह गया और पुण्डरीक कमल भी दूर ही रहा। उनका उत्साह भी ठण्डा हो गया, उनका सारा साहस खत्म हो गया। उनकी सारी हवाई कल्पनायें हवा में ही अधर रह गयीं, उनके मनसूबे धरे के धरे रह गये। वे चारों के चारों ही कीचड़ में फँस जाने के कारण उक्त प्रधान श्वेतकमल को देखते के देखते ही रह गये। तात्पर्य यह है कि वे चारों पुरुष श्वेतकमल को पाना तो दूर रहा, उस तक पहुँचने में भी असफल रहे।

चारों पुरुषों की श्वेतकमल को प्राप्त करने के लिए उखाड-पछाड़ करने की कहानी तो लगभग एक-सी है। परन्तु चारों के मनोभावों में थोड़ा-थोड़ा अन्तर है। साथ ही उनकी चेष्टाओं में भी जरा-जरा-सा अन्तर पड़ जाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अगर इन चारों मनुष्यों का विश्लेषण किया जाये तो निम्नलिखित प्रकार का सम्भव है-

सबसे पहला व्यक्ति पूर्वसूत्र में वर्णित पुष्करिणी के बारे में प्रसिद्धि सुनकर सर्वप्रथम तो उसे देखने आया होगा। जब देखने लगा होगा, तब उसने पुष्करिणी के तट पर खड़े होकर उसके जल पर चारों ओर दृष्टि दौड़ाई होगी, तभी उसके ध्यान में पुष्करिणी के ठीक मध्य में स्थित उन्नत और विशाल श्वेतकमल आया होगा। और बहुत सम्भव है, उसकी दृष्टि में वही एक श्रेष्ठ श्वेतकमल बस गया होगा। काफी देर तक उसने उक्त श्वेतकमल पर दृष्टि गड़ाये रखी होगी, और जब उस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्वेतकमल को देखकर उसका मन ललचा आया होगा, तब उसने मन ही मन उस कमल की प्रशंसा की होगी—'वाह रे श्वेतकमल ! तू कितना विशाल और क्रमशः उन्नत है, इसीलिए बहुत ही ऊँचाई पर स्थित है, तूने मेरे मन-मस्तिष्क को अत्यन्त प्रभावित कर दिया है, सचमुच तू मेरे मन में बस गया है। तेरा रंग-रूप, तेरी सौरभ, तेरा रसास्वाद और मन को गुदगुदाने वाला तेरा कोमल-कोमल स्पर्श कितना लुभावना और मनभावना है ! सचमुच तू अत्यन्त मनोज्ञ और अद्वितीय सुन्दर है। तेरी चमक-दमक मुझे मोहित कर देती है। चाहे कुछ भी हो जाए, मैं अब तुझे प्राप्त करके ही दम लूँगा।'

शास्त्रकार प्रथम पुरुष के विषय में इतनी ही विशेषता बताते हैं कि वह पूर्व दिशा से आया था। बाकी सब बातों में चारों की गतिविधि और मनोवृत्ति प्रायः एक सरीखी बताई है। चारों की चेष्टाओं का अन्तिम परिणाम (नतीजा) भी समान ही बताया है कि वे चारों ही उस श्वेतकमल को पाने में असमर्थ रहे।

प्रथम पुरुष की श्वेतकमल को पाने की चेष्टा से एक बात अवश्य फलित होती है कि उसने ही सर्वप्रथम उस प्रसिद्ध पुष्करिणी की खोज की और उसने ही सबसे पहले उस विशाल श्वेतकमल को ढूँढ़ निकाला। और उसके बाद भली-भाँति अपने नयनों से निहारकर उसे पाने के लिए लालायित हो उठा। मतलब यह है कि जन-मन-नयन में केन्द्रित उस श्वेतकमल को पाने की पहल उस प्रथम पुरुष ने की थी। लोक-व्यवहार में भी उस व्यक्ति को अधिक महत्त्व दिया जाता है, जो किसी चीज का आविष्कार करता है, या उस वस्तु को प्राप्त करने के लिये प्रथम प्रयास करता है। इस सम्बन्ध में सचमुच उस पहले व्यक्ति का कदम सराहनीय था। उसका साहस भी प्रशंसनीय था। किन्तु उसके पश्चात् उसने बावड़ी में घुसकर उस श्वेतकमल को पाने में अपने आपको सफल, कुशल, विद्वान्, गतिविधिज्ञ एवं उपायज्ञ माना, यह उसका मूल्यांकन गलत था। वास्तव में वह इस योग्य बना नहीं था। वह उस श्वेतकमल पर मोहित जरूर हो गया था, किन्तु उसके पाने के ठोस और यथार्थ उपायों से वह अनभिज्ञ था। इसी कारण वह उसे पाने में बिलकुल असफल रहा। यद्यपि उसने दूसरे, तीसरे और चौथे पुरुष की तरह किसी अन्य को भला-बुरा नहीं कहा, न उसने किसी की कोई खरी-खोटी आलोचना की, तथापि उसने गर्वस्फीत होकर अपनी स्वयं की योग्यता का जो मूल्य आँका था, वह बिलकुल गलत था, जिसका नतीजा उसे भोगना पड़ा। उसे बहुत बड़ी हानि उठानी पड़ी, जिंदगी से भी हाथ धोना पड़ा।

उसके बाद दूसरा पुरुष उसी पुष्करिणी के पास आता है परन्तु वह पूर्व दिशा के बजाय दक्षिण दिशा से आता है और उस पुष्करिणी के तट पर खड़ा होकर चारों तरफ दृष्टि दौड़ाता है। सहसा उसकी नजर उसी पूर्वोक्त उत्तम श्वेतकमल पर पड़ती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, और वह भी उसे देखकर मुग्ध हो जाता है। उसकी मनोरमता, उसकी सुरभि, उसकी चमक-दमक, उसकी रसप्रदता, और उसके मुलायम गुदगुदाते स्पर्श को देखकर एवं उसका आकर्षक, उन्नत एवं विशाल कद देखकर उसका भी मन उसे पाने के लिए ललचाता है।

सम्भव है, पहले पुरुष की असफलता की बात उसके कानों में पड़ी हो, और उस पुष्करिणी की एवं उसमें उत्पन्न उक्त श्वेतकमल की बात भी उसने सुनी हो। और तभी से उसके मन में उस श्वेतकमल को आँखों से देखने की लालसा जाग उठी हो और परिचित लोगों से वह उस पुष्करिणी का रास्ता पूछकर वहाँ तक आ पहुँचा हो। आगे की कहानी तो शास्त्रकार ने मूल पाठ में अंकित की ही है।

और जब इस आगन्तुक दूसरे पुरुष ने पहले असफल पुरुष को पुष्करिणी के बीच में गहरे कीचड़ में फँसा देखा तभी उसके मन में उसका पौरुष हुँकार उठा, उसकी मर्दानगी एकदम जाग उठी, और वह अहंकार से गर्जता हुआ मन ही मन पहले पुरुष के प्रति कह उठा "अरे ! धिक्कार है तुझे ! इतनी सी बावड़ी में तू एक श्वेतकमल को भी प्राप्त न कर सका। वास्तव में तू अभी इस विषय में नादान बच्चा-सा है, न तो तुझमें इतनी कुशलता है, न तू अपने हिताहित को समझता है, और न ही तू इसे पाने में होने वाले श्रम के मूल्य को समझता है। न तुझे इस श्वेतकमल को पाने के उपायों का ज्ञान है और न तू उस उपाय पर चल रहा है। इसे पाने के लिए कैसी गति और किस प्रकार का पराक्रम करना चाहिए, यह भी तू नहीं जानता है। तभी तो सिर्फ इस एक श्वेतकमल को पाने में लाचार हो गया ; और बावड़ी के बीच में ही कीचड़ में फँस गया। अगर तुझे इसके कीचड़ का पता होता तो नहीं फँसता। मालूम होता है, तू इन सब बातों से अनभिज्ञ होकर सीधा ही इतना बड़ा साहस करने को चला आया है। पर देखना मर्दों की करामात ! मैं तेरी तरह कायर और दब्बू नहीं हूँ और न ही उपायों के बारे में अनभिज्ञ एवं नादान बालक हूँ। मैं जवाँमर्द हूँ। मैं सब रास्ते जानता हूँ और मैं इस श्वेतकमल को पाने में अपनी सारी शक्ति लगा दूँगा, कोई भी कोर-कसर इसे पाने में नहीं छोड़ूँगा। बस, मेरे घुसने की देर है, इस बावड़ी में ! घुसते ही श्वेतकमल को मैं उखाड़ लाऊँगा। मैंने तो जब से इसकी तारीफ सुनी है, तबसे इसे पाने का संकल्प करके ही यहाँ आया हूँ।" यों शेखी बघारता हुआ, ज्यों ही दूसरा व्यक्ति उस बावड़ी के भीतर घुसा, दो-चार कदम आगे बढ़ाये होंगे कि वह भी पहले वाले व्यक्ति की तरह वहीं कीचड़ में फँस गया। उसके पैर वहीं ठप्प हो गये। न तो वह आगे बढ़ सका और न पीछे हट सका। पहले वाले पुरुष की तरह उसकी भी दुर्गति हुई।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके बाद इन दोनों की असफलता की कहानी सुनकर तीसरा व्यक्ति भी घटना-स्थल पर आ पहुँचा। तीसरा व्यक्ति पहले तो सारी बावड़ी पर नजर फैंकता है। सहसा उसकी दृष्टि भी उसी श्वेतकमल पर जा टिकती है। वह भी उन दोनों व्यक्तियों की तरह उस श्वेतकमल को देखकर चित्रलिखित-सा रह गया। उसके हृदय में भी श्वेतकमल को पाने की तीव्र हूक उठी। साथ ही जब वह बावड़ी के बीच में कीचड़ में फँसे हुए उक्त दोनों व्यक्तियों को देखता है तो उन पर खीझ उठता है। वह मन ही मन बड़बड़ाता है—"अरे नालायको! तुम लोग घुसे ही क्यों थे, इस बावड़ी में; जब तुम दोनों इसके मार्गों से बिलकुल अपरिचित थे। फिर तुम दोनों न तो कुशल थे, न विचारक और न बुद्धिमान। तुमने कभी विद्वानों की संगति ही नहीं की, अपनी जिंदगी में तुमने किसी से कुछ सीखा भी तो नहीं था। तुम में अक्ल कहाँ से आती, इस श्वेतकमल को पाने की? देखना, मैं इस श्वेतकमल को न उखाड़ लाऊँ तो मर्द का बच्चा नहीं! मैं सब तरह से होशियार हूँ, बुद्धिमान हूँ, जवान हूँ, बालकों-सा नादान नहीं हूँ, और न ही इनकी तरह उपायों और मार्गों से अनभिज्ञ हूँ मुझे सब रास्ते मालूम हैं।" यों वह तीसरा पुरुष भी शेखी बघारता हुआ, मूँछों पर ताव देकर और श्वेतकमल को उखाड़कर ले आने का संकल्प करके बावड़ी में कूद पड़ा। परन्तु यह क्या, ज्यों ही वह कुछ आगे बढ़ा; उसके पैर वहीं ठिठक गये। वह एक कदम भी आगे न बढ़ सका। उसकी आँखों के आगे अँधेरा छा गया। उसके पैरों से जमीन खिसकती सी मालूम होने लगी। कीचड़ में गहराई तक उसके पैर धँस गये। उसके मन में संजोए हुए स्वप्न साकार नहीं हो सके। श्वेतकमल को पाने की उसकी कामना मन की मन में ही रह गई। वह लज्जित होकर नीचा मुँह किये वहीं कीचड़ में फँसा रह गया। धोबी के कुत्ते की तरह वह न घर का रहा, न घाट का। इससे तो वह बावड़ी के किनारे पर ही खड़ा रहता तो अच्छा था। परन्तु उसने इतना प्रयास किया, इतना गर्वोद्धत होकर वचन-प्रयोग किया, सब व्यर्थ! बेचारे इस तीसरे व्यक्ति भी वही दशा हुई, जो उन दोनों की हुई थी।

अब आई चौथे पुरुष की बारी! वह भी इन तीनों के बारे में सुनकर मन में इतराता और उस श्वेतकमल की प्रशंसा सुनकर मन ही मन उसे पाने का संकल्प करके घर से चला। पूछताछ करके इस पुष्करिणी तक आया। पुष्करिणी के तट पर खड़ा होकर इसकी नयनाभिराम शोभा को निहारने लगा। ज्यों ही उसकी दृष्टि उत्तम श्वेतकमल पर पड़ी, वह आश्चर्य से आँखें फाड़ता रह गया—ओह! इतना सुन्दर, इतना शोभास्पद, इतना आकर्षक श्वेतकमल तो मैंने अपनी जिन्दगी भर में नहीं देखा। इतने में ही उसकी दृष्टि में वे तीनों व्यक्ति आये, जो उस श्वेतकमल को पाने के लिये पुष्करिणी में उतरे थे, लेकिन बीच में ही पंकमग्न होकर रह गये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन तीनों को देखकर उसने भी उन्हें कोसना शुरू किया—"वाह रे बहादुरो ! तुम तीनों प्रथम श्रेणी के आलसी हो, और तुममें किसी प्रकार की कुशलता, पाण्डित्य, मर्दानगी, मार्ग पर स्थिर रहने की दृष्टि भी तो नहीं है, तुम कैसे इस श्वेतकमल को पा सकते थे ? तुम्हें इतना भी तो पता नहीं था कि किस रास्ते से जाना चाहिए, किधर से जाने से कीचड़ नहीं आएगा, कितनी दूरी पर श्वेतकमल है ? देखो, तुम्हारे देखते ही देखते, बात की बात में ही बन्दा अभी उस श्वेतकमल को उखाड़ लायेगा। क्योंकि मैं कुशल हूँ, पण्डित हूँ, मार्गों का जानकार हूँ, उपायों का विशेषज्ञ हूँ, और फिर मैं बहादुर व जवान हूँ। इस श्वेतकमल को ले आना तो मेरे बाएँ हाथ का खेल है। जीवन-मरण की बाजी लगाने वाला ही श्वेतकमल को उखाड़कर ला सकता है। तुम तीनों के वश की बात नहीं थी, यह तो मेरा काम है।" यों आकण्ठ अहंकार में डूबा हुआ वह चौथा पुरुष भी शेखी बघारता हुआ उस पुष्करिणी में उक्त श्वेतकमल को लेने के लिये उतर पड़ा। परन्तु वह भी देखते ही देखते आगे गहरे कीचड़ में फँस गया। उसकी समस्त आशाओं पर पानी फिर गया, उसके सारे मनोरथ मिट्टी में मिल गये। पूर्वोक्त तीनों व्यक्तियों से वह बाजी मारने गया था, किन्तु बाजी हार गया।

इस प्रकार चारों ही व्यक्ति एक के बाद एक आए, पुष्करिणी की शोभा का अवलोकन करने लगे और श्वेतकमल पर मोहित होकर उसे पाने के लिए मचल उठे थे, साथ ही दूसरे, तीसरे और चौथे व्यक्ति ने अपने से पहले आने वाले असफल व्यक्ति को मन ही मन कोसा, गर्वोद्धत होकर अपना मूल्यांकन गलत किया। चारों को ही उनके दुष्प्रयास का फल मिल गया। चारों को अपने गलत पुरुषार्थ का भारी मूल्य चुकाना पड़ा।

सारांश

दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें सूत्र में क्रमशः पहले, दूसरे, तीसरे, और चौथे पुरुष के असफल प्रयास का वर्णन किया गया है। चारों ही व्यक्तियों का प्रयास प्रायः एक सरीखा होता है। किन्तु दूसरा व्यक्ति पहले की खोटी आलोचना करता है, और उसके प्रयास की निन्दा करता है, तीसरा पहले, दूसरे की और चौथा व्यक्ति पहले, दूसरे और तीसरे पुरुष की खोटी आलोचना और निन्दा करता है। ये चारों ही श्वेतकमल को पाने के लिए अहंकारपूर्वक प्रयास तो करते हैं, लेकिन चारों ही अपने प्रयास में विफल होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन चार सूत्रों में क्रमशः चार पुरुषों के असफल प्रयास का वर्णन करने के बाद शास्त्रकार छठे सूत्र में सफल प्रयास वाले एक साधक का वर्णन करते हैं—

मूल पाठ

अह भिक्खू लूहे तीरट्ठी खेयन्ने जाव गइपरक्कमण्णू अन्नतराओ दिसाओ वा अणुदिसाओ वा आगम्म तं पुक्खरिणिं, तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासइ, तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं जाव पडिरूवं। ते तत्थ चत्तारि पुरिसजाए पासइ पहीणे तीरं अपत्ते जाव पउमवरपोंडरीयं, णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा पुक्खरिणीए सेयंसि णिसन्ने। तए णं से भिक्खू एवं वयासी—अहो ! णं इमे पुरिसा अखेयन्ना जाव णो मग्गस्स गइपरक्कमण्णू जं एए पुरिसा एवं मन्ने, अम्हे एयं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिसामो, णो य खलु एयं पउमवरपोंडरीयं एवं उन्निक्खेतव्वं जहा णं एए पुरिसा मन्ने। अहमंसि भिक्खू लूहे तीरट्ठी खेयन्ने जाव मग्गस्स गइपरक्कमण्णू। अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उण्णिक्खिस्सामि त्ति कट्टु इइ बुच्चा से भिक्खू णो अभिक्कमे तं पुक्खरिणिं तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा सद्दं कुज्जा—उप्पयाहि खलु भो पउमवरपोंडरीया ! उप्पयाहि। अह से उप्पइए पउमवरपोंडरीए ॥ सू० ६ ॥

संस्कृत छाया

अथ भिक्षूरूक्षस्तीरार्थी खेदज्ञः यावत् गतिपराक्रमज्ञः अन्यतरस्याः दिशोऽनुदिशो वा आगत्य तां पुष्करिणीं, तस्याः पुष्करिण्यास्तीरे स्थित्वा पश्यति तन्महदेकं पद्मवरपुण्डरीकं यावत् प्रतिरूपम्। तान् तत्र चतुरः पुरुषजातान् पश्यति प्रहीणान् तीराद् अप्राप्तान् यावत् पद्मवरपुण्डरीकम्। नोऽर्वाचे, नो पाराय, अन्तरा पुष्करिण्यां सेये निषण्णान्। ततः स भिक्षुरेवमवादीत्—अहो ! इमे पुरुषाः अखेदज्ञाः यावन्नो मार्गस्य गतिपराक्रमज्ञाः। यतः एते पुरुषाः एवं मन्यन्ते—वयमेतत् पद्मवरपुण्डरीकमुन्निक्षेप्स्यामः। न च खल्वेतत् पद्मवरपुण्डरीकमेवमुन्निक्षेप्तव्यम् यथैते पुरुषाः मन्यन्ते। अहमस्मि भिक्षूरूक्षस्तीरार्थी खेदज्ञः यावद् मार्गस्य गतिपराक्रमज्ञः। अहमेतत् पद्मवरपुण्डरीकमुन्निक्षेप्स्यामीति कृत्वा (अत्रागतः); इत्युक्त्वा स भिक्षुर्नोऽभिक्रामति तां पुष्करिणीम्। तस्याः पुष्करिण्यास्तीरे स्थित्वा शब्द कुर्यात्—उत्पत खलु भोः पद्मवरपुण्डरीक ! उत्पत। अथ उत्पतितं तत् पद्मवरपुण्डरीकम् ॥ सू० ६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(अह) इसके पश्चात् (**लूहे**) राग-द्वेषरहित, (**तीरट्ठी**) संसारसागर के तट पर जाने का इच्छुक (**खेयन्ने**) साधना में होने वाले खेद का ज्ञाता, (**भिक्खू**) भिक्षा मात्र से निर्वाह करने वाला साधु (**अन्नतराओ दिसाओ वा अणुदिसाओ वा**) किसी भी दिशा से या अनुदिशा (विदिशा) से (**तं पुक्खरिणिं आगम्म**) उस पुष्करिणी के निकट आकर (**तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा**) उस पुष्करिणी के किनारे खड़ा होकर (**तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं जाव पडिरूवं पासइ**) उस उत्तम प्रधान श्वेतकमल को जो अत्यन्त विशाल, पूर्वोक्त गुणों से युक्त एवं अनुपम सुन्दर है; देखता है। (**तत्थ ते चत्तारि पुरिसजाए पासइ**) और वहाँ वह उन चार पुरुषों को भी देखता है, (**पहीणे तीरं**) जो तीर को तो त्याग चुके हैं, लेकिन (**पउमवरपोंडरीयं**) उत्तम श्वेतकमल को नहीं पा सके हैं। (**णो हव्वाए, णो पाराए**) जो न इस पार के रहे हैं, न उस पार के। (**अंतरा पुक्खरिणीए सेयंसि णिसन्ने**) जो पुष्करिणी के बीच में ही कीचड़ में फँस गये हैं। (**तए णं से भिक्खू एवं वयासी**) इसके पश्चात् उस भिक्षु ने उन पुरुषों के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा—(**अहो णं इमे पुरिसा अखेयन्ना जाव णो मग्गस्स गइपरक्कमण्णू**) अहो ! ये बेचारे चारों पुरुष खेदज्ञ नहीं हैं, तथा पूर्वोक्त गुणों से युक्त नहीं हैं, साथ ही ये मार्ग की गति एवं पराक्रम के भी जानकार नहीं हैं। (**जं एए पुरिसा एवं मन्ने अम्हे एयं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामो**) इसीलिए ये चारों व्यक्ति यों समझते हैं कि इस श्रेष्ठ श्वेतकमल को निकालकर ले आएँगे, (**णो य खलु एयं पउमवरपोंडरीयं, एवं उन्निक्खेयव्वं जहा णं एए पुरिसा मन्ने**) परन्तु यह उत्तम श्वेतकमल इस प्रकार नहीं निकाला जा सकता, जैसा कि ये लोग समझते हैं। (**अहं लूहे तीरट्ठी खेयन्ने जाव मग्गस्स गइपरक्कमण्णू भिक्खू असि**) मैं अलबत्ता राग-द्वेषरहित, संसार-सागर का किनारा पाने का अभिलाषी, खेदज्ञ एवं जिस मार्ग से चलकर जीव अपने इष्ट देश को प्राप्त करता है उसे जानने वाला, भिक्षाजीवी साधु हूँ। (**अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिसामि त्ति कट्टु**) मैं इस श्वेतकमल को यहाँ से निकालूँगा, इसी अभिप्राय से यहाँ आया हूँ। (**इइ वुच्चा से भिक्खू तं पुक्खरिणिं णो अभिक्कमे**) यों कहकर वह भिक्षु उस पुष्करिणी के भीतर प्रवेश नहीं करता है। (**तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा सद्दं कुज्जा**) उस पुष्करिणी के किनारे खड़ा-खड़ा आवाज देता है—(**भो पउमवरपोंडरीया उप्पयाहि उप्पयाहि खलु**) अरे उत्तम श्वेतकमल ! वहाँ उठकर मेरे पास आ जाओ, मेरे पास आ जाओ। (**अह से पउमवरपोंडरीए उप्पइए**) इसके पश्चात् वह उत्तम श्वेत-कमल उस पुष्करिणी से बाहर निकलकर या वहाँ से उठकर आ जाता है ॥ ६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

उत्तम श्वेतकमल को पाने में सफल भिक्षु

इससे पहले के चार सूत्रों में उन चार पुरुषों का शास्त्रकार ने वर्णन किया जो श्वेतकमल को पाने में बुरी तरह असफल एवं असमर्थ रहे। अब इस सूत्र में शास्त्रकार यह बताते हैं कि इसके पश्चात् एक पाँचवाँ पुरुष पुष्करिणी के तट पर आया जो भिक्षाजीवी साधु है, राग-द्वेष से रहित या रूखे घड़े के समान कर्ममल के लेप से रहित है, वह संसार-सागर से शीघ्र ही पार होने का अभिलाषी है तथा खेदज्ञ है —अर्थात् पृथ्वीकायादि षड्जीवनिकाय के जीवों के खेद—यानी पीड़ा को जानता है, पापकर्मों को नष्ट करने में कुशल, पापभीरु, विद्वान्, बालकों की-सी नादानी से रहित, विशेषज्ञ है, तथा सत्-असत् के विवेक से युक्त है, विचारपूर्वक कार्य करता है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग में स्थित है, मोक्षमार्ग का वेत्ता है, मार्ग की गति (चाल) और पराक्रम को जानता है और निरवद्य भिक्षा से जीवनयापन करने वाला भिक्षु है। वह किसी भी दिशा या विदिशा से आकर पुष्करिणी के समीप पहुँचा। उस पुष्करिणी के किनारे पर खड़े होकर एक द्रष्टा-ज्ञाता की तरह वह उस पुष्करिणी को, उस श्वेतकमल को तथा पुष्करिणी के कीचड़ में फँसे हुए उन चारों पुरुषों को देखता है।

यहाँ हम उस वीतराग भिक्षु के मानस का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण करते हैं। पूर्वोक्त चारों पुरुषों के देखने में और पाँचवें इस राग-द्वेषरहित निःस्पृह भिक्षु के देखने में जमीन-आसमान का अन्तर है। पूर्वोक्त चारों राग-द्वेष-मोह से आक्रान्त थे, स्वार्थ से सने हुए थे, जबकि निःस्पृह भिक्षु राग-द्वेष-मोह से काफी दूर है, इसे न किसी के प्रति लगाव है और न ही स्वार्थ है, न पक्षपात है और न ही अहंकार है। न किसी से घृणा है, न किसी से ईर्ष्या है। समभावी, कषाय और विषय-विकारों से उपशान्त, निःस्पृह साधु को दूसरे की टीका-टिप्पणी या खरी-खोटी आलोचना करने से भला क्या मतलब हो सकता है? परन्तु इस भिक्षु की चेष्टाओं के सम्बन्ध में शास्त्रकार ने जो वाक्यावली प्रयुक्त की है, वह पूर्वोक्त चारों दर्शक पुरुषों के लगभग समान ही है। इसलिए सर्वसाधारण को यह भ्रम होना सम्भव है कि यह भिक्षु भी उन्हीं चारों पुरुषों की तरह दूसरों को कोसता या भला-बुरा कहता हुआ, अपने मुँह से अपनी प्रशंसा करने वाला, अपने मुँह मियाँ मिटठू बनने वाला प्राकृतजन-सा ही है। उन चारों में और इसमें क्या अन्तर है? स्थूलदृष्टि से देखने-सोचने वालों को तो वे चारों और यह भिक्षु एक-से ही लगते हैं, सिर्फ उनके और इसके प्रयासों के नतीजे में अन्तर है। पहले चारों पुरुषों का प्रयास विफ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लता में परिणत होता है, जबकि इस साधु का प्रयास सफलता में परिणत होता है। इसलिए '**कारणगुणपूर्वको हि कार्यगुणोदृष्टः** (कार्य के गुण का ज्ञान कारण के गुणों से होता देखा गया है) न्यायशास्त्र के इस नियमानुसार भिक्षु के कार्य-परिणाम की ओर जब नजर दौड़ाते हैं तो एक बात स्पष्ट प्रतीत हो जाती है कि भिक्षु को पुण्डरीक कमल प्राप्त करने में सफलता मिली है। इसलिये उसके द्वारा अपनाये हुए कारणों में भी विशेषता होनी चाहिए। अगर शास्त्र में पूर्वोक्त चारों पुरुषों की चेष्टाओं के लिए तथा इस साधु की चेष्टाओं के लिए प्रयुक्त समान वाक्यावली को देखें और उस पर सहसा गलत निर्णय कर बैठें तो ठीक नहीं होगा। इसलिए चाहे वाक्यावली समान हो, परन्तु दोनों जगह तात्पर्य में महान् अन्तर है। साधु के द्वारा की गई चेष्टाएँ ईर्ष्या, द्वेष, घृणा या राग-मोह-स्वार्थ आदि से प्रेरित नहीं हैं। इसीलिए शास्त्रकार उक्त साधु के लिए **भिक्खू लूहे तीरट्ठी खेयन्ने जाव गइपरक्कमण्णू** विशेषणों का प्रयोग करते हैं। साधु सर्वप्रथम दृष्टिपात में उक्त श्वेतकमल को देखता है। वह उसकी बाह्य सुन्दरता के नहीं, उसके आन्तरिक सौन्दर्य के दर्शन करता है और अपनी शुद्ध निर्विकार आत्मा से उसकी तुलना करता है। तदनन्तर वह उन पूर्वोक्त चारों असफल व्यक्तियों पर नजर दौड़ाता है, उन पर वह तटस्थ दृष्टि से चिन्तन करता है और मन ही मन उनके प्रति दयाभाव से प्रेरित होता है। उसका हृदय बोल उठता है—बेचारे ये अभागे पुरुष न तो इस पुण्डरीक कमल को प्राप्त कर सके, और उधर बावड़ी के किनारे से भी बहुत दूर हट गये हैं। इनकी स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गई है। ये न तो इस पार के रहे और न ही उस पार के रहे। अधबीच में ही इस बावड़ी के कीचड़ में फँसकर रह गये। इस प्रकार का समभावपूर्ण चिन्तन करने के बाद वह निःस्पृह साधु उन चारों पुरुषों की असफलता के कारणों पर गहराई से विचार करता है कि ये चारों भी मेरे ही समान पुरुष हैं, चारों ही शरीर से हृष्ट-पुष्ट एवं जवान हैं, फिर भी इस पुण्डरीक कमल को प्राप्त क्यों नहीं कर सके? हो न हो, इस पुण्डरीक को प्राप्त करने में बहुत बड़ा रहस्य है। अत्यधिक प्रवृत्ति करने से या ज्यादा उखाड़-पछाड़ करने से या लोगों में अपने बड़प्पन की डींग हाँकने से अथवा दूसरों को कोसने या भला-बुरा कहने से यह पुण्डरीक कमल हाथ नहीं आता। इस पुण्डरीक कमल को प्राप्त करने के जो कारण—उपाय हैं, उन्हें ये बेचारे नहीं जानते। इनकी दृष्टि स्थूल है, बहिर्मुखी है, अन्तर्मुखी नहीं है। इस श्वेतकमल को पाने के रहस्य का इन्हें ज्ञान नहीं है। ये इस पुण्डरीक को प्राप्त करने में होने वाले खेद या श्रम को नहीं जानते। न ही इस कार्य को करने में कुशल हैं, न विचारक एवं विद्वान हैं। वह साधु इन चारों की हुई दुर्दशा से बहुत बड़ी प्रेरणा लेता है कि कहीं मैं तो ऐसा नहीं हूँ। अपने अन्तर् में झाँककर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देखूँ तो सही ! और शीघ्र ही इस निर्णय पर आता है कि ये चारों पुरुष अखेदज्ञ हैं, अकुशल हैं तथा पूर्वोक्त गुणों से युक्त नहीं हैं और न मार्ग की गति और पराक्रम का इन्हें ज्ञान है। मुझ में ये दुर्गुण नहीं हैं, यह मैंने अपने अन्तर् को टटोलकर निर्णय कर लिया है, जिन कारणों से ये लोग इस श्वेतकमल को पाने में असफल रहे, उन कारणों को मैं जानता हूँ। इसलिए मैं इन कारणों से दूर ही रहूँगा। तत्पश्चात् उस भिक्षु ने फिर अपनी अन्तरात्मा में डुबकी लगाकर यह निरीक्षण-परीक्षण किया कि मुझ में इस श्वेतकमल को पाने की योग्यता है या नहीं ? मुझ में इतनी आत्म-शक्ति है या नहीं, कि मैं उसके जोर से इस श्वेतकमल को अपने पास बुला सकूँ ? और वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचा कि मैं भिक्षाजीवी निःस्पृह साधु हूँ, मुझे स्वार्थ और द्रोह से कोई वास्ता नहीं है। किसी के प्रति मेरे मन में न मोह है, न द्वेष है। मैं जानता हूँ कि इस श्वेतकमल को पाने में कितने और किस प्रकार के प्रयास की आवश्यकता है। मैं मोक्ष के तट पर पहुँचने का इच्छुक हूँ, यानी मैं चाहता हूँ कि संसारसागर से पार हो जाऊँ। इसलिए मेरा आत्मविश्वास है कि मोक्ष के समान दुर्लभ्य दुष्प्राप्य इस श्वेतकमल को मैं अवश्य ही पा सकूँगा। और इसी प्रकार के दृढ़ आत्मविश्वास एवं प्रबल आत्मशक्ति से प्रेरित होकर उक्त भिक्षु ने उस पुष्करिणी में प्रवेश नहीं किया सिर्फ पुष्करिणी के तट पर खड़े होकर आवाज दी—अरे श्वेतकमल ! वहाँ से उठकर यहाँ आ जाओ, जल्दी आ जाओ। बस, इतना कहते ही वह श्वेत कमल वहाँ से उठकर पुष्करिणी से बाहर निकल आया।

यहाँ यह नहीं बताया गया कि आवाज देने मात्र से कमल अपने स्थान से उठ-कर पुष्करिणी से बाहर कैसे निकल आया ? इस रहस्य को शास्त्रकार स्वयं ही आगे के सूत्रों में खोलेंगे। यहाँ तो शास्त्रकार को इस रूपक के एक अंश को इतना ही बताना था कि एक पुष्करिणी में उत्पन्न श्वेतकमल को पाने में कौन असफल रहे, कौन सफल ?

सारांश

इस सूत्र में सत्य (तत्त्व) को समझाने के लिए पुष्करिणी, कमल एवं कीचड़ में फँसे हुए असफल चार पुरुषों तथा किनारे पर खड़े होकर सिर्फ आवाज देकर कमल को बाहर निकालने वाले भिक्षु का दृष्टान्त-रूप से कथन किया गया है। इस सूत्र में दार्ष्टान्ति का वर्णन नहीं है। शास्त्र-कार ने अगले सूत्रों में इन दृष्टान्तों को घटित किया है। वास्तव में इस (छठे) सूत्र में निःस्पृह साधु की पूर्वोक्त चार पुरुषों से विशेषता बताई गई है कि भिक्षु कितना निःस्पृह, वीतराग, मोक्षार्थी, मार्गज्ञ एवं मार्ग की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गति-पराक्रम का ज्ञाता था, तभी वह श्वेतकमल को पाने में सफल रहा। भिक्ष ने अपनी सफलता के लिए पहले उक्त असफल व्यक्तियों से प्रेरणा ली, स्वयं का निरीक्षण-परीक्षण किया और जब यह निर्णय कर लिया कि मैं इस श्वेतकमल को पा सकता हूँ, तब तत्काल श्वेतकमल को आवाज देकर अपनी आत्म-शक्ति के बल पर पुष्करिणी से बाहर निकाल लिया।

मूल पाठ

किट्टिए नाए समणाउसो ! अट्ठे पुण से जाणियव्वे भवइ, भंते ! त्ति समणं भगवं महावीरं निग्गंथा य निग्गंथीओ य वंदंति नमंसंति वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी– किट्टिए नाए समणाउसो ! अट्ठं पुण से ण जाणामो समणाउसोत्ति, समणे भगवं महावीरे ते य बहवे निग्गंथे य निग्गंथीओ य आमंतित्ता एवं वयासी—हंत समणाउसो ! आइक्खामि विभावेमि किट्टेमि पवेदेमि सअट्ठं सहेउं सनिमित्तं भुज्जो भुज्जो उवदंसेमि से बेमि ।।सू० ७।।

लोयं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! पुक्खरिणी बुइया, कम्मं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से उदए बुइए, कामभोगे य खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से सेए बुइए, जणजाणवयं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! ते बहवे पउमवरपोंडरीए बुइए, रायाणं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से एगे महं पउमवरपोंडरीए बुइए, अन्नउत्थिया य खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! ते चत्तारि पुरिसजाया बुइया, धम्मं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से भिक्खू बुइए, धम्मतित्थं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से तीरे बुइए, धम्मकहं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से सद्दे बुइए, निव्वाणं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से उप्पाए बुइए, एवमेयं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से एवमेयं बुइयं ।।सू० ८।।

संस्कृत छाया

कीर्तिते ज्ञाते श्रमणाः आयुष्मन्तः ! अर्थः पुनरस्य ज्ञातव्यो भवति। भदन्त ! इति श्रमणं भगवन्तं महावीरं निर्ग्रन्थाश्च निर्ग्रन्थ्यश्च वन्दन्ते नमस्यन्ति वन्दित्वा नमस्कृत्य एवमवादिषुः—कीर्तिते ज्ञाते श्रमण आयुष्मन् ! अर्थ पुनरस्य न जानीमः। श्रमण ! आयुष्मन् इति। श्रमणो भगवान् महावीरस्तान् बहून् निर्ग्रन्थान् निर्ग्रन्थीश्च आमन्त्र्यैवमवादीत्—हन्त श्रमणा आयु-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ष्मन्तः ! आख्यामि विभावयामि कीर्तयामि प्रवेदयामि सार्थं सहेतुं सनिमित्तं भूयो भूयः उपदर्शयामि तद् ब्रवीमि ॥सू० ७॥

लोकञ्च खलु मया अपाहृत्य श्रमणाः आयुष्मन्तः ! पुष्करिणी उक्ता। कर्म च खलु मया अपाहृत्य श्रमणाः आयुष्मन्तस्तस्याः उदकमुक्तम्। काम-भोगं च खलु मया अपाहृत्य श्रमणाः आयुष्मन्तस्तस्याः सेय उक्तः। जनान् जनपदांश्च खलु मया अपाहृत्य श्रमणाः आयुष्मन्तस्तानि बहूनि पद्मवर-पुण्डरीकानि उक्तानि। राजानश्च खलु मया अपाहृत्य श्रमणाः आयुष्मन्तस्तस्याः एकं महत् पद्मवरपुण्डरीकमुक्तम्। अन्ययूथिकांश्च खलु मया अपाहृत्य श्रमणाः आयुष्मन्तः ! ते चत्वारः पुरुषाः उक्ताः। धर्मञ्च खलु मया अपाहृत्य श्रमणाः आयुष्मन्तः ! स भिक्षुरुक्तः। धर्मतीर्थञ्च खलु मया अपाहृत्य श्रमणाः आयुष्मन्तः ! तत्तीरमुक्तम्। धर्मकथाश्च खलु मया अपाहृत्य श्रमणाः आयु-ष्मन्तः स शब्दः उक्तः। निर्वाणञ्च खलु मया अपाहृत्य श्रमणाः आयुष्मन्तः ! स उत्पातः उक्तः। एवमेतत् खलु मया अपाहृत्य श्रमणाः आयुष्मन्तः ! तदेत-दुक्तम् ॥सू० ८॥

अन्वयार्थ

(**समणाउसो नाए किट्टिए**) श्रमण भगवान महावीर स्वामी कहते हैं—आयु-ष्मान् श्रमणो ! तुम्हारे समक्ष मैंने दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। (**अट्ठे पुण से जाणियव्वे भवइ**) इसका अर्थ तुम लोगों को स्वयं समझ लेना चाहिए (**भंते त्ति**) हाँ भदन्त ! यह कहकर (**निग्गंथा य निग्गंथीओ य समणं भगवं महावीरं वंदंति नमंसंति**) साधु और साध्वियाँ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दना और नमस्कार करते हैं। (**वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी**) वे वन्दना नमस्कार करके भगवान् से इस प्रकार कहते हैं कि (**समणाउसो ! किट्टिए नाए, से अट्ठं पुण ण जाणामो**) आयुष्मान् श्रमण भग-वान महावीर ! आपने जो उदाहरण बताये हैं, उसे हमने सुना, किन्तु उसका अर्थ (रहस्य) हम नहीं जानते। (अतः हे आयुष्मान् भगवन् ! आप ही अनुग्रह करके उसका अर्थ फरमाइये।) (**समणे भगवं महावीरे**) (यह सुनकर) श्रमण भगवान् महा-वीर स्वामी ने (**ते य बहवे निग्गंथे य निग्गंथीओ आमंतित्ता एवं वयासी**) उन बहुत से श्रमण-श्रमणियों को सम्बोधित करके इस प्रकार कहा कि (**हंत समणाउसो !**) आयु-ष्मान् श्रमण-श्रमणियो ! (**आइक्खामि**) लो, मैं उसका अर्थ (रहस्य) बताता हूँ, (**विभा-वेमि**) हेतु तथा पर्यायवाची शब्दों के द्वारा उसे प्रकट करता हूँ, (**किट्टेमि**) हेतु और दृष्टान्तों से उस अर्थ को हृदयंगम कराता हूँ। (**सअट्ठं सहेउं सनिमित्तं भुज्जो भुज्जो पवेदेमि**) अर्थ, हेतु और निमित्त के सहित उस अर्थ को बार-बार बताता हूँ, (**से बेमि**) उस बात को अभी बताता हूँ ॥ ७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(**समणाउसो**) आयुष्मान् श्रमणो ! (**मए खलु लोयं च अप्पाहट्टु पुक्खरिणी बुइया**) मैंने अपनी इच्छा से मानकर इस लोक को पुष्करिणी कहा है (**समणाउसो मए खलु अप्पाहट्टु कम्मं च से मए उदए बुइए**) हे आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने अपनी कल्पना से विचार करके कर्म को इस पुष्करिणी का जल कहा है। (**समणाउसो ! मए खलु कामभोगे अप्पाहट्टु च सेए बुइए**) आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने अपनी कल्पना से स्थिर करके कामभोग को पुष्करिणी का कीचड़ कहा है, (**समणाउसो ! मए खलु अपाहटटु जणजाणवयं च ते बहवे पउमवरपोंडरीए बुइए**) आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने अपनी दृष्टि से चिन्तन करके आर्य देश के मनुष्यों तथा देशों (जनपदों) को पुष्करिणी के बहुत से कमल कहे हैं, (**समणाउसो ! मए खलु अप्पाहट्टु रायाणं च से एगे महं पउमवरपोंडरीए बुइए**) आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने अपनी इच्छा से कल्पना करके उस पुष्करिणी का एक उत्तम श्वेतकमल राजा को कहा है। (**समणाउसो ! मए खलु अप्पाहटटु अन्नउत्थिया य ते चत्तारि पुरिसजाया बुइया**) आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने अपनी दृष्टि से विचार करके अन्ययूथिकों को उस पुष्करिणी के कीचड़ में फँसे हुए वे चार पुरुष कहे हैं, (**समणाउसो ! मए खलु अपाहट्टु धम्मं च से भिक्खू बुइए**) हे आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने अपनी बुद्धि से कल्पना करके धर्म को वह भिक्षु बताया है, (**समणाउसो ! मए खलु अप्पाहट्टु धम्मतित्थं च से तीरे बुइए**) आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने अपनी कल्पना से मानकर धर्मतीर्थ को पुष्करिणी का तट बताया है, (**समणाउसो ! मए खलु अप्पाहट्टु धम्मकहं से सद्दे बुइए**) आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने अपनी मान्यतानुसार धर्मकथा को वह शब्द कहा है। (**समणाउसो ! मए खलु अप्पाहट्टु निव्वाणं च से उप्पाए बुइए**) आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने अपनी इच्छा से मानकर निर्वाण को उस कमल को बाहर निकलकर आना कहा है (**समणाउसो ! मए खलु अप्पाहट्टु एवमेयं च से एवमेयं बुइए**) हे आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने अपनी बुद्धि से कल्पना करके पूर्वोक्त इन सब पदार्थों को पूर्वोक्त पदार्थों के रूप में कहा है ॥ ८ ॥

व्याख्या

दृष्टान्त का अर्थघटन

पहले सूत्र से लेकर छठवें सूत्र तक पुष्करिणी और उससे सम्बन्धित पदार्थों के रूपक का पूर्वभाग दिया गया था, अब सातवें और आठवें सूत्र में इसी रूपक का उत्तर भाग दिया गया है। अर्थात् छह सूत्रों तक दृष्टान्त का निरूपण किया गया है। अब सातवें-आठवें सूत्र में उन दृष्टान्तों के दार्ष्टान्ति की योजना की गई है। शास्त्रकार ने प्रत्येक दार्ष्टान्ति का निरूपण भगवान् महावीर के श्रीमुख से '**समणाउसो**' (आयुष्मान् श्रमणो) सम्बोधन करवाकर कराया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसा कि यहाँ कहा गया है—"**किट्टिए नाए समणाउसो**" अर्थात् श्रमण भगवान् महावीर स्वामी कहते हैं—आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने तुम्हारे सामने अभी तक जो दृष्टान्त या रूपक प्रस्तुत किया है, इसका अर्थ तुमको स्वयं समझ लेना चाहिए। ऐसा कहने के पीछे दो कारण प्रतीत होते हैं—एक तो यह कि भगवान महावीर अपने श्रमण-श्रमणियों का बौद्धिक परीक्षण लेना चाहते हों, दूसरा यह कि अगर उन्हें इसका अर्थ-घटन करना यथार्थ रूप से नहीं आता होगा तो वे नम्रतापूर्वक विनीत भाव से मुझे पूछेंगे। यही कारण है कि श्रमणों ने अपनी मन्दबुद्धिता का स्पष्ट परिचय देकर थोड़ा-बहुत अर्थघटन करना आता भी होगा, तब भी कहीं गलत हो जाने की आशंका से या यों ही ऊटपटांग कहने से सत्यमहाव्रत में दोष लगने की भीति से अथवा भगवान महावीर के श्रीमुख से साक्षात् श्रवण करने की इच्छा से विनीत भाव से वन्दन-नमन करके निवेदन किया—"प्रभो ! आपके श्रीमुख से हम सबने दृष्टान्त तो सुन लिया, लेकिन हम पूरी तरह से उसका रहस्य नहीं समझ पाये हैं। अतः प्रभो ! आप ही अनुग्रह करके उक्त दृष्टान्त का रहस्यार्थ हमें समझाने की कृपा करें।"

श्रमण-श्रमणियों की इस प्रकार की विनय-भक्तिपूर्ण जिज्ञासा जानकर श्रमण भगवान महावीर ने भी ऐसे जिज्ञासुओं को तत्त्वज्ञान प्रदान करना उचित समझकर उन समस्त बहुसंख्यक निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिनियों को सम्बोधित करते हुए कहा—"आयुष्मान् श्रमणवर्ग ! अभी मैं तुम्हारी जिज्ञासा जानकर लो तुम्हें उक्त दृष्टान्त का रहस्यार्थ कहता हूँ, उसके पर्यायवाची शब्दों आदि द्वारा उसका पुर्जा-पुर्जा खोलकर मैं शीघ्र ही प्रगट करूँगा; हेतुओं, दृष्टान्तों आदि के द्वारा भी मैं तुम्हें समझाता हूँ अर्थात् हेतु और दृष्टान्त द्वारा अभी तुमको समझाता हूँ, फिर अर्थ (प्रयोजन), हेतु (कारण) और निमित्त के साथ इस दृष्टान्त को पुनः-पुनः बतलाता हूँ। तात्पर्य यह है कि निमित्त और प्रयोजन आदि को भली-भाँति समझाते हुए उसके रहस्य का प्रतिपादन करता हूँ।"

इसके पश्चात् सभी उपस्थित श्रमण-श्रमणियों को लक्ष्य करके भगवान महावीर स्वामी प्रतिज्ञात अर्थ (प्रस्तुत दृष्टान्त के रहस्य) का प्रतिपादन करते हैं। अर्थ अत्यन्त दुरूह होने से वे हृदयंगम कराने की दृष्टि से कहते हैं—देखो श्रमणो ! यह चौदह रज्जु परिमाण अतिविस्तृत लोक (सृष्टि) है, जो विविध प्रकार की रुचि, बुद्धि शक्ति आदि से युक्त जीवों से परिपूर्ण है। इस लोक के लिए मैंने अपनी बुद्धि से परिकल्पना की है कि यह लोक ही वह पुष्करिणी है। जैसे पुष्करिणी में अनेक प्रकार के पुष्प एवं कमल उत्पन्न होते हैं, और समय पाकर नष्ट हो जाते हैं वैसे ही इस सृष्टि में अगणित प्रकार के जीव पैदा होते और अपने-अपने पुण्य-पापकर्मानुसार वे जन्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेकर मरते हैं। मरकर पुनः प्रगट होते हैं और नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव करते हैं। जैसे पुष्करिणी अनेक प्रकार के कमलों का आधार होती है, उसी प्रकार यह मनुष्य-लोक भी नाना प्रकार के मनुष्यों का आधार है। अतः इस तुल्यता को लेकर मैंने मनुष्यलोक को पुष्करिणी का रूपक दिया है। आयुष्मान् श्रमणो ! कर्म को मैंने उस पुष्करिणी का जल कहा है। जैसे पुष्करिणी में जल के कारण कमलों की उत्पत्ति होती है, इसी तरह आठ प्रकार के कर्मों के कारण मनुष्यलोक में मनुष्यों की उत्पत्ति होती है जो कि मनुष्यों द्वारा उपार्जित होते हैं। दोनों में सदृशता होने से मैंने जल को कर्म की उपमा दी है। इन दोनों में विसदृशता इतनी-सी है कि एक जगह कमल की उत्पत्ति का कारण जल अवश्य है, किन्तु जल की उत्पत्ति का कारण कमल नहीं है। जबकि कर्म मनुष्यों की उत्पत्ति का कारण भी है और मनुष्यों द्वारा जनित—उपार्जित भी हैं।

इसके पश्चात् भगवान् कहते हैं—श्रमणो ! मैंने काम-भोगों को पुष्करिणी के कीचड़ से उपमा दी है। जैसे पुष्करिणी के कीचड़ में फँसा हुआ मनुष्य अपना उद्धार स्वयं करने में असमर्थ हो जाता है, वैसे ही काम-भोगों में फँसा हुआ कामासक्त मानव भी अपना उद्धार स्वयं नहीं कर सकता। ये दोनों ही समान रूप से बन्धन के कारण हैं इसलिए इन दोनों की समानता देखकर ही मैंने कामभोगों को मनुष्य लोकरूपी पुष्करिणी का कीचड़ कहा है। अन्तर केवल इतना ही है कि पंक बाह्य-बन्धन है, जबकि काम और भोग आध्यात्मिक बन्धन हैं।

आयुष्मान् श्रमणो ! जनों और जनपदों को मैंने बहुसंख्यक पद्मवरपुण्डराक कहा है। जैसे पुष्करिणी में नाना प्रकार के कमल होते हैं वैसे ही मनुष्यलोक में नाना प्रकार के मानव निवास करते हैं। इन दोनों में समानता देखकर मैंने मनुष्य लोक में निवास करने वाले मानवों को मनुष्यलोकरूपी पुष्करिणी के बहुसंख्यक कमल बताया है। अथवा जैसे कमलों से पुष्करिणी शोभायमान होती है, वैसे ही मनुष्यों या मनुष्यों के जनपदों (विभिन्न प्रान्तों या प्रदेशों) से मानवलोकरूपी पुष्करिणी शोभायमान होती है। कमल में निर्मल सुगन्ध होती है, वैसे ही मानव में गुणों की सुगन्ध होती है। इस कारण दोनों में समानता है।

जैसे पुष्करिणी के समस्त कमलों में प्रधान एक उत्तम और विशाल श्वेतकमल है, इसी प्रकार मनुष्यलोक में सभी मनुष्यों में श्रेष्ठ और सब पर शासनकर्ता नरेन्द्र होता है। इसीलिए मनुष्यलोकरूपी पुष्करिणी में सर्वश्रेष्ठ श्वेतकमल से शासक की उपमा दी है। शासक शीर्षस्थ अनुशास्ता होता है, वह अपने पर भी शासन करता है, दूसरों पर भी; वैसे ही पुष्करिणी का सर्वश्रेष्ठ राजा—कमलों का शीर्षस्थ शासक—राजा—वही प्रधान पुण्डरीक (श्वेत) कमल है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसे कोई अविवेकी मनुष्य पुष्करिणी के उस प्रधान श्वेतकमल को निकालने के लिए पुष्करिणी में प्रवेश करके बीच में ही उसके भारी कीचड़ में फँस जाता है, और वह अपने को तथा उस श्वेतकमल को निकालने में समर्थ नहीं होता, वैसे ही जो मनुष्य इस मनुष्यलोक में प्रवेश करके मनुष्यलोकरूपी पुष्करिणी के विषय-भोग-रूपी कीचड़ में फँसा हुआ है या फँस जाता है, वह अपने आपका तथा मनुष्यों में प्रधान राजा आदि का संसार से उद्धार करने में समर्थ नहीं होता। इस तुल्यता को लेकर हे आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने विषय-भोग के कीचड़ या मिथ्या-मान्यताओं के दल-दल में फँसे हुए अन्यतीर्थिकों की तुलना चार दिशाओं से आकर जो पुष्करिणी के कीचड़ में फँस जाते हैं, उन चार पुरुषों से की है। जैसे वे चारों पुरुष पुष्करिणी में से कमल को लाने में समर्थ नहीं हुए, बल्कि कीचड़ में फँस गये और अपना उद्धार भी न कर सके, वैसे ही अन्यतीर्थिक भी विषय-भोगरूपी पंक में या मिथ्या-मान्यताओं के दल-दल में फँसकर न तो स्वयं अपना उद्धार कर सकते हैं और न ही श्वेतकमल-रूपी शासक का उद्धार कर सकते हैं।

जैसे कोई विद्वान् पुरुष पुष्करिणी के भीतर न घुसकर उसके तट पर ही खड़ा होकर सिर्फ आवाज देकर कमल को बाहर निकाल लेता है, इसी प्रकार राग-द्वेष-रहित धार्मिक साधु पुरुष विषय-भोग का त्याग करके धर्मोपदेश के द्वारा राजा-महाराजा आदि को संसार-पुष्करिणी से बाहर निकाल लेते हैं, यानी वे उसका उद्धार कर देते है, इसलिए मैंने राग-द्वेषरहित उत्तम साधु को भिक्षु कहा है। जैसे वह विद्वान् पुरुष पुष्करिणी के तट पर रहा, वैसे ही बुद्धिमान् भिक्षु उत्तमधर्म में या उत्तमसाधु-धर्मतीर्थ में स्थित रहते हैं। इसलिए श्रमणो ! मैंने धर्मतीर्थ को मनुष्यलोकरूपी पुष्करिणी का तट कहा है। जैसे पुष्करिणी का अन्त तट कहलाता है, और उससे आगे के भाग को पुष्करिणी कहते हैं, वैसे ही संसार की चरमसीमा धर्मतीर्थ है। धर्मतीर्थ संसार का अन्त करने वाला है, लेकिन लौकिक तीर्थ नहीं। जैसे विद्वान पुरुष श्वेतकमल को सिर्फ शब्द के द्वारा बाहर निकाल लेता है, इसी प्रकार विद्वान् साधु धर्मोपदेश (धर्मकथा) के द्वारा राजा-महाराजा आदि को संसाररूपी पुष्करिणी से बाहर निकाल लेते हैं। इसीलिए धर्मकथा को मैंने भिक्षु का शब्द कहा है। धर्म-कथा द्वारा अनेक मानव संसार से पार किये जाते हैं। इसीलिए शब्द से धर्मकथा की उपमा दी गई है।

जैसे कमल जल और कीचड़ को त्यागकर बाहर आता है, इसी तरह उत्तम पुरुष अपने अष्टविध कर्मों तथा विषय-भोगों को त्यागकर निर्वाण-पद को प्राप्त करते हैं, अतः निर्वाण-पद की प्राप्ति को ही मैंने श्वेतकमल का पुष्करिणी से बाहर निकल आना कहा है। अथवा जैसे जल के अन्दर रहा हुआ कमल कीचड़ को भेदकर ऊपर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आ जाता है, वैसे ही साधु संसार-जल में रहता हुआ भी अष्टविध कर्मजल को विच्छिन्न करके तथा विषय-भोगरूपी कीचड़ को भेदकर संसार से ऊपर उठ जाता है। इसी कारण उत्पात को मैंने निर्वाण से उपमा दी है।

अन्त में भगवान् महावीर इस सूत्र का उपसंहार करते हुए कहते हैं—आयुष्मान् श्रमणो! मैंने अपनी केवल-प्रज्ञा से जानकर जैसा जिसका स्वरूप है, वैसा ही यथातथ्यरूप में कहा है। अर्थात् केवलज्ञानरूपी प्रखर प्रज्ञा से जानकर पुष्करिणी आदि पूर्वोक्त पदार्थों का रूपक तुम्हारे समक्ष यथार्थ रूप से प्रस्तुत कर दिया है।

सारांश

सातवें सूत्र में बताया गया है कि श्रमण भगवान् महावीर ने श्रमण-श्रमणियों की जिज्ञासा देखकर उनके समक्ष दृष्टान्त के अर्थघटन को बताने की प्रतिज्ञा की है। आठवें सूत्र में महावीर प्रभु ने क्रमशः मनुष्य-लोक को पुष्करिणी से, कर्म को उसके पानी से, कामभोग को उसके कीचड़ से, जन-जनपद को पुष्करिणी के बहुत से श्वेतकमलों से, शासक को प्रधान श्वेत-कमल से, पंकग्रस्त चार मनुष्यों को अन्यतीर्थिकों से, धर्म को सफल भिक्षु से, धर्मतीर्थ को तट से, धर्मकथा को शब्द से तथा निर्वाण को सृष्टि पुष्करिणी से उत्तम श्रेष्ठ श्वेतकमल के बाहर आने से उपमा देकर रूपक का अर्थ-घटन किया है।

मूल पाठ

इह खलु पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा संतेगइया मणुस्सा भवंति अणुपुव्वेणं लोगं उवव्वन्ना, तं जहा—आरिया वेगे, अणारिया वेगे, उच्चागोत्ता वेगे, णीयागोया वेगे, कायमंता वेगे, रहस्समंता वेगे, सुवन्ना वेगे दुव्वन्ना वेगे, सुरूवा वेगे, दुरूवा वेगे; तेसिं च णं मणुयाणं एगे राया भवइ, महया हिमवंतमलय-मंदर-महिंदसारे अच्चंतविसुद्धरायकुलवंसप्पसूते निरंतररायलक्खणविराइयंगमंगे बहुजणबहुमाणपूइए सव्वगुणसमिद्धे खत्तिए मुदिए मुद्धाभिसित्ते माउपिउसुजाए दयप्पिए सीमंकरे सीमंधरे खेमंकरे खेमंधरे मणुस्सिंदे जणवयपिया जणवयपुरोहिए सेउकरे केउकरे नरपवरे पुरिसपवरे पुरिससीहे पुरिसआसीविसे पुरिसवरपोंडरीए पुरिसवरगंधहत्थी अड्ढे दित्ते वित्ते विच्छिन्नविउलभवणसयणासणजाणवाहणाइण्णे बहुधणबहुजायरूवरयए आओगपओगसंपउत्ते विच्छड्डियपउरभत्तपाणे बहुदासीदासगोमहिसगवेलगप्पभूए पडिपुण्णकोसकोट्ठागाराउहागारे बलवं दुब्बलपच्चामित्त ओहय-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कंटयं निहयकंटयं मलियकंटयं उद्धियकंटयं अकंटयं ओहयसत्तू निहयसत्तू मलियसत्तू उद्धियसत्तू निज्जयसत्तू पराइयसत्तू, ववगयदुभिक्खमारिभय विप्पमुक्कं रायवन्नओ जहा उववाइए जाव पसंतडिंबडमरं रज्जं पसाहेमाणे विहरइ।

तस्स णं रन्नो परिसा भवइ—उग्गा उग्गपुत्ता भोगा भोगपुत्ता इक्खागाइ इक्खागाइपुत्ता नाया नायपुत्ता कोरव्वा कोरव्वपुत्ता भट्टा भट्टपुत्ता माहणा माहणपुत्ता लेच्छइ लेच्छइपुत्ता पसत्थारो पसत्थपुत्ता सेणावई सेणावइपुत्ता। तेसिं च णं एगतीए सड्ढी भवइ कामं तं समणा वा माहणा वा संपहारिंसु गमणाए, तत्थ अन्नतरेणं धम्मेणं पन्नत्तारो वयं इमेणं धम्मेणं पन्नवइस्सामो ते एवमायाणह भयंतारो जहा मए एस धम्मे सुयक्खाए सुपन्नत्ते भवइ, तं जहा—उड्ढं पादतला अहे केसग्गमत्थया तिरियं तयपरियंते जीवे एस आयापज्जवे कसिणे एस जीवे जीवइ एस मए णो जीवइ, सरीरे धरमाणे धरइ विणट्ठम्मि य णो धरइ, एयंतं जीवियं भवइ आदहणाए परेहिं निज्जइ अगणिझामिए सरीरे कवोतवन्नाणि अट्ठीणि भवंति, आसंदीपंचमा पुरिसा गामं पच्चागच्छंति, एवं असंते असंविज्जमाणे जेसिं तं असंते असंविज्जमाणे तेसिं तं सुयक्खायं भवइ—अन्नो भवइ जीवो, अन्नं सरीरं, तम्हा, ते एवं नो विपडिवेदेंति—अयमाउसो ! आया दीहेति वा हस्सेति वा परिमंडलेति वा वट्टेति वा तंसेति वा चउरंसेति वा आयतेति वा छलंसिएति वा अट्ठंसेति वा किण्हेति वा णीलेति वा लोहियहालिद्दे सुक्किल्लेति वा सुब्भिगंधेति वा दुब्भिगंधेति वा तित्तेति वा कडुएति वा कसाएति वा अंबिलेति वा महुरेति वा कक्खडेति वा मउएति वा गुरुएति वा लहुएति वा सिएति वा उसिणेति वा निद्धेति वा लुक्खेति वा, एवं असंते असंविज्जमाणे जेसिं तं सुयक्खायं भवइ—'अन्नो जीवो अन्नं सरीरं, तम्हा ते णो एवं उवलब्भंति, से जहाणामए केइ पुरिसे कोसीओ असिं अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा, अयमाउसो ! असी अयं कोसी, एवमेव नत्थि केइ पुरिसे अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेत्तारो अयमाउसो ! आया इयं सरीरं। से जहाणामए केइ पुरिसे मुंजाओ इसियं अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा अयमाउसो ! मुंजे इयं इसियं, एवमेव नत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो अयमाउसो ! आया इयं सरीरं। से जहाणामए केइ पुरिसे मंसाओ अट्ठि अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा अयमाउसो ! मंसे अयं अट्ठी, एवमेव नत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो अयमाउसो ! आया इयं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सरीरं। से जहाणामए केइ पुरिसे करयलाओ आमलकं अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा अयमाउसो ! करयले अयं आमलए, एवमेव नत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो अयमाउसो ! आया इयं सरीरं। से जहाणामए केइ पुरिसे दहिओ नवनीयं अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा अयमाउसो ! नवनीयं अयं तु दही, एवमेव णत्थि केइ पुरिसे जाव सरीरं। से जहाणामए केइ पुरिसे तिलेहिंतो तिल्लं अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा अयमाउसो ! तेलं अयं पिन्नाए, एवमेव जाव सरीरं। से जहाणामए केइ पुरिसे इक्खूतो खोयरसं अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा अयमाउसो ! खोयरसे अयं छोए, एवमेव जाव सरीरं। से जहाणामए केइ पुरिसे अरणीओ अग्गिं अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा अयमाउसो ! अरणी अयं अग्गी, एवमेव जाव सरीरं। एवं असंते असंविज्जमाणे जेसिं तं सुयक्खायं भवइ, तं जहा—अन्नो जीवो अन्नं सरीरं। तम्हा ते मिच्छा। से हंता तं हणह खणह छणह डहह पयह आलुंपह विलुंपह सहसाक्कारेह विपरामुसह, एतावता जीवे णत्थि परलोए, ते णो एवं विप्पडिवेदेंति, तं जहा—किरियाइ वा अकिरियाइ वा सुक्कडेइ वा दुक्कडेइ वा कल्लाणेइ वा पावएइ वा साहुइ वा असाहुइ वा सिद्धीइ वा असिद्धीइ वा निरएइ वा अनिरएइ वा एवं ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारभंति भोयणाए। एवं एगे पागब्भिया णिक्खम्म मामगं धम्मं पन्नवेंति, तं सद्दहमाणा तं पत्तियमाणा तं रोएमाणा साहु सुयक्खाए समणेति वा माहणेति वा कामं खलु आउसो ! तुमं पूययामि, तं जहा—असणेण वा पाणेण वा खाइमेण वा साइमेण वा वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पायपुंछणेण वा तत्थेगे पूयणए समाउट्टिंसु, तत्थेगे पूयणाए निकाइंसु। पुव्वमेव तेसिं णायं भवइ- समणा भविस्सामो अणगारा अकिंचणा अपुत्ता अपसू परदत्तभोइणो भिक्खुणो पावं कम्मं णो करिस्सामो समुट्ठाए ते अप्पणा अप्पडिविरया भवंति, सयमाइयंति अन्नेवि आदियावेंति, अन्नं पि आयतंतं समणुजाणंति, एवमेव ते इत्थिकामभोगेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया अज्झोववन्ना लुद्धा रागदोसवसट्टा, ते णो अप्पाणं समुच्छेदेंति ते णो परं समुच्छेदेंति ते णो अण्णाइं पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समुच्छेदेंति, अहीणा पुव्वसंजोगं आयरियं मग्गं असंपत्ता इति ते णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा कामभोगेसु विसन्ना इति पढमे पुरिसजाए तज्जीवतच्छरीरएत्ति आहिए ॥ सू० ६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

इह खलु प्राच्यां वा प्रतीच्यां वा उदीच्यां वा दक्षिणस्यां वा सन्त्येके-मनुष्या भवन्ति, आनुपूर्व्या लोकमुपपन्नाः, तद्यथा आर्या एके, अनार्या एके, उच्चगोत्रा एके, नीचगोत्रा एके, कायवन्तः एके, ह्रस्ववन्तः एके, सुवर्णाः एके, दुर्वर्णाः एके, सुरूपाः एके, दुरूपाः वा एके। तेषां च मनुजानामेको राजा भवति, महाहिमवन्मलयमन्दरमहेन्द्रसारः, अत्यन्तविशुद्धराजकुलवंशप्रसूतः निरन्तर-राजलक्षणविराजितांगोपांगः बहुजनबहुमानपूजितः सर्वगुणसमृद्धः, क्षत्रियः, मुदितः, मूर्धाभिषिक्तः, मातृपितृसुजातः, दयाप्रियः, सीमाकरः, सीमाधरः, क्षेमं-करः, क्षेमंधरः, मनुष्येन्द्रः, जनपदपिता, जनपदपुरोहितः, सेतुकरः, केतुकरः, नर-प्रवरः, पुरुषप्रवरः, पुरुषसिंहः, पुरुषाशीर्विषः, पुरुषवरपुण्डरीकः, पुरुषवरगन्ध-हस्ती, आढ्यः, दीप्तः, वित्तः, विस्तीर्णविपुलभवनशयनासनयानवाहनाकीर्णः, बहुधनबहुजातरूपरजतः, आयोगप्रयोगसम्प्रयुक्तः, विच्छर्दितप्रचुरभक्तपानः, बहुदासीदासगोमहिषगवेलकप्रभूतः, प्रतिपूर्णकोशकोष्ठागारायुधागारः, बल-वान्, दुर्बलमित्रः, अवहतकंटकं, निहतकंटकं, मर्दितकण्टकम्, उद्धृतकण्टकं, अकण्टकं, अवहतशत्रु, निहतशत्रु, मर्दितशत्रु, उद्धृतशत्रु, निर्जितशत्रु, पराजित-शत्रु, व्यपगतदुर्भिक्ष मारीभयविप्रमुक्तं, राजवर्णकः यथा औपपातिके यावत् प्रशान्त डिम्बडम्बरं राज्यं प्रसाधयन् विहरति। तस्य राज्ञः परिषद् भवति उग्राः, उग्रपुत्राः, भोगाः, भोगपुत्राः, इक्ष्वाकवः, इक्ष्वाकुपुत्राः, ज्ञाताः, ज्ञातपुत्राः, कौरव्याः, कौरव्यपुत्राः, भट्टाः, भट्टपुत्राः, ब्राह्मणाः, ब्राह्मणपुत्राः, लेच्छिणः, लेच्छिपुत्राः, प्रशास्तारः, प्रशास्तृपुत्राः, सेनापतयः, सेनापतिपुत्राः। तेषां च एक-तमः श्रद्धावान् भवति कामं तं श्रमणाः वा ब्राह्मणाः वा सम्प्रधार्षुः, गमनाय, तत्र अन्यतरेण धर्मेण प्रज्ञापयितारः, वयमनेन धर्मेण प्रज्ञापयिष्यामः, तदेवं जानीहि भयत्रातः, यथा मया एष धर्मः स्वाख्यातः सुप्रज्ञप्तो भवति, तद्यथा-ऊर्ध्वं पादतलाद् अधः केशाग्रमस्तकात् तिर्यक् त्वक्पर्यन्तो जीवः एष आत्म पर्यवः कृत्स्नः। अस्मिन् जीवति जीवति, एष मृतः नो जीवति, शरीरे धरति धरति, विनष्टे च नो धरति। एतदन्तं जीवितं भवति। आदहनाय परैर्नीयते, अग्निध्मापिते शरीरे कपोतवर्णान्यस्थीनि भवन्ति। आसन्दीपंचमाः पुरुषाः ग्रामं प्रत्यागच्छन्ति। एवमसन् असंवेद्यमानः येषां स असत् असंवेद्यमानस्तेषां तत् स्वाख्यातं भवति। अन्यो भवति जीवं, अन्यत् शरीरम, तस्मात् ते एवं ना विप्रतिवेदयन्ति अयमायुष्मन्! आत्मा दीर्घ इति वा, ह्रस्व इति वा,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिमण्डल इति वा, वर्तुल इति वा, त्र्यंस्र इति वा, चतुरंस्र इति वा, आयत इति वा, षडंश इति वा, अष्टांश इति वा, कृष्ण इति वा, नील इति वा, लोहित इति वा, शुक्ल इति वा, सुरभिगन्ध इति वा, दुरभिगन्ध इति वा, तिक्त इति वा, कटुक इति वा, कषाय इति वा, आम्ल इति वा, मधुर इति वा, कर्कश इति वा, मृदुरिति वा, गुरुक इति वा, लघुक इति वा, शीत इति वा, उष्ण इति वा, स्निग्ध इति वा, रुक्ष इति वा, एवम् असन् असंवेद्यमानः येषां तत् स्वाख्यातं भवति। अन्यो जीवः, अन्यत् शरीरं, तस्मात् ते नो एवं उपलभन्ते, तद्यथानामकः कश्चित् पुरुषः कोशाद् असिं अभिनिर्वर्त्त्य उपदर्शयेत्, अयम् आयुष्मन् ! असिः, अयं कोशः, एवमेव नास्ति कोऽपि पुरुषः अभिनिर्वर्त्त्य उपदर्शयिता अयमायुष्मन् ! आत्मा, इदं शरीरम्। तद्यथानामकः कोऽपि पुरुषः मुञ्जाद् ईषिकाम् अभिनिर्वर्त्त्य खलु उपदर्शयेद् अयमायुष्मान् ! मुञ्जः, इयमीषिकाम् एवमेव नास्ति कोऽपि पुरुषः उपदर्शियताः अयमायुष्मन् ! आत्मा इदं शरीरम्, तद्यथानामकः कोऽपि पुरुषो मांसाद् अस्थि अभिनिर्वर्त्त्य खलु उपदर्शयेद् अयम् आयुष्मन् ! मांसः इदम् अस्थि एवमेव नास्ति कोऽपि पुरुषः उपदर्शयिता अयमायुष्मन् ! आत्मा इदं शरीरम्। तद्यथानामकः कोऽपि पुरुषः करतलादामलकमभिनिर्वर्त्त्य उपदर्शयेद् इदम् आयुष्मन् ! करतलम् इदम् आमलकम्, एवमेव नास्ति कोऽपि पुरुषः उपदर्शयिता, अयमायुष्मन् ! आत्मा इदं शरीरम्। तद्यथानामकः कश्चित् पुरुषः दध्नः नवनीतम् अभिनिर्वर्त्त्य उपदर्शयेद् इदमायुष्मन् ! नवनीतम् इदं दधि एवमेव नास्ति कोऽपि पुरुषः उपदर्शयिता अयमायुष्मन् आत्मा इदं शरीरम्। तद्यथा नामकः कोऽपि पुरुषः तिलेभ्यस्तैलमभिनिर्वर्त्त्य उपदर्शयेद् इदमायुष्मन् ! तैलम्, अयं पिण्याकः, एवमेव नास्ति कोऽपि पुरुषः उपदर्शयिता अयमायुष्मन् ! आत्मा इदं शरीरम्। तद्यथानामकः कोऽपि पुरुषः इक्षुतः क्षोदरसम् अभिनिर्वर्त्त्य उपदर्शयेद् अयम् आयुष्मन् क्षोदरसः अयं क्षोदः एवमेव यावत् शरीरम्। तद्यथानामकः कोऽपि पुरुषः अरणितः अग्निम् अभिनिर्वर्त्त्य उपदर्शयेद् इयम् आयुष्मन् ! अरणिः, अयम् अग्निः एवमेव यावत् शरीरम्। एवमसन् असंवेद्यमानः येषां तत् स्वाख्यातं भवति, तद्यथा—अन्यो जीवः, अन्यत् शरीरम् तस्मात्ते मिथ्या। स हन्ता तं घातयत, क्षिणुत, दहत, पचत, आलुम्पत, विलुम्पत, सहसा कारयत, विपरामृशत, एतावान् जीवः नास्ति परलोकः। ते नो एवम् प्रतिसंवेदयन्ति, तद्यथा—क्रियां वा, अक्रियां वा, सुकृतं वा, दुष्कृतं वा, कल्याणं वा,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पापकं वा, साधु वा, असाधु वा, सिद्धि वा असिद्धि वा, निरयं वा, अनिरयं वा, एवं ते विरूपरूपैः कर्मसमारम्भैः विरूपरूपान् कामभोगान् समारभन्ते भोगाय। एवमेके प्रागल्भिकाः निष्क्रम्य मामकं धर्मं प्रज्ञापयन्ति, तं श्रद्दधा नास्तं प्रतियन्तः तं रोचयन्तः साधु स्वाख्यातं श्रमण इति वा, माहन इति वा कामं खलु आयुष्मन्! त्वां पूजयामि, तद्यथा—अशनेन वा पानेन वा खाद्येन वा स्वाद्येन वा, वस्त्रेण वा, प्रति (पतद्) ग्रहेण वा, कम्बलेन वा, पादप्रोञ्छनेन वा तत्रैके पूजायै समुत्थितवन्तः, तत्रैकेः पूजायै निकाचितवन्तः। पूर्वमेव तेषां ज्ञातं भवति श्रमणाः भविष्यामः अनगाराः अकिंचनाः अपुत्राः अपशवः परदत्तभोजिनः भिक्षवः पापंकर्म न करिष्यामः, समुत्थाय ते आत्मना अप्रतिविरताः भवन्ति। स्वयमाददते, अन्यान् अपि आदापयन्ति अन्यम् अपि आददतं समनुजानन्ति। एवमेव ते स्त्रीकामभोगैमूर्च्छिताः गृद्धाः ग्रथिताः अध्युपपन्नाः लुब्धाः रागद्वेषवशार्ताः ते नो आत्मानं समुच्छेदयन्ति नो परं समुच्छेदयन्ति, ते नो अन्यान् प्राणान् भूतानि जीवान् सत्त्वान् समुच्छेदयन्ति प्रहीणाः पूर्वसंयोगाद् आर्यं मार्गं अप्राप्ताः इति ते नोऽर्वाचे नो पाराय अन्तरा कामभोगेषु निषण्णाः इति प्रथमः पुरुषजातः तज्जीवतच्छरीरक इति आख्यातः॥ सू० ९॥

अन्वयार्थ

(इह खलु पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा अणुपुव्वेणं लोगं उववन्ना संतेगइया मणुस्सा भवंति) इस मनुष्यलोक में पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशाओं में उत्पन्न कई प्रकार के मनुष्य होते हैं, **(तं जहा)** जैसे कि **(आरिया वेगे)** उन मनुष्यों में कई आर्य होते हैं, **(अणारिया वेगे)** अथवा कई अनार्य होते हैं, **(उच्चागोत्ता वेगे)** कुछ लोग उच्चगोत्रीय होते हैं, **(णीयागोया वेगे)** कई नीचगोत्रीय भी होते हैं, **(कायमंता वेगे रहस्समंता वेगे)** उनमें कोई भीमकाय (लम्बे) होते हैं, कई ठिगने कद के होते हैं। **(वेगे सुवन्ना वेगे दुवन्ना)** कोई सुन्दर वर्ण वाले होते हैं तो कोई बुरे वर्ण वाले होते हैं। **(वेगे सुरूवा वेगे दुरूवा)** कोई सुरूप होते हैं तो कोई कुरूप होते हैं। **(तेसिं च मणुयाणं एगे राया भवइ)** उन मनुष्यों में कोई एक राजा होता है, **(महयाहिमवंतमलयमंदरमहिंदसारे)** वह राजा महान् हिमवान्, मलयाचल, मन्दराचल और महेन्द्र पर्वत के समान शक्तिशाली होता है अथवा धनवान् होता है, **(अच्चंतविसुद्धरायकुलवंसप्पसूते)** वह अत्यन्त विशुद्ध राजकुल के वंश में जन्मा हुआ होता है, **(निरंतरायलक्खणविराइयंगमंगे)** उसके अंग-प्रत्यंग सदा राजलक्षणों से सुशोभित होते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं, (**बहुजणबहुमाणपूइए**) उसकी पूजा-प्रतिष्ठा अनेक जनों के द्वारा बहुमानपूर्वक की जाती है, (**सव्वगुणसमिद्धे**) वह समस्त गुणों से पूर्ण होता है, वह (**खत्तिए**) क्षत्रिय यानी पीड़ित प्राणियों का रक्षक होता है, (**मुदिए**) वह सदा प्रसन्न रहता है, (**मुद्धाभिसित्ते**) वह राजा राज्याभिषेक किया हुआ होता है, (**माउपिउसुजाए**) वह अपने माता और पिता का सुपुत्र होता है, (**दयप्पिए**) उसे दया प्रिय होती है, (**सीमंकरे सीमंधरे**) वह जनता की सुव्यवस्था के लिए सीमा (मर्यादा) स्थापित—निर्धारित करता है तथा स्वयं उस मर्यादा का पालन भी करता है। (**खेमंकरे खेमंधरे**) वह जनता का कल्याण करता और स्वयं कल्याण को धारण करता है। (**मणुस्सिंदे**) वह मनुष्यों में इन्द्र—प्रभु होता है, (**जणवयपिया जणवयपुरोहिए**) वह देशभर का पिता और देशभर का शान्ति-रक्षक—पुरोहित होता है, (**सेउकरे केउकरे**) वह राजा अपने राष्ट्र की सुख-शान्ति के लिए नदी, नहर, पुल आदि तथा भूमि आदि की सुव्यवस्था करता है, (**नरपवरे पुरिसपवरे पुरिससीहे पुरिसआसीविसे पुरिसवरपोंडरीए पुरिसवरगंधहत्थी**) वह समस्त मनुष्यों में श्रेष्ठ, पुरुषों में वरिष्ठ, पुरुषों में सिंहसम, पुरुषों में आशुविष सर्प, पुरुषों में श्रेष्ठ पुंडरीक कमल के समान एवं पुरुषों में श्रेष्ठ मत्त गन्धहस्ती के समान है, (**अड्ढे दित्ते वित्ते**) वह अत्यन्त धनाढ्य, दीप्तिमान (तेजस्वी) व प्रसिद्ध पुरुष होता है। (**विच्छिन्न विउलभवणसयणासणजाणवाहणाइण्णे**) उसके पास बहुत विस्तीर्ण बड़े-बड़े विशाल विपुल भवन, पलंग, शय्या, आसन, यान (पालकी आदि) तथा वाहन—घोड़ा गाड़ी, तथा ताँगा और रथ आदि सवारियाँ होती हैं। हाथी, घोड़ा आदि वाहनों से वह परिपूर्ण रहता है। (**बहुधणबहुजायरूवरयए**) उसके खजाने बहुत-से धन, सोना-चाँदी से भरे होते हैं। (**आओगपओगसंपउत्ते**) उसके यहाँ प्रचुर द्रव्य की आय होती है और खर्च भी खूब होता है। (**विच्छड्डियपउरभत्तपाणे**) उसके यहाँ बहुत से लोगों को भोजन-पानी पर्याप्त मात्रा में दिया जाता है। (**बहुदासीदासगोमहिसगवेलगप्पभूए**) उसके यहाँ बहुत से दासी-दास, गाय, बैल, भैंस, बकरी आदि पशु रहते हैं। (**पडिपुण्णकोसकोट्ठागाराउहागारे**) उसका खजाना द्रव्य से और कोठार अन्न से तथा आयुधागार शस्त्रास्त्रों से भरा रहता है। (**बलवं**) वह शक्तिशाली होता है, (**दुब्बल्लपच्चामित्ते**) शत्रुओं को को वह दुर्बल बनाये रखता है, (**ओहयकंटयं निहयकंटयं मलियकंटयं उद्धियकंटयं अकंटयं, ओहयसत्तू निहयसत्तू मलियसत्तू उद्धियसत्तू निज्जियसत्तू पराजियसत्तू**) जिसके राज्य में चोर, व्यभिचारी, गुण्डे आदि उपद्रवी दुष्टों का नाश कर दिया गया है, उनको मार-पीटकर भगा दिया गया है, उन्हें कुचल दिया गया है, या उनका मान-मर्दन कर दिया गया है, उनके पैर उखाड़ दिये गये हैं, इसलिए उसका राज्य कंटक के समान चोर, डाकू, गुण्डे, व्यभिचारी आदि दुष्टों से रहित है। उसके राज्य पर आक्रमण करने वाले शत्रुओं का सफाया कर दिया गया है, उन्हें खदेड़ दिया गया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, उन्हें कुचल दिया गया है या उनका मान-मर्दन कर दिया गया है, अथवा उनके पैर उखाड़ दिये गये हैं, तमाम शत्रुओं को जीत लिया गया है, उन्हें हरा दिया गया है। (**ववगयदुभिक्खमारिभय विप्पमुक्कं**) उसका राज्य दुर्भिक्ष और महामारी आदि के भय से विमुक्त है। (**रायवण्णओ जहा उववाइए**) राजा का वर्णन यहाँ जैसे औपपातिक सूत्र में दिया गया है, वैसे समझ लेना चाहिए। (**पसंतडिम्बडमरं**) जिसमें स्वचक्र-परचक्र का भय शान्त हो गया है, ऐसे (**रज्जं पसाहेमाणे विहरइ**) राज्य का पालन या प्रशासन करता हुआ वह राजा विचरण करता है। (**तस्स णं रण्णो परिसा भवइ**) उस राजा की एक सभा (परिषद) होती है। उसके सभासद ये होते हैं—(**उग्गा उग्गपुत्ता**) उग्रकुल में उत्पन्न उग्र और उग्रपुत्र, (**भोगा भोगपुत्ता**) भोग (भोज) कुलोत्पन्न भोग और उनके पुत्र, (**इक्खागाइ इक्खागाइपुत्ता**) इक्ष्वाकुकुल में उत्पन्न तथा इक्ष्वाकुपुत्र, (**नाया नायपुत्ता**) ज्ञातकुल में उत्पन्न तथा ज्ञातपुत्र, (**कोरव्वा कोरव्वपुत्ता**) कुरुकुल में उत्पन्न तथा कुरुपुत्र (**भट्टा भट्टपुत्ता**) सुभटकुल में जन्मे हुए तथा सुभटों के पुत्र, (**माहणा माहणपुत्ता**) ब्राह्मण कुल में उत्पन्न तथा ब्राह्मणपुत्र (**लेच्छइ लेच्छइपुत्ता**) लिच्छवी नामक क्षत्रिय कुल में उत्पन्न तथा लिच्छवीपुत्र, (**पसत्थारो पसत्थपुत्ता**) प्रशास्ता यानी मन्त्रीगण तथा मन्त्रियों के पुत्र, (**सेणावई सेणावइपुत्ता**) सेनापति और सेना-पतियों के पुत्र। (**तेसिं च णं एगतीए सड्ढी भवइ**) इनमें से कोई एक धर्म में श्रद्धालु होता है (**कामं तं समणा वा माहणा वा गमणाए संपहारिंसु**) श्रमण और ब्राह्मण उस धर्मश्रद्धालु पुरुष के पास धर्मश्रवणार्थ जाने का निश्चय करते हैं, (**अन्नतरेणं धम्मेणं पन्नत्तारो**) किसी एक धर्म की शिक्षा देने वाले वे श्रमण और ब्राह्मण यह निश्चय करते हैं कि (**वयं इम्मेणं धम्मेणं पन्नवइस्सामो**) हम इस श्रद्धालु पुरुष के समक्ष अपने इस (मनोनीत) धर्म की प्ररूपणा करेंगे, (**भयंतारो मए जहा एस सुयक्खाए धम्मे सुपन्नत्ते भवइ से एवमायाणह**) वे उस धर्मश्रद्धालु पुरुष के पास जाकर कहते हैं—हे संसारभीरु धर्म-प्रेमी ! अथवा भय से जनता के रक्षक महाराज ! मैं जो भी आपको उत्तम धर्मशिक्षा दे रहा हूँ, उसे ही आप पूर्व-पुरुषों द्वारा सम्यक् प्रकार से कथित तथा सुप्रज्ञप्त—सत्य समझें। (**तं जहा**) वह धर्म इस प्रकार है—(**उड्ढं पादतला अहे केसग्गमत्थया तिरियं तयपरियंतं जीवे**) पैरों के तलवों से ऊपर और मस्तक के केशों के अग्रभाग से नीचे तक तथा तिरछे चमड़ी तक जो शरीर है, वही जीव है। (**एस कसिणे आया पज्जवे**) यह शरीर ही जीव का समस्त पर्याय यानी अवस्था विशेष है। (**एस जीवे जीवइ एस मए णो जीवइ**) क्योंकि इस शरीर के जीने तक ही यह जीव जीता रहता है, शरीर के मर जाने पर यह नहीं जीता। (**सरीरे धरमाणे धरइ विणट्ठंम्मि य णो धरइ एयंतं जीवियं भवइ**) शरीर के स्थित रहते यह जीव स्थित रहता है और शरीर के नष्ट हो जाने पर यह नष्ट हो जाता है, इसलिए जब तक शरीर है, तभी तक यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवन है। **(आदहणाए परेहिं निज्जइ)** शरीर जब मर जाता है, तब उसे जलाने के लिए दूसरे लोग ले जाते हैं, **(सरीरे अगणिझामिए अट्ठीणिं कवोतवण्णाणि भवंति)** आग से जब शरीर जल जाता है, हड्डियाँ कपोतवर्ण की हो जाती हैं **(आसंदीपंचमा पुरिसा गामं पच्चागच्छंति)** इसके पश्चात् मृत व्यक्ति को श्मशान भूमि में पहुंचाने वाले अवशिष्ट चार पुरुष मृत शरीर को ढोने वाली मंचिका (अर्थी) को लेकर अपने गाँव में वापस लौट आते हैं, **(एवं असंते असंविज्जमाणे)** ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट हो जाता है कि शरीर से भिन्न कोई जीव नामक पदार्थ नहीं है, क्योंकि वह शरीर से भिन्न प्रतीत नहीं होता। **(जेसिं तं असंते असंविज्जमाणे तेसिं तं सुयक्खायं भवइ)** अतः जो लोग शरीर से भिन्न जीव को नहीं मानते, उनका यह पूर्वोक्त सिद्धान्त ही युक्ति-युक्त समझना चाहिए। **(अन्नो जीवो भवइ, अन्नं सरीरं)** जो लोग यह कहते हैं कि—जीव पृथक् है, और शरीर पृथक् है, **(ते एवं नो विपडिवेदेंति)** वे इस प्रकार जीव और शरीर को पृथक्-पृथक् करके नहीं बता सकते। वे इस प्रकार नहीं बता सकते कि **(आया दीहेति वा हस्सेति वा, परिमंडलेति वा वट्टेति वा तंसेति वा चउरंसेति वा आयतेति वा छलंसिएति वा अट्ठंसेति वा किण्हेति वा नीलेति वा, लोहियहालिद्दे सुक्किल्लेति वा सुब्भिगंधेति वा दुब्भिगंधेति वा तित्तेति वा कडुएत्ति वा, कसाएति वा अंबिलेति वा, महुरेति वा कक्खडेति वा मउएति वा गुरुएति वा लहुएति वा सिएति वा उसिणेति वा निद्धेति वा लुक्खेति वा)** यह आत्मा लम्बा है, या छोटा है, यह चन्द्रमा के समान मण्डलाकार है, अथवा गेंद की तरह गोल है, यह त्रिकोण है या चतुष्कोण है, वह चौड़ा है, या यह षट्कोण है, अथवा अष्टकोण है, यह काला है या यह नीला है, अथवा यह लाल है या पीला (हल्दी के रंग का) है अथवा यह श्वेत है। यह सुगन्धित है या दुर्गन्धित है, यह तीखा है या कड़वा है, अथवा कसैला है, खट्टा है या मीठा है, अथवा यह कर्कश (खुरदरा) है या मुलायम है, यह भारी है या हलका है, यह ठण्डा है या गर्म है, यह चिकना है या रूखा है, **(एवं असंते असंविज्जमाणे जेसिं तं सुयक्खायं भवइ)** इसलिए जो लोग आत्मा को शरीर से भिन्न नहीं मानते हैं, उनका यह मत ही युक्तिसंगत है, **(अन्नो जीवो अन्नं सरीरं)** परन्तु जो लोग कहते हैं कि जीव अन्य है, शरीर अन्य है; **(ते णो एवं उवलब्भंति)** वे इस प्रकार से उपलब्धि (प्रतीति) नहीं कर सकते। **(जहाणामए केइ पुरिसे कोसाओ असिं अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा अयमाउसो! असी अयं कोसी)** जैसे कि कोई व्यक्ति म्यान से तलवार को बाहर निकालकर दिखलाता हुआ कहता है—"आयुष्मान्! यह तलवार है और यह म्यान है।" **(एवमेव णत्थि, केइ पुरिसे अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेत्तारो अयमाउसो आया इयं सरीरं)** इस तरह कोई पुरुष ऐसा नहीं है, जो शरीर से जीव को पृथक् करके बतला सके कि आयुष्मान्! यह तो आत्मा है और यह (उससे भिन्न) शरीर है। **(से जहा-**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णामए केइ पुरिसे मुंजाओ इसियं अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा अयमाउसो ! मुंजे इयं इसियं) जैसे कि कोई पुरुष मूँज नामक घास से इषिका (कोमल स्पर्श वाली शलाका) को निकालकर अलग-अलग बता देता है कि यह तो मूँज है और यह इषिका है। (**एवमेव नत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो अयमाउसो ! आया इयं सरीरं**) इसी तरह कोई पुरुष ऐसा नहीं है, जो शरीर से आत्मा को अलग करके बतला सके कि हे आयुष्मान् ! यह तो आत्मा है और यह शरीर है। (**से जहाणामए केइ पुरिसे मंसाओ अट्ठिं अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा अयमाउसो ! मंसे अयं अट्ठी**) जैसे कि कोई पुरुष मांस से हड्डी को अलग करके बतला देता है कि आयुष्मान् ! यह तो मांस है, और यह हड्डी है। (**एवमेव नत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो अयमाउसो आया इयं सरीरं**) इसी तरह कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है, जो शरीर से आत्मा को अलग करके बतला सके कि यह आत्मा है, और यह शरीर है। (**से जहाणामए केइ पुरिसे करयलाओ आमलकं अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा अयमाउसो करयले, अयं आमलए**) जैसे कोई पुरुष हथेली से आँवले को बाहर निकालकर दिखला देता है कि आयुष्मन् ! यह हथेली है और यह आँवला है, (**एवमेव नत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो अयमाउसो आया इयं सरीरं**) इसी प्रकार ऐसा कोई पुरुष नहीं है, जो शरीर से आत्मा को बाहर (अलग) निकालकर बतला दे, कि आयुष्मन् ! यह तो आत्मा है और यह शरीर है। (**से जहाणामए केइ पुरिसे दहिओ नवनीयं अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा अयमाउसो ! नवनीयं अयं तु दही**) जैसे कोई पुरुष दही से मक्खन अलग निकालकर दिखला देता है कि आयुष्मन् ! यह मक्खन है और यह है दही, (**एवमेव नत्थि केइ पुरिसे जाव सरीरं**) इसी तरह कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है, जो शरीर से आत्मा को पृथक् करके दिखला दे कि आयुष्मन् ! देखो, यह आत्मा है और यह शरीर है। (**से जहाणामए केइ पुरिसे तिलेहिंतो तिल्लं अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा अयमाउसो ! तेल्लं अयं पिन्नाए, एवमेव जाव सरीरं**) जैसे कोई पुरुष तिलों में से तेल निकालकर प्रत्यक्ष दिखला देता है कि यह तो तेल है और यह उन तिलों की खली है। इसी तरह कोई भी पुरुष ऐसा नहीं है, जो शरीर को आत्मा से पृथक् करके प्रत्यक्ष दिखला दे कि यह आत्मा है और यह शरीर है, (**से जहाणामए इक्खूतो खोयरसं अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा, अयमाउसो खोयरसे अयं छोए, एवमेव जाव सरीरं**) जैसे कोई पुरुष ईख से उसका रस निकालकर दिखा देता है कि आयुष्मन् ! यह ईख का रस है, और यह उसका छिलका है। इसी प्रकार कोई भी पुरुष ऐसा नहीं है, जो प्रत्यक्ष यह दिखला दे कि आयुष्मन् ! यह शरीर है, और यह उससे अलग आत्मा है। (**से जहाणामए केइ पुरिसे अरणीओ अग्गिं अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा अयमाउसो ! अरणी अयं अग्गी, एवमेव जाव सरीरं**) जैसे कि कोई पुरुष अरणि की लकड़ी से आग निकालकर प्रत्यक्ष दिखा देता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है कि लो, आयुष्मन् देख लो, यह अरणि है और यह अग्नि है। इसी तरह संसार में कोई भी पुरुष ऐसा नहीं है, जो आत्मा और शरीर को अलग-अलग करके दिखला दे कि आयुष्मन् ! यह आत्मा है, और यह देखो, उससे पृथक् शरीर है। (**एवं असंते असंविज्जमाणे जेसिं तं सुयक्खायं भवइ, तं जहा—अन्नो जीवो अन्नं सरीरं**) इसलिए आत्मा शरीर से पृथक् उपलब्ध नहीं होती, यही बात युक्तियुक्त है। जो लोग बार-बार प्रतिपादन करते हैं कि आत्मा पृथक् है और शरीर पृथक्, वे पूर्वोक्त कारणों से मिथ्यावादी हैं उनका कथन सुकथन नहीं है। (**से हंता**) इस प्रकार शरीर से भिन्न आत्मा को न मानने वाले तज्जीवतच्छरीरवादी नास्तिक आदि लोग स्वयं जीवहिंसक होते हैं—स्वयं जीवों का वध बेखटके करते हैं, (**तं हणह, खणह, छणह, डहह, पयह, आलुंपह, विलुंपह, सहसाक्कारेह, विपरामुसह**) वे नास्तिक लोग दूसरों को उपदेश देते हैं—इन जीवों को मारो, जमीन खोदो, यह वनस्पति काटो, इसे जला दो, इसे पकाओ, इन्हें लूट लो, इन पर बलात्कार करो इत्यादि। (**एतावता जीवे णत्थि परलोए**) क्योंकि शरीर ही जीव है, इससे भिन्न कोई परलोक नहीं है। (**ते एवं णो विप्पडिवेदेंति**) वे शरीरात्मवादी आगे कही जाने वाली बातों को नहीं मानते हैं—(**तं जहा—किरियाइ वा अकिरियाइ वा सुक्कडेइ वा दुक्कडेइ वा कल्लाणेइ वा पावएइ वा साहुइ वा असाहुइ वा सिद्धीइ वा असिद्धीइ वा निरएइ वा अनिरएइ वा**) जैसे कि शुभ-क्रिया या अशुभक्रिया, सुकृत या दुष्कृत, कल्याण या पाप, भला या बुरा, सिद्धि या असिद्धि, नरक या स्वर्ग आदि बातों को वे नहीं मानते। (**एवं ते विरूवरूवेहिं कम्म-समारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारंभंति भोयणाए**) इस प्रकार वे शरीरात्मवादी अनेक प्रकार के कर्म समारम्भ करके अनेक प्रकार के कामभोगों का सेवन करते हैं या विषयों का उपभोग करने के लिए विविध प्रकार के दुष्कृत्य करते हैं। (**एवं पगब्भिया एगे निक्खम्म मामगं धम्मं पन्नवेंति**) इस प्रकार शरीर से भिन्न आत्मा न मानने की धृष्टता करने वाले कोई नास्तिक अपने मतानुसार प्रव्रज्या धारण करके 'मेरा ही धर्म सत्य है' ऐसी प्ररूपणा करते हैं। (**तं सद्दहमाणा तं पत्तियमाणा तं रोएमाणा**) उस शरीरात्मवाद में श्रद्धा रखते हुए, उस पर प्रतीति करते हुए तथा उसमें रुचि रखते हुए कोई राजा आदि (**समणेति वा माहणेति वा साहु सुयक्खाए**) उस शरीरात्मवादी से कहते हैं—हे श्रमण ! हे ब्राह्मण ! आपने यह बहुत उत्तम धर्म मुझे सुनाया है। (**आउसो कामं खलु तुमं पूययामि**) अतः आयुष्मन् ! मैं आपकी पूजा करता हूँ। (**तं जहा—असणेण वा पाणेण वा खाइमेण वा साइमेण वा वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पायपुंछणेण वा**) मैं अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल और पाद-प्रोंछन आदि के द्वारा आपकी पूजा करता हूँ। (**तत्थेगे पूयणाए समाउट्टिंसु तत्थेगे पूयणाए निकाइंसु**) इस प्रकार कहते हुए कोई राजा आदि उनकी पूजा में प्रवृत्त होते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं, अथवा वे शरीरात्मवादी अपनी पूजा में प्रवृत्त होते हैं, और उस राजा आदि को अपने सिद्धान्त में दृढ़ करते हैं। **(तेसिं पुव्वमेव णायं भवइ)** इस शरीरात्मवादी ने पहले तो यह प्रतिज्ञा की थी कि **(समणा अणगारा अकिंचणा अपुत्ता अपसू परदत्तभोइणो भिक्खुणो भविस्सामो)** हम श्रमण, अनगार (गृहरहित), अकिंचन (द्रव्यादिरहित), अपुत्र (पुत्रादिरहित), अपशु (पशु आदि के स्वामित्व से रहित), दूसरों के द्वारा दिये गए भिक्षान्न पर निर्वाह करने वाले भिक्षु बनेंगे, **(पावं कम्मं णो करिस्सामो)** अब हम पापकर्म नहीं करेंगे। **(समुट्ठाए अप्पणा ते अप्पडिविरया भवंति)** ऐसी प्रतिज्ञा के साथ वे स्वयं दीक्षा ग्रहण करके भी वे पापकर्म से निवृत्त नहीं होते हैं। **(सयमाइयंति अन्नेवि आदियावेंति अन्नं पि आयतंतं समणुजाणंति)** वे स्वयं परिग्रह को स्वीकार करते हैं, दूसरे से स्वीकार कराते हैं, तथा परिग्रह स्वीकार करने वाले को अच्छा समझते हैं। **(एवमेव ते इत्थिकामभोगेहिं मूच्छिया गिद्धा गढिया अज्झोववन्ना लुद्धा राग दोसवसट्टा)** इसी तरह वे स्त्री तथा दूसरे कामभोगों में आसक्त, उनमें अत्यन्त इच्छा वाले, अनेक बन्धनों में बद्ध, लोभी, तथा राग-द्वेष के वशीभूत और आर्त होते हैं। **(ते णो अप्पाणं समुच्छेदेंति ते णो परं समुच्छंदेंति ते णो अण्णाइं पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समुच्छेदेंति)** वे अपनी आत्मा को संसाररूपी पाश से मुक्त नहीं कर सकते, न वे दूसरे को संसाररूपी पाश से मुक्त कर सकते हैं तथा वे उपदेश आदि द्वारा दूसरे प्राणियों को भी संसाररूपी पाश से मुक्त नहीं कर सकते। **(पुव्वसंजोगं पहीणा आयरियं मग्गं असंपत्ता)** वे शरीरात्मवादी अपने स्त्री, पुत्र और धन-धान्य आदि से भी भ्रष्ट हो चुके हैं, और आर्यमार्ग को भी नहीं पा सके हैं, **(णो हव्वाए णो पाराए)** अतः वे न इस लोक के होते हैं, और न परलोक के होते हैं **(अंतरा कामभोगेसु विसन्ना)** किन्तु बीच में ही कामभोग में आसक्त रहते हैं। **(इति पढमे पुरिसजाए तज्जीवतच्छरीरएत्ति आहिए)** यह पहला पुरुष तज्जीवतच्छरीरवादी कहा गया है।

व्याख्या

तज्जीव-तच्छरीरवादी : प्रथम व्यक्ति

इस सूत्र में शास्त्रकार ने पुष्करिणी में उत्पन्न उत्तम श्वेतकमल को पाने में असफल प्रथम पुरुष की असफलता के कारणभूत तज्जीवतच्छीरवादी मत का विस्तृत रूप से निरूपण किया है।

शास्त्रकार इस सूत्र में सर्वप्रथम यह बताते हैं कि इस मनुष्यलोक में पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण चारों दिशाओं में अनेक प्रकार के विभिन्न कोटि और श्रेणी के मनुष्य होते हैं। वे सभी एक प्रकार के नहीं होते। कोई आर्य (धर्मबुद्धियुक्त) हेय बातों से दूर रहने वाले होते हैं तो कोई अनार्य (अधर्मी, पापी) होते हैं, कोई उच्च गोत्रीय तो कोई नीच गोत्रीय जन होते हैं। कोई लम्बे-चौड़े हृष्ट-पुष्ट जवान,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोई ठिगने कद वाले; बौने या कुबड़े होते हैं, कोई सुडौल होते हैं तो कोई बेडौल, कोई सुरूप तो कोई कुरूप होते हैं। इन विभिन्न प्रकार के मनुष्यों में कोई विरला ही राजा होता है, जो हिमाचल, मन्दराचल, मलयाचल आदि पर्वतों के समान अडिग, सुदृढ़ और सशक्त होता है अथवा वैभवसम्पन्न होता है, विशुद्ध राजकुल में जन्मा हुआ होता है। स्वराष्ट्र-परराष्ट्र के भय से रहित, राजचिह्नों से सुशोभित, राजा के योग्य सभी गुणों से सम्पन्न होता है।

ऐसे शासकगुणविशिष्ट राजा की एक परिषद् होती है, जिसके सदस्य निम्नलिखित प्रकार के होते हैं—उग्रवंशी, उग्रवंशीय-पुत्र, भोग-वंशी, भोग वंशीय-पुत्र, इक्ष्वाकु, इक्ष्वाकुवंशीय-पुत्र, ज्ञातवंशी, ज्ञातपुत्र, कौरव वंशीया, कौरववंशीय-पुत्र, शुभ-कुलोत्पन्न, सुभटपुत्र, ब्राह्मण या ब्राह्मणपुत्र, लिच्छवी व लिच्छवीपुत्र, मन्त्री या मन्त्रीपुत्र, सेनापति एवं सेनापति-पुत्र, सेठ साहूकार आदि राजमन्त्री तथा उनके पुत्र; ये सब राजपरिषद् के सभासद होते हैं।

इतनी विशाल परिषद् में से कोई-कोई व्यक्ति धर्मश्रद्धालु तथा पापभीरु होता है। उस व्यक्ति को धर्म में रुचि रखने वाला जानकर कुछ अन्यतीर्थिक तथाकथित श्रमण या ब्राह्मण उसके पास जाकर उसे धर्म की शिक्षा देते हैं—हे संसारभीरु राजन्! (या आयुष्मान्) समस्त कल्याणों का कारणरूप सत्य धर्म हमारा ही है। अर्थात् हम तुम्हारे समक्ष जिस धर्म को प्ररूपणा करते हैं, उसी को सत्य समझो। दूसरे सब मत, पंथ या धर्म अनर्थकारक हैं। इस प्रकार वे अन्यतीर्थिक अपना सिद्धान्त या धर्म सुनाकर राजा आदि धर्मश्रद्धालु पुरुषों को अपने धर्म में सुदृढ़ कर देते हैं, उन्हें कट्टर बना देते हैं।

उन अन्यतीर्थिकों में सबसे पहला मत तज्जीवतच्छरीरवादी है, जो शरीर से भिन्न आत्मा को बिलकुल नहीं मानता। इसका सिद्धान्त है—शरीर ही आत्मा है। उनका कहना है—नीचे पैरों के तलुओं से लेकर ऊपर केशाग्र मस्तक तक तथा तिरछे चमड़ी तक जो शरीर प्रतीत होता है, दिखाई देता है, वही जीव है। इस शरीर से भिन्न जीव या आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं है। शरीर और जीव वस्तुतः एक हैं, शरीर के मरने के साथ ही वह भी मर जाता है। शरीर के नष्ट होते ही जीव नष्ट हो जाता है; शरीर रहता है, तभी तक जीव रहता है। सब लोग यह प्रत्यक्ष देखते हैं कि जब तक यह पाँच भूतों वाला शरीर जीता रहता है, तभी तक यह जीव जीता रहता है। अतः शरीर से भिन्न जीव का अस्तित्व किसी भी प्रमाण से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्ध नहीं होता। अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा शरीर ही आत्मा है, ऐसा सिद्ध होता है। इस सम्बन्ध में वे निम्नलिखित युक्तियाँ (हेतु दृष्टान्त के रूप में) प्रस्तुत करते हैं—

(१) मरने के पश्चात् मृत व्यक्ति को जलाने के लिए जो लोग श्मशान में जाते हैं, वे उसे जलाकर अकेले घर लौटते हैं, उनके साथ मृतव्यक्ति का जीव नामक कोई भी पदार्थ साथ नहीं आता।

(२) चिता में जब मृत व्यक्ति का शरीर जलता है, उस समय जीव नामक कोई पदार्थ शरीर को छोड़कर अलग जाता हुआ नहीं दिखाई देता। श्मशान में तो उस शरीर की जली हुई सिर्फ कपोतवर्ण की कुछ हड्डियाँ ही शेष रह जाती है, उनके सिवाय कोई भी अन्य विकार वहाँ नहीं दिखायी देता, जिसे हम जीव का विकार कह सकें। अतः आत्मा शरीररूप ही है—शरीररूप परिणाम से विशिष्ट कायाकार ही जीव है, शरीर से अतिरिक्त कोई जीव नहीं है। यही ज्ञान यथार्थ और सब प्रमाणों में श्रेष्ठ प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। जो लोग शरीर को अन्य और आत्मा (जीव) को अन्य बताते हैं, वे वस्तुतत्त्व को नहीं जानते हैं।

(३) जगत् में जो भी वस्तु होती है, वह किसी वस्तु से छोटी या किसी वस्तु से बड़ी अवश्य होती है, तथा उसकी अवयव रचना भी किसी खास किस्म की होती है, तथा वह काली, पीली, नीली या सफेद आदि रंग में से किसी रंग की होती है एवं वह या तो दुर्गन्धित होती हैं या फिर सुगन्धित होती है, तथा वह कोमल या कठोर अथवा ठण्डे या गरम आदि स्पर्शों में से किसी एक स्पर्श वाली अवश्य होती है, और वह तीखा, कड़वा, कसैला, खट्टा, मीठा आदि रसों में से किसी एक रस से युक्त भी अवश्य होती है। परन्तु इनसे रहित कोई भी वस्तु नहीं होती। अतः यदि शरीर से भिन्न आत्मा (जीव) नाम की कोई वस्तु होती तो वह अवश्य ही शरीर से छोटी या बड़ी होती, काले, पीले आदि में से किसी एक रंग की होती, वह सुगन्धित होती या दुर्गन्धित होती, कोमलादि स्पर्श में से किसी एक स्पर्श से युक्त होती, तथा मधुर आदि रसों में से किसी एक रस वाली अवश्य होती, परन्तु ये सब आत्मा में बिलकुल नहीं पाये जाते, अतः शरीर से भिन्न आत्मा या जीव नामक किसी भी वस्तु के सद्भाव या अस्तित्व के विषय से कोई प्रमाण या युक्ति नहीं है।

(४) जो वस्तु जिससे भिन्न होती है, वह उससे अलग करके दिखायी भी जा सकती है। उदाहरणार्थ—तलवार म्यान से भिन्न है, वह म्यान से बाहर निकालकर पृथक रूप से दिखलाई जा सकती है, इसी प्रकार मूंज नामक घास से ईषिका (सलाई), माँस से हड्डी, तिल से तेल, ईख से उसका रस, और अरणि से आग अलग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तु होने के कारण इन सबसे पृथक निकालकर दिखाई जा सकती हैं, क्योंकि भिन्न-भिन्न वस्तुओं को अलग-अलग करके दिखलाना शक्य है, परन्तु जो वस्तु जिससे भिन्न नहीं है, बल्कि तत्स्वरूप है, उसको उससे अलग करके दिखलाना कथमपि शक्य नहीं है। यही कारण है कि शरीर से पृथक् करके जीव (आत्मा) को कोई नहीं दिखा सकता, क्योंकि वह (जीव) शरीरस्वरूप ही है, उससे भिन्न नहीं है। यदि वह (जीव) शरीर-से भिन्न होता तो म्यान से तलवार, मूँज से सलाई, हथेली से आँवला, दही से घृत, ईख से रस, तिल से तेल, एवं अरणि से आग की तरह शरीर से बाहर निकालकर अवश्य दिखाया जा सकता था, किन्तु वह शरीर से पृथक् करके बताने योग्य नहीं है। अतः वह शरीर से भिन्न नहीं है, यह सिद्धान्त ही युक्तियुक्त है।

इस प्रकार नास्तिक लोग (तज्जीव-तच्छरीरवादी) शरीर से भिन्न किसी आत्मा (जीव) नामक पदार्थ को नहीं मानकर शरीर के नाश के साथ ही आत्मा का नाश मानते हैं। वे कहते हैं कि शरीर से भिन्न आत्मा को मानकर उसकी प्राप्ति के लिए नाना प्रकार के दुःखों को सहन करना, मूर्खता है। कोई क्रिया शुभ या अशुभ नहीं होती, न कोई पुण्य होता है न पाप, न उसके फलस्वरूप स्वर्ग या नरक हैं, धर्म और उसके फलरूप मोक्ष नहीं है, तथा सुख और दुःख भी नहीं है, पुण्य और पाप का फल ही नहीं है। अतएव नास्तिकों का कथन है, खूब खाओ, पीओ, मौज करो, शरीर नष्ट होते ही यहीं पर सब कुछ भस्म हो जाता है। वापिस कोई लौटकर नहीं आता, सब यहीं पड़ा रह जाता है। इसलिए नरक से डरना मूर्खता है। कर्ज लेकर भी घी पीना चाहिए। निःशंक होकर हिंसा आदि कुकृत्यों में रातदिन नास्तिक रचा-पचा रहता है। फिर नास्तिकों का सिद्धान्त यह है कि जिस किसी प्रकार का विषय-भोग मिले उसका उपभोग करो। विषयभोगों को प्राप्त करना ही बुद्धिमान का कर्तव्य है। उनके लिए नाना प्रकार के कुकर्म भी करने पड़ें तो करने में जरा भी मत हिचकचाओ।

किन्तु तज्जीव-तच्छरीरवादी नास्तिकों का यह मत असत्य है। प्रत्येक प्राणी अपने-अपने ज्ञान का अनुभव करता है। पशु-पक्षी आदि भी पहले सामान्य रूप से वस्तु को समझकर तब उसमें प्रवृत्ति करते हैं। अतः सभी चेतन प्राणी अपने-अपने ज्ञान का अनुभव करते हैं, यह मत निर्विवाद है, सर्वमान्य है। इस प्रकार प्रत्येक प्राणी द्वारा अनुभव किया जाने वाला वह ज्ञान गुण है, और अमूर्त है। उस अमूर्त ज्ञान गुण का आश्रय कोई गुणी अवश्य होना चाहिए। क्योंकि गुणी के बिना गुण का रहना असम्भव है। नास्तिकों का यह कथन ठीक नहीं है कि ज्ञानरूप गुण का आश्रय शरीर है क्योंकि शरीर मूर्त है और ज्ञान अमूर्त है। मूर्त का गुण मूर्त ही होता है, अमूर्त कदापि नहीं होता। इसलिए अमूर्त ज्ञानगुण मूर्त शरीर का गुण कदापि नहीं हो सकता। अतः अमूर्त ज्ञानरूप गुण का आश्रय अमूर्त आत्मा को माने सिवाय कोई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चारा नहीं है। इस प्रकार शरीर से भिन्न ज्ञानरूप गुण के आश्रयभूत आत्मा की सिद्धि हो जाने पर भी नास्तिक आत्मा को शरीर से पृथक् नहीं मानते, यह उनका दुराग्रह है।

यदि आत्मा शरीर से भिन्न न हो तो किसी भी प्राणी का मरण नहीं हो सकता, क्योंकि शरीर तो मरने पर भी बना रहता है। फिर तो किसी की मृत्यु होनी ही नहीं चाहिए!

यद्यपि नास्तिक शरीर से भिन्न जीव (आत्मा) का खण्डन करने के लिए उसमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अवयवों की पृथक् रूप में रचना आदि का अभाव बतलाते हैं और इस अभाव को बताकर आत्मा के सद्भाव का खण्डन करते हैं। मगर वे यह नहीं समझते हैं कि वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और अवयव रचना आदि गुण तो मूर्त पदार्थ (शरीर आदि) के होते हैं, अमूर्त के नहीं। आत्मा तो अमूर्त है, तब भला उसमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श तथा अवयव-रचना आदि मूर्त के गुण हो ही कैसे सकते हैं? तथा इनके न होने से अमूर्त आत्मा के अस्तित्व का खण्डन कैसे किया जा सकता है?

हमारा नास्तिक से प्रश्न है कि वह अपने ज्ञान के अस्तित्व का अनुभव करता है या नहीं? यदि नहीं करता है तो उसकी प्रवृत्ति नास्तिकवाद के समर्थन आदि में कैसे हो सकेगी? यदि वह ज्ञान के अस्तित्व का अनुभव करता है तो उसमें वह कौन से वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श या अवयव-रचना की प्राप्ति या प्रतीति करता है? यदि उस ज्ञान में वर्ण आदि की प्रतीति या उपलब्धि न होने पर भी नास्तिक उसका सद्भाव मानता है तो फिर आत्मा को न मानने का क्या कारण है?

फिर नास्तिकों का यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं है कि जो वस्तु जिससे भिन्न होती है, वह उससे अलग करके बताई जा सकती है, जैसे म्यान से तलवार अलग करके दिखाई जाती है, इत्यादि। यह कथन इसलिए असंगत है कि तलवार आदि तो मूर्त पदार्थ हैं, इसलिए वे दूसरी वस्तु से बाहर निकालकर दिखाये जा सकते हैं, मगर जो वस्तु अमूर्त होने के कारण दिखाई जाने योग्य नहीं है, उसे कोई कैसे दिखा सकता है? यदि अमूर्त पदार्थ को भी प्रत्यक्ष दिखाया जा सकता हो तो नास्तिक अपने ज्ञान को दिमाग से बाहर निकालकर प्रत्यक्ष क्यों नहीं दिखा देता? वह अपने ज्ञान को समझाने के लिए शब्द-प्रयोग क्यों करता है, ज्ञान को ही दिमाग से बाहर निकालकर दिखा दे? जैसे हथेली में रखे हुए आँवले को बताने के लिए शब्द-प्रयोग नहीं किया जाता, अपितु दर्शक को सीधे ही वह (आँवला) दिखा दिया जाता है, तथैव नास्तिक अपने ज्ञान को भी दर्शक या श्रोता को सीधा ही क्यों नहीं दिखा देता? यदि नास्तिक यह कहे कि अमूर्त होने के कारण ज्ञान नहीं दिखाया जा सकता, तब तो यही उत्तर आत्मा के न दिखाए जाने के सम्बन्ध में क्यों नहीं समझा जाए?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगे शास्त्रकार नास्तिक मत की मिथ्या प्रतिज्ञाओं और वाणी-विलास का पर्दाफाश करने के लिए कहते हैं—**'एवं एगे पगब्भिया····अंतरा कामभोगेसु विसन्ना।'** अर्थात् ये तज्जीव-तच्छरीरवादी लोकायतिक या चार्वाक नास्तिक शरीर से भिन्न आत्मा को न मानने की मान्यता पर धृष्टतापूर्वक डटे रहकर दीक्षा धारण करते हैं, कोई श्रमण बनते हैं, कोई माहन। और फिर वे लोकायतिक मत के ग्रन्थों को पढ़कर लोकायतिक बन जाते हैं, उसी मत को सत्य मानते हुए और उसी की प्ररूपणा करते हुए कहते हैं—'हमारा ही धर्म सत्य है।' फिर उसी मिथ्या मत पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि रखते हैं। भोगवादी राजा, धनाढ्य आदि उनके मत की प्ररूपणा सुनकर कहते हैं—'हे श्रमण ! हे माहन ! आपने बहुत ही सुन्दर बात कही है।' वास्तव में विषयानन्दी जीवों को इनका मत बहुत ही रुचिकर लगता है, क्योंकि इसमें पाप, परलोक और नरक का भय नहीं है। विषय-भोग की इच्छानुसार छूट है। संभोग से समाधि का आनन्द लूटने की वृत्ति विषय-प्रेमियों की होती ही है। इसलिए वे इस मत को बड़े आदर के साथ ग्रहण करके कहते हैं—'आपने हमें बहुत ही उत्तम और आनन्ददायक धर्म का उपदेश दिया है, वस्तुतः यही धर्म सत्य है; दूसरे सभी धर्म, जिनमें कि त्याग, तपस्या, सत्कर्म करने की कष्टदायक बातें हैं, वे धूर्तों, भांडों और निशाचरों ने अपने स्वार्थ के लिए रची हैं। आपने इस सत्य धर्म को सुनाकर हम पर बहुत बड़ा उपकार किया है। इसलिए हम आपको सब प्रकार की विषय-भोग की सामग्री अर्पण करते हैं।' यों कहकर नास्तिक मतानुयायी उन कुगुरुओं को नाना प्रकार की विषय-भोग-सामग्री भेंट करते हैं और वे तथाकथित साधुवेशी धर्मध्वजी दाम्भिक उस सामग्री को लेकर नाना प्रकार के विषय-भोगों में प्रवृत्त होते हैं। जिस समय वे तथाकथित श्रमण-माहन दीक्षा धारण करते हैं, उस समय बड़े गर्व के साथ प्रतिज्ञा लेते हैं—'हम श्रमण, अनगार, घर-बार, धन-सम्पत्ति, पुत्र-पौत्रादि परिवार तथा पशुधन एवं जमीन-जायदाद आदि सर्वस्व छोड़कर अकिंचन भिक्षाजीवी साधु बने हैं, हम दूसरे के द्वारा दिये गये भिक्षान्न पर ही जीयेंगे।' परन्तु कुछ ही दिनों में वे इस प्रतिज्ञा को ताक में रख देते हैं और स्त्रीसंसर्गजनित काम-भोगों, विषय-वासनाओं में मूर्च्छित, धनासक्त एवं रागद्वेष-वशीभूत होकर नाना प्रकार के प्रपंच रचते रहते हैं। अपनी प्रतिज्ञा को भंग करके वे विषय-लम्पट बन जाते हैं। वे स्वयं भी बिगड़ते हैं और दूसरों को भी अपने कुमन्तव्यों का उपदेश देकर बिगाड़ देते हैं। इन नास्तिक साधुवेशियों का जीवन उभयतोभ्रष्ट हो जाता है। न ये इस लोक के रहते हैं, न परलोक के। गृहस्थाश्रम से भी भ्रष्ट और साधु-जीवन से भी भ्रष्ट ! ऐसे लोग जब स्वयं अपना ही संसार-सागर से उद्धार नहीं कर सकते, तब फिर ये अपने उपदेशों से दूसरों का क्या खाक सुधार या उद्धार कर सकते हैं ? इनसे स्वपरकल्याण की आशा करना व्यर्थ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः पूर्वसूत्रोक्त पुष्करिणी के उत्तम श्वेतकमल को निकालकर लाने की इच्छा से पुष्करिणी के घोर कीचड़ में फँसकर उससे अपना उद्धार करने में असमर्थ प्रथम पुरुष यही तज्जीव-तच्छरीरवादी है। इसे ही भगवान ने पुष्करिणा के श्वेतकमल को निकालकर लाने में असफल प्रथम पुरुष कहा है। इस कोटि के लोग संसाररूपी पुष्करिणी के विषय-भोगरूपी कीचड़ में फँसकर अपना सर्वस्व नष्ट कर डालते है।

सारांश

इस संसाररूपी पुष्करिणी में अगणित प्रकार के मनुष्य आते हैं, उनमें से कोई राजा भी होता है, वह श्रमण या माहन बनकर लोकायतिकों के चक्कर में पड़कर तज्जीव-तच्छरीरवादी बन जाता है, सांसारिक विषय-भोगरूपी कीचड़ में फँस जाता है। स्त्री आदि ऐहिक सुख-साधनों का त्याग करके भी वे मोक्ष का सम्यक् मार्ग न प्राप्त कर सकने के कारण मोक्ष (कमल) नहीं पाते और बीच में ही विषय-भोग के कीचड़ में फँस जाते हैं। इस प्रकार दोनों ओर से भ्रष्ट होकर वे संसार-सागर में ही निमग्न होते हैं। उनकी दशा पुण्डरीक कमल को प्राप्त करने में विफल हुए उस प्रथम पुरुष की-सी हो जाती है, जो पूर्व दिशा से पुष्करिणी के तट पर आया था और श्वेतकमल को देखकर उसे पाने के लिए मुग्ध हो उठा था, लेकिन आगे शरीरात्मवाद जैसे उलटे मन्तव्य के कारण वह विषय-भोगरूपी कीचड़ में ही फँस गया था।

मूल पाठ

अहावरे दोच्चे पुरिसजाए पंचमहब्भूइएत्ति आहिज्जइ, इह खलु पाईणं वा ६ संतेगइया मणुस्सा भवंति, अणुपुव्वेणं लोयं उववन्ना, तं जहा—आरिया वेगे अणारिया वेगे एवं जाव दुरूवा वेगे। तेसिं च णं महं एगे राया भवइ महया० एवं चेव णिरवसेसं जाव सेणावइपुत्ता, तेसिं च णं एगइए सड्ढी भवइ कामं तं समणा य माहणा य संपहारिंसु गमणाए। तत्थ अन्नयरेणं धम्मेणं पन्नत्तारो वयं इमेणं धम्मेणं पन्नवइस्सामो से एवमायाणह भयंतारो ! जहा मए एस धम्मे सुअक्खाए सुपन्नत्ते भवइ। इह खलु पंचमहब्भूया, जेहिं नो विज्जइ किरियाइ वा अकिरियाइ वा सुक्कडेति वा दुक्कडेति वा कल्लाणेति वा पावएति वा साहुइ वा असाहुइ वा सिद्धीइ वा असिद्धीइ वा णिरयेइ वा अणिरयेइ वा अवि अंतसो तणमायमवि। तं च पिहुद्देसेणं पुढो भूतसमवायं जाणेज्जा, तं जहा—पुढवी एगे महब्भूए, आऊ दुच्चे महब्भूए,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेऊ तच्चे महब्भूए, वाऊ चउत्थे महब्भूए, आगासे पंचमे महब्भूए। इच्चेए पंच महब्भूया अणिम्मिया अणिम्माविया अकडा णो कित्तिमा णो कडगा अणाइया अणिहणा अबंझा, अपुरोहिया सतंता सासया आयछट्ठा, पुण एगे एवमाहु—सतो णत्थि विणासो असतो णत्थि संभवो। एयावया व जीवकाये, एयावया व अत्थिकाए, एयावया व सव्वलोए, एयं मुहं लोगस्स करणयाए, अविअंतसो तणमायमवि। से किणं किणावेमाणे हणं घायमाणे पयं पयावेमाणे अवि अंतसो पुरिसमवि कीणित्ता घायइत्ता एत्थं पि जाणाहि णत्थित्थ दोसो, ते णो एवं विप्पडिवेदेंति, तं जहा - किरियाइ वा जाव अणिरएइ वा, एवं ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारभंति भोयणाए, एवमेव ते अणारिया विप्पडिवन्ना तं सद्दहमाणा तं पत्तियमाणा जाव इइ, ते णो हव्वाए णो पाराए अंतरा कामभोगेसु विसण्णा। दोच्चे पुरिसजाए पंच-महब्भूएत्ति आहिए॥ सू० १०॥

संस्कृत छाया

अथाऽपरो द्वितीयः पुरुषजातः पाञ्चमहाभूतिक इत्याख्यायते। इह खलु प्राच्यां वा ६ सन्त्येकतये मनुष्याः भवन्ति आनुपूर्व्या लोकमुपपन्ना, तद्यथा आर्याः एके अनार्याः एके एवं यावत् दूरूपा एके, तेषां च खलु महान् एको राजा भवति, महा० एवञ्चैव निरवशेषं यावत् सेनापतिपुत्राः। तेषां च खलु एकतयः श्रद्धावान् भवति, कामं तं श्रमणाः वा ब्राह्मणाः वा सम्प्रधार्षुः गमनाय। तत्राऽन्यतरेण धर्मेण प्रज्ञापयितारः वयमनेन धर्मेण प्रज्ञापयिष्यामः तदेवं जानीत भयात्त्रातारः। यथा मया एष धर्मः स्वाख्यातः सुप्रज्ञप्तो भवति। इह खलु पंचमहाभूतानि तैर्नो विद्यते क्रिया इति वा, अक्रिया इति वा, सुकृतमिति वा, दुष्कृतमिति वा, कल्याणमिति वा, पापकमिति वा, साधु इति वा, असाधु इति वा, सिद्धिरिति वा, असिद्धिरिति वा, निरय इति वा, अनिरय इति वा अपि अन्तशः तृणमात्रपि। तच्च पृथक् उद्देशेन पृथग् भूतसमवायं जानीयात्। तद्यथा पृथिवी एकं महाभूतम्, आपो द्वितीयं महाभूतम्, तेजः तृतीयं महाभूतम्, वायुः चतुर्थं महाभूतम्, आकाशं पंचमं महाभूतम्। इत्येतानि पंचमहाभूतानि अनिर्मितानि अनिर्मापितानि अकृतानि नो कृत्रिमाणि नो कृतकानि अनादिकानि अनिधनानि अबन्ध्यानि अपुरोहितानि स्वतंत्राणि शाश्वतानि आत्मषष्ठानि। एके पुनराहुः—सतो नास्ति विनाशः, असतो नास्ति सम्भवः। एतावानेव जीवकायः एतावानेव अस्तिकायः एतावानेव सर्व-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोकः। एतन्मुख्यं लोकस्य कारणम्, अप्यन्तशस्तृणमात्रमपि। स क्रीणन् क्रापयन् घ्नन् घातयन् पचन् पाचयन् अप्यन्तशः पुरुषमपि क्रीत्वा घातयित्वा अत्राऽपि जानीहि नास्त्यत्र दोषः। ते नो एवं विप्रतिवेदयन्ति, तद्यथा क्रियेति वा, यावत् अनिरय इति वा। एवं ते विरूपरूपैः कर्मसमारम्भैः विरूपरूपान् कामभोगान् समारभन्ते भोगाय। एवमेव ते अनार्याः विप्रतिपन्ना तत् श्रद्दधानाः, तत् प्रतियन्तः यावदिति। ते नोऽर्वाचे नो पाराय, अन्तरा कामभोगेषु विषण्णाः। द्वितीयः पुरुषजातः पांचमहाभूतिक इत्याख्यायते ॥ सू० १० ॥

अन्वयार्थ

(**अहावरे दोच्चे पुरिसजाए पंचमहब्भूइएत्ति आहिज्जइ**) पूर्वोक्त प्रथम पुरुष से भिन्न दूसरा पुरुष पांचमहाभूतिक कहलाता है। (**इह खलु पाईणं वा ६ संतेगइया मणुस्सा भवन्ति**) इस मनुष्यलोक की पूर्व पश्चिम आदि दिशाओं में मनुष्यगण रहते हैं। (**अणुपुव्वेणं लोयं उववन्ना**) वे अनुक्रम से नाना रूपों में मनुष्यलोक में उत्पन्न हुए होते हैं, (**तं जहा—वेगे आरिया वेगे अणारिया**) जैसे कि कोई आर्य होते हैं, कोई अनार्य होते हैं, (**एवं वेगे जाव दुरूवा**) इसी तरह पूर्व सूत्रोक्त वर्णन के अनुसार कोई कुरूप आदि होते हैं। (**तेसिं च णं एगे महं राया भवइ**) उन मनुष्यों में से कोई एक महान् पुरुष राजा होता है (**महया० एवं चेव णिरवसेसं जाव सेणावइपुत्ता**) वह राजा पूर्वसूत्रोक्त विशेषणों से युक्त होता है, और उसकी सभा भी पूर्वसूत्रोक्त सेनापति-पुत्र आदि से युक्त होती है। (**तेसिं च णं एगइए सद्धी भवइ**) उन सभासदों में से कोई पुरुष धर्म में श्रद्धालु होता है, (**तं गमणाए समणा माहणा य संपहारिसु**) उनके पास जाने का वे श्रमण और माहन निश्चय करते हैं, (**तत्थ अन्नयरेणं धम्मेणं पन्नातारो वयं इमेण धम्मेण पन्नवइस्सामो**) वे किसी एक धर्म की शिक्षा देने वाले अन्यतीर्थी श्रमण और माहन राजा आदि से कहते हैं कि 'हम आपको अपने धर्म की शिक्षा देंगे।' (**भयंतारो**) वे उनसे कहते हैं—हे भयत्राताओ! प्रजा के भय का अन्त करने वालो! (**जहा मए एस सुयक्खाए धम्मे सुपन्नत्ते भवइ से एवमायाणह**) मैं जो इस उत्तम धर्म का उपदेश देता हूँ, उसे आप सत्य समझें (**इह पंचमहब्भूया खलु**) इस जगत् में पाँच महाभूत ही सब कुछ हैं, (**जेहिं नो विज्जइ किरियाइ वा अकरियाइ वा**) जिनसे हमारी क्रिया, अभिक्रिया, (**सुक्कडेति वा दुक्कडेति वा**) सुकृत या दुष्कृत (**कल्लाणेति वा पावएति वा**) कल्याण या पाप (**साहुइ वा असाहुइ वा**) भला या बुरा, (**सिद्धीइ वा असिद्धीइ वा**) सिद्धि या असिद्धि (**णिरएति वा अणिरएति वा**) नरक गति या नरक के अतिरिक्त अन्य गति एवं (**अविअंतसो तणमायमवि**) अधिक कहाँ तक कहें? तिनके के हिलने जैसी क्रिया भी इन्हीं पंचमहाभूतों से होती है। (**तं च पिहुद्देसेणं**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुढो भूतसमवाय जाणेज्जा) उस भूत समूह को पृथक्-पृथक् नामों से जानना चाहिए। (**तं जहा**) जैसे कि (**पुढवी एगे महब्भूए**) पृथ्वी एक महाभूत है, (**आऊ दुच्चे महब्भूए**) जल दूसरा महाभूत है, (**तेऊ तच्चे महब्भूए**) तेज (अग्नि) तीसरा महाभूत है, (**वाऊ चउत्थे महब्भूए**) वायु चौथा महाभूत है, (**आगासे पंचमे महब्भूए**) आकाश पाँचवाँ महाभूत है, (**इच्चेए पंच महब्भूया अणिम्मिया अणिम्माविया**) ये पाँचों महाभूत किसी कर्ता के द्वारा बनाए हुए नहीं हैं तथा किसी के द्वारा बनवाये हुए भी नहीं हैं (**अकडा णो कित्तिमा णो कडगा**) ये किये हुए नहीं हैं, अर्थात् कृत्रिम नहीं हैं और न अपनी उत्पत्ति के लिए किसी की अपेक्षा रखते हैं। (**अणाइया अणिहणा अबंझा**) ये पाँचों महाभूत आदि एवं अन्त रहित हैं और अबन्ध्य हैं—यानी सब कार्यों के सम्पादक हैं, (**अपुरोहिया सतंता सासया**) इन्हें कार्य में प्रवृत्त करने वाला कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, ये स्वतन्त्र एवं शाश्वत हैं, (**एगे पुण आयछट्ठा**) कोई पंचमहाभूत और छठं आत्मा को मानते हैं। (**एवमाहु**) वे इस प्रकार कहते हैं कि (**सतो विणासो णत्थि असतो संभवो णत्थि**) सत् का विनाश और असत् की उत्पत्ति नहीं होती है। (**एयावया व जीवकाए**) वे पंचमहाभूतवादी कहते हैं कि इतना ही जीव है (**एयावया व अत्थिकाए एयावया व सव्वलोए**) इतना ही अस्तिकाय यानी अस्तित्व है, तथा इतना ही सारा लोक है। (**एयं लोगस्स मुहं करणयाए**) तथा ये पाँच महाभूत ही लोक के मुख्य कारण हैं। (**अविअंतसो तणमायमवि**) अधिक क्या कहें, एक तिनके का कम्पन भी इन पंच महाभूतों के कारण ही होता है। (**से किणं किणावेमाणे हणं घायमाणे पयं पयावेमाणे अविअंतसो पुरिसमवि कीणित्ता घायइत्ता एत्थं पि जाणाहि णत्थित्थ दोसो**) अतः स्वयं खरीद करता हुआ और दूसरे से खरीद कराता हुआ एवं प्राणियों का स्वयं घात करता हुआ एवं दूसरे से घात कराता हुआ, स्वयं पकाता और दूसरों से पकवाता हुआ पुरुष दोष का भागी नहीं होता। यदि वह किसी मनुष्य को खरीदकर उसका घात कर दे तो इसमें भी कोई दोष नहीं है, यह जानो। (**ते**) इस प्रकार के सिद्धान्त को मानने वाले वे पंचमहाभूतवादी (**किरियाइ वा जाव अणिरएइ वा णो विप्पडिवेदेंति**) क्रिया से लेकर नरक से भिन्न गति तक के पदार्थों को नहीं मानते हैं। (**ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं भोयणाए विरूवरूवाइं काममोगाइं समारभंति**) वे नाना प्रकार के सावद्य कार्यों द्वारा काम-भोगों की प्राप्ति के लिए सदा आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त रहते हैं, (**एवमेव ते अणारिया विप्पडिवन्ना**) अतः वे अनार्य तथा विपरीत विचार वाले हैं। (**तं सद्दहमाणा तं पत्तियमाणा जाव इइ**) इन पंच महाभूतवादियों के धर्म में श्रद्धा रखने वाले और इनके धर्म को सत्य मानने वाले राजा आदि इन्हें विषय-भोग की सामग्री अर्पण करते हैं, (**ते णो हव्वाए णो पाराए अंतरा कामभोगेसु विसण्णा**) वे उन विषय-भोगों में प्रवृत्त होकर न इस लोक के रहते हैं और न परलोक के ही होते हैं, किन्तु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बीच में ही काम-भोगों में आसक्त होकर कष्ट पाते हैं। (**दोच्चे पुरिसजाए पंचमहब्भूएत्ति आहिए**) यह दूसरा पुरुष पंचमहाभूतिक कहलाता है।

व्याख्या

दूसरा पंचमहाभूतिक पुरुष : स्वरूप, विश्लेषण

प्रथम पुरुष के वर्णन के बाद दसवें सूत्र में शास्त्रकार द्वितीय पुरुष का वर्णन करते हैं। सर्वप्रथम पूर्वसूत्रोक्त वर्णन ही यहाँ भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जैसे कि मनुष्यलोक की सभी दिशाओं में नाना कोटि के अनेक गुणयुक्त मानव रहते हैं, उनमें से कोई एक पूर्वोक्त राजगुणों से सम्पन्न राजा होता है, उसकी परिषद् के विविध प्रकार के सभासद होते हैं। उनमें से कोई सदस्य धर्म में श्रद्धालु होता है, जिसे तथाकथित श्रमण या ब्राह्मण अपने जाने-माने स्वाख्यात धर्म का उपदेश देते हैं, उसी पर श्रद्धा करने तथा उसे ही सत्य मानने का अनुरोध करते हैं।

यह दूसरा पुरुष पाँचमहाभूतिक कहलाता है। वह किस धर्म (मत या दर्शन) का उपदेश अपने अनुयायी भक्तों को देता है? इसके उत्तर में शास्त्रकार उसके मत का निरूपण करते हैं—**इह खलु पंचमहब्भूया जेहिं·····तणमायमवि** अर्थात् इस समग्र जगत् में पंचमहाभूत ही सब कुछ हैं। सारा संसार पंचमहाभूतात्मक है। उनसे भिन्न और कुछ भी नहीं है। पाँच भूतों के द्वारा ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और नाश होता है, संसार की समस्त क्रियाएँ इन पंचमहाभूतों द्वारा ही की जाती हैं। क्या सुकृत, क्या दुष्कृत, क्या कल्याण, क्या पाप आदि समस्त क्रियाएँ, यहाँ तक कि एक तिनके का हिलना भी इन पाँच महाभूतों से होता है। संसार का भला-बुरा, कल्याण-अकल्याण, सिद्धि-असिद्धि, नरक-नरक से भिन्न गति आदि सब इन पंच महाभूतों से ही होते हैं। इनसे अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। इस भूत समुदाय को भिन्न-भिन्न नामों से जानना चाहिए। वे नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) पृथ्वी, (२) जल, (३) तेज, (४) वायु और (५) आकाश। ये पाँच महाभूत हैं। ये सबसे बड़े होने के कारण महाभूत कहलाते हैं।

नास्तिकों का मन्तव्य है कि ये पृथ्वी आदि पंचमहाभूत किसी से उत्पन्न नहीं होते, किन्तु अनिर्मित हैं और अनिर्मापित हैं—यानी किसी के द्वारा बने और बनवाए नहीं हैं, अकृत हैं, ये कृत्रिम नहीं हैं, अनादि हैं, अनन्त (अविनाशी) हैं—अर्थात् ये पंचमहाभूत सदा विद्यमान रहते हैं, इनका कभी नाश नहीं होता। ये शाश्वत हैं। ये अपुरोहित हैं, अर्थात् इनको प्रेरित करने वाला कोई दूसरा नहीं है, ये स्वतन्त्र हैं, आना-जाना, उठना-बैठना, सोना-जागना आदि समस्त क्रियाएँ इनके द्वारा ही की जाती हैं, किसी दूसरे काल, ईश्वर या आत्मा आदि के द्वारा नहीं; क्योंकि काल, ईश्वर तथा आत्मा आदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पदार्थ मिथ्या हैं। इनकी कल्पना करना भी व्यर्थ है। स्वर्ग, नरक आदि अप्रत्यक्ष पदार्थों की कल्पना करना भी मिथ्या है। वास्तव में इसी लोक में जो कुछ उत्तम सुख भोगा जाता है, वही स्वर्ग है तथा भयंकर रोग, शोक आदि पीड़ाएँ भोगना नरक हैं, इनसे भिन्न स्वर्ग या नरक कोई लोक-विशेष नहीं हैं। अतः स्वर्गलोक की प्राप्ति के लिए नाना प्रकार की तपस्या करना, व्यर्थ कष्ट सहना, शरीर को निरर्थक क्लेश देना तथा नरक के भय से इहलौकिक सुख का त्याग करना अज्ञान है, मूढ़ता है। शरीर में जो चैतन्य की अनुभूति होती है, वह शरीररूप में परिणत पंच महाभूतों का ही गुण है, किसी अप्रत्यक्ष आत्मा का नहीं। शरीर का नाश होने पर उस चैतन्य का भी नाश हो जाता है। अतः नरक या तिर्यञ्च योनि में जन्म लेकर कष्ट सहने का भय करना भी अज्ञान है।

यद्यपि सांख्यवादी पूर्वोक्त पाँच महाभूत तथा छठे आत्मा को भी मानते हैं, तथापि वे पाँच महाभूतिकों से भिन्न नहीं हैं, क्योंकि सांख्यदर्शन आत्मा को निष्क्रिय मानकर पंचमहाभूतों को उत्पन्न करने वाली प्रकृति को ही समस्त कार्यों का कर्त्ता मानता है। आत्मा को स्वीकार न करने वाले पाँचमहाभूतिक नास्तिक और आत्मा को निष्क्रिय मानने वाले सांख्यवादी दोनों ही एक तरह से पाँचमहाभूतिक हैं।

इसलिए सांख्यदर्शन पाँच महाभूतों से भिन्न छठा आत्म तत्त्व भी स्वीकार करता है। सांख्यदर्शन का कथन है कि सत् का कभी विनाश नहीं होता और असत् की उत्पत्ति नहीं होती। सांख्यदर्शन के अनुसार आत्मा कुछ भी नहीं करता, सब कुछ प्रकृति करती है। सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीन गुण संसार के मूल कारण हैं। इन तीनों गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है और ये तीनों प्रकृति के ही गुण हैं। यह प्रकृति ही समस्त विश्व की आत्मा है। वही समस्त कार्यों का सम्पादन करती है। यद्यपि पुरुष या जीव नामक एक चेतन पदार्थ भी अवश्य है, तथापि वह आकाशवत् व्यापक होने के कारण क्रियारहित है। वह प्रकृति द्वारा किये हुए कर्मों का फल भोगता है और बुद्धि द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थों को प्रकाशित करता है। जिस बुद्धि के द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थों को वह पुरुष या जीव प्रकाशित करता है, वह बुद्धि भी प्रकृति से भिन्न नहीं किन्तु उसी का कार्य है, अतएव वह त्रिगुणात्मिका है। अर्थात् वह बुद्धि भी तीन सूत्रों से बनी हुई रस्सी के समान सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों से ही बनी हुई है। इन तीनों गुणों का सदा उपचय और अपचय होता रहता है। इसलिए ये तीनों गुण कभी स्थिर नहीं रहते। जब सत्त्व गुण की वृद्धि होती है तो मनुष्य शुभ कार्य करता है, रजोगुण की वृद्धि होती है तब पाप-पुण्य-मिश्रित कार्य करता है और तमोगुण की वृद्धि होने पर हिंसा, झूठ आदि पापमय कार्य करता है। इस प्रकार जगत के समस्त कार्य सत्व, रजस्, तमस् इन तीनों गुणों के उपचय-अपचय से ही होते हैं, निष्क्रिय आत्मा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के द्वारा नहीं। पृथ्वी आदि पाँच महाभूत इन तीनों गुणों द्वारा ही उत्पन्न हैं। अतः प्रकृति ही इन सबकी अधिष्ठात्री है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका होती है, उससे बुद्धि (महत्) तत्त्व, महत्तत्त्व से अहंकार, अहंकार से रूप-रस आदि पाँच तन्मात्राओं (सूक्ष्म भूतों) की उत्पत्ति होती है। पाँच तन्मात्राओं से पृथ्वी आदि पाँच महाभूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन उत्पन्न होते हैं। यों कुल २४ पदार्थ ही समस्त विश्व के परिचालक है। २५वाँ पुरुष भी एक तत्त्व है, पर वह भोग तथा बुद्धि से गृहीत पदार्थ को प्रकाशित करने के सिवाय और कुछ नहीं करता।

ऐसी स्थिति में सांख्यमतानुसार प्रकृति ही समस्त कार्य करती है। पुण्य-पाप आदि सभी क्रियाएँ प्रकृति ही करती है। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**'से किणं किणावेमाणे, हणं घायमाणे··· णत्थित्थ दोसो।'** आशय यह है कि सांख्यदर्शन के पूर्वोक्त मतानुसार भारी से भारी पाप करने पर भी आत्मा (पुरुष) को उसका दोष (लेप) नहीं लगता, वह तो निर्मल ही बना रहता है। एकेन्द्रिय प्राणी की तो बात ही क्या, पंचेन्द्रिय प्राणी तक को कोई खरीदता-खरीदवाता है तथा घात करता-करवाता है, उसका मांस पकाता-पकवाता है तो भी आत्मा (पुरुष) को उसका पाप-दोष नहीं लगता, क्योंकि आत्मा बिलकुल निर्लेप और निष्क्रिय है, सब कार्य प्रकृति ही करती है।

वस्तुतः विचारकों की दृष्टि में यह मत बिलकुल निःसार और युक्तिरहित है। सांख्यवादी पुरुष को चेतन और प्रकृति को अचेतन तथा नित्य कहते हैं, भला अचेतन और नित्य प्रकृति विश्व को कैसे उत्पन्न और संचालित कर सकती है? क्योंकि वह ज्ञानरहित एवं जड़ है। तथा सांख्य की दृष्टि में जो वस्तु है ही नहीं, वह कभी नहीं होती और जो है, उसका अभाव नहीं होता, अतः जिस समय प्रकृति और पुरुष दो ही थे, उस समय यह विश्व तो था ही नहीं, फिर यह कैसे उत्पन्न हो गया? सांख्यवादी के पास इसका उत्तर नहीं है। सांख्यों का आत्मा (पुरुष) तो बेचारा पाप-पुण्य कुछ भी नहीं करता, फिर उसे सुख-दुःख क्यों भोगने पड़ते हैं? प्रकृति ने पुण्य-पाप किये हैं, इसलिए उचित और न्यायसगत तो यही है कि प्रकृति ही उनका फल भोगे। प्रकृति के द्वारा कृत पुण्य-पाप का फल यदि पुरुष भोगता है, तो देवदत्त के पुण्य-पाप का फल यज्ञदत्त क्यों नहीं भोगता? अतः दूसरे के किये हुए कर्मों का फल दूसरा भोगे, यह कदापि सम्भव नहीं है। तथा जड़ से विश्व की उत्पत्ति मानना भी असंगत है।

इसी तरह सांख्यों का आंशिक पंचमहाभूतवाद तथा नास्तिकों (लोकायतिकों) का पंचमहाभूतवाद दोनों ही मिथ्या हैं। क्योंकि विश्व के कर्ता या संचालक पंच-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाभूत हो नहीं सकते, क्योंकि ये पाँचों ही महाभूत जड़ हैं, चेतन नहीं, ऐसी दशा में वे जगत् के कर्ता कैसे हो सकते हैं ?

यदि कहें कि शरीर के आकार में परिणत पंचमहाभूत चेतन हैं तो यह भी युक्तिविरुद्ध है, क्योंकि जब तक इन पंचमहाभूतों का अधिष्ठाता कोई चेतन पदार्थ नहीं माना जाएगा, तब तक शरीर के आकार में इनका परिणत होना ही असम्भव है। बिना कारण के परिणाम हो नहीं सकता। अतः शरीर के आकार में पंचमहाभूतों के परिणाम का कारण आत्मा को मानना ही युक्तियुक्त है। इसलिए पूर्वोक्त सांख्यों और नास्तिकों के मत सर्वथा युक्तिरहित हैं।

यद्यपि सांख्यों एवं नास्तिकों का पंचमहाभूतवाद मानने योग्य नहीं है, तथापि ये लोग अपने मतों को सत्य समझते हुए, उन पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि रखते हुए धड़ल्ले से दूसरों को उपदेश देते हैं। दूसरों के दिल-दिमाग में अपने खोटे सिद्धान्तों को ठसाकर उन्हें अपने भक्त बना लेते हैं। वे अन्धभक्त भी इन खोटे मतों को भी सत्य मानकर अपने आपको कृतार्थ समझते हैं और अपने उपदेशकों के उपभोग के लिए नाना प्रकार की विषय-भोगसामग्री अर्पण करते रहते हैं। विषय-भोगसामग्री पाकर वे तथाकथित धर्मोपदेशक सांसारिक सुख-भोगों में इस प्रकार आसक्त हो जाते हैं, जैसे भारी दलदल में हाथी फँस जाता है। इस प्रकार ये लोग इस लोक से तो भ्रष्ट हो ही जाते हैं, परलोक को भी बिगाड़ डालते हैं इसलिए उससे भी भ्रष्ट हो जाते हैं। ये स्वयं संसार-पुष्करिणी को पार नहीं कर सकते हैं। श्वेतकमल के समान निर्वाण को पाना तो बहुत दूर रहा, ये अपना उद्धार भी विषय-भोगों के कीचड़ से निकलकर नहीं कर सकते, दूसरों का उद्धार तो कर ही कैसे सकते हैं। अतः विषय-भोग के कीचड़ में फँसकर ये द्वितीय कोटि के पुरुष भी निरन्तर संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं। ये श्वेतकमलसम निर्वाण को नहीं पा सकते।

यह दूसरे पंचमहाभूतिक पुरुष का वर्णन है।

सारांश

दूसरे पुरुष की कोटि में पाँचमहाभूतिक नास्तिक एवं सांख्य परिगणित किये गये हैं, जो जड़ पाँच महाभूतों से ही सारी सृष्टि की उत्पत्ति, विनाश और स्थिति मानते हैं, उसी का प्रचार करते हैं, उसी मत के दलदल में स्वयं फँसकर दूसरों को फंसाते हैं और अपने अनुयायीगणों से विषय-भोगों की सामग्री प्राप्त कर उसी के कीचड़ में फँस जाते हैं। वे स्वयं अपना उद्धार भी नहीं कर सकते, दूसरों का उद्धार तो दूर की बात है। अतः वे संसार में ही गोते लगाते रहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

अहावरे तच्चे पुरिसजाए ईसरकारणिए इति आहिज्जइ। इह खलु पाईणं वा ६ संतेगइया मणुस्सा भवंति, अणुपुव्वेणं लोयं उववन्ना, तं जहा—आरिया वेगे जाव तेसिं च णं महंते एगे राया भवइ, जाव सेणावइपुत्ता। तेसिं च णं एगइए सड्ढी भवइ, कामं तं समणा य माहणा य संपहारिंसु गमणाए, जाव जहा मए एस धम्मे सुयक्खाए सुपन्नत्ते भवइ।

इह खलु धम्मा पुरिसादिया, पुरिसोत्तरिया, पुरिसप्पणीया पुरिससंभूया, पुरिसपज्जोइया, पुरिसमभिसमण्णागया पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति। से जहाणामए गंडेसिया सरीरे जाए संवुड्ढे सरीरे अभिसमण्णागए सरीरमेव अभिभूय चिट्ठइ, एवमेव धम्मा पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति। से जहाणामए अरई सिया सरीरे जाया, सरीरे संवुड्ढा, सरीरे अभिसमण्णागया सरीरमेव अभिभूय चिट्ठइ, एवमेव धम्मावि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति। से जहाणामए वम्मिए सिया पुढविजाए पुढवि संवुड्ढे पुढवि अभिसमण्णागए पुढविमेव अभिभूय चिट्ठइ, एवमेव धम्मावि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठइ। से जहाणामए रुक्खे सिया पुढविजाए पुढविसंवुड्ढे पुढवि अभिसमण्णागए पुढविमेव अभिभूय चिट्ठइ, एवमेव धम्मावि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति। से जहाणामए पुक्खरिणी सिया पुढविजाया जाव पुढविमेव अभिभूय चिट्ठइ, एवमेव धम्मावि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति। से जहाणामए उदगपुक्खले सिया उदगजाए जाव उदगमेव अभिभूय चिट्ठइ, एवमेव धम्मावि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति। से जहाणामए उदगबुब्बुए सिया उदगजाए जाव उदगमेव अभिभूय चिट्ठइ, एवमेव धम्मावि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति।

जं पि य इमं समणाणं णिग्गंथाणं उद्दिट्ठं पणीयं वियंजियं दुवालसंगं गणिपिडयं, तं जहा—आयारो सूयगडो जाव दिट्ठिवाओ। सव्वमेयं मिच्छा। ण एयं तहियं ण एयं आहातहियं। इमं सच्चं, इमं तहियं, इमं आहातहियं। ते एवं सन्नं कुव्वंति, ते एवं सन्नं संठवेंति, ते एवं सन्नं सोवट्ठवयंति। तमेवं ते तज्जाइयं दुक्खं णाइउट्टंति सउणी पंजरं जहा। ते णो एवं विप्पडिवेदेंति, तं जहा—किरियाइ वा जाव अणिरएइ वा। एवमेव ते विरूवरूवेहिं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारंभंति भोयणाए। एवमेव ते अणारिया विप्पडिवन्ना एवं सद्दहमाणा जाव इति ते णो हव्वाए, णो पाराए, अंतरा कामभोगेसु विसण्णेत्ति। तच्चे पुरिसजाए ईसरकारणिएत्ति आहिए॥ सू० ११॥

संस्कृत छाया

अथाऽपरस्तृतीयः पुरुषजातः ईश्वरकारणिक इत्याख्यायते। इह खलु प्राच्यां वा ६ सन्त्येकतये मनुष्याः भवन्ति आनुपूर्व्या लोकमुपपन्नाः, तद्यथा—आर्याः एके यावत्तेषां च महान् एको राजा भवति, यावत् सेनापति पुत्राः। तेषां च एकतयः श्रद्धावान् भवति, कामं तं श्रमणाश्च ब्राह्मणाश्च सम्प्रधार्य गमनाय यावत्, यथा मया एष धर्मः स्वाख्यातः सुप्रज्ञप्तो भवति—इह खलु धर्माः पुरुषादिकाः पुरुषोत्तराः पुरुषप्रणीताः पुरुषसम्भूताः पुरुषप्रद्योतिताः पुरुषमभिसमन्वागताः पुरुषमेव अभिभूय तिष्ठन्ति। तद्यथा नाम गण्डः स्यात् शरीरेजातः शरीरेसंवृद्धः शरीरेऽभिसमन्वागतः शरीरमेवाभिभूय तिष्ठति एवमेव धर्माः पुरुषादिका यावत् पुरुषमेव अभिभूय तिष्ठन्ति। तद्यथा नाम अरतिः स्यात् शरीरे जाता, शरीरे संवृद्धा, शरीरेऽभिसमन्वागता शरीरमेवाभिभूय तिष्ठति, एवमेव धर्माः अपि पुरुषादिकाः यावत् पुरुषमेव अभिभूय तिष्ठन्ति। तद्यथा नाम वल्मीकं स्यात् पृथिवीजातं पृथिवीसंवृद्धं, पृथिवीमभिसमन्वागतं पृथिवीमेवअभिभूय तिष्ठति, एवमेव धर्माः अपि पुरुषादिकाः यावत् पुरुषमेव अभिभूय तिष्ठन्ति। तद्यथा नाम वृक्षः स्यात् पृथिवीजातः, पृथिवीसंवृद्धः, पृथिवीमभिसमन्वागतः पृथिवीमेव अभिभूय तिष्ठति एवमेव धर्माः अपि पुरुषादिकाः यावत् पुरुषमेव अभिभूय तिष्ठन्ति। तद्यथा नाम पुष्करिणी स्यात् पृथिवीजाता यावत् पृथिवीमेव अभिभूय तिष्ठति, एवमेव धर्माः अपि पुरुषादिकाः यावत् पुरुषमेव अभिभूय तिष्ठन्ति। तद्यथा नाम उदकपुष्कलं स्यात् उदकजातं यावद् उदकमेव अभिभूय तिष्ठति एवमेव धर्माः अपि पुरुषादिकाः, यावत् पुरुषमेवाभिभूय तिष्ठन्ति। तद्यथा नाम उदकबुद्बुदः स्यात् उदकजातः यावत् उदकमेव अभिभूय तिष्ठति, एवमेव धर्माः अपि पुरुषादिकाः यावत् पुरुषमेव अभिभूय तिष्ठन्ति।

यदपि चेदं श्रमणानां निर्ग्रन्थानामुद्दिष्टं प्रणीतं व्यंजितं द्वादशांगं गणिपिटकम्, तद्यथा आचारः सूत्रकृतः यावद् दृष्टिवादः, सर्वमेतन्मिथ्या।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नैतत्तथ्यं, नैतद् याथातथ्यम्। इदं सत्यं, इदं तथ्यं, इदं याथातथ्यम् एवं संज्ञां कुर्वन्ति, ते एवं संज्ञां संस्थापयन्ति, ते एवं संज्ञामुपस्थापयन्ति, तदेवं ते तज्जातीयं दुःखं नैव त्रोटयन्ति शकुनिः पञ्जरं यथा। ते नो एवं विप्रतिवेदयन्ति, तद्यथा क्रियादिर्वा यावद् अनिरय इति। एवमेव ते विरूपरूपैः कर्मसमारम्भैः विरूपरूपान् कामभोगान् समारभन्ते भोगाय। एवमेव तेऽनार्याः विप्रतिपन्नाः, एवं श्रद्दधानाः यावद् इति ते नोऽर्वाचे नो पाराय अन्तरा कामभोगेषु विषण्णाः। इति तृतीयः पुरुषजातः ईश्वरकारणिक इत्याख्यातः ॥ सू० ११ ॥

अन्वयार्थ

(**अहावरे तच्चे पुरिसजाए ईसरकारणिए इति आहिज्जइ**) दूसरे पंचमहाभूतिक पुरुष के पश्चात् अब तीसरा पुरुष ईश्वरकारणिक कहलाता है। (**इह खलु पाईणं वा ६ संतेगइया मणुस्सा भवंति**) इस मनुष्यलोक में पूर्व आदि दिशाओं में अनेक मनुष्य होते हैं, (**अणुपुव्वेणं लोयमुववन्ना**) जो क्रमशः इस लोक में उत्पन्न हुए हैं। (**तं जहा—वेगे आरिया जाव**) जैसे कि उनमें से कोई आर्य होते हैं, कोई अनार्य, इत्यादि प्रथम सूत्र में उक्त सब वर्णन यहाँ जान लेना चाहिए। (**तेसिं च णं एगे महंते राया भवइ जाव सेणावइपुत्ता**) उनमें से कोई एक श्रेष्ठ पुरुष महान् राजा होता है, उसकी सभा का वर्णन भी प्रथम सूत्रोक्त रूप से जान लेना चाहिए। (**तेसिं च णं एगइए सड्ढी भवइ**) इन पुरुषों में से कोई एक धर्मश्रद्धालु होता है। (**तं समणा य माहणा य गमणाए संपहारिंसु**) उस धर्मश्रद्धालु पुरुष के पास तथाकथित श्रमण और माहन जाने का निश्चय करते हैं। (**जहा मए एस धम्मे सुयक्खाए सुपन्नत्ते भवइ जाव**) वे जाकर कहते हैं—हे भयत्राता ! मैं आपको सच्चा धर्म सुनाता हूँ, उसे ही आप सत्य समझें। (**इह खलु धम्मा पुरिसादिया**) इस जगत में जड़ और चेतन जितने भी पदार्थ हैं, वे सब पुरुषादिक हैं, सबका मूल कारण ईश्वर या आत्मा है। (**पुरिसोत्तरिया**) वे सब पुरुषोत्तरिक हैं, अर्थात् ईश्वर ही उनका संहारकर्ता है या ईश्वर या आत्मा ही सब पदार्थों का कार्य है। (**पुरिसप्पणीया**) सभी पदार्थ ईश्वर के द्वारा रचित हैं, (**पुरिससंभूया**) ईश्वर से ही उत्पन्न हैं—उनका जन्म हुआ है, (**पुरिसप्पजोइया**) सभी पदार्थ ईश्वर द्वारा प्रकाशित हैं, (**पुरिसमभिसमण्णागया**) सभी पदार्थ ईश्वर के अनुगामी हैं, (**पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति**) सभी पदार्थ ईश्वर का आधार—आश्रय लेकर टिके हुए हैं। (**से जहाणामए गंडे सिया**) जैसे प्राणी के शरीर में उत्पन्न फोड़ा (गुमड़ा), (**सरीरे जाए सरीरे संवुड्ढे सरीरे अभिसमण्णागए सरीरमेव अभिभूय चिट्ठइ**) शरीर से ही उत्पन्न होता है, शरीर में ही बढ़ता है, शरीर का ही अनुगामी बनता है और शरीर का ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आधार लेकर टिकता है, (**एवमेव धम्मा पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति**) इसी तरह सभी धर्म—सभी पदार्थ ईश्वर से ही उत्पन्न होते हैं, ईश्वर से ही वृद्धिगत होते हैं, ईश्वर के ही अनुगामी हैं एवं ईश्वर को ही आधार रूप से आश्रय लेकर स्थित रहते हैं। (**से जहाणामए अरई सिया सरीरेजाया सरीरे संवुड्ढा सरीरे अभिसमण्णागया सरीरमेव अभिभूय चिट्ठइ**) जैसे अरति (मन का उद्वेग) शरीर में ही उत्पन्न होती है, शरीर में ही बढ़ती है, शरीर की अनुगामिनी बनती है, और शरीर को ही आधाररूप से आश्रय लेकर टिकी रहती है, (**एवमेव धम्मा अवि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति**) इसी प्रकार समस्त पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न होकर उसी के आश्रय से स्थित हैं। (**से जहाणामए वम्मिए सिया पुढविजाए पुढविसंवुड्ढे पुढविमभिसमण्णागए पुढविमेव अभिभूय चिट्ठइ**) जैसे वल्मीक (बांबी) पृथ्वी से ही उत्पन्न होता है, पृथ्वी में ही बढ़ता है और पृथ्वी का ही अनुगामी है तथा पृथ्वी का ही आश्रय लेकर रहता है, (**एवमेव धम्मावि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति**) इसी तरह सारे पदार्थ इश्वर से उत्पन्न होकर आखिरकार ईश्वर में ही लीन होकर रहते हैं। (**से जहाणामए रुक्खे सिया पुढविजाए पुढविसंवुड्ढे, पुढविमभिसमण्णागए पुढविमेव अभिभूय चिट्ठइ**) जैसे कि कोई वृक्ष मिट्टी से ही पैदा होता है, मिट्टी में बढ़ता है, मिट्टी का ही अनुगामी होता है और आखिरकार मिट्टी में लीन होकर स्थित रहता है, (**एवमेव धम्मावि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति**) इसी तरह सभी पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न होकर अन्त में उसी में व्याप्त होकर रहते हैं। (**से जहाणामए उदगपुक्खले सिया उदगजाए जाव उदगमेव अभिभूय चिट्ठइ**) जैसे जल का पुष्कर (तालाब, पोखर) उदक—जल से ही उत्पन्न होता है, जल से ही वृद्धिगत होता है, जल का ही अनुगामी होकर आखिरकार जल को ही व्याप्त करके रहता है, (**एवमेव धम्मावि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति**) इसी प्रकार समस्त पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न होकर अन्त में उसी में लीन होकर रहते हैं। (**से जहाणामए जलबुब्बुए उदगजाए जाव उदगमेव अभिभूय चिट्ठइ**) जैसे कोई पानी का बुलबुला (बुद्बुद) पानी से ही पैदा होता है और अन्त में पानी में ही विलीन हो जाता है, (**एवमेव धम्मावि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति**) इसी प्रकार सभी पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न होते हैं और अन्त में उसी में व्याप्त होकर रहते हैं। (**जं पि य इमं समणाणं णिग्गंथाणं उद्दिट्ठं पणीयं वियंजियं दुवालसंगं गणिपिडगं, तं जहा—आयारो सूयगडो जाव दिट्ठिवाओ सव्वमेयं मिच्छा**) यह जो श्रमण निर्ग्रन्थों के द्वारा कहा हुआ, रचा हुआ, या प्रकट किया हुआ गणियों (आचार्यों) का ज्ञानपिटारा—ज्ञानभंडार है, जो आचारांग सूत्रकृतांग से लेकर दृष्टिवाद तक बारह अंगों में विभक्त है, यह सारा मिथ्या है, झूठा है। (**एयं ण तहियं एयं ण आहातहियं**) ये सब सत्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथ्य नहीं है, ये वस्तुस्वरूप के यथार्थ बोधक नहीं हैं, **(इमं सच्चं, इमं तहियं, इमं आहातहियं)** यह जो हमारा मत है, वही सत्य है, वही तथ्य है, वही यथार्थ है। **(ते एवं सन्नं कुव्वंति, ते एवं सन्नं संठवेंति, ते एवं सन्नं सोवट्ठवयंति)** वे ईश्वरकारणवादी ऐसा विचार रखते हैं और वे अपने शिष्यों को भी इसी मत की शिक्षा देते हैं तथा वे सभा में इसी मत की स्थापना करते हैं। **(जहा सउणी पंजरं एवं ते तज्जाइयं दुक्खं णाइउट्टंति)** जैसे पक्षी पींजरे को नहीं तोड़ सकता, वैसे ही ईश्वरकारणतारूप मत के स्वीकार करने से उत्पन्न दुःख को वे ईश्वरकारणवादी नहीं तोड़ सकते हैं। **(ते एवं णो विप्पडिवेदेंति)** वे ईश्वरकारणवादी इन बातों को नहीं मानते। **(तं जहा—किरयाइ वा अनिरएइ वा)** जैसे कि पूर्वसूत्रोक्त क्रिया से लेकर अनिरय तक जो बातें कही गई हैं वे उन्हें अमान्य हैं **(ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं भोयणाए विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारंभंति)** वे नाना प्रकार के सावद्य अनुष्ठानों के द्वारा नाना प्रकार के कामभोगों का आरम्भ करते हैं। **(ते अणारिया)** वे अनार्य हैं **(विप्पडिवन्ना)** भ्रम में पड़े हैं **(एवं सद्दहमाणा जाव इति ते णो हव्वाए णो पाराए)** इस प्रकार की श्रद्धा रखने वाले वे ईश्वरकारणवादी न इस लोक के होते हैं, न परलोक के, **(अंतरा कामभोगेसु विसण्णा)** किन्तु कामभोगों में फँसकर बीच में ही कष्ट पाते हैं। **(तच्चे पुरिसजाए ईसरकारणएत्ति आहिए)** यह तीसरे ईश्वरकारणवादी पुरुष का स्वरूप कहा गया है।

व्याख्या

ईश्वरकारणवादी तृतीय पुरुष : स्वरूप, विश्लेषण

इस सूत्र में तीसरे पुरुष का वर्णन किया गया है। यह तीसरा पुरुष ईश्वरकारणिक है। यह मानता है कि चेतन और अचेतनस्वरूप इस सारे संसार का कर्ता ईश्वर है। ईश्वर जगत् का आदि कारण है। ईश्वर-कर्तृत्ववाद का सिद्धान्त इस प्रकार है—जो पदार्थ किसी विशेष अवयव रचना से युक्त होता है, वह किसी बुद्धिमान कर्ता के द्वारा बनाया हुआ होता है, जैसे—घट विशेष अवयव रचना से युक्त होता है, इसलिए वह कुम्हार के द्वारा बनाया हुआ होता है, पट भी जुलाहे द्वारा बनाया हुआ होता है, इसी तरह प्राणियों का शरीर तथा यह समस्त जगत् विशिष्ट अवयव रचना से युक्त है। अतः यह भी किसी बुद्धिमान कर्ता के द्वारा बनाया हुआ है। जिस बुद्धिमान कर्ता ने इन पदार्थों को बनाया है, वह हम लोगों के समान अल्पज्ञ या अल्पशक्तिमान नहीं हो सकता, अपितु वह सर्वशक्तिमान् एवं सर्वज्ञ पुरुष है, उसे ही ईश्वर या परमात्मा कहते हैं। उसी ईश्वर की कृपा से जीव को स्वर्ग और उसके कोप से नरक मिलता है। जीव अल्पज्ञ और अल्पशक्तिमान् है। वह अपनी इच्छा से न तो सुख प्राप्त कर सकता है और न ही दुःख को मिटा सकता है अपितु ईश्वर की आज्ञा से ही उसे सुख-दुःख की प्राप्ति होती है। जैसा कि ईश्वरकर्तृत्ववादी कहते हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ।।

अर्थात्—यह अज्ञानी जीव स्वयं सुखप्राप्ति तथा दुःखपरिहार करने में समर्थ नहीं है, यह स्वर्ग या नरक में जाता है तो ईश्वर की प्रेरणा से ही जाता है।

ईश्वरवादी जैसे समस्त जगत् का कारण ईश्वर को मानता है, वैसे ही आत्माद्वैतवादी एक आत्मा (ब्रह्म) को ही सारे जगत् का कारण मानना है। जैसा कि वे कहते हैं—

एक एव हि भूतात्मा, भूते-भूतेव्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ।।

अर्थात्—सारे विश्व में एक आत्मा है, वही प्रत्येक प्राणी में स्थित है। वह एक होता हुआ भी विभिन्न जलपात्रों के जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के समान प्रत्येक जीव में भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। जैसा कि श्रुति में कहा—

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्चभाव्यम् ।

इस जगत् में जो कुछ हो चुका है, या जो होने वाला है, वह सब आत्मा (पुरुष) ही है।

जैसे मिट्टी से बने हुए सभी पात्र मृण्मय कहलाते हैं, तथा तन्तु के द्वारा बने हुए सभी वस्त्र तन्तुमय कहलाते हैं, इसी प्रकार समस्त विश्व आत्मा द्वारा निर्मित होने के कारण आत्ममय है।

ईश्वर कर्तृत्ववादियों या आत्मद्वैतवादियों द्वारा निम्नोक्त तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं, जिन्हें शास्त्रकार ने इस सूत्र में अंकित किया है—

"इइ खलु धम्मा पुरिसादिया····से जहाणामए गंडे सिया····पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति ।"

संक्षेप में इन सब दृष्टान्तों का आशय यह है कि जैसे शरीर में उत्पन्न फोड़ा शरीर में ही स्थित रहता है, मन में उत्पन्न उद्वेग अन्त में मन में ही व्याप्त होकर रहता है, पृथ्वी से उत्पन्न वल्मीक पृथ्वी पर ही स्थित रहता है, जल से उत्पन्न पोखर या बुलबुला अन्ततोगत्वा जल में ही लीन होकर रहता है, किन्तु शरीर को छोड़कर फोड़ा, मन को छोड़कर उद्वेग, पृथ्वी को छोड़कर वल्मीक तथा वृक्ष, एवं जल को छोड़कर पोखर तथा बुलबुला अलग नहीं रह सकता, इसी तरह समस्त पदार्थ आत्मा को छोड़कर अलग नहीं रह सकते हैं, किन्तु आत्मा में ही वृद्धि-ह्रास को प्राप्त करते रहते हैं, यह आत्माद्वैतवादी का मत है। इसी प्रकार ईश्वरकर्तृत्ववादी भी उपर्युक्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृष्टान्तों को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जैसे फोड़े आदि पदार्थ शरीर आदि से उत्पन्न होते हैं, शरीर आदि में ही उनकी विकास-प्रवृत्ति या वृद्धि होती है, शरीर आदि का ही वे अनुगमन करते हैं और अन्त में शरीर आदि में ही व्याप्त होकर या शरीर आदि के आधार पर टिकते हैं, इसी प्रकार समस्त पदार्थ ईश्वर से ही उत्पन्न होते हैं, ईश्वर में ही बढ़ते हैं और ईश्वर को ही आधार बनाकर स्थित रहते हैं। तात्पर्य यह है कि जगत् के समस्त पदार्थ ईश्वर से ही उत्पन्न हुए हैं, ईश्वर में ही स्थित हैं और अन्त में ईश्वर में ही लीन हो जाते हैं।

ईश्वरकारणवादी और आत्माद्वैतवादी ये दोनों ही तीसरे पुरुष में ग्रहण किये गये हैं। इन दोनों का कथन है कि 'आचारांग से लेकर दृष्टिवाद तक जो श्रमण-निर्ग्रन्थों का द्वादशांगी गणिपिटक (जैनागम) है, वह मिथ्या है, क्योंकि वह ईश्वर द्वारा रचित नहीं हैं, किन्तु किसी साधारण व्यक्ति द्वारा निर्मित और विपरीत अर्थ का बोधक है, इसलिए यह सत्य नहीं है, और न ही वस्तुस्वरूप का प्रतिपादक है।' इस प्रकार आर्हद्दर्शन की निन्दा करने वाले ईश्वरकारणवादी और आत्माद्वैतवादी दोनों अपने-अपने मतों का आग्रह रखते हुए अपने मत की शिक्षा अपने शिष्यों को देते हैं तथा द्रव्योपार्जनार्थ अनेक प्रकार के पापकर्म करके उनके फलस्वरूप नाना प्रकार के दुःख पाते हैं। इसके अतिरिक्त निर्दोष शास्त्रों की निन्दा करने और उनसे विपरीत कुशास्त्र प्रतिपादित जीवहिंसा आदि कुकृत्य करने के कारण उत्पन्न होने वाले अशुभबन्धनों को नष्ट करने में असमर्थ होकर वे संसार-चक्र में ही परिभ्रमण करते रहते हैं। जैसे पक्षी पिंजरे के बन्धन को तोड़ नहीं सकता, वैसे ही वे वादी भी संसार-चक्र का उल्लंघन नहीं कर सकते हैं, क्योंकि वे अपने द्वारा-उपार्जित अशुभ कर्मों से बँधे हुए हैं। वे मोक्ष-मार्ग को स्वीकार नहीं करते। उनका मन्तव्य है कि न क्रिया है, न अक्रिया है, यहाँ तक कि न नरक हैं, न नरक के अतिरिक्त कोई और लोक है—अर्थात् स्वर्ग आदि अनरक हैं। न पुण्य-पाप है; न शुभाशुभ कर्म का फल है; न कोई भला है, न बुरा; न सिद्धि है, न असिद्धि; न सुकृत है, न दुष्कृत है।

इस प्रकार वे लोग त्याग-वैराग्य की थोथी बातें करते हैं, किन्तु उनकी श्रद्धा की नींव कच्ची होती है, इस कारण वे विषय-भोगों में अत्यन्त आसक्त होकर उन्हें पाने के लिए दम्भपूर्वक पापाचरण करते हैं। वे अनार्य हैं। वे विपरीत पथ को ग्रहण किये हुए हैं। इस कारण वे न तो इस लोक के होते हैं और न परलोक के ही होते हैं, किन्तु बीच में ही वे दुनियादारी में रचे-पचे रहकर सांसारिक विषयभोगों के कीचड़ में ही फँस जाते हैं और नाना प्रकार के कष्ट पाते हैं।

वास्तव में जो लोग ईश्वर या आत्मा को जगत् का कर्ता मानते हैं, वह सर्वथा मिथ्या है, अनुभव से बाधित है। क्योंकि प्रश्न होता है—वह ईश्वर अपनी इच्छा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से प्राणियों को क्रिया में प्रवृत्त करता है अथवा किसी दूसरे की प्रेरणा से करता है ? यदि वह अपनी इच्छा से ही प्राणियों को क्रिया में प्रवृत्त करता है तो प्राणी अपनी इच्छा से ही क्रिया में प्रवृत्त होते हैं, यही क्यों न मान लिया जाय ? यदि वह ईश्वर किसी दूसरे की प्रेरणा से प्राणियों को क्रिया में प्रवृत्त करता है तो जिसकी प्रेरणा से वह प्राणियों को क्रिया में प्रवृत्त करता है, उसको भी प्रेरणा करने वाला कोई तीसरा होना चाहिए, और उस तीसरे को चौथा, और चौथे को पाँचवाँ और पाँचवें को छठा इस प्रकार इस पक्ष में अनवस्था दोष आता है। अतः प्राणिवर्ग ईश्वर की प्रेरणा से क्रिया में प्रवृत्त होते हैं, यह पक्ष ठीक नहीं है।

ईश्वर सराग है या वीतराग ? यदि सराग है तो वह साधारण जीव के समान ही सृष्टि का कर्त्ता नहीं हो सकता। यदि वीतराग है तो वह किसी को नरक के योग्य पापक्रिया में और किसी को स्वर्ग तथा मोक्ष के योग्य शुभक्रिया में क्यों प्रवृत्त करता है ? यदि कहें कि प्राणिवर्ग अपने पूर्वकृत शुभ और अशुभ कर्म के उदय से ही शुभ तथा अशुभ क्रिया में प्रवृत्त होते हैं, ईश्वर तो निमित्त मात्र है, यह पक्ष भी यथार्थ नहीं है, क्योंकि आपके मतानुसार पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों का उदय भी ईश्वर के ही अधीन है। अतः वह प्राणियों की शुभाशुभ क्रिया में प्रवृत्ति की जिम्मेदारी से बच नहीं सकता।

यदि यह मान लें कि प्राणी अपने पूर्वकृत कर्म के उदय से क्रिया में प्रवृत्त होते हैं, तो यह भी मानना पड़ेगा कि प्राणी जिस पूर्वकृत कर्म के उदय से क्रिया में प्रवृत्त होते हैं, वह पूर्वकृत कर्म भी अपने पूर्वकृत कर्म के उदय से ही हुआ था, तथा वह भी अपने पूर्वकृत कर्म के उदय से हुआ। इस प्रकार पूर्वकृत कर्म की परम्परा अनादि सिद्ध होती है। इस प्रकार ईश्वर मानने पर भी जब पूर्वकृत कर्म-परम्परा अनादि सिद्ध होती है, तथा वही प्राणी की क्रिया में प्रवृत्ति का कारण भी ठहरती है, तब फिर व्यर्थ ही ईश्वर को कारण मानने की क्या आवश्यकता है ?

जिसके सम्बन्ध से जिसकी उत्पत्ति होती है, वही उसका कारण माना जाता है, दूसरा नहीं। मनुष्य का घाव शस्त्र और औषधि के प्रयोग से अच्छा होता है, इसलिए शस्त्र और औषधि ही घाव भरने के कारण माने जाते हैं। परन्तु उस घाव के साथ जिसका कोई सम्बन्ध नहीं है, उस ठूँठ को घाव भरने का कारण नहीं माना जाता। अतः पूर्वकृत कर्म के उदय से ही प्राणियों की शुभाशुभ क्रिया में प्रवृत्ति सिद्ध होने पर उसके लिए ईश्वर को कारण मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

ईश्वरकर्तृत्ववादियों का यह कथन भी ईश्वर के कर्ता होने का साधक नहीं है कि शरीर और जगत् विशिष्ट अवयव रचना से युक्त होने के कारण किसी बुद्धिमान् कर्ता द्वारा रचित हैं, क्योंकि इस अनुमान से बुद्धिमान् कर्ता की सिद्धि होती है, ईश्वर-रूप कर्ता की सिद्धि नहीं होती। जो बुद्धिमान् होता है, वह ईश्वर ही होता है, ऐसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नियम नहीं है। अतएव घट का कर्ता कुम्भार और पट का कर्ता जुलाहा माना जाता है, ईश्वर नहीं। यदि बुद्धिमान कर्ता ईश्वर ही है तो फिर ईश्वरकर्तृत्ववादी घट और पट का कर्ता भी ईश्वर को ही क्यों नहीं मानते?

विशिष्ट अवयव रचना भी बुद्धिमान् कर्ता के बिना नहीं हो सकती, यह भी कोई नियम नहीं है। क्योंकि घट, पट के समान वल्मीक भी विशिष्ट अवयव रचना से युक्त होता है, परन्तु उसका कर्ता कुम्भार आदि के सामान कोई बुद्धिमान पुरुष नहीं होता। अतः शरीर और जगत् आदि की विशिष्ट अवयव रचना को देखकर उस पर से अदृष्ट ईश्वर की कल्पना करना युक्तिविरुद्ध है।

इसी तरह आत्माद्वैतवाद भी युक्तिरहित है। क्योंकि इस जगत् में जब एक आत्मा के सिवाय दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, तब फिर मोक्ष के लिए प्रयत्न करना, शास्त्रों का अध्ययन करना आदि बातें निरर्थक ही सिद्ध होंगी तथा सारे जगत् की एक आत्मा मानने पर जगत् में जो प्रत्यक्ष विचित्रता देखी जाती है, वह भी सिद्ध नहीं हो सकेगी। बल्कि एक के पाप से दूसरे सब पापी और एक की मुक्ति से दूसरे सबकी मुक्ति एवं एक के दुःख से दूसरे सबको दुःखी मानना पड़ेगा। जो कि आत्माद्वैतवादी को अभीष्ट नहीं है। अतः युक्तिरहित आत्माद्वैतवाद को भी मिथ्या समझना चाहिए।

सारांश

पूर्वोक्त रीति से ईश्वरकारणतावाद और आत्माद्वैतवाद ये दोनों मिथ्या सिद्ध हो जाते हैं, तथापि इनके मतानुयायी इन मतों के फंदे में फँस कर उसी तरह मुक्त नहीं हो पाते, जिस तरह पिंजरे में फँस जाने पर पक्षी उससे मुक्त नहीं हो पाता। ये लोग अपने भ्रान्त मतों का उपदेश देकर दूसरों को भी भ्रष्ट करते हैं और स्वयं भी भवसागर से पार नहीं होते। वे बुद्धिभ्रष्ट लोग कहते हैं—

यस्य बुद्धिर्न लिप्येत, हत्वा सर्वमिदं जगत्।
आकाशमिव पंकेन, नाऽसौ पापेन लिप्यते॥

अर्थात्—'जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह यदि सारे जगत् की हत्या कर दे तो भी वह उस पाप से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता, जैसे आकाश कीचड़ से लिप्त नहीं होता।'

इस प्रकार पाप और फिर उस पर पर्दा—यह दोहरा पाप करने के कारण ईश्वरकारणतावादी या आत्माद्वैतवादी विषय-भोगों या पापों में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फँसकर वा उक्त मिथ्या मान्यताओं के शिकार बनकर कर्मक्षयरूप मोक्ष की प्रगति को बीच में ही ठप्प कर देते हैं।

ईश्वरकारणतावादी या आत्माद्वैतवादी तीसरे पुरुष का निरूपण करने के पश्चात् अब चौथे पुरुष—नियतिवादी के मन्तव्य का निरूपण करते हैं—

मूल पाठ

अहावरे चउत्थे पुरिसजाए णियइवाइए त्ति आहिज्जइ। इह खलु पाईणं वा ६ तहेव जाव सेणावइपुत्ता वा, तेसिं च णं एगइए सड्ढी भवइ, कामं तं समणा य माहणा य संपहारिंसु गमणाए जाव मए एस धम्मे सुयक्खाए सुपन्नत्ते भवइ। इह खलु दुवे पुरिसा भवंति। एगे पुरिसे किरियमाइक्खइ, एगे पुरिसे णो किरियमाइक्खइ। जे य पुरिसे किरियमाइक्खइ जे य पुरिसे णो किरियमाइक्खइ दोवि ते पुरिसा तुल्ला एगट्ठा कारणमावन्ना। बाले पुण एवं विप्पडिवेदेंति, कारणमावन्ने अहमंसि दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पीडामि वा परितप्पामि वा अहमेयमकासि परो वा, जं दुक्खइ वा सोयइ वा जूरइ वा तिप्पइ वा पीडइ वा परितप्पइ वा परो एवमकासि। एवं से बाले सकारणं वा परकारणं वा एवं विप्पडिवेदेंति कारणमावन्ने। मेहावी पुण एवं विप्पडिवेदेंति कारणमावन्ने—अहमंसि दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पीडामि वा परितप्पामि वा, णो अहं एवमकासि परो वा जं दुक्खइ वा जाव परितप्पइ वा णो परो एवमकासि एवं से मेहावी सकारणं वा परकारणं वा एवं विप्पडिवेदेंति कारणमावन्ने—से बेमि पाईणं वा ६ जे तसथावरा पाणा ते एवं संघायमागच्छंति, ते एवं विपरियासमावज्जंति, ते एवं विवेगमागच्छंति, ते एवं विहाणमागच्छंति, ते एवं संगतियंति उवेहाए, णो एवं विप्पडिवेदेंति, तं जहा—किरियाइ वा जाव णिरएइ वा अणिरएइ वा, एवं ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारभंति भोयणाए। एवमेव ते अणारिया विप्पडिवन्ना तं सद्दहमाणा जाव इति ते णो हव्वाए णो पाराए अंतरा कामभोगेसु विसण्णा। चउत्थे पुरिसजाए णियइवाइए त्ति आहिए।

इच्चेए चत्तारि पुरिसजाया णाणापन्ना णाणाछंदा णाणासीला णाणादिट्ठी णाणारुई णाणारंभा णाणाअज्झवसाणसंजुत्ता पहीणपुव्वसंजोगा आरियं मग्गं असंपत्ता इति ते णो हव्वाए णो पाराए अंतरा कामभोगेसु विसण्णा ॥ सू० १२ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

अथापरश्चतुर्थः पुरुषः नियतिवादिक इत्याख्यायते। इह खलु प्राच्यां वा ६ तथैव यावत् सेनापतिपुत्राः। तेषां च खलु एकतयः श्रद्धावान् भवति, कामं तं श्रमणाश्च माहनाश्च सम्प्रधार्ष्टुः गमनाय। यावद् मया एष धर्मः स्वाख्यातः सुप्रज्ञप्तो भवति। इह खलु द्वौ पुरुषौ भवतः, एकः क्रियामाख्याति एकः पुरुषो नो क्रियामाख्याति। यश्च पुरुषः क्रियामाख्याति, यश्च पुरुषः नो क्रियामाख्याति द्वावपि तौ पुरुषौ तुल्यौ एकार्थौ एककारणमापन्नौ। बालः पुनरेवं विप्रतिवेदयति—कारणमापन्नोऽहमस्मि दुःख्यामि वा शोचामि वा गर्हामि वा तेपामि वा पीड्ये वा परितप्ये वा अहमेवमकार्षम्। परो वा यद् दुःख्यति वा शोचति वा गर्हयते वा तेपति वा पीड्यति वा परितप्यते वा परः एवमकार्षीत्। एवं स बालः स्वकारणं वा परकारणं वा एवं विप्रतिवेदयति कारणमापन्नः। मेधावी पुनरेवं विप्रतिवेदयति कारणमापन्नः अहमस्मि दुःख्यामि वा शोचामि वा गर्हामि वा तेपामि वा पीड्ये वा परितप्ये वा नाहमेवमकार्षम्। परो वा यद् दुःख्यति यावत् परितप्यते वा न परः एवमकर्षीत्। एवं स मेधावी स्वकारणं वा परकारणं वा एवं विप्रतिवेदयति कारणमापन्नः। अथ ब्रवीमि प्राच्यां वा ६ ये त्रस-स्थावराः प्राणास्ते एवं संघातमागच्छन्ति, ते एवं विपर्य्यासमाव्रजन्ति, ते एवं विवेकमागच्छन्ति, ते एवं विधानमागच्छन्ति, ते एवं संगतिं यन्ति उत्प्रेक्षया। नो एवं विप्रतिवेदयन्ति तद्यथा क्रियादिर्वा यावत निरय इति वा अनिरय इति वा। एवं ते विरूपरूपैः कर्मसमारम्भैः विरूपरूपान् कामभोगान् समारभन्ते भोगाय एवमेव ते अनार्याः विप्रतिपन्नाः तत् श्रद्दधानाः यावदिति ते नोऽर्वाचे नो पाराय अन्तरा कामभोगेषु विषण्णाः। चतुर्थः पुरुषः नियतिवादिक इत्याख्यातः।

इत्येते चत्वारः पुरुषजाताः नानाप्रज्ञाः नानाच्छन्दाः नानाशीलाः नानादृष्टयः नानारुचयः नानारम्भाः नानाऽध्यवसायसंयुक्ताः प्रहीणपूर्वसंयोगाः आर्य्यं मार्गमप्राप्ता इति नोऽर्वाचे नो पाराय अन्तरा कामभोगेषु विषण्णाः॥ सू० १२॥

अन्वयार्थ

(अहावरे चउत्थे पुरिसजाए णियइवाइए त्ति आहिज्जइ) तीन पुरुषों का वर्णन करने के पश्चात् अब नियतिवादिक नामक चौथे पुरुष का वर्णन किया जाता है। **(इह खलु पाईणं वा ६ तहेव जाव सेणावइपुत्ता वा)** इस मनुष्य लोक में पूर्व आदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिशा के वर्णन से लेकर सेनापतिपुत्र तक का वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए, (**तेसिं च णं एगइए सड्ढी भवइ**) पूर्वोक्त राजा तथा उसके सभासदों में से कोई एकाध पुरुष ही धर्म श्रद्धालु होता है। (**कामं तं गमणाए समणा य माहणा य संपहारिंसु**) उसे धर्म-श्रद्धालु जानकर उसके निकट (धर्मोपदेशार्थ) जाने का श्रमण और माहन निश्चय करते हैं। (**जाव मए एस सुयक्खाए धम्मे सुपन्नत्ते भवइ**) वे उसके पास जाकर कहते हैं—मैं आपको सच्चे धर्म का उपदेश करता हूँ, उसे आप सावधान होकर सुनिए।

(**इह खलु दुवे पुरिसा भवंति**) इस लोक में दो प्रकार के पुरुष होते हैं। (**एगे पुरिसे किरियमाइक्खइ**) एक पुरुष क्रिया का कथन करता है, (**एगे पुरिसे णो किरियमाइक्खइ**) जबकि दूसरा पुरुष क्रिया का कथन नहीं करता, अर्थात् क्रिया का निषेध करता है। (**जे य पुरिसे किरियमाइक्खइ, जे य पुरिसे णो किरियमाइक्खइ दो वि ते तुल्ला एगट्ठाकारणमावन्ना**) जो पुरुष क्रिया का कथन करता है और जो पुरुष क्रिया का निषेध करता है, वे दोनों ही समान हैं, तथा वे दोनों एक अर्थ वाले और एक कारण को प्राप्त हैं। (**बाले**) वे दोनों ही मूर्ख हैं। (**कारणमावन्ने एवं विप्पडिवेदेंति**) वे अपने सुख-दुःख के कारण काल, कर्म तथा ईश्वर आदि को मानते हुए यह समझते हैं कि (**अहमंसि दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पीडामि वा परितप्पामि वा अहमेयमकासी**) मैं जो दुःख भोग रहा हूँ, शोक पा रहा हूँ, दुःख से आत्मगर्हा (पश्चात्ताप) कर रहा हूँ, या शारीरिक बल का नाश कर रहा हूँ या पीड़ा पा रहा हूँ या संतप्त हो रहा हूँ ये सब मेरे कर्मों के फल हैं। तथा (**परो वा जं दुक्खइ वा सोयइ वा जूरइ वा तिप्पइ वा पीडइ वा परितप्पइ वा परो एवमकासि**) दूसरा जो दुःख भोगता है, शोक करता है, आत्मनिन्दा करता है, शारीरिक बल का क्षय करता है, पीड़ित होता है, या संतप्त होता है, वे सब उसके कर्म के फल हैं। (**एवं कारणमावन्ने से बाले सकारणं वा परकारणं वा एवं विप्पडिवेदेंति**) इस प्रकार वह अज्ञजीव काल, कर्म, ईश्वर आदि को सुख-दुःख का कारण मानता हुआ अपने तथा दूसरे के दुःख-सुख को अपने तथा दूसरे के द्वारा किये हुए कर्मों का फल समझता है। (**कारणमावन्ने मेहावी पुण एवं विप्पडिवेदेंति**) परन्तु एकमात्र नियति को ही समस्त पदार्थों का कारण मानने वाला बुद्धिमान पुरुष तो यह समझता है कि (**अहमंसि दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पीडामि वा परितप्पामि वा णो अहमेव-मकासि**) मैं जो दुःख भोगता हूँ, शोकमग्न होता हूँ, आत्मनिन्दा करता हूँ, शारीरिक बल नष्ट करता हूँ, पीड़ित होता हूँ, संतप्त होता हूँ, ये सब मेरे कर्मों के फल नहीं हैं, (**परो वा जं दुक्खइ वा जाव परितप्पइ वा णो परो एवमकासी**) तथा दूसरा पुरुष जो दुःख पाता है शोक आदि से संतप्त, पीड़ित होता है, वह भी उसके कर्म का फल नहीं है, किन्तु यह सब नियति का प्रभाव है। (**एवं से मेहावी सकारणं वा परकारणं**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वा एवं विप्पडिवेदेंति कारणमावन्ने) इस प्रकार वह बुद्धिमान् पुरुष अपने या दूसरे के दुःख आदि को यों मानता है कि यह सब नियतिकृत हैं, किसी दूसरे कारण से नहीं। (**से बेमि पाईणं वा ६ जे तस-थावरा पाणा ते एवं संघायमागच्छंति**) अतः मैं (नियतिवादी) कहता हूँ कि पूर्व आदि दिशाओं में रहने वाले जो त्रस एवं स्थावर प्राणी हैं, वे नियति के प्रभाव से ही औदारिक आदि शरीर की रचना को प्राप्त करते हैं (**ते एवं विपरियासमावज्जंति**) वे इस नियति के कारण ही बाल्य, युवा एवं वृद्ध अवस्था को प्राप्त करते हैं, (**ते एवं विवेगमागच्छंति**) वे नियति के वश ही शरीर से पृथक् (मरणशरण) हो जाते हैं, (**ते एवं विहाणमागच्छंति**) नियति के कारण ही वे काना, कुबड़ा आदि नाना प्रकार की दशाओं को प्राप्त करते हैं, (**ते एवं संगतियंति**) नियति के प्रभाव से वे नाना प्रकार के सुख-दुःखों का संग प्राप्त करते हैं। (**उवेहाए णो एवं विप्पडिवेदेंति**) श्री सुधर्मा स्वामी श्री जम्बू स्वामी से कहते हैं—इस प्रकार नियति को ही समस्त कार्यों का कारण मानने वाले नियतिवादी आगे कही जाने वाली बातों को नहीं मानते—(**किरियाइ वा जाव णिरएइ वा अणिरएइ वा**) क्रिया, अक्रिया से लेकर प्रथम सूत्रोक्त नरक तथा नरक से भिन्न तक के पदार्थों को नियतिवादी नहीं मानते। (**एवं ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं भोयणाए विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारभंति**) इस प्रकार वे नियतिवाद के चक्कर में पड़े हुए लोग नाना प्रकार के सावद्य कर्मों का अनुष्ठान करके काम-भोग का आरम्भ करते हैं। (**तं सद्दहमाणा ते अणारिया विप्पडिवन्ना**) उस नियतिवाद में श्रद्धा रखने वाले वे नियतिवादी अनार्य हैं, वे भ्रम पड़े हैं। (**ते णो हव्वाए णो पाराए**) वे न तो इस लोक के होते हैं, और न ही परलोक के होते हैं, (**अंतरा कामभोगेसु विसण्णा**) अपितु वे कामभोगों में फँसकर कष्ट भोगते हैं। (**चउत्थे पुरिसजाए णियइवाइए त्ति आहिए**) यह चौथे पुरुष—नियतिवादी का वर्णन हुआ।

(**इच्चेए चत्तारि पुरिसजाया णाणापन्ना णाणाछंदा णाणासीला णाणादिट्ठी णाणारुई णाणारंभा णाणाअज्झवसाणसंजुत्ता**) इस प्रकार ये पूर्वोक्त चार पुरुष भिन्न-भिन्न बुद्धि वाले, विभिन्न अभिप्राय वाले, भिन्न-भिन्न आचार वाले, पृथक्-पृथक् दृष्टि (दर्शन) वाले, अलग-अलग रुचि वाले, भिन्न-भिन्न आरम्भ वाले तथा अलग-अलग निश्चय वाले हैं। (**पहीणपुव्वसंजोगा**) इन्होंने अपने माता-पिता आदि पूर्व संयोगों को भी छोड़ दिया है, (**आरियं मग्गं असंपत्ता**) किन्तु आर्य-मार्ग को अभी तक पाया नहीं है, (**इति ते णो हव्वाए णो पाराए अंतरा कामभोगेसु विसण्णा**) इस कारण वे न तो इस लोक के रहते हैं, और न ही परलोक के होते हैं, किन्तु बीच में ही नाना प्रकार के कामभोगों में फँसे कष्ट पाते हैं।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

व्याख्या

चौथा पुरुष नियतिवादी : एक विश्लेषण

तीन पुरुषों के वर्णन के पश्चात् अब चौथे पुरुष का इस सूत्र में वर्णन किया जाता है। चौथा पुरुष नियतिवादी कहलाता है। इसकी उत्थानिका पूर्वसूत्रवत् है। यानी **'इह खलु'** से लेकर **'सुअक्खाए सुपन्नत्ते भवइ'** तक पूर्ववत् वर्णन समझ लेना चाहिए। तथाकथित श्रमण या माहन किसी विशिष्ट भक्त अनुयायी को नियतिवाद-रूप धर्म को ही सत्य बताकर उसी का उपदेश इस प्रकार करते हैं—इस जगत् में समस्त पदार्थों का कारण नियति है। जो बात अवश्य होने वाली है, उसे नियति या होनहार कहते हैं। वही सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण आदि का कारण है। यह नियतिवादियों का मन्तव्य है। एक नीति का श्लोक इसी बात को स्पष्ट करता है—

प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा।
भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्यं भवति, न भाविनोऽस्तिनाशः॥

अर्थात्—"नियति के प्रभाव से भला-बुरा जो मनुष्य को प्राप्त होना निश्चित है, वह अवश्य ही उसे प्राप्त होता है। मनुष्य चाहे जितना प्रयत्न करे, परन्तु जो होनहार नहीं है, वह नहीं होता, और जो होनहार है, वह हुए बिना नहीं रहता।"

जब हम यह देखते हैं कि बहुत-से मनुष्य अपने-अपने मनोरथ की सिद्धि के लिए समान रूप से प्रयोग करते हैं, परन्तु किसी के कार्य की सिद्धि होती है और किसी के कार्य की नहीं होती, तब निःसन्देह यह मानना पड़ता है कि मनुष्य के कार्य या अकार्य की सिद्धि या असिद्धि नियति के हाथ में है। अतः नियति को छोड़कर काल, ईश्वर, कर्म आदि को सुख-दुःख आदि का कारण मानना अज्ञान है। मगर अज्ञानी जीव इसे समझते नहीं हैं। उन्हें जब कभी सुख या दुःख प्राप्त होता है, तब वे कहा करते हैं—यह सुख या दुःख मेरे कर्मों के प्रभाव से मुझे प्राप्त हो रहा है, अथवा काल के प्रभाव से यह सुख या दुःख प्राप्त होता है, अथवा यह सुख या दुःख मुझे ईश्वर के द्वारा मिल रहा है। तथा जब किसी दूसरे को सुख या दुःख प्राप्त होता है, तब भी वे यही मानते हैं कि ये दूसरे के कर्म, काल या ईश्वर के प्रभाव से प्राप्त हुए हैं, वास्तव में यह मन्तव्य समीचीन नहीं है। क्योंकि सब कुछ नियति के प्रभाव से ही प्राणी को प्राप्त होता है; काल, कर्म या ईश्वर आदि के प्रभाव से नहीं। इस कारण विवेकी नियतिवादी पुरुष सुख-दुःख आदि की प्राप्ति होने पर यह मानता है कि मैं जो सुख या दुःख प्राप्त करता हूँ, वह मेरे द्वारा किये हुए कर्मों का फल नहीं है, तथा दूसरा भी जो कुछ सुख-दुःख पाता है, वह भी उसके द्वारा कृतकर्मों का फल नहीं है; किन्तु नियति इसका कारण है।

इस जगत् में दो प्रकार के पुरुष पाये जाते हैं—एक क्रियावादी, और दूसरा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अक्रियावादी। ये दोनों ही नियति के हाथ के कठपुतले हैं। ये स्वतन्त्र नहीं हैं। नियति की प्रेरणा से ही क्रियावादी क्रिया का समर्थन करता है, और अक्रियावादी अक्रिया का प्रतिपादन करता है। नियति के अधीन होने के कारण हम (नियतिवादी) इन दोनों को बराबर ही समझते हैं। इस जगत् में कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जिसे अपनी आत्मा अप्रिय हो। ऐसी दशा में कौन प्राणी अपनी आत्मा को कष्ट देने वाली क्रिया में प्रवृत्त होगा? परन्तु कष्ट मिलता है। अतएव यह सिद्ध होता है कि नियति की प्रेरणा से ही जीव को दुःखजनक क्रिया में प्रवृत्ति करनी पड़ती है। जीव स्वाधीन नहीं है, वह नियति के वशीभूत है। नियति की प्रेरणा से ही जीव को सुख-दुःख मिलते हैं। तथा शुभ कार्य करने वाले दुःखी और अशुभ कृत्य करने वाले सुखी देखे जाते हैं, इससे भी नियति की प्रबलता सिद्ध होती है।

इस प्रकार का प्रतिपादन करके नियतिवादी क्रिया, अक्रिया, पुण्य, पाप, सुकृत, दुष्कृत आदि का कोई विचार नहीं करते। परलोक या पाप के दण्ड का भय न होने के कारण वे बेखटके नाना प्रकार के सावद्य कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, शब्दादि विषयभोगों में बेधड़क प्रवृत्त होते हैं। अपने सुखभोग के लिए वे बुरे से बुरे कृत्य करने में नहीं हिचकिचाते। इन बुरे और पापजनक कर्मों में प्रवृत्त होने के कारण वे आर्य की कोटि में नहीं रहते। एकान्तवादी तथा विपरीत श्रद्धा वाले वे लोग न इधर के रहते हैं, न उधर के; बीच में ही काम-भोगों से आसक्त हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि नियतिवादी लोग न अपना इहलोक सुधार पाते हैं और न परलोक सुधार सकते हैं। दोनों ओर से भ्रष्ट हो जाते हैं।

वास्तव में एकान्त नियतिवाद युक्तिसंगत न होने के कारण ठीक नहीं है। नियतिवाद इसलिए युक्तिविरुद्ध है कि नियति उसे कहते हैं, जो वस्तु को उनके स्वभावों में नियत करती है। ऐसी स्थिति में वह यदि वस्तुओं को अपने-अपने स्वभावों में नियत करती है तो फिर नियति को नियति के स्वभाव में नियत रखने के लिए उस नियति से भिन्न एक दूसरी नियति और माननी चाहिए, अन्यथा वह नियति दूसरी नियति की सहायता के बिना अपने स्वभाव में किस तरह नियत रह सकती है? यदि कहो कि नियति अपने स्वभाव में अपने-आप ही नियत रहती है, उसे किसी दूसरी नियति की सहायता की आवश्यकता नहीं रहती तो इसी तरह यह भी मान लो कि सभी पदार्थ अपने-अपने स्वभाव में स्वयमेव नियत रहते हैं। इसलिए उन्हें अपने स्वभाव में नियत करने के लिए नियति नामक किसी दूसरे पदार्थ की कोई आवश्यकता नहीं है।

नियतिवादी ने जो यह कहा है कि 'क्रियावादी और अक्रियावादी दोनों ही नियति के अधीन होकर क्रियावाद और अक्रियावाद का समर्थन करते हैं, इसलिए ये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोनों ही समान हैं'; उसका यह कथन सर्वथा युक्तिविरुद्ध है। क्योंकि क्रियावादी क्रियावाद का समर्थन करता है और अक्रियावादी अक्रियावाद का निरूपण करता है, इसलिए इनकी भिन्नता स्पष्ट होने से किसी भी प्रकार की तुल्यता नहीं है। यदि कहें कि ये दोनों नियति के वशीभूत होने के कारण तुल्य हैं तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि नियति की सिद्धि किये बिना इन दोनों पुरुषों का नियति के वश में होना सिद्ध नहीं होता। और नियति की सिद्धि पूर्वोक्त रीति से होना सम्भाव नहीं है। अतः क्रियावादी और अक्रियावादी को नियति के अधीन कहना युक्तिविरुद्ध है।

प्राणी अपने किये हुए कर्मों का फल नहीं भोगता है, यह कथन भी सर्वथा असंगत है, क्योंकि ऐसा होने पर तो जगत् की विचित्रता हो ही नहीं सकती। प्राणिवर्ग अपने-अपने कर्मों की भिन्नता के कारण ही भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं, परन्तु कर्मों का फल न मानने पर यह नहीं हो सकता। नियति भी नियत स्वभाव वाली होने के कारण विचित्र जगत् की उत्पत्ति नहीं कर सकती। यदि वह विचित्र जगत् की उत्पत्ति करने लगेगी तो वह भी विचित्र स्वभाव वाली सिद्ध होगी, एक-स्वभाव वाली नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में तो नाम मात्र का ही भेद होगा। क्योंकि हम जिसे कर्म कहते हैं, उसे ही तुम नियति कहते हो, पदार्थ में तो कोई अन्तर नहीं रहा। विद्वानों ने ठीक ही कहा है—

यदिह क्रियते कर्म तत् परत्रोपभुज्यते।
मूलसिक्तेषु वृक्षेषु फलं शाखासु जायते ॥१॥
यदुपात्तमन्यजन्मनि शुभमशुभं वा स्वकर्म परिणत्या।
तच्छक्यमन्यथा नो कर्त्तुं देवासुरैरपि ॥२॥

अर्थात्—वृक्षों का मूल सींचने से जैसे उनकी शाखाओं में फल लगता है, इसी तरह इस जन्म में किये हुए कर्म का दूसरे जन्म में फल प्राप्त होता है। मनुष्य ने पूर्वजन्म में अपने कर्मों के परिणाम से जो शुभाशुभ कर्म संचित किया है, उसे देवता और असुर कोई भी अन्यथा नहीं कर सकता। अतः कर्म को न मानना और नियति को सबका कारण कहना मिथ्या है।

शास्त्रकार कहते हैं कि चौथे पुरुष नियतिवादी सहित ये चारों कोटि के पुरुष (नियतिवादी तथा पूर्वोक्त ईश्वरकर्तृत्ववादी, आत्माद्वैतवादी, पंचमहाभूतिक और शरीरात्मवादी) पृथक्-पृथक् बुद्धि, अभिप्राय, शील-आचार, भिन्न-भिन्न दृष्टि, रुचि, आरम्भ और निश्चय वाले हैं। ये चारों प्राणातिपात आदि का आरम्भ करने वाले हैं। ये चारों वाद मिथ्या हैं, तथापि प्रबल मोहनीय कर्म के उदय से इनमें आसक्त होकर अधर्म को भी धर्म समझते हैं, और तदनुसार विषयभोगरूपी कीचड़ में फँसकर स्वयं कष्ट भोगते हैं और दूसरों को भी दुःखी बनाते हैं। ये चारों ही कोटि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के पुरुष यद्यपि माता-माता आदि पूर्वकालीन सम्बन्धों का त्याग कर चुकते हैं, तथापि वे आर्य—मोक्ष मार्ग—तीर्थंकरोक्त मार्ग को प्राप्त नहीं हुए या होते हैं, इस कारण चारों ही पुरुष उत्तम श्वेतकमल के समान राजा आदि का पुष्करिणीरूपी संसार से उद्धार नहीं कर सकते, न स्वयं का ही सुधार या उद्धार कर पाते हैं। कामभोगों में फँसकर संसार चक्र—परिभ्रमणरूप दुःख के भागी होते हैं।

सारांश

इस सूत्र में नियतिवादिक नामक चतुर्थ पुरुष का वर्णन किया गया है। नियतिवादी कर्म, काल, ईश्वर आदि को न मानकर एकमात्र नियति को ही जगत् के समस्त पदार्थों का एकमात्र कारण मानते हैं। वे कहते हैं कि कर्म आदि को प्रत्येक सुख या दुःख का कारण मानने वाले रात-दिन चिन्तित, दुःखित रहते हैं, परन्तु नियतिवाद को मानने वाले प्रत्येक सुख-दुःख आदि का कारण नियति को मानते हैं, इससे उन्हें दुःख नहीं होता, न परलोक बनाने की फिक्र होती है, जो कुछ निश्चित होता है, वही मिलता है। परन्तु नियतिवाद का सिद्धान्त युक्तिविरुद्ध एवं भ्रान्त होने से इसे अपनाने वाला पुरुष दोनों लोकों को बिगाड़ लेता है। वह विषयभोगों का मनमाना सेवन करके यहीं फँसा रहता है। मोक्ष नहीं पा सकता।

चारों पुरुषों का वर्णन करने के बाद अब शास्त्रकार पाँचवें पुरुष निःस्पृह भिक्षु के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

मूल पाठ

से बेमि पाईणं वा ६ संतेगइया मणुस्सा भवंति, तं जहा—आरिया वेगे अणारिया वेगे उच्चागोया वेगे णीयागोया वेगे कायमंता वेगे हस्समंता वेगे सुवन्ना वेगे दुवन्ना वेगे सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे तेसिं च णं जणजाणवयाइं परिग्गहियाइं भवंति, तं जहा—अप्पयरा वा भुज्जयरा वा, तहप्पगारेहिं कुलेहिं आगम्म अभिभूय एगे भिक्खायरियाए समुट्ठिता सतो वावि एगे णायओ य अणायओ य उवगरणं च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिता, असतो वावि एगे णायओ य अणायओ य उवगरणं च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिता। जे ते सतो वा असतो वा णायओ य अणायओ य उवगरणं च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिता। पुव्वमेव तेहिं णायं भवइ, तं जहा—इह खलु पुरिसे अन्नमन्नं ममट्ठाए एवं विप्पडिवेदेति, तं जहा—खेत्तं मे वत्थू मे हिरण्णं मे सुवन्नं मे धणं मे धण्णं मे कंसं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मे दूसं मे विउलधणकणगरयणमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालरत्तरयणसंतसार-सावतेयं मे सद्दा मे रूवा मे गंधा मे रसा मे फासा मे एए खलु मे कामभोगा अहमवि एएसिं।

से मेहावी पुव्वामेव अप्पणा एवं समभिजाणेज्जा, तं जहा—इह खलु मम अन्नयरे दुक्खे रोयातंके समुप्पज्जेज्जा अणिट्ठे अकंते अप्पिए असुभे अमणुन्ने अमणामे दुक्खे णो सुहे से हंता भयंतारो ! काम-भोगाइं मम अन्नयरं दुक्खं रोयातंकं परियाइयह अणिट्ठं अकंतं अप्पियं असुभं अमणुन्नं अमणामं दुक्खं णो सुहं, ताऽहं दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पीडामि वा परितप्पामि वा इमाओ मे अण्ण-यराओ दुक्खाओ रोयातंकाओ पडिमोयह अणिट्ठाओ अकंताओ अप्पियाओ असुभाओ अमणुन्नाओ अमणामाओ दुक्खाओ णो सुहाओ एवामेव णो लद्धपुव्वं भवइ, इह खलु कामभोगा णो ताणाए वा णो सरणाए वा, पुरिसे-वा एगया पुव्विं कामभोगे विप्पजहति, कामभोगा वा एगया पुव्विं पुरिसं विप्पजहंति, अन्ने खलु कामभोगा अन्नो अहमंसि, से किमंग पुण वयं अन्नमन्नेहिं कामभोगेहिं मुच्छामो ? इति संखाए णं वयं च कामभोगेहिं विप्पजहिस्सामो, से मेहावी जाणेज्जा बहिरंगमेयं, इणमेव उवणीय तरागं तं जहा—माया मे पिया मे भाया मे भगिणी मे भज्जा मे पुत्ता मे धूया मे पेसा मे नत्ता मे सुण्हा मे सुहा मे पिया मे सहा मे सयणसंगंथसंथुआ मे, एए खलु मम णायओ अहमवि एएसिं, एवं से मेहावी पुव्वामेव अप्पणा एवं समभिजाणेज्जा, इह खलु मम अन्नयरे दुक्खे रोयातंके समुपज्जेज्जा अणिट्ठे जाव दुक्खे णो सुहे, से हंता भयंतारो ! णायओ इमं मम अन्नयरं दुक्खं रोयातंकं परियाइयह अणिट्ठं जाव णो सुहं, ताऽहं दुक्खामि वा सोयामि वा जाव परितप्पामि वा, इमाओ मे अन्नयराओ दुक्खाओ रोया-तंकाओ परिमोएह अणिट्ठाओ जाव णो सुहाओ, एवमेव णो लद्धपुव्वं भवइ, तेसिं वावि भयंताराणं मम णाययाणं अन्नयरे दुक्खे रोयातंके समुपज्जेज्जा अणिट्ठे जाव णो सुहे, से हंता अहमेतेसिं भयंताराणं णाययाणं इमं अन्नयरं दुक्खं रोयातंकं परियाइयामि अणिट्ठं जाव णो सुहे, मा मे दुक्खंतु वा जाव मा मे परितप्पंतु वा, इमाओ णं अण्णयराओ दुक्खाओ रोयातंकाओ परिमो-एमि अणिट्ठाओ जाव णो सुहाओ, एवमेव णो लद्धपुव्वं भवइ, अन्नस्स दुक्खं अन्नो न परियाइयइ, अन्नेण कडं अन्नो नो पडिसंवेदेइ, पत्तेयं जायइ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पत्तेयं मरइ पत्तेयं चयइ पत्तेयं उववज्जइ पत्तेयं झंझा पत्तेयं सन्ना पत्तेयं मन्ना एवं विन्नू वेदणा, इह खलु णाइसंजोगा णो ताणाए वा णो सरणाए वा, पुरिसे वा एगया पुव्विं णाइसंजोए विप्पजहइ, णाइसंजोगा वा एगया पुव्वि पुरिसं विप्पजहंति, अन्ने खलु णाइसंजोगा अन्नो अहमंसि, से किमंग पुण वयं अन्तमन्नेहिं णाइसंजोगेहिं मुच्छामो ? इइ संखाए णं वयं णाइसंजोगं विप्पजहिस्सामो। से मेहावी जाणेज्जा बहिरंगमेयं, इणमेव उवणीय तरागं, तं जहा—हत्था मे पाया मे बाहा मे उरू मे उदरं मे सीसं मे सीलं मे आऊ मे बलं मे वण्णो मे तया मे छाया मे सोयं मे चक्खू मे घाणं मे जिब्भा मे फासा मे ममाइज्जइ वयाउ परिजूरइ, तं जहा—आउओ बलाओ वण्णाओ तयाओ छायाओ सोयाओ जाव फासाओ सुसंधितो संधी विसंधी भवइ, वलियतरंगे गाए भवइ, किण्हा केसा पलिया भवंति तं जहा—जंपि य इमं सरीरगं उरालं आहारोवइयं एयंपि य अणुपुव्वेणं विप्पजहियव्वं भविस्सइ, एयं संखाए से भिक्खू भिक्खायरियाए समुट्ठिए दुहओ लोगं जाणेज्जा, तं जहा—जीवा चेव अजीवा चेव तसा चेव थावरा चेव ॥ सू० १३ ॥

संस्कृत छाया

अथ ब्रवीमि प्राच्यां वा ६ सन्ति एकतये मनुष्याः भवन्ति, तद्यथा—आर्या वैके, अनार्या वैके, उच्चगोत्राः वैके, नीचगोत्राः वैके, कायवन्तो वैके, ह्रस्ववन्तो वैके, सुवर्णा वैके, दुर्वणा वैके, सुरूपाः वैके, दुरूपाः वैके, तेषां च खलु जनजानपदाः परिगृहीता भवन्ति, तद्यथा—अल्पतराः वा भूयस्तराः वा। तथाप्रकारेषु कुलेषु आगत्य अभिभूय एके भिक्षाचर्यायामुपस्थिताः। सतोवाऽपि एके ज्ञातीन् च अज्ञातीन् च उपकरणं च विप्रहाय भिक्षाचर्यायां समुत्थिताः असतो वाऽप्येके ज्ञातीन् च अज्ञातीन् च उपकरणं च विप्रहाय भिक्षाचर्यायां समुत्थिताः। ये ते सतो वा असतो वा ज्ञातीन् च अज्ञातीन् च उपकरणं विप्रहाय भिक्षाचर्यायां समुत्थिताः। पूर्वमेव तैर्ज्ञातं भवति, तद्यथा—इह खलु पुरुषः अन्यदन्यत् मदर्थाय एवं विप्रतिवेदयति, तद्यथा—क्षेत्रं मे वास्तुं मे हिरण्यं मे सुवर्णं मे धनं मे धान्य मे कांस्यं मे दूष्यं मे विपुल धन-कनक-रत्न-मणि-मौक्तिक-शंख-शिला-प्रवाल-रक्त-रत्नसत्सारस्वापतेयं मे शब्दाः मे रूपाणि मे रसाः मे स्पर्शाः मे एते खलु मे कामभोगाः, अहमपि एतेषाम्। अथ मेधावी पूर्वमेव आत्मना एवं समभिजानीयात् तद्यथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—इह खलु ममान्यतरद् दुःखं रोगातंकः समुत्पद्येत् अनिष्टः अकान्तः अप्रियः अशुभः अमनोज्ञः अवनामः दुःखं नो सुखं तद् हन्त ! भयत्रातारः ! कामभोगाः ममान्यतरद् दुःखं रोगातंकं विभज्य गृह्णीत अनिष्टमकान्तमप्रियमशुभममनोज्ञमवनामम् दुःखं, नो सुखं तदहं दुःख्यामि वा शोचामि वा जूरामि वा तिप्यामि वा पीड्ये वा परितप्ये वा अस्मान् मेऽन्यतराद् दुःखाद् रोगातंकात् प्रतिमोचयत अनिष्टात् अकान्तादप्रियादशुभादमोज्ञादवनामाद् दुःखान्नो सुखात् । एवमेव नो लब्धपूर्वो भवतिः इह खलु कामभोगाः नो त्राणाय वा नो शरणाय वा पुरुषो वा एकदा पूर्वकामभोगान् विप्रजहाति, कामभोगाः वा एकदा पूर्वं पुरुषं विप्रजहाति, अन्यः खलु कामभोगाः अन्योऽहमस्मि, तत् किमंग पुनर्वयमन्यान्येषु कामभोगेषु मूच्छिमः इति संख्याय खलु वयं कामभोगान् विप्रहास्यामः । अथ मेधावी जानीयाद् बहिरंगमेतद् इदमेवोपनीततरम्, तद्यथा —माता मे पिता मे भ्राता मे भगिनी मे भार्या मे पुत्राः मे दुहितारो मे प्रेष्याः मे नप्ता मे स्नुषा मे सुहृन्मे प्रियो मे सखा मे स्वजनसंग्रन्थसंस्तुता मे । एते मम ज्ञातयोऽहमप्येतेषाम्, एवं स मेधावी पूर्वमेव आत्मना एवं समभिजानीयात्—इह खलु ममान्यतरद् दुःखं रोगातंको वा समुत्पद्येत अनिष्टो यावद् दुःखं, नो सुखं तद् हन्त ! भयत्रातारो ज्ञातयः ! इदं ममान्यतरद् दुःखं रोगातंकं वा पर्यादत्त (विभज्य विभज्य गृह्णीत) अनिष्टं यावद् नो सुखम् । तदहं दुःख्यामि वा शोचामि वा यावत् परितप्ये अस्मान् मे अन्यतरस्माद् दुःखाद् रोगातंकात् परिमोचयत अनिष्टाद् यावन्नो सुखात् । एवमेव नो लब्धपूर्वो भवति । तेषां वाऽपि भयत्रातॄणां मम ज्ञातीनामन्यतरद् दुःखं रोगातंकं समुत्पद्येत अनिष्टं यावन्नो सुखम् तद् हन्त ! अहमेतेषां भयत्रातॄणां ज्ञातीनामिदमन्यतरद् दुःखं रोगातंकं वा पर्याददे (विभज्य गृह्णामि) अनिष्टं वा यावन्नो सुखं, मा मे दुःख्यन्तु वा यावन्मा मे परितप्यन्तु वा अस्माद् अन्यतरस्माद् दुःखाद् रोगातंकात् परिमोचयामि अनिष्टात् यावन्नो सुखात्, एवमेव नो लब्धपूर्वो भवति । अन्यस्य दुःखमन्यो न पर्यादत्ते (विभज्य गृह्णाति), अन्येन कृतमन्यो नो प्रतिसंवेदयति । प्रत्येकं जायते, प्रत्येकं म्रियते, प्रत्येकं त्यजति, प्रत्येकमुपपद्यते, प्रत्येकं झंझा, प्रत्येकं संज्ञा, प्रत्येकं मननम्, एवमेव विद्वान् वेदना, इह खलु ज्ञातिसंयोगा नो त्राणाय, नो शरणाय वा पुरुषो वा एकदा पूर्वं ज्ञातिसंयोगान् विप्रजहाति । ज्ञातिसंयोगाः वा एकदा पूर्वं पुरुषं विप्रजहति, अन्ये खलु ज्ञातिसंयोगाः अन्योऽहमस्मि । किमंग !

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुनर्वयमन्येषु ज्ञातिसंयोगेषु मूर्च्छामः, इति संख्याय वयं ज्ञातिसंयोगं विप्रहास्यामः। स मेधावी जानीयात् बहिरंगमेतत्, इदमेव उपनीततरं तद्यथा—हस्तौ मे पादौ मे बाहू मे उरू मे उदरं मे शीर्षं मे शीलं मे आयुर्मे बलं मे वर्णो मे त्वचा मे छाया मे श्रोत्रं मे चक्षुर्मे घ्राणं मे जिह्वा मे स्पर्शाः मे ममीकरोति (ममायते), वयसः परिजीर्यते। तद्यथा—आयुषोबलाद् वर्णात् त्वचः छायायाः श्रोत्राद् यावत् स्पर्शात् सुसन्धितः सन्धिर्विसन्धी भवति वलिततरंगः गात्रेषु भवति कृष्णाः केशाः पलिताः भवति, तद्यथा—यदपि च इदं शरीरम् उदारमाहारोपचितम्, एतदपि च आनुपूर्व्या विप्रहातव्यं भविष्यति। इदं संख्याय स भिक्षुः भिक्षाचार्यायां समुत्थितः द्विधा लोकं जानीयात्। तद्यथा—जीवाश्चैव अजीवाश्चैव त्रसाश्चैव स्थावराश्चैव ॥सू० १३॥

अन्वयार्थ

(**से बेमि**) श्री सुधर्मा स्वामी श्री जम्बू स्वामी से कहते हैं—मैं ऐसा कहता हूँ, (**पाईणं वा ६ संतेगइया मणुस्सा भवंति**) पूर्व आदि दिशाओं में नाना प्रकार के मनुष्य रहते हैं, (**तं जहा—आरिया वेगे, अणारिया वेगे, उच्चागोया वेगे, णीयागोया वेगे**) जैसे कि कोई आर्य होते हैं, कोई अनार्य होते हैं, कोई उच्चगोत्रीय और कोई नीच गोत्रीय होते हैं, (**वेगे कायमंता वेगे हस्समंता**) कई मनुष्य ऊँचा (लंबा) होता है, कोई ठिगने कद के होते हैं। (**वेगे सुवन्ना, वेगे दुवन्ना**) किसी के शरीर का वर्ण सुन्दर होता है, किसी का असुन्दर होता है। (**वेगे सुरूवा वेगे दुरूवा**) किसी का रूप मनोहर होता है, और किसी का रूप भद्दा होता है। (**तेसिं च जणजाणवयाइं परिग्गहियाइं भवंति**) उन मनुष्यों का लोक और जनपद देश सम्पत्ति (परिग्रह) होता है, (**अप्पयरा वा भुज्जयरा वा**) किसी का परिग्रह थोड़ा और किसी का अधिक होता है। (**एगे तहप्पगारेहिं कुलेहिं आगम्म भिक्खायरियाए समुट्ठिता**) इनमें से कोई पुरुष पूर्वोक्त कुलों में से किसी कुल में जन्म लेकर विषय-भोगों को छोड़कर भिक्षावृत्ति धारण करने के लिए उद्यत होते हैं। (**एगे सतो वा वि णायओ य अणाययो वा उवगरणं च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिता**) कई तो विद्यमान ज्ञाति वर्ग, धन-धान्य सम्पत्ति को छोड़कर भिक्षावृत्ति धारण करने के लिए तत्पर होते हैं, (**वेगे असतो वावि णायओ य अणाययो य उवगरणं च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिता**) और कोई अविद्यमान ज्ञातिवर्ग अज्ञातिवर्ग तथा धन-धान्य आदि सम्पत्ति का त्याग करके भिक्षावृत्ति धारण करने के लिए तैयार होते हैं। (**जे ते सतो वा असतो वा णायओ य अणायओ य उवगरणं च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिता पुव्वमेव तेसिं णायं भवइ**) जो विद्यमान ज्ञातिवर्ग तथा धन-धान्य सम्पत्ति का त्याग करके भिक्षावृत्ति धारण करने के लिए समुद्यत होते हैं अथवा जो अविद्यमान ज्ञातिवर्ग एवं धन-धान्य आदि सम्पत्ति को छोड़कर भिक्षावृत्ति ग्रहण करते हैं, इन दोनों को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहले से ही यह ज्ञात होता है कि (**इह खलु पुरिसे अन्नमन्नं ममट्ठाए एवं विप्पडिवेदेंति तं जहा**) इस मनुष्य लोक में पुरुषगण अपने से सर्वथा भिन्न पदार्थों को झूठमूठ ही अपने मानकर ऐसा अभिमान करते हैं, जैसे कि (**खेत्तं मे वत्थू मे हिरण्णं मे सुवन्नं मे धणं मे धण्णं मे कंसं मे दूसं मे**) यह खेत (या जमीन) मेरा है, यह मकान मेरा है, यह चाँदी मेरी है, या यह सोना मेरा है, यह धन मेरा है, यह धान्य मेरा है, यह कांसा मेरा है, यह लोहा या बढ़िया वस्त्र आदि मेरे हैं, (**विउल धणकणग-रयणमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालरत्तरयणसंतसारसावतेयं**) यह प्रचुर धन, यह बहुत-सा सोना, ये रत्न, मणि, मोती, शंखशिला, मूँगा, लाल, रत्न आदि उत्तमोत्तम मणि और पैतृक धन मेरे हैं। (**सद्दा मे रूवा मे गंधा मे रसा मे फासा मे**) ये श्रवण-प्रिय शब्द करने वाले वीणा, वेणु आदि साधन मेरे हैं, ये सुन्दर और रूपवान् आदि पदार्थ मेरे हैं, ये इत्र-तेल आदि सुगन्धित पदार्थ मेरे हैं, ये उत्तमोत्तम स्वादिष्ट रस वाले पदार्थ मेरे हैं, ये कोमल-कोमल स्पर्श वाले तोशक, गद्दे आदि मेरे हैं। (**एए खलु मे कामभोगा अहमवि एएसिं**) ये पूर्वोक्त पदार्थ समूह मेरे कामभोग के साधन हैं और मैं इनका उपभोग करने वाला हूँ। (**से मेहावी पुव्वमेव अप्पणा एवं समभिजाणेज्जा**) वह बुद्धिमान पुरुष पहले से ही (इनका उपभोग करने से पूर्व) ही यह जान-सोच लेता है, कि (**इह खलु मम अन्नयरे दुक्खे रोयातंके वा समुप्पज्जेज्जा**) इस संसार में जब मुझे कोई दुःख या रोग का उपद्रव उत्पन्न होता है, (**अणिट्ठे अकंते अप्पिए असुभे अमणुन्ने अमणामे दुक्खे णो सुहे**) जो मुझे इष्ट नहीं, मनोहर नहीं है, अप्रिय है, अशुभ है, अमनोज्ञ है, विशेष मनोव्यथा पैदा करता है, दुःखरूप है, सुखरूप नहीं है, (**से हंता भयंतारो कामभोगाइं मम अन्नयरं दुक्खं रोयातंकं परियाइयह अणिट्ठं अकंतं अप्पियं असुभं अमणुन्नं अमणामं दुक्खं, णो सुहं**) हे भय से रक्षा करने वाले मेरे धन-धान्य आदि कामभोगो ! मेरे इस अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ अत्यन्त दुःखद, दुःखरूप तथा असुखरूप रोग, आतंक आदि को तुम बाँटकर ले लो। (**ताऽहं दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पीडामि वा परितप्पामि वा**) क्योंकि मैं इस पीड़ा, रोग या आतंक से बहुत दुःखी हो रहा हूँ, मैं चिन्ता या शोक से व्याकुल हूँ, इनके कारण मैं आत्मनिन्दा या पछतावा कर रहा हूँ, मैं कष्ट पा रहा हूँ, बहुत ही वेदना महसूस कर रहा हूँ, (**इमाओ अणिट्ठाओ जाव दुक्खाओ, णो सुहाओ, मम अण्णयराओ दुक्खाओ रोयातंकाओ पडिमोयह**) अतः तुम सब मुझे इस अप्रिय, अनिष्ट, अमनोज्ञ, दुःखरूप या असुखरूप रोग, दुःख या पीड़ा से मुक्त करो। (**एवामेव णो लद्धपुव्वं भवइ**) तो वे (धन-धान्य आदि या ज्ञातिवर्ग आदि) कामभोग के साधन पदार्थ उक्त प्रार्थना को सुनकर दुःख से मुक्त करा दें, यह कभी नहीं होता। (**इह खलु कामभोगा णो ताणाए वा णो सरणाए वा**) वास्तव में धन-धान्य और क्षेत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि कामभोग के साधन या ज्ञातिजन उक्त प्रार्थना को सुनकर दुःख से छुड़ाने, रक्षा करने या शरण देने में समर्थ नहीं हैं। (**पुरिसे वा एगया पुव्विं कामभोगे विप्पजहाति**) कभी तो इन कामभोगों का उपभोग करने वाला पुरुष पहले ही इन (धन, धान्य, क्षेत्रादि) पदार्थों को छोड़कर चल देता है यानी परलोक चला जाता है, (**कामभोगा वा एगया पुरिसं विप्पजहंति**) अथवा कामभोग के ये साधन (धन, धान्य क्षेत्र आदि) कभी पहले ही पुरुष को छोड़कर चल देते हैं, (**अन्ने खलु कामभोगा, अन्नो अहमंसि**) अतः धन-धान्यादि सम्पत्ति या ये कामभोग भिन्न हैं, मैं इनसे भिन्न हूँ (**से किमंग पुण वयं कामभोगेहिं मुच्छामो**) फिर हम क्यों अपने से भिन्न इन काम-भोगों (धन-धान्यादि साधनों या ज्ञाति जन आदि) में मूर्च्छित-आसक्त हों? (**इति संखाए वयं कामभोगेहिं विप्पजाहिस्सामो**) इसलिए इन सबका ऐसा स्वरूप जानकर अब हम इन कामभोगों का अवश्य त्याग कर देंगे। (**से मेहावी जाणेज्जा बहिरंगमेयं**) इस प्रकार वस्तुस्वरूपज्ञ वह बुद्धिमान् साधक निश्चित रूप से जान ले कि ये सब सांसारिक कामभोग आदि पदार्थ बहिरंग-बाह्य हैं—मेरे आत्मा से भिन्न हैं। (**इणमेव उवणीय तरागं**) इनसे तो मेरे निकट सम्बन्धी ये लोग हैं— (**माया मे पिया मे भाया मे भगिणी मे भज्जा मे पुत्ता मे धूया मे पेसा मे नत्ता मे सुण्हा मे सहा मे सयण-सग्गंथसंथुआ मे**) मेरी माता है, मेरे पिता हैं, मेरे भाई हैं, मेरी बहन है, मेरी पत्नी है. मेरे पुत्र हैं, मेरी पुत्री है, मेरे दास (नौकर) हैं, मेरा नाती है, मेरी पुत्रवधू है, मेरा मित्र है, मेरे पहले और पीछे के स्वजन परिचित सम्बन्धी हैं, (**एए मम णायओ, अहमवि एएसिं**) ये मेरे ज्ञातिजन हैं, और मैं भी इनका आत्मीय हूँ, (**एवं से मेहावी पुव्वामेव अप्पणा एवं समभिजाणेज्जा**) परन्तु बुद्धिमान पुरुष को पहले से ही स्वयमेव इस प्रकार विचार कर लेना चाहिए कि (**इह खलु मय अन्नयरे दुक्खे रोयातंके वा समुपज्जेजा अणिट्ठे जाव नो सुहे**) जब कभी मुझे इस प्रकार का कोई दुःख या कोई रोग-आतंक पैदा हो, जो अनिष्ट और दुःखदायी हैं, (**से हंता भयंतारो णायओ इमं मम अन्नयरं दुक्खं रोयातंकं अणिट्ठं जाव णो सुहं परियाइयह**) उस समय मैं अपने ज्ञातिवर्ग से यह कहूँ कि हे भय से रक्षा करने वाले ज्ञातिवर्ग! मेरे इस अनिष्ट तथा अप्रिय दुःख तथा रोगातंक को आप लोग बांटकर ले लें, (**ताऽहं दुक्खामि वा सोयामि वा जाव परितप्पामि वा**) जिनसे कि मैं इस दुःख से पीड़ित हो रहा हूँ, मैं अत्यन्त चिन्तित हूँ, बहुत संतप्त हूँ, (**इमाओ मे अन्नयराओ दुक्खाओ रोयातंकाओ परिमोएह अनिट्ठाओ जाव णो सुहाओ**) अतः आप सब मुझे इस अनिष्ट दुःख तथा दुःखद रोग से मुक्त कर दें, (**एवमेव णो लद्धपुव्वं भवइ**) वे ज्ञातिजन इस प्रार्थना को सुन-कर दुःख तथा रोग को बाँटकर ले लें या मुझे दुःख या रोग से मुक्त कर दें, ऐसा कभी नहीं होता। (**तेसिं वा वि मम भयंतारांणं णाययाणं अन्नयरे दुक्खे रोयातंके**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समुपज्जेज्जा अणिट्ठे जाव णो सुहे) अथवा भय से मेरी रक्षा करने वाले उन ज्ञातिजनों को ही कोई दुःख या रोग हो जाय, जो अनिष्ट, अप्रिय और असुखकर हो, (**से हंता अहमेतेसिं भयंताराणं णाययाणं इमं अन्नयरं दुक्खं रोयातंकं परियाइयामि अणिट्ठं जाव णो सुहे**) तो मैं भय से रक्षा करने वाले इन ज्ञातिजनों के अनिष्ट, दुःख या रोग को बाँट कर ले लूँ, (**मा मे दुक्खंतु जाव मा मे परितप्पंतु वा**) जिससे कि मेरे ये ज्ञातिजन दुःख तथा संताप का अनुभव न करें, (**इमाओ अण्णयराओ दुक्खाओ रोयातंकाओ परिमोएमि अणिट्ठाओ**) मैं इनको दुःख तथा अनिष्ट रोग से मुक्त कर दूँ, (**एवमेव णो लद्धपुव्वं भवइ**) तो यह मेरी इच्छा कदापि पूर्ण नहीं हो सकती है। (**अन्नस्स दुक्खं अन्नो न परियाइयइ**) दूसरे के दुःख को दूसरा बाँटकर नहीं ले सकता, (**अन्नेण कडं अन्नो नो पडिसंवेदेइ**) दूसरे के कर्म का फल दूसरा नहीं भोगता है, (**पत्तेयं जायइ पत्तेयं मरइ पत्तेयं चयइ पत्तेयं उववज्जइ पत्तेयं झंझा पत्तेयं सन्ना पत्तेयं मन्ना एवं विन्नू वेयणा**) मनुष्य अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही अपनी सम्पत्ति का त्याग करता है, अकेला ही अपनी सम्पत्ति का उपभोग या स्वीकार करता है, अकेला ही कषायों को ग्रहण करता है, अकेला ही पदार्थ को समझता है, अकेला ही चिन्तन-मनन करता है, अकेला ही विद्वान् होता है, और अकेला ही सुख-दुःख भोगता है, (**इह खलु णाइसंजोगा णो ताणाए णो सरणाए**) इस लोक में ज्ञातिजनों का संयोग दुःख से रक्षा करने और मनुष्य को शान्ति या शरण देने में समर्थ नहीं है। (**पुरिसे वा एगया पुव्विं णाइसंजोए विप्पजहति**) कभी तो मनुष्य पहले ज्ञातिजनों के संयोग को छोड़कर चल देता है, (**णाइसंजोगा वा एगया पुव्विं पुरिसे विप्पजहंति**) और कभी ज्ञातिसंयोग मनुष्य को पहले छोड़ देता है। (**अन्ने खलु णाइसंजोगा अन्नो अहमंसि**) अतः ज्ञातिजन-संयोग भिन्न है, मैं भिन्न हूँ। (**से किमंग पुण वयं अन्नमन्नेहिं णाइसंजोगेहिं मुच्छामो ?**) तब फिर हम इस अपने से पृथक ज्ञातिजनसंयोग में क्यों आसक्त हों ? (**इति संखाए वयं णाइसंजोगं विप्पजहिस्सामो**) यह जानकर अब हम ज्ञातिजनसंयोग का त्याग कर देंगे। (**से मेहावी जाणेज्जा बहिरंगमेयं, इणमेव उवणीयतरागं**) परन्तु बुद्धिमान पुरुष को यह निश्चित जानना चाहिए, कि ज्ञातिजनसंयोग तो बाह्य वस्तु है, उससे भी निकटवर्ती सम्बन्धी ये सब हैं, (**तं जहा—हत्था मे पाया मे बाहू मे उरू मे उदरं मे सीसं मे सीलं मे आऊ मे बलं मे वण्णो मे तया मे छाया मे सोयं मे चक्खू मे घाणं मे जिब्भा मे फासा मे ममाइज्जइ**) जैसे कि मेरे हाथ हैं, मेरे पैर हैं, मेरी बाहें हैं, मेरी जांघें हैं, मेरा पेट है, मेरा सिर है, मेरा शील (आचार-विचार) है, मेरी आयु है, मेरा बल है, मेरा वर्ण है, मेरी चमड़ी है, मेरी कान्ति (छाया) है, मेरे कान हैं, मेरे नेत्र हैं, मेरी नासिका है, मेरी जीभ है, मेरी स्पर्शेन्द्रिय है, इस प्रकार (मेरा-मेरा करके) प्राणी ममत्व करता है, (**वयाउ पडिजूरइ**) परन्तु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उम्र अधिक होने पर ये सब जीर्ण-शीर्ण हो जाते हैं, (**तं जहा—आउओ बलाओ वण्णाओ तयाओ छायाओ सोयाओ जाव फासाओ**) वह मनुष्य आयु, बल, वर्ण, त्वचा, कान्ति कान तथा स्पर्श-पर्यन्त सभी पदार्थों से क्षीण (हीन) हो जाता है। (**सुसंधितो संधो विसंधी भवइ**) उसकी सुघटित (गठी हुई) दृढ़ (मजबूत) सन्धियाँ (जोड़) ढीली हो जाती हैं, (**गाए वलियतंरगे भवइ**) उसके शरीर की चमड़ी सिकुड़कर तरंग की रेखा के समान हो जाती है या चमड़ी लटक जाती है, (**किण्हा केसा पलिया भवंति**) उसके काले बाल सफेद हो जाते हैं (**तं जहा—जंपि य आहारोवइयं उरालं इमं सरीरगं एयंपि अणुपुव्वेणं विप्पजहियव्वं भविस्सइ**) जैसे कि यह जो आहार से वृद्धिगत उत्तम शरीर है, इसे भी क्रमशः अवधि पूरी होने पर छोड़ देना पड़ेगा। (**एयं संखाए से भिक्खू भिक्खायरियाए समुट्ठिए दुहओ लोगं जाणेज्जा**) यह जानकर भिक्षावृत्ति को स्वीकार करने हेतु उद्यत साधु लोक को दोनों प्रकार से जान ले, (**तं जहा—जीवा चेव अजीवा चेव तसा चेव थावरा चेव**) जैसे कि लोक जीवरूप है और अजीवरूप है, त्रसरूप है और स्थावररूप है।

व्याख्या

भिक्षाचर्या के लिए उद्यत साधु का यथार्थ चिन्तन

इस सूत्र में भिक्षाचर्या के लिए उद्यत साधक का यथार्थ वस्तुस्वरूपचिन्तन शास्त्रकार ने प्रस्तुत किया है। इस जगत में सभी प्रकार के विभिन्न वर्ग के मनुष्य हैं, उनके पास थोड़ा हो या अधिक जन और जनपद सम्बन्धी परिग्रह (सम्पत्तिरूप) होता है। पहले बताये हुए कुलों में से किसी भी कुल में जन्म लेकर कोई-कोई व्यक्ति भोगों या सांसारिक पदार्थों का त्याग करके भिक्षाचर्या के लिए उद्यत हो (गृहत्यागी बन) जाते हैं। ऐसे गृहत्यागी भिक्षु दो प्रकार से बनते हैं—एक तो ऐसे हैं, जिनके पास धन-धान्य आदि साधन भी प्रचुर मात्रा में होते हैं, तथा जिनका परिवार भी भरा-पूरा होता है। दूसरे वे होते हैं, जिनके पास न तो धन-धान्यादि साधन प्रचुर मात्रा में होते हैं, और न ही उनका लम्बा-चौड़ा परिवार होता है। फिर भी दोनों प्रकार के साधक भिक्षाचर्याजीवी एवं गृहत्यागी होते हैं। दोनों ही विद्यमान और अविद्यमान परिवार एवं धन-धान्यादि साधनों के ममत्व का त्याग करते हैं। त्यागवृत्ति से दोनों साधु-जीवन अंगीकार करते हैं। वे पहले से ही इस बात को भली-भाँति हृदयंगम कर लेते हैं कि इस जगत में मनुष्य मोह में पड़कर अपने से भिन्न पदार्थों (पर-भावों) को 'ये मेरे हैं' इस प्रकार ममत्ववश अपने मानते हैं। सांसारिक पदार्थों को अपने मानने वाले वे लोग 'यह खेत, मकान, जमीन, जायदाद, धन-सम्पत्ति, चाँदी-सोना, वस्त्र-बर्तन, रत्न, हीरा, पन्ना, माणक, मोती, मूँगा, लाल आदि मेरा है,' इस प्रकार का ममत्व करते हैं। इतना ही नहीं, पाँचों इन्द्रिय-विषयों के साधनों के मोह-ममत्व में फँसे रहते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। किन्तु ज्ञानी साधक पहले से ही यह मानते हैं कि जिस समय मनुष्य रोग से घिर जाता है, या कोई भयंकर विपत्ति या दुःख आ पड़ता है तो उस समय ये धन-धान्य आदि साधन, जिन पर उसने मोह-ममत्व गड़ा दिया होता है, प्रार्थना करने पर भी उसे छुड़ा नहीं सकते। बल्कि ममत्वशील पुरुष को उतना ही अधिक दुःख उनसे वियोग का होता है। वह अपने कल्याण के साधन से वंचित रह जाता है। मतलब यह है कि मनुष्य अपने माने हुए खेत, मकान, धन, धान्य, पशु आदि सम्पत्ति को अपने सुख के साधन मानकर इनकी प्राप्ति के लिए तथा प्राप्त हुए साधनों की रक्षा के लिए जान की बाजी लगा देता है। परन्तु जब उस पर किसी रोगादि का आक्रमण होता है, तब उसका खेत आदि सम्पत्ति उसे रोगादि से मुक्त नहीं कर सकते। फिर भी अज्ञानी जन मानते हैं कि काम-भोग आदि साधन मेरे हैं, मैं इनका हूँ। किन्तु रोग या अन्य किन्हीं प्रकार के भयंकर कष्टों (जो कि अत्यन्त अनिष्ट, अप्रिय, अकान्त, अमनोज्ञ एवं दुःखोत्पादक होते हैं) के आ पड़ने पर यदि इन कामभोगों या ममत्व के केन्द्ररूप साधनों, से प्रार्थना की जाए कि "मेरे इस रोग, आतंक या पीड़ा से होने वाले दुःख को तुम सब मिलकर बाँट लो, सहभागी बन जाओ, ये रोगातंक मुझे अत्यन्त अप्रिय, अमनोज्ञ या दुःखरूप लगते हैं, ये मेरे लिए जरा भी सुखरूप नहीं हैं, इनके कारण मैं दुःखित, पीड़ित, संतप्त एवं क्षीणकाय हो रहा हूँ, मैं दुःख, शोक, संताप पा रहा हूँ, झुर रहा हूँ, इन दुःखों से मुझे बचाओ।' तो ये काम-भोग आदि प्रार्थनाकर्ता को कदापि दुःखों से छुड़ा नहीं सकते बल्कि ये काम-भोग आदि साक्षात् या परम्परा से दुःखोत्पादक ही सिद्ध होते हैं। ये काम-भोग आदि न तो किसी की रक्षा करते हैं, न किसी को शरण देते हैं। या तो काम-भोग आदि को अपना मानने वाले यानी इन पर अपना स्वामित्व स्थापित करने वाले लोग आयु की अवधि पूरी हो जाने से पहले ही स्वयं छोड़कर चल बसते हैं, या फिर काम-भोग ही पहले से ही उक्त पुरुष को छोड़ देते हैं।

इस प्रकार के वस्तुस्वरूप के यथार्थ चिन्तन के प्रकाश में ज्ञानवान् साधक सोचता है-- 'ये काम-भोग भिन्न हैं, मैं इनसे भिन्न हूँ। अर्थात् मेरा स्वरूप इन काम-भोगादि साधनों से पृथक् है, ये ममस्वरूप नहीं हैं और मैं इनका स्वरूप नहीं हूँ। तब फिर इन पराये कामभोगों के प्रति क्यों मोह-ममत्व करूँ ? जो वस्तु मेरी नहीं है, मुझ से पृथक हो जाने वाली है, या मुझे बरबस छोड़नी पड़ेगी, उसे मैं अपनी मानने या बनाने का मूर्खता क्यों करूँ ? जो जिसकी वस्तु होती है, वह तीन काल में भी उससे अलग नहीं हो सकती। जैसे शीतलता जल का धर्म है, वह कदापि जल का परित्याग नहीं कर सकता; वैसे ही आत्मा के ज्ञानादि गुण हैं, वे उससे तीन काल में भी अलग नहीं हो सकते। अगर ये खेत आदि मेरे स्व-स्वरूप होते तो सदाकाल मेरे साथ ही रहते। मुझे छोड़कर कभी न जाते। किन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता। मैं विद्यमान रहता हूँ, फिर भी ये मुझे छोड़कर अन्यत्र चले जाते हैं, मेरी मौजूदगी में ही दूसरे के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बन जाते हैं, मेरे देखते ही देखते ये पराये हो जाते हैं, मेरे मर जाने पर और अन्य लोक में चले जाने पर भी यहीं धरे रह जाएँगे। जब मैं अपने अशुभकर्मवश किसी रोग या दुःख से आक्रान्त होता हूँ, तब ये मेरी रक्षा नहीं करते। इसलिए ममत्वरूप से या इन पर स्वामित्व स्थापित करके इन्हें ग्रहण करना मेरे लिए कथमपि उचित नहीं है। वास्तव में ये काम-भोग के साधन सुख-प्रदायक नहीं हैं। इनके कारण हृदय में अशान्ति और बेचैनी रहती है, बुद्धि में चंचलता और चिन्ता रहती है, मन में विपरीत मनन-चिन्तन होता है। ये मुझे अपने शुद्ध चिदानन्दस्वरूप की ओर झाँकने ही नहीं देते। मैं अगर इन पर ममत्व या स्वामित्व स्थापित करूँ तो मेरे जीवन का अमूल्य समय, मेरी आत्मसाधना के बहुमूल्य क्षण इनकी ही रक्षा, सार-संभाल और वृद्धि में लगने लगेगा। इस प्रकार इन पर ही अपना अमूल्य समय और अनुपम शक्ति का व्यय करके मैं बदले में पाऊँगा क्या? अशान्ति, व्याकुलता और आत्मविराधना ही तो मिलेगी, मुझे इनकी सेवा करने से। ये मुझे लेशमात्र भी शान्ति प्रदान नहीं कर सकते। अतएव इन्हें ग्रहण न करना एवं इन्हें अपना न मानना ही मेरे लिए श्रेयस्कर है। मैं इनका त्याग कर दूँगा—सर्वथा मन वचन काया से परित्याग कर दूँगा।'

इससे से भी आगे बढ़कर मेधावी साधक यह चिन्तन करता है कि 'ये खेत, मकान आदि काम-भोग के साधन तो मुझसे सर्वथा भिन्न हैं हो, किन्तु इन पदार्थों से भी जो अधिक समीपवर्ती हैं, जिनसे प्रायः रक्त का सम्बन्ध होता है, या जो धनिक या निर्धन सभी मनुष्यों के रात-दिन अधिक सम्पर्क में आते हैं, जो अन्तरंग हैं, ज्ञाति-जन हैं, जिनकी अपेक्षा से खेत, मकान आदि काम-भोग के साधन तो बहिरंग हैं, उन पर भी मुझे ममत्व करना उचित नहीं है।'

अज्ञानीजन सोचता है—'यह मेरी माता है, ये मेरे पिता हैं, ये भाई हैं, यह मेरी बहन है, पत्नी है, ये मेरे पुत्र, नाती, पुत्रियाँ, पत्रवधुएँ हैं, ये मेरे मित्र हैं, ये नौकर-चाकर हैं, ये मेरे प्रियजन (आगे-पीछे के परिचित एवं सम्बन्धी) हैं, ये स्वजन (पूर्वापरपरिचित माता-पिता आदि, सग्रन्थ अर्थात् बाद के सम्बन्धी जैसे श्वसुर, साले आदि और संस्तुत यानी सामान्यरूप से परिचित) हैं। ये मेरे ज्ञातिजन हैं और मैं इनका हूँ। खेत, धन आदि की अपेक्षा ये अन्तरंग हैं।' किन्तु सद्-असद्-विवेकसम्पन्न साधक इन ज्ञातिजनों के सम्बन्ध में पहले से ही पक्का विचार कर लेता है कि कदा-चित् मुझे किसी प्रकार का दुःख या रोगातंक हो जाय जो कि मेरे लिए अत्यन्त अनिष्ट, अप्रिय, अमनोज्ञ, अमनोहर, दुःखरूप या असुखरूप हो तो क्या ये माता-पिता आदि ज्ञातिजन उस दुःख या रोगातंक से मेरी रक्षा कर सकेंगे? नहीं, कदापि नहीं। मान लो, अगर किसी विपत्ति या रोगादि के दुःख के समय मैं उन माता आदि ज्ञाति-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जनों से प्रार्थना करूँ कि 'हे भयत्राता ज्ञातिजनो ! मुझे यह रोग या अमुक दुःख उत्पन्न हुआ है, जो कष्टप्रद है, अप्रिय एवं असुखकर है, इसे थोड़ा-थोड़ा आप सब बाँट लें। या इस दुःख में सहभागी बन जाएँ, जिससे सारा का सारा कष्ट या दुःख मुझ अकेले को न भोगना पड़े, दुःख का बँटवारा हो जाने से वह हल्का हो जाये।' तो क्या ऐसी प्रार्थना करने पर भी वे (ज्ञातिजन) मेरा उद्धार कर सकेंगे ? मुझे दुःख से उबार सकेंगे, मेरे दुःख का बँटवारा करके वे ग्रहण कर लेंगे ? कदापि नहीं। न कभी ऐसा हुआ है और न होगा। तात्पर्य यह है कि ज्ञातिजन उस दुःख या रोगातंक से मेरी रक्षा नहीं कर सकते और न ही मुझे शरण दे सकते हैं। ये मेरा दुःख बाँट नहीं सकते।

इतना ही नहीं, यदि उन ज्ञातिजनों पर कोई दुःख या रोगातंक आ पड़े तो मैं भी उनके दुःखों से उनका रक्षा करने में समर्थ नहीं हूँ। उन भयत्राता ज्ञातिजनों को कोई अनिष्ट, अप्रिय यावत् असुखरूप रोगातंक उत्पन्न हो जाये और मैं चाहूँ कि किसी भी तरह से उन पारिवारिक जनों को उस अनिष्ट, अवांछनीय यावत् असुखरूप रोगातंक से छुड़ा लूँ, तो मैं भी ऐसा नहीं कर सकता, मैं अपने इस मनोरथ में सफल नहीं हो सकता। सिद्धान्त यह है कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को दुःख से बचाने या उसके दुःख को बाँट लेने में कदापि समर्थ नहीं हो सकता। वास्तव में, एक के दुःख को दूसरा कोई भी बाँटकर ले नहीं सकता और न ही दूसरे के द्वारा किये हुए शुभाशुभ कर्म को दूसरा और कोई भोग सकता है। क्योंकि जीव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही वर्तमान भव या सम्पत्ति का त्याग करता है और अकेला ही नवीन भव या सम्पत्ति को ग्रहण करता है। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही कषाय से युक्त होता है, स्वयं ही किसी वस्तु को जानता है, प्रत्येक व्यक्ति का ज्ञान, मनन-चिन्तन या दुःख-सुख का वेदन अलग-अलग होता है, प्रत्येक व्यक्ति की विद्वत्ता भी अलग-अलग होती है।

तात्पर्य यह है कि जिस व्यक्ति ने जैसा कर्म किया है, वही व्यक्ति उस कर्म के फलस्वरूप वैसा ही सुख या दुःख भोगता है। दूसरे के द्वारा किये हुए कर्म का फल दूसरा नहीं भोगता। अगर ऐसा हो तो कृतनाश और अकृत-अभ्यागम नामक दोषों का प्रसंग होगा। यानी कर्म का कर्ता तो उसके फलभोग से वंचित रह जायेगा और जिसने कर्म नहीं किया है, उसे उसका फल व्यर्थ ही भोगना पड़ेगा। इस प्रकार कर्म-फल-भोग की सारी व्यवस्था ही समाप्त हो जायेगी।

निष्कर्ष यह है कि अज्ञानी मनुष्य ही ऐसा मान सकता है कि मेरे माता-पिता, भाई-बहन, स्त्री-पुत्रादि मेरे लिए सुख के साधनरूप हैं। और वह उनको सुखी करने हेतु विविध कष्ट सहकर अनेक प्रकार से उखाड़-पछाड़ करके धनादि का उपार्जन करता है, परन्तु वह पारिवारिक जन भी उसके रोग को मिटाने या दुःख को बाँट लेने में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समर्थ नहीं होते, और न ही वह (अज्ञ मानव) अपने पारिवारिक जनों पर दुःख या रोग आ पड़ने पर उसे मिटाने या बाँटने में समर्थ हो सकता है। इसलिए यह सिद्धान्त निश्चित हुआ कि ज्ञातिजनों का संयोग त्राणरूप या शरणरूप नहीं है। या तो वह ममत्ववान पुरुष ही पहले ज्ञातिजनों के संयोग को छोड़कर चल देता है या फिर वे ज्ञातिजनसंयोग उस मनुष्य को पहले छोड़ देते हैं।

इसी कारण बुद्धिमान साधक यथार्थ चिन्तन करता है कि 'यह ज्ञातिजनों का संयोग मुझसे सर्वथा भिन्न हैं, मैं भी इनसे सर्वथा भिन्न हूँ। ऐसी स्थिति में ज्ञातिजन संयोगों में मैं जानबूझकर क्यों आसक्ति करूँ, क्यों अन्धा होकर मौत के कूप में गिरूँ? इसलिए मुझे ज्ञातिजनों पर आसक्ति करना कथमपि उचित नहीं है। ये सब पर हैं, स्व (आत्मा) से भिन्न हैं, ये पराये हैं, अतः इनमें आसक्त होना किसी भी तरह श्रेयस्कर नहीं है। वह सर्वथा अशान्ति, आकुलता, चिन्ता, शोक, दुःख एवं भय आदि का ही कारण होती है। जैसे पशु, धन-धान्य आदि सर्वथा बहिरंग हैं, वैसे ही बन्धु-बन्धव आदि भी परपदार्थ होने के कारण बहिरंग हैं। अतएव उनमें भी ममत्वबुद्धि रखना भी श्रेयस्कर नहीं है। यों जानकर हम ज्ञातिजन-संयोग का परित्याग कर देंगे।' कहा भी है—

कस्य माता, पिता कस्य, कस्य भ्राता सहोदरः?

—इस परिवर्तनशील संसार में कौन किसकी माता है? कौन किसका पिता या सहोदर भाई है?

अर्थात् निश्चयदृष्टि से किसी जीव का, दूसरे जीव के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, जबकि व्यवहारदृष्टि से ऐसा कोई जीव इस संसार में नहीं दिखता, जिसके साथ अनेक-अनेक बार सभी प्रकार के सम्बन्ध न हो चुके हों। ऐसी स्थिति में किसे क्या कहा जाय?

इससे भी आगे बढ़कर वह उत्तम पुरुष चिन्तन करता है—ज्ञाति-संयोग तो फिर भी बाह्य पदार्थ हैं, क्योंकि इनसे भी निकटवर्ती ये शरीर के अंगोपांग आदि हैं, जैसे कि अज्ञ व्यक्ति कहता है—मेरे हाथ हैं, मेरे पैर हैं, मेरी बाहें हैं, मेरी जंघाएँ हैं, मेरा पेट है, मेरा सिर है, मेरा शील है, मेरी आयु है, मेरे बल, कर्ण, नेत्र, घ्राण तथा स्पर्शन यानी सम्पूर्ण शरीर आदि हैं। इन पर अज्ञानी ममत्व रखता है। इस प्रकार अज्ञ जीव अपने शरीर में और शरीर के अंगोपांगों पर ममत्वभाव रखता है। अज्ञों की मनोवृत्ति का सुन्दर चित्र देखिए—

अशनं मे वसनं मे, जाया मे बन्धुवर्गो मे।
इति मे मे कुर्वाणं कालवृको हन्ति पुरुषाजम्॥

—यह मेरा भोजन है, यह मेरा वस्त्र है, यह मेरी पत्नी है, ये मेरे बन्धुजन हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार 'मे-मे' अर्थात् 'मेरा-मेरा' करने वाले पुरुषरूपी बकरे को कालरूपी भेड़िया आकर खत्म कर देता है।

इसी प्रकार मनुष्य अपने अत्यन्त निकटवर्ती जानकर आयु, बल, वर्ण, त्वचा, कान्ति, कान आदि पंचेन्द्रियों को अपने मानकर मूढ़ बनता है, इन्हें सबसे अधिक आनन्द का कारण मानता है, इनका उसे बड़ा ही अभिमान रहता है, लेकिन जब अवस्था ढल जाती है, केश पकने लगते हैं, दाँत सब गिर जाते हैं, आँखों की ज्योति क्षीण हो जाती है, शरीर पर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं, कमर झुक जाती है, मनुष्य का यौवन एकदम समाप्त होकर बुढ़ापा आ जाता है, हड्डियों के जोड़ ढीले पड़ जाते हैं, गाल पिचक जाते हैं, मनुष्य का सुगठित शरीर ढीला हो जाता है, शरीर की कान्ति फीकी पड़ जाती है, हाथ-पैर आदि अंग शिथिल हो जाते हैं। मनुष्य बलहीन तथा इन्द्रिय-शक्ति से क्षीण हो जाता है। अन्त में, आयु पूरी होने पर आहारादि से वृद्धिगत इस शरीर को छोड़कर अकेला ही परलोक का मेहमान बन जाता है। वहाँ वह अपने शुभाशुभकर्म का फल अकेला भोगता है। उस समय उसकी सम्पत्ति, परिवार तथा शरीर आदि कोई भी साथ नहीं होते।

सारांश

बुद्धिमान पुरुष को धन-धान्य, मकान और खेत आदि सम्पत्ति तथा माता-पिता, पुत्र आदि पारिवारिक जनों के प्रति ममत्व का त्याग करके आत्मकल्याण का साधन करना चाहिए। मनुष्य रात-दिन जिस सम्पत्ति के लिए नाना प्रकार के कष्ट सहन करता रहता है, वह उसके परलोक में काम नहीं आती है। इतना ही नहीं, किन्तु इस लोक में भी वह स्थिर नहीं रहती। बहुत से लोग धनसंचय करके भी फिर दरिद्र हो जाते हैं, उनकी सम्पत्ति उन्हें छोड़कर चली जाती है। कभी ऐसा भी होता है कि सम्पत्ति का उपार्जन करने के पश्चात् उसका उपभोग किये बिना ही मनुष्य की मृत्य हो जाती है। ऐसी स्थिति में उस पुरुष को तो सम्पत्ति उपार्जन करने का कष्ट ही पल्ले पड़ता है, सुख नहीं मिलता। सुख तो दूसरे प्राप्त करते हैं। अतः ऐसी सम्पत्ति के लोभ में पड़कर अपने जीवन को कल्याण से वंचित करना विवेकी पुरुष का कर्तव्य नहीं है।

जिस प्रकार सम्पत्ति चंचल है, उसी प्रकार परिवारवर्ग का सम्बन्ध भी अस्थिर है। परिवार के साथ भी वियोग अवश्यम्भावी है। कभी तो मनुष्य परिवार को शोकाकुल बनाता हुआ स्वयं पहले मर जाता है और कभी परिवार वाले पहले मरकर उसे शोकसागर में निमग्न कर देते हैं। अति-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चंचल सम्पत्ति और परिवारवर्ग के मोह में फँसकर कौन विवेकी पुरुष अपने कल्याण के अवसर को छोड़ सकता है ? बुद्धिमान पुरुष इन बातों को जानकर सम्पत्ति, परिवार तथा अपने शरीर आदि में कभी लुब्ध, मुग्ध एवं आसक्त नहीं होते। ऐसे पुरुष ही भिक्षाचर्या के लिए उद्यत होते हैं, स्वयं संसारसागर को पार करते हैं और उपदेश आदि के द्वारा दूसरों का उद्धार करते हैं। दोनों प्रकार के—जीव-अजीवरूपी या त्रसस्थावररूपी लोक को जानकर तथा संसार-पुष्करिणी के उत्तम श्वेतकमलसम धर्मश्रद्धालु पुरुषों को वे ही उस पुष्करिणी से बाहर निकालते हैं। उन्हीं महान् त्यागी पुरुषों का उत्तम चिन्तन इस सूत्र में दिया है।

मूल पाठ

इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगइया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा, जे इमे तसा थावरा पाणा ते सयं समारभंति, अन्नेण वि समारंभावेंति, अण्णं वि समारभंतं समणुजाणंति। इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगइया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा, जे इमे कामभोगा सचित्ता वा अचित्ता वा ते सयं परिगिण्हंति, अन्नेण वि परिगिण्हावेंति, अन्नंपि परिगिण्हंतं समणुजाणंति। इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगइया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा, अहं खलु अणारंभे अपरिग्गहे, जे खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगइया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा एतेसिं चेव निस्साए बंभचेरवासं वसिस्सामो, कस्स णं तं हेउं ? जहां पुव्वं तहा अवरं, जहा अवरं तहा पुव्वं, अंजू एते अणुवरया अणुवट्ठिया पुणरवि तारिसगा चेव। जे खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगइया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा, दुहओ पावाइं कुव्वंति इति संखाए दोहि वि अंतेहिं अदिस्समाणो इति भिक्खू रीएज्जा। से बेमि पाइणं वा ६ जाव एवं से परिण्णायकम्मे, एवं से ववेयकम्मे, एवं से विअंतकारए भवतीतिमक्खायं ॥ सू० १४ ॥

संस्कृत छाया

इह खलु गृहस्थाःसारम्भाः सपरिग्रहाः, सन्त्येके श्रमणाः माहना अपि सारम्भाः सपरिग्रहाः, ये इमे त्रसाः स्थावराश्च प्राणाः तान् स्वयं समारभन्ते, अन्येनाऽपि समारंभयान्ति, अन्यमपि समारंभमाणं समनजानन्ति। इह खलु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गृहस्थाः सारम्भाः सपरिग्रहाः सन्त्येके श्रमणाः माहना अपि सारम्भाः सपरिग्रहाः, य इमे कामभोगाः सचित्ताः वा अचित्ताः वा तान् स्वयं परिगृह्णन्ति, अन्येनाऽपि परिग्राहयन्ति, अन्यमपि परिगृह्णन्तं समनुजानन्ति । इह खलु गृहस्थाः सारम्भाः सपरिग्रहाः, सन्त्येके श्रमणाः माहना अपि सारम्भाः सपरिग्रहाः अहं खलु अनारम्भः अपरिग्रहः, ये खलु गृहस्थाः सारम्भाः सपरिग्रहाः सन्त्येके श्रमणा माहना अपि सारम्भाः सपरिग्रहाः एतेषां चैव निश्रयेण ब्रह्मचर्यवासं वत्स्यामि । कस्य हेतोः ? यथा पूर्वं तथा अवरं, यथा अवरं तथा पूर्वम्, अञ्जसा एते अनुपरताः अनुपस्थिताः पुनरपि तादृशा एव । ये खलु गृहस्थाः सारम्भाः सपरिग्रहाः सन्त्येके श्रमणाः माहना अपि सारम्भाः सपरिग्रहाः द्विधाऽपि पापानि कुर्वन्ति, इति संख्याय द्वयोरप्यन्तयोरादिश्यमानः इति भिक्षुः रीयेत तद् ब्रवीमि प्राच्यां वा यावत् एवं स परिज्ञातकर्मा, एवं स व्यपेतकर्मा, एवं स व्यन्तकारको भवति इत्याख्यातम् ।। सू० १४ ।।

अन्वयार्थ

(**इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा संति**) इस लोक में गृहस्थ आरम्भ तथा परिग्रह से युक्त होते हैं, क्योंकि वे उन क्रियाओं को करते हैं, जिनसे जीवों का संहार होता है और वे दास-दासी, गाय-भैंस आदि पशु एवं धन-धान्य आदि परिग्रह रखते हैं। (**एगइया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा**) कई श्रमण और ब्राह्मण भी आरम्भ एवं परिग्रह से युक्त होते हैं, क्योंकि वे भी गृहस्थ के समान ही सावद्य-क्रिया करते हैं और धन-धान्य तथा द्विपद-चतुष्पद आदि परिग्रह रखते हैं। (**जे इमे तसा थावरा पाणा ते सयं समारभंति अन्नेण वि समारंभावेंति अण्णं वि समारंभंतं समणुजाणंति**) वे गृहस्थ, श्रमण तथा ब्राह्मण त्रस तथा स्थावर प्राणियों का स्वयं आरंभ करते हैं, दूसरे के द्वारा भी आरम्भ कराते हैं और आरम्भ करते हुए अन्य व्यक्ति को अच्छा समझते हैं। (**इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगइया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा**) इस जगत् में गृहस्थ आरम्भ और परिग्रह से युक्त होते हैं और कई श्रमण तथा ब्राह्मण भी आरम्भ और परिग्रह से युक्त होते हैं। (**जे इमे कामभोगा सचित्ता अचित्ता वा ते सयं परिगिह्णन्ति, अन्नेण वि परिगिण्हावेंति, अन्नं वि परिगिण्हंतं समणुजाणंति**) वे गृहस्थ एवं श्रमण तथा ब्राह्मण (माहन) सचित्त और अचित्त दोनों प्रकार के काम-भोगों का ग्रहण स्वयं करते हैं और दूसरे के द्वारा भी कराते हैं तथा ग्रहण करते हुए को अच्छा समझते हैं। (**इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगइया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा**) इस जगत में गृहस्थ आरम्भी एवं परिग्रही होते हैं, तथा कई श्रमण एवं ब्राह्मण भी आरम्भ-परिग्रह से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युक्त होते हैं। (**अहं खलु अणारंभे अपरिग्गहे**) ऐसी स्थिति में आत्मार्थी संयमी मुनि विचार करता है—मैं (आर्हतधर्मानुयायी मुनि) आरम्भ-परिग्रह से रहित हूँ। (**जे खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा संतेगइया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा एतेसिं चेव निस्साए बंभचेरवासं वसिस्सामो**) जो गृहस्थ हैं वे आरम्भ-परिग्रह सहित हैं ही कोई-कोई श्रमण (शाक्यभिक्षु आदि) तथा माहन भी आरम्भ-परिग्रह से लिप्त हैं। अतः आरम्भ-परिग्रह से युक्त इनका आश्रय लेकर मैं ब्रह्मचर्यवास (मुनिधर्म) का पालन करूँगा। (**कस्स णं तं हेउं ?**) आरम्भ और परिग्रह सहित रहने वाले गृहस्थ और श्रमण ब्राह्मणों के निश्राय में ही जब विचरण करना है, तब फिर इनके सम्पर्क का त्याग करने का क्या कारण है ? (**जहा पुव्वं तहा अवरं, जहा अवरं तहा पुव्वं**) गृहस्थ जैसे पहले आरम्भ और परिग्रह सहित होते हैं, वैसे ही वे पीछे भी होते हैं। कोई-कोई श्रमण-ब्राह्मण भी प्रव्रज्या धारण करने से पूर्व जैसे आरम्भ-परिग्रह-युक्त होते हैं, इसी तरह बाद में भी वे आरम्भ-परिग्रह से लिप्त हो जाते हैं। (**अंजू एते अणुवरया अणुवट्ठिया पुणरवि तारिसगा चेव**) यह तो प्रत्यक्ष स्पष्ट है कि ये लोग सावद्य आरम्भ से निवृत्त नहीं है तथा शुद्ध संयम का पालन नहीं करते, अतः ये लोग इस समय भी पूर्ववत् आरम्भ-परिग्रहरत हैं। (**जे खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगइया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा दुहओ पावाइं कुव्वंति**) आरम्भ-परिग्रह के साथ रहने वाले जो गृहस्थ एवं श्रमण-ब्राह्मण हैं, वे आरम्भ-परिग्रह इन दोनों में रत रहते हुए इन दोनों कार्यों के द्वारा पापकर्म करते रहते हैं। (**इति संखाए दोहि वि अंतेहिं अदिस्समाणो इति भिक्खू रीयेज्जा**) यह जानकर साधु आरम्भ और परिग्रह इन दोनों से रहित होकर संयम में प्रवृत्ति करे। (**से बेमि पाइणं वा ६ जाव एवं से परिण्णायकम्मे**) अतः मैं कहता हूँ कि पूर्व आदि दिशाओं से आया हुआ जो भिक्षु आरम्भ एवं परिग्रह से रहित है वही कर्म के रहस्य को जानता है। (**एवं से ववेयकम्मे**) और वही कर्मबन्धन से रहित होता है, (**एवं से विअंतकाए भवतीतिमक्खायं**) तथा वही कर्मों का अन्त (क्षय) करता है, यह श्री तीर्थंकरदेव ने कहा है।

व्याख्या

गृहस्थ तथा श्रमण-माहन एवं जैन मुनियों के आचार में अन्तर

इस सूत्र में गृहस्थ, कतिपय श्रमण-माहन एवं जैनमुनि के आचार में किन-किन बातों का अन्तर है, यह चार बार विश्लेषणपूर्वक निरूपण किया गया है। वह इस प्रकार है—

(१) गृहस्थ तथा कतिपय श्रमण-माहन सारम्भ-सपरिग्रह होने के कारण त्रस-स्थावर प्राणियों का आरम्भ मन-वचन-काया से करते, कराते व अनुमोदन करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(२) गृहस्थ तथा कतिपय श्रमण-माहन भी सारंभ-सपरिग्रह होने से सचित्त-अचित्त काम-भोगों के साधनों का ग्रहण करते, कराते और अनुमोदन करते हैं।

(३) निर्ग्रन्थमुनि गृहस्थों तथा कतिपय श्रमण-माहनों का संसर्ग तो वर्जित करते हैं, लेकिन इनके निश्राय से अपने तप-संयम का निर्वाह करते हैं।

(४) निर्ग्रन्थमुनि गृहस्थ एवं कतिपय श्रमण-माहनों को सावद्य अनुष्ठानयुक्त जानकर तथाप्रकार के पहले-पीछे के सावद्यकार्यों से रहित होकर संयम में प्रवृत्ति करता है।

पुत्र, कलत्र आदि के साथ गृह में रहने वाले गृहस्थ कहलाते हैं।[1] यह तो जगत् में सर्वविदित है कि गृहस्थ नाना प्रकार के आरम्भ (सावद्य अनुष्ठान) करते हैं, क्योंकि वे ऐसी क्रियाएँ करते हैं, जिनसे हिंसा आदि पाप हो जाते हैं, इसके अतिरिक्त वे धन-धान्य, सोना-चाँदी आदि अचित्त तथा दासी-दास, स्त्री-पुत्र, गाय-बैल, घोड़ा-ऊँट आदि सचित्त परिग्रह भी रखते हैं।

इसी प्रकार कई तथाकथित श्रमण (शाक्यभिक्षु आदि) तथा माहन (गोशालक मतानुयायी आजीवक आदि) भी गृहस्थों की तरह आरम्भ एवं परिग्रह से युक्त होते हैं। इतना ही नहीं, वे भी गृहस्थों की तरह दूसरों से आरम्भ कराते हैं, जो आरम्भ करते हैं, उनका अनुमोदन करते हैं। स्पष्ट है कि जिनेन्द्रमतानुयायी निर्ग्रन्थभिक्षु ऐसा नहीं करते।

वे तथाकथित श्रमण और माहन गृहस्थ की तरह सचेतन और अचेतन परिग्रह स्वयं रखते हैं, दूसरों से रखाते हैं और जो रखते हैं, उनका अनुमोदन-समर्थन करते हैं। स्पष्ट है कि जैन निर्ग्रन्थमुनि इस प्रकार के परिग्रह का त्रिकरण-त्रियोग से त्याग करते हैं।

अतः जो तथाकथित श्रमण एवं माहन सारम्भ-सपरिग्रह गृहस्थों की सी प्रवृत्तियाँ करते हैं, वे भी यदि सारम्भ एवं सपरिग्रह कहलाएँ इसमें कोई अनुचित नहीं। इन लोगों के साथ रहकर कोई भी निर्ग्रन्थमुनि सावद्य-अनुष्ठानरहित तथा सचित्त-अचित्त परिग्रह से मुक्त नहीं हो सकता। क्योंकि ये तथाकथित श्रमण तथा माहन नाममात्र के दीक्षाधारी या वेषधारी भिक्षु होते हैं, उनकी पूर्व-अवस्था—गृहस्थावस्था तथा बाद की अवस्था—त्यागी अवस्था दोनों ही लगभग समान होती हैं, वे साधुदीक्षाग्रहण करने से पूर्व जैसे सावद्य अनुष्ठान करते थे और द्विविध परिग्रह रखते थे, वैसे ही दीक्षाग्रहण करने के पश्चात् भी सावद्य अनुष्ठान करते हैं और परिग्रह

---

१. पुत्रकलत्रादिभिः सह गृहे तिष्ठन्तीति गृहस्थाः।
गृह्णाति धान्यादिकमिति गृहम्, तत्र तिष्ठन्ति गृहस्थाः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रखते हैं। अतः इनकी पूर्व तथा उत्तर अवस्था में कोई खास अन्तर नहीं है। क्योंकि गृहस्थ तथा कतिपय श्रमण-माहन आरम्भ-परिग्रह युक्त होने के कारण त्रस-स्थावर प्राणियों की विघातक प्रवृत्तियाँ करते हैं, इसलिए इनके संसर्ग में रहकर निरवद्यवृत्ति का पालन एवं परिग्रह-त्याग करना बहुत कठिन है। इसीलिए निर्ग्रन्थसाधु इनके साथ नहीं रहते। यद्यपि इन्हें छोड़े बिना निरवद्यवृत्ति का पालन एवं परिग्रह का त्याग दुष्कर है, तथापि निरवद्यवृत्ति के पालनार्थ इनका आश्रय लेना भी छोड़ा नहीं जा सकता है। अतः निर्ग्रन्थमुनि इनका संसर्ग-त्याग करके भी निरवद्यवृत्तिपूर्वक संयम के परिपालनार्थ इनका आश्रय लेते हैं। आशय यह है कि संयम के आधारभूत शरीर की रक्षा के लिए निर्ग्रन्थमुनि इनके द्वारा अपने लिए बनाए हुए आहारादि में से थोड़ा-थोड़ा मधुकरीवृत्ति से लेकर अपना निर्वाह करते हैं। क्योंकि ऐसा किये बिना निरवद्यवृत्ति एवं परिग्रहत्याग का पालन नहीं हो सकता।

निर्ग्रन्थभिक्षु इस प्रकार गृहस्थ आदि द्वारा प्रदत्त भिक्षान्न तथा अन्य संयम सुसाधनों से अपनी संयमयात्रा निरवद्यवृत्ति से चलाते हैं; न वे परिग्रह रखते हैं और न ही वे आरम्भ-समारम्भ करते हैं। जो सुसाधु आरम्भ-परिग्रह से मुक्त रहकर कर्म के रहस्य को समझते हैं, वे ही कर्मबन्धनों से रहित होते हैं, कर्मों का अन्त करके मोक्षपद के अधिकारी बनते हैं। निर्ग्रन्थभिक्षुओं के जीवन के ये ही उत्तम सिद्धान्त तीर्थंकरों ने बताये हैं।

सारांश

चार प्रकार से तीर्थंकरोक्त निर्ग्रन्थभिक्षु एवं गृहस्थ तथा कतिपय श्रमण-माहनों का अन्तर इस सूत्र में समझा दिया है। सारांश यह है कि जो आरम्भ और परिग्रह से लिप्त हो, वह निर्ग्रन्थभिक्षु नहीं हो सकता। वह या तो गृहस्थ होता है, या फिर आरम्भ-परिग्रह में फँसा हुआ वेषधारी तथाकथित श्रमण या माहन होता है। निर्ग्रन्थभिक्षु आरम्भ-परिग्रह में लिपटे हुए इन लोगों के साथ नहीं रहता, सिर्फ संयमनिर्वाहार्थ आहार-पानी या धर्मोपकरणादि साधन लेने के लिए इनका अममत्व वृत्ति से बेलाग होकर आश्रय लेता है। यदि वह इनका आश्रय अपनी प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा, प्रशंसा या कीर्ति आदि अन्य किसी प्रयोजन से लेता है, अथवा इनके प्रति आसक्ति, लगाव या ममत्वबुद्धि रखकर इनका आश्रय लेता है तो वह भी आरम्भ-परिग्रह से सर्वथा निर्लिप्त, निःस्पृह, त्यागी निर्ग्रन्थभिक्षु नहीं रह सकता, यही शास्त्रकार का आशय प्रतीत होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

तत्थ खलु भगवया छज्जीवनिकाय हेऊ पण्णत्ता, तं जहा—पुढवीकाए जाव तसकाए। से जहाणामए मम असायं दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलूण वा कवालेण वा आउट्टिज्जमाणस्स वा हम्ममाणस्स वा तज्जिज्जमाणस्स वा ताडिज्जमाणस्स वा परियाविज्जमाणस्स वा किलामिज्जमाणस्स वा उद्दविज्जमाणस्स वा जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारगं दुक्खं भयं पडिसंवेदेमि, इच्चेवं जाण सव्वे जीवा सव्वे भूता सव्वे पाणा सव्वे सत्ता दंडेण वा जाव कवालेण वा आउट्टिज्जमाणा वा हम्ममाणा वा तज्जिज्जमाणा वा ताडिज्जमाणा वा परियाविज्जमाणा वा किलामिज्जमाणा वा उद्दविज्जमाणा वा जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारगं दुक्खं भयं पडिसंवेदेंति, एवं णच्चा सव्वे पाणा जाव सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा ण परितावेयव्वा ण उद्दवेयव्वा।

से बेमि जे य अतीता, जे य पडुपन्ना, जे य आगमिस्सा अरिहंता भगवंता सव्वे ते एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णवेंति, एवं परूवेंति—सव्वे पाणा जाव सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा। एस धम्मे धुवे, णिइए, सासए, समिच्च लोगं खेयन्नेहिं पवेदिए। एवं से भिक्खू विरए पाणाइवायाओ जाव विरए परिग्गहाओ, णो दंतपक्खालणेणं दंते पक्खालेज्जा, णो अंजणं, णो वमणं, णो धूवणे, णो तं परिआविएज्जा। से भिक्खू अकिरिए अलूसए अकोहे अमाणे अमाए अलोहे उवसंते परिनिव्वुडे, णो आसंसं पुरओ करेज्जा, इमेण मे दिट्ठेण वा सुएण वा मएण वा विन्नाएण वा इमेण वा सुचरियतवनियमबंभचेरवासेण इमेण वा जायामायाबुत्तिएणं धम्मेणं इओ चुए पेच्चा देवे सिया कामभोगाणवसवत्ती सिद्धे वा अदुक्खमसुभे एत्थ वि सिया एत्थ वि णो सिया। से भिक्खू सद्देहिं अमुच्छिए, रूवेहिं अमुच्छिए, गंधेहिं अमुच्छिए, रसेहिं अमुच्छिए, फासेहिं अमुच्छिए, विरए कोहाओ, माणाओ, मायाओ, लोभाओ, पेज्जाओ, दोसाओ, कलहाओ, अब्भक्खाणाओ, पेसुन्नाओ, परपरिवायाओ, अरइरईओ, मायामोसाओ, मिच्छादंसणसल्लाओ, इति से महतो आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरए से भिक्खू।

जे इमे तसथावरा पाणा भवंति, ते णो सयं समारंभइ, णो वाऽण्णेहिं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समारंभावेंति अन्ने समारभंते वि न समणुजाणंति इति से महतो आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरए स भिक्खू ।

जे इमे कामभोगा सचित्ता वा अचित्ता वा ते णो सयं परिगिण्हंति, णो अन्नेणं परिगिण्हावेंति, अन्नं परिगिण्हंतंपि ण समणुजाणंति, इति से महतो आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरए से भिक्खू ।

जंपि य इमं संपराइयं कम्मं कज्जइ, णो तं सयं करेइ, णो अण्णाणं कारवेइ, अन्नंपि करेंतं ण समणुजाणइ इति, से महतो आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरए ।

से भिक्खू जाणेज्जा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अस्सिं पडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारंभ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छिज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टुद्देसियं तं चेतियं सिया तं णो सयं भुंजइ, णो अण्णेणं भुंजावेइ, अन्नंपि भुंजंतं ण समणुजाणइ इति, से महतो आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरए ।

से भिक्खू अह पुणेवं जाणेज्जा तं विज्जइ तेसिं परक्कमे जस्सट्ठा ते वेइयं सिया, तं जहा—अप्पणो पुत्ता इणट्ठाए जाव आएसाए पुढो पहेणाए सामासाए पायरासाए संणिहिसंणिचओ किज्जइ, इह एएसिं माणवाणं भोयणाए, तत्थ भिक्खू परकडं परणिट्ठियमुग्गमुप्पायणेसणासुद्धं सत्थाइयं सत्थपरिणामियं अविहिंसियं एसियं वेसियं सामुदाणियं पत्तमसणं कारणट्ठा पमाणजुत्तं अक्खोवंजणवणलेवणभूयं संजमजायामायावत्तियं बिलमिव पन्नगभूएणं अप्पाणेणं आहारं आहारेज्जा अन्नं अन्नकाले, पाणं पाणकाले, वत्थं वत्थकाले, लेणं लेणकाले, सयणं सयणकाले ।

से भिक्खू मायन्ने अन्नयरं दिसं अणुदिसं वा पडिवन्ने धम्मं आइक्खे, विभए, किट्टे उवट्ठिएसु वा अणुवट्ठिएसु वा सुस्सूसमाणेसु पवेदए, संतिविरतिं उवसमं निव्वाणं सोयवियं अज्जवियं मद्दवियं लाघवियं अणतिवाइयं सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं जाव सत्ताणं, अणुवाइं किट्टए धम्मं । से भिक्खू धम्मं किट्टमाणे णो अन्नस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो पाणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो वत्थस्स हेउं धम्मं माइक्खेज्जा, णो लेणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो सयणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो अन्नेसिं विरूवरूवाणं कामभोगाणं हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, अगिलाए धम्ममाइक्खेज्जा, नन्नत्थ कम्मनिज्जरट्ठाए धम्ममाइक्खेज्जा ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इह खलु तस्स भिक्खुस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म उट्ठाणेणं उट्ठाय वीरा अस्सि धम्मे समुट्ठिया जे तस्स भिक्खुस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म सम्मं उट्ठाणेणं उट्ठाय वीरा अस्सि धम्मे समुट्ठिया ते एवं सव्वोवगया, ते एवं सव्वोवरता, ते एवं सव्वोवसंता, ते एवं सव्वत्ताए परिनिव्वुडत्ति बेमि।

एवं से भिक्खू धम्मट्ठी धम्मविऊ णियागपडिवण्णे से जहेयं बुइयं, अदुवा पत्ते पउमवरपोंडरीयं, अदुवा अपत्ते पउमवरपोंडरीयं, एवं से भिक्खू परिण्णायकम्मे परिण्णायसंगे परिण्णायगेहवासे उवसंते समिए सहिए सया जए, सेवं वयणिज्जे, तं जहा—समणेति वा माहणेति वा खंतेति वा दंतेति वा गुत्तेति वा मुत्तेति वा इसीति वा मुणीति वा कतीति वा विऊति वा भिक्खूति वा लूहेति वा तीरट्ठीति वा चरणकरणपारविउत्ति बेमि ॥ सू० १५ ॥

संस्कृत छाया

तत्र खलु भगवता षड्जीवनिकायाः हेतवः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा—पृथिवीकायः यावत् त्रसकायः। तद्यथा नाम ममाऽसातं दण्डेन वा अस्थ्ना वा मुष्टिना वा लेलुना वा कपालेन वा आकुट्यमानस्य वा हन्यमानस्य वा तर्ज्यमानस्य वा ताड्यमानस्य वा परिताप्यमानस्य वा, क्लाम्यमानस्य वा उद्वेज्यमानस्य वा यावत् रोमोत्खननमात्रमपि हिंसाकारकं दुःखं भयमिति संवेदयामि, इत्येवं जानीहि सर्वे जीवाः सर्वाणि भूतानि सर्वे प्राणाः सर्वे सत्त्वाः दण्डेन वा यावत् कपालेन वा आकुट्यमानाः हन्यमानाः तर्ज्यमानाः ताड्यमानाः परितापयमानाः क्लाम्यमानाः उद्वेज्यमानाः यावत् रोमोत्खननमात्रमपि हिंसाकरं दुःखं भयं प्रतिसंवेदयन्ति। एवं ज्ञात्वा सर्वे प्राणाः यावत् सत्त्वाः न हन्तव्याः नाऽऽज्ञापयितव्याः, न परिग्राह्याः न परितापयितव्याः, न उद्वेजयितव्या।

अथ ब्रवीमि ये चाऽतीताः ये च प्रत्युत्पन्नाः, ये चागमिष्यन्तोऽर्हन्तो भगवन्तः सर्वे ते एवमाख्यान्ति, एवं भाषन्ते, एवं प्रज्ञापयन्ति, एवं प्ररूपयन्ति सर्वे प्राणाः यावत् सत्त्वाः न हन्तव्याः नाऽऽज्ञापयितव्याः न परिग्राह्याः न परितापयितव्याः, नोद्वेजयितव्याः एष धर्मः ध्रुवः नित्यः शाश्वतः समेत्य लोकं खेदज्ञैः प्रवेदितः। एवं स भिक्षुर्विरतः प्राणातिपाताद् यावत्परिग्रहात्। नो दन्तप्रक्षालनेन दन्तान् प्रक्षालयेत् नो अञ्जनं, नो वमनं, नो धूपनं नो तं पर्यापिवेत्। सभिक्षुरक्रियः अलूषकः अक्रोधः अमानः अमायः अलोभः उपशान्तः परिनिर्वृतः, नो आशंसां पुरतः कुर्यात् अनेन मम दृष्टेन वा श्रुतेन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वा मतेन वा विज्ञातेन वा अनेन वा सुचरिततपोनियमब्रह्मचर्यवासेन वा अनेन वा यात्रामात्रावृत्तिना धर्मेण इतश्च्युतः प्रेत्य देवः स्याम् । कामभोगाः वशवर्तिनः सिद्धो वा अदुःखः अशुभो वा अत्राऽपि स्यादत्राऽपि न स्यात् । स भिक्षुः शब्देषु अमूर्च्छितः रूपेषु अमूर्च्छितः गन्धेषु अमूर्च्छितः रसेषु अमूर्च्छितः स्पर्शेषु अमूर्च्छितः, विरतः क्रोधात् मानात् मायायाः लोभात् प्रेम्णः द्वेषात् कलहात् अभ्याख्यानात् पैशुन्यात् परपरिवादात् अरतिरतिभ्याम् मायामृषाभ्याम् मिथ्यादर्शनशल्याद् इति स महतः आदानात् उपशान्तः उपस्थितः प्रतिविरतः स भिक्षुः । ये इमे त्रसस्थावराः प्राणाः भवन्ति, तान् न स्वयं समारभते, नाऽन्यैः समारम्भयति, अन्यान् समारभतोऽपि न समनुजानाति, इति स महतः आदानात् उपशान्तः उपस्थितः प्रतिविरतः स भिक्षुः । ये इमे कामभोगाः सचित्ता वा अचित्ता वा तान् न स्वयं प्रतिगृह्णाति नाऽन्येन प्रतिग्राहयति, अन्यमपि प्रतिगृह्णन्तं न समनुजानाति इति स महतः आदानात् उपशान्तः उपस्थितः प्रतिविरतः स भिक्षुः । यदपि चेदं साम्परायिकं कर्म क्रियते, न तत् स्वयं करोति, नाऽन्येन कारयति, अन्यमपि कुर्वन्तं न समनुजानाति, इति स महतः आदानात् उपशान्तः उपस्थितः प्रतिविरतः । स भिक्षुः जानीयाद् अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा एतत्प्रतिज्ञाया एकं साधर्मिकं समुद्दिश्य प्राणान् भूतानि जीवान् सत्त्वान् समारभ्य समुद्दिश्य क्रीतं उद्यतकं आच्छेद्यं अनिसृष्टम् अभ्याहृतम् आहृत्योद्देशिकं तच्चेदृत्तं स्यात् तन्नो स्वयं भुंजीत नाऽन्येन भोजयेत्, अन्यमपि भुंजानं न समनुजानीयात् इति स महतः आदानात् उपशान्तः उपस्थितः प्रतिविरतः । स भिक्षुः अथ पुनरेवं जानीयात् तद् विद्यते तेषां पराक्रमे यदर्थाय ते इमे स्युः । तद्यथा आत्मनः पुत्राद्यर्थाय यावदादेशाय पृथक् प्रग्रहणार्थं श्यामाशाय प्रातराशाय सन्निधिसन्निचयः क्रियते एतेषां मानवानां भोजनाय तत्र भिक्षुः परकृतं, परनिष्ठितमुद्गमोत्पादनैषणाशुद्धं शस्त्रातीतं शस्त्रपरिणामितं अविहिंसितम् एषितं वैषिकं सामुदानिकं प्राप्तमशनं कारणार्थाय प्रमाणयुक्तम् अक्षोपाञ्जनव्रणलेपनभूतं संयमयात्रामात्रावृत्तिकं बिलमिव पन्नगभूतेनाऽत्मना आहारमाहरेत् । अन्नमन्नकाले पानं पानकाले वस्त्रं वस्त्रकाले लयनं लयनकाले शयनं शयनकाले । स भिक्षुः मात्राज्ञः अन्यतरां दिशमनुदिशं वा प्रतिपन्नो धर्ममाख्यापयेत् विभजेत् कीर्तयेत् । उपस्थितेषु वा अनुपस्थितेषु वा शुश्रूषमाणेषु प्रवेदयेत् शान्ति विरतिम् उपशमं निर्वाणं शौचम् आर्जवं मार्दवं लाघवं अनतिपातिकम्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वेषां प्राणानां सर्वेषां भूतानां यावत् सत्त्वानामनुविचिन्त्य कीर्तयेद् धर्मम्। स भिक्षुः धर्मकीर्तयन् नो अन्नस्य हेतोः धर्ममाचक्षीत, नो पानकस्य हेतोः धर्ममाचक्षीत, नो वस्त्रस्य हेतोः धर्ममाचक्षीत, नो लयनस्य हेतोः धर्ममाचक्षीत, नो शयनस्यहेतोः धर्ममाचक्षीत, नो अन्येषां विरूपरूपाणां कामभोगानां हेतूनां धर्ममाचक्षीत, अग्लानो धर्ममाचक्षीत, नान्यत्र कर्मनिर्जरार्थाय धर्ममाचक्षीत। इह खलु तस्य भिक्षोरन्तिके धर्मं श्रुत्वा निशम्य सम्यगुत्थानेनोत्थाय वीराः अस्मिन् धर्मे समुत्थिताः। ये एवं सर्वोपगताः, ते एवं सर्वोपरताः, ते एवं सर्वोपशान्ताः, ते एवं सर्वात्मतया परिनिर्वृत्ता इति ब्रवीमि। एवं स भिक्षुः धर्मार्थी धर्मवित् नियागप्रतिपन्नः, तद् यथेदमुक्तम्। अथवा प्राप्तः पद्मवरपुण्डरीकम् अथवा अप्राप्तः पद्मवरपुण्डरीकम् एवं स भिक्षुः परिज्ञातकर्मा परिज्ञातसंगः परिज्ञातगृहवासः उपशान्तः समितः सहितः सदा यतः स एवं वचनीयः तद्यथा—श्रमण इति वा, माहन इति वा, क्षान्त इति वा, दान्त इति वा, गुप्त इति वा, मुक्त इति वा, ऋषिरिति वा, मुनिरिति वा, कृती इति वा, विद्वान् इति वा, भिक्षुरिति वा, रूक्ष इति वा, तीरार्थी इति वा, चरणकरणपारविद् इति वा। इति ब्रवीमि ॥ सू० १५ ॥

अन्वयार्थ

(**तत्थ खलु भगवया छज्जीवनिकायहेऊ पण्णत्ता**) भगवान् श्री अर्हन्तदेव ने छह काय के जीवों को कर्मबन्ध का कारण कहा है (**तं जहा—पुढवीकाए जाव तसकाए**) पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक ६ प्रकार के जीव कर्मबन्ध के कारण हैं। (**से जहाणामए दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलूण वा कवालेण वा आउट्टिज्जमाणस्स वा हम्ममाणस्स वा**) मान लो जैसे कोई व्यक्ति मुझे डंडे से, हड्डी से, मुक्के से, ढेले या पत्थर से अथवा घड़े के फूटे हुए ठीकरे आदि से मारता है, अथवा चाबुक आदि से पीटता है। (**तज्जिज्जमाणस्स**) या अँगुली दिखाकर धमकाता है, या डाँटता-फटकारता है, (**ताडिज्जमाणस्स**) अथवा ताड़न करता है; (**परियाविज्जमाणस्स**) अथवा सताता है, (**किलामिज्जमाणस्स**) या क्लेश देता है, (**उद्दविज्जमाणस्स**) उद्विग्न करता है, डराता है या उपद्रव करता है, तो (**मम असायं**) मुझे दुःख होता है, (**जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारगं दुक्खं भयं पडिसंवेदेमि**) यहाँ तक कि अगर कोई मेरा एक रोम भी उखाड़ देता है तो मुझे मारने जैसा दुःख और भय होता है, (**इच्चेवं जाण सव्वे जीवा सव्वे भूता सव्वे पाणा सव्वे सत्ता दंडेण वा जाव कवालेण वा आउट्टिज्जमाणा वा हम्ममाणा वा**) इसी तरह सभी जीव, सभी भूत, सभी प्राणी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और सभी सत्त्व डंडे, मुक्के, हड्डी या चाबुक अथवा ठीकरे से मारे जाते हुए या पीटे जाते हुए (**तज्जिज्जमाणा वा**) अंगुली दिखाकर धमकाए या डाँटे जाते हुए (**ताडिज्जमाणा वा**) ताड़न (प्रहार) किये जाते हुए, (**परियाविज्जमाणा वा**) सताए जाते हुए, (**किलामिज्जमाणा वा**) क्लेश दिये जाते हुए, (**उद्दविज्जमाणा वा**) उद्विग्न किये जाते हुए (**जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारगं दुक्खं भयं पडिसंवेदेंति**) यहाँ तक कि एक रोम के उखाड़ने के कष्ट का सा मारने का सा दुःख तथा भय प्राप्त करते हैं। (**एवं णच्चा सव्वे पाणा जाव सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा ण परिघेतव्वा, ण परितावेयव्वा ण उद्दवेयव्वा**) यह जानकर किसी भी प्राणी की हिंसा न करनी चाहिए, उन्हें बलात् किसी भी कार्य में नहीं लगाना चाहिए, उन्हें जबर्दस्ती दास-दासी आदि नहीं बनाना चाहिए, न उन्हें किसी प्रकार से संतप्त करना चाहिए, न किसी भी प्राणी को उद्विग्न करना चाहिए। (**से बेमि जे य अतीता, जे य पडुप्पन्ना, जे य आगमिस्सा अरिहंता भगवंता सव्वे ते एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णवेंति, एवं परूवेंति**) इसलिए मैं (सुधर्मास्वामी) कहता हूँ कि जो तीर्थंकर भूतकाल में हो चुके हैं, जो वर्तमान में हैं, तथा जो भविष्य में होंगे, वे सभी तीर्थंकर भगवान् ऐसा ही उपदेश देते हैं, ऐसा ही भाषण करते हैं, ऐसा ही आदेश करते हैं और ऐसी ही प्ररूपणा करते हैं। (**सव्वे पाणा जाव सत्ता ण हंतव्वा ण अज्जावेयव्वा ण परिघेतव्वा ण परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा**) वे (भगवान्) कहते हैं कि किसी भी प्राणी को मत मारो, जबरन उनसे अपनी आज्ञा का पालन न कराओ, बलात् किसी प्राणी को दासी-दास आदि न बनाया जाए, उन्हें कष्ट न दिया जाए। उन पर कोई उपद्रव न किया जाय, या उन्हें उद्विग्न न किया जाए, (**एस धम्मे धुवे णिइए [णिच्चे] सासए**) यही धर्म ध्रुव है, नित्य है और शाश्वत है, सदा स्थिर रहने वाला है। (**लोगं समिच्च खेयन्नेहिं पवेइए**) समस्त लोक को केवलज्ञान के प्रकाश में जानकर जीवों के खेद (पीड़ा) को जानने वाले श्री तीर्थंकरों ने इस धर्म का निरूपण किया है। (**एवं पाणाइवायाओ जाव परिग्गहाओ विरए से भिक्खू णो दंत पक्खालणेणं नो दंते पक्खालेज्जा**) इस प्रकार प्राणातिपात से लेकर परिग्रह-पर्यन्त पाँचों आस्रवों से निवृत्त साधु दतौन आदि दाँत साफ करने वाले पदार्थों से दाँतों को साफ न करे, (**णो अंजणं, णो वमणं, णो धूवणे, णो तं परियाविएज्जा**) तथा शोभा के लिए आँखों में अंजन (काजल) न लगावे, न दवा लेकर वमन (कै) करे, तथा अपने वस्त्रों को धूप आदि से सुगन्धित न करे तथा खाँसी आदि रोगों के शमन के लिए धूम्रपान न करे। (**से भिक्खू अकिरिए, अलूसए, अकोहे, अमाणे, अमाये, अलोहे, उवसंते परिनिव्वुडे पुरतो आसंसं णो करेज्जा**) वह साधु सावद्य क्रियाओं से रहित हो अलूषक— जीवहिंसा आदि क्रियाओं से रहित हो, अक्रोधी, अमानी, अमायी और लोभरहित हो, वह शान्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा समाधियुक्त होकर रहे, और वह अपनी क्रिया से परलोक में कामभोग की प्राप्ति की आकांक्षा न करे। (**इमेण मे दिट्ठेण वा सुएण वा मएण वा विन्नाएण वा इमेण वा सुचरियतवनियमबंभचेरवासेण वा इमेण वा जाया मायावुत्तिएणं धम्मेणं इओ चुए पेच्चा देवे सिया**) और वह साधु यह भी आकांक्षा न करे कि यह इतना ज्ञान मैंने जाना-देखा है, सुना है, अथवा मनन किया है एवं विशिष्ट रूप से अभ्यास किया है तथा यह जो मैंने उत्तम चारित्र (आचरण) तप, नियम और ब्रह्मचर्य का पालन किया है, तथा अपनी संयमयात्रा एवं धर्मपालन के कारणभूत शरीर के निर्वाह मात्र के लिए शुद्ध आहार ग्रहण किया है, 'इन सब कर्मों के फलस्वरूप शरीर छोड़ने के पश्चात् मुझे परलोक में देवगति प्राप्त हो। मैं देव बन जाऊँ।' (**कामभोगाण-वसवत्ती सिद्धे वा अदुक्खमसुभे**) तथा ऐसी कामना भी साधु न करे कि 'समस्त कामभोग मेरे अधीन हों, मैं अणिमा आदि सिद्धियों से सम्पन्न बनूँ, मैं सब दुःखों एवं अशुभ कर्मों से रहित होऊँ।' (**एत्थ वि सिया, एत्थ वि णो सिया**) क्योंकि तप आदि के द्वारा सभी कामनाओं की प्राप्ति (पूर्ति) कभी होती है और कभी नहीं भी होती। (**जे भिक्खू सद्देहिं रूवेहिं गंधेहिं रसेहिं फासेहिं अमुच्छिए**) इसी प्रकार जो भिक्षु मनोहर शब्दों, मनोज्ञ रूपों, मनोज्ञ रसों, गन्धों और कोमल स्पर्शों में आसक्त न रहता हुआ (**कोहाओ, माणाओ, मायाओ, लोहाओ, पेज्जाओ, दोसाओ, कलहाओ, अब्भक्खाणाओ, पेसुन्नाओ, परपरिवायाओ, अरइरईओ, मायामोसाओ, मिच्छादंसणसल्लाओ विरए**) क्रोध, मान, माया, लोभ, राग (मोह), द्वेष, कलह, दोषारोपण, पैशुन्य (चुगली), परनिन्दा, संयम में अप्रीति, असंयम में प्रीति, कपट सहित झूठ, मिथ्यादर्शनरूपी शल्य से विरक्त रहता है। (**इति से महतो आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरए से भिक्खू**) इस प्रकार उस भिक्षु के महान् कर्मों के आदान (बन्ध) उपशान्त हो जाते हैं, वह उत्तम संयम में उद्यत (उपस्थित) हो जाता है, वह पापों से प्रतिनिवृत्त हो जाता है। (**जे इमे तसथावरा पाणा भवंति, ते णो सयं समारंभइ, णोऽण्णेहिं समारंभावेंति, अन्ने समारंभते वि ण समणुजाणंति**) वह साधु त्रस और स्थावर प्राणियों का स्वयं आरम्भ (हिंसाजनक प्रवृत्ति-व्यापार) नहीं करता, दूसरों से आरम्भ नहीं कराता, तथा आरम्भ करते हुए को अच्छा नहीं जानता; (**इति से महतो आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडि-विरए**) इस कारण से वह साधु महान् कर्मों के आदान (बन्धन) से उपशान्त हो जाता है, वह शुद्ध समय में उद्यत होता है, तथा पापकर्मों से निवृत्त होता है। (**जे इमे काम-भोगा सचित्ता वा अचित्ता वा ते णो सयं परिगिह्णंति णोऽण्णेण परिगिण्हावेंति, अन्नं परिगिण्हंतंपि ण समणुजाणंति**) जो ये सचित्त या अचित्त कामभोग (के साधन) हैं, उन्हें वह स्वयं ग्रहण नहीं करता, न दूसरों से ग्रहण कराता है, तथा उन्हें ग्रहण करने वाले व्यक्ति को अच्छा नहीं समझता है, (**इति से महतो आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पडिविरए) इस कारण से वह भिक्षु महान् कर्मबन्धनों से मुक्त-उपशान्त हो जाता है, शुद्ध संयम में पराक्रम करता है और पापों से निवृत्त हो जाता है। (**जंपि य इमं संपराइयं कम्मं कज्जइ, णो तं सयं करेइ, णो अन्नाणं कारवेइ, अन्नं पि करेंतं ण समणुजाणइ**) जो यह साम्परायिक (कषाययुक्त होकर संसारवृत्ति करने वाले) कर्मों का बन्धन होता है, उसे वह साधु स्वयं नहीं करता, न वह दूसरों से कराता है, तथा ऐसे साम्परायिक कर्मबन्धन करते हुए को अच्छा नहीं समझता। (**इति से भिक्खू महतो आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरए**) इस कारण वह भिक्षु महान् कर्मबन्ध से उपशान्त हो जाता है, शुद्ध संयम में रत हो जाता है तथा पापों से विरत हो जाता है। (**से भिक्खू जाणेज्जा असणं ४ वा अस्सि पडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारंभ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छिज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टुद्देसियं चेतियं सिया णो सयं भुंजइ**) यदि साधु यह जान जाय कि अमुक श्रावक ने किसी साधर्मिक साधु को दान देने के लिए प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों का आरम्भ (हिंसात्मक व्यापार) करके आहार बनाया है अथवा साधु को दान देने के लिए खरीदा है, या किसी से उधार लिया है, या जबरन छीनकर लिया है, अथवा मालिक से पूछे बिना ही ले लिया है, एवं किसी गाँव आदि से साधु के सम्मुख वह आहारादि लेकर आया है, अथवा साधु के निमित्त बनाया है, तो ऐसा दोषयुक्त आहार वह न ले, कदाचित् भूल से ऐसा आहार लेने में आ जाय तो वह स्वयं उसका सेवन न करे। (**णोऽण्णेणं भुंजावेइ**) दूसरे को भी वह दोषयुक्त आहार न खिलाए (**अण्णंपि भुंजतं णो समणुजाणइ**) ऐसा आहार खाने वाले को अच्छा न समझे। (**इति से महतो आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरए**) जो साधु ऐसे दोषयुक्त आहार का त्याग करता है, इस कारण से वह महान् कर्मबन्ध से उपशान्त (दूर) रहता है, वह शुद्ध संयम में उद्यत रहता है और पापों से विरत रहता है। (**से भिक्खू अह पुणेवं जाणेज्जा, तं विज्जइ तेसिं परक्कमे जस्सट्ठा ते वेइयं सिया, तं जहा—अप्पणो पुत्ता इणट्ठाए जाव आएसाए पुढो पहेणाए सामासाए पायरासाए संणिहिसंणिचओ किज्जइ एएसिं माणवाणं भोयणाए**) अगर वह साधु यह जान जाय कि गृहस्थ ने जिनके लिए आहार बनाया है, वे साधु नहीं, अपितु दूसरे हैं; जैसे कि गृहस्थ ने अपने लिए, अपने पुत्रों के लिए अथवा अतिथि के लिए या किसी दूसरे स्थान पर भेजने के लिए या रात्रि में खाने के लिए अथवा सुबह के नाश्ते के लिए वह आहार बनाया है, अथवा इस लोक में जो दूसरे मनुष्य हैं, उनके लिए उसने आहार का संग्रह किया है, (**तत्थ भिक्खू परकडं परणिट्ठियं उग्गमुप्पायणेसणासुद्धं सत्थाइयं सत्थपरिणामियं अविहिंसियं एसियं वेसियं साभुदाणियं पत्तमसणं कारणट्ठा पमाणजुत्तं अक्खोवंजणवणलेवणभूयं संजमजायामायावत्तियं बिलमिव पन्नगभूएणं अप्पाणेणं आहारं आहारेज्जा**) यदि ऐसा आहार हो तो भिक्षु दूसरे के द्वारा और दूसरे के लिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किये गये, उद्गम-उत्पादन और एषणा दोषों से रहित होने के कारण शुद्ध अग्नि आदि शस्त्र द्वारा परिणत होने से अचित्त बने हुए, अग्नि आदि शस्त्रों द्वारा अत्यन्त निर्जीव किये हुए, एषणा (भिक्षावृत्ति) से प्राप्त, अहिंसक (हिंसा-दोष से रहित) तथा साधु के वेषमात्र से प्राप्त, सामुदायिक भिक्षा (माधुकरी) वृत्ति से प्राप्त, गीतार्थ साधु के द्वारा लिये हुए वैयावृत्य (सेवा) आदि ६ कारणों में से किसी कारण से लिए हुए, तथा प्रमाणोपेत, एवं गाड़ी को चलाने के लिए उसकी धुरी पर दिये जाने वाले तेल तथा घाव पर लगाये जाने वाले लेप के समान, सिर्फ संयमयात्रा के निर्वाहार्थ लिये हुए अशन, पान, खाद्य एवं स्वाद्यरूप चतुर्विध आहार को, बिल में प्रवेश करते हुए साँप के समान स्वाद लिये बिना ही आहार का सेवन करे। (**अन्नं अन्नकाले, पाणं पाणकाले, वत्थं वत्थकाले, लेणं लेणकाले, सयणं सयणकाले**) इस प्रकार जो साधु अन्नकाल में अन्न को, पीने के समय पान को, वस्त्र पहनने के समय में वस्त्र को, मकान में प्रवेश के समय मकान को, और सोने के समय में शय्या आदि को ग्रहण एवं सेवन (उपभोग) करता है, (**से भिक्खू मायन्ने**) वह साधु प्रत्येक वस्तु की मात्रा अथवा धर्म-मर्यादा को जानने वाला है। (**अन्नयरं दिसं अणुदिसं वा पडिवन्ने धम्मं आइक्खेज्जा**) वह किसी दिशा या विदिशा से आकर धर्म का उपदेश करे। (**धम्मं आइक्खे विभए किट्टए उवट्ठिएसु वा अणुवट्ठिएसु वा सुस्सूसमाणेसु पवेदए**) वह साधु धर्म का उपदेश दे, उसकी व्याख्या करे, उसका कीर्तन करे। धर्म सुनने की इच्छा से अच्छी तरह से उपस्थित हों अथवा कौतुक आदि की दृष्टि से उपस्थित जो भी व्यक्ति हों, उन्हें धर्म का उपदेश करे। (**संतिविरतिं उवसमं निव्वाणं सोयवियं अज्जवियं मद्दवियं लाघवियं अणतिवाइयं सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं, सव्वेसिं जीवाणं, सव्वेसिं सत्ताणं अणुवाइं किट्टए धम्मं**) वह साधु शान्ति, विरक्ति, उपशम, इन्द्रिय-निग्रह, निर्वाण (मोक्ष), शौच (पवित्रता) आर्जव (सरलता), मृदुता, लघुता, प्राणियों के प्रति अहिंसा आदि धर्मों का उपदेश करता हुआ, समस्त प्राणियों, सभी भूतों, सर्वजीवों और सभी सत्त्वों के कल्याण का विचार करके उपदेश दे। (**से भिक्खू धम्मं किट्टमाणे णो अन्नस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो पाणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो वत्थस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो लेणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो सयणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो अन्नेसिं विरूवरूवाणं कामभोगाणं हेउं धम्ममाइक्खेज्जा**) इस प्रकार धर्म का कीर्तन (उपदेश) करता हुआ वह साधु अन्न के लिए, पान के लिए, मकान के लिए, शय्या के लिए अथवा दूसरे अनेक कामभोगों के साधनों की प्राप्ति के के लिए धर्म का कथन न करे। (**अगिलाए धम्ममाइक्खेज्जा नन्नत्थ कम्मणिज्जरट्ठाए धम्ममाइक्खेज्जा**) धर्म का उपदेश अग्लान भाव (प्रसन्नचित्त) से करे, कर्मनिर्जरा के सिवाय और किसी फल की प्राप्ति की इच्छा से धर्मोपदेश न करे। (**इह खलु तस्स भिक्खुस्स**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म उट्ठाणेणं उट्ठाय वीरा अस्सिं धम्मे समुट्ठिया) इस जगत् में उस (पूर्वोक्त गुणसम्पन्न) भिक्षु से धर्म को सुनकर तथा उस पर विचार करके धर्माचरण करने के लिए साधुरूप में उद्यत वीरपुरुष ही इस आर्हत धर्म में उपस्थित (दीक्षित) होते हैं। (**जे तस्स भिक्खुस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म सम्मं उट्ठाणेणं उट्ठाए वीरा अस्सिं धम्मे समुट्ठिया ते एवं सव्वोपगया, ते एवं सव्वोवरता, ते एवं सव्वोवसंता ते एवं सव्वताए परिनिव्वुडत्ति बेमि**) जो वीर पुरुष उस (पूर्वोक्त गुणयुक्त) साधु से धर्म को सुनकर तथा समझकर धर्माचरण करने को तत्पर होते हुए आर्हत धर्म में उपस्थित (दीक्षित) होते हैं, वे इस प्रकार मोक्ष के सब कारणों को प्राप्त करते हैं, वे सब पापों से विरत होते हैं, वे समस्त कषायों को उपशान्त कर लेते हैं, वे सर्व प्रकार से कर्मों का क्षय करते हैं, यह मैं कहता हूँ। (**एवं से भिक्खू धम्मट्ठी धम्मविऊ णियागपडिवन्ने से जहेयं बुइयं अदुवापत्ते पउमवरपोंडरीयं, अदुवा अपत्ते पउमवरपोंडरीयं**) इस प्रकार वह भिक्षु धर्मार्थी है (धर्म से ही प्रयोजन रखता है), धर्मवेत्ता है, शुद्ध संयम को प्राप्त किया हुआ है, वह साधु, जैसा कि पहले कहा गया था, पूर्वोक्त पुरुषों में से पाँचवाँ पुरुष है। वह चाहे उत्तम श्वेतकमल को प्राप्त करे या न करे, वही सबसे श्रेष्ठ है। (**एवं से भिक्खू परिण्णायकम्मे, परिण्णायसंगे, परिण्णायगेहवासे उवसंते समिए सहिए, सया जए से एवं वयणिज्जे**) इस प्रकार वह भिक्षु कर्म के रहस्य को, बाह्य-आभ्यन्तर दो प्रकार के सम्बन्धों (ग्रन्थों) को तथा गृहवास के मर्म को जान जाता है, वह जितेन्द्रिय, उपशान्त, पाँच समितियों से सम्पन्न, ज्ञानादि गुणों से युक्त तथा सदा संयम में प्रयत्नशील रहता है, उसे इस प्रकार (आगे कहे जाने वाले विशेषणों से) कहना चाहिए। (**तं जहा—समणेति वा माहणेति वा खंतेति वा दंतेति वा गुत्तेति वा मुत्तेति वा इसीति वा मुणीति वा कतीति वा विऊति वा भिक्खूति वा लूहेति वा तीरट्ठीति वा चरणकरणपारविउ त्ति बेमि**) जैसे कि यह श्रमण है या माहन है, अथवा क्षान्त (क्षमाश्रमण) है, अथवा यह दान्त है, वह तीन गुप्तियों से गुप्त है, अथवा मुक्त है, या यह ऋषि है, या मुनि है अथवा कृती है, अथवा विद्वान् है, भिक्षु है, या रूक्ष है, अथवा तीरार्थी है, (संसार-समुद्र को पार करने का अभिलाषी है, तथा मूल-उत्तर गुण (चरण एवं करण) का पारगामी (रहस्य ज्ञाता) है। मतलब यह है कि पूर्वोक्त गुणसम्पन्न साधु को इन विशेषणों में से किसी भी विशेषण से विभूषित किया जा सकता है। इस प्रकार मैं (सुधर्मास्वामी) कहता हूँ।

व्याख्या

पंचम पुरुष : भिक्षु का स्वरूप, विश्लेषण

इस सूत्र में पहले बताये गये पाँच पुरुषों में से पुण्डरीक कमल को प्राप्त करने में सफल पाँचवें पुरुष के स्वरूप का स्पष्ट निरूपण किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुतत्त्व को जानने वाले विज्ञ साधक अपने सुख-दुःख के समान विश्व के समस्त जीवों के सुख-दुःखों को जानकर उन्हें कदापि पीड़ित एवं दुःखित करने का विचार तक नहीं करते। वे यह भलीभाँति समझ लेते हैं कि जैसे कोई दुष्ट व्यक्ति लाठी, डंडे, मुक्के, ढेले या ईंट के टुकड़े से या ठीकरे से मुझे मारता है, पीटता है, या गाली देता है, अंगुली दिखाकर मुझे धमकाता या डाँटता-फटकारता है, चाबुक से प्रहार करता है, मुझे संताप पहुँचाता, क्लेश करता है, या किसी प्रकार से मुझे उद्विग्न करता है, घबराहट में डालता है, या कोई उपद्रव करता है, तो जैसे मुझे दुःख होता है, अधिक क्या कहें, एक रोम भी अगर कोई उखाड़ता है तो मैं तिलमिला उठता हूँ, मैं हिंसाजनक दुःख महसूस करता हूँ, मुझे कोई गाली दे; जबरन गुलाम बनाए, अपनी आज्ञा में जबर्दस्ती चलाए तो मुझे दुःख का अनुभव होता है, इसी प्रकार संसार के समस्त प्राणी, भूत, जीव एवं सत्त्व को डंडे आदि से मारने-पीटने, सताने, दुःखी करने, यहाँ तक कि उनका एक रोम भी उखाड़ने से वे महान् हिंसामय दुःख का संवेदन करते हैं। उन्हें जबरन अपने अधीन बनाकर आज्ञा में चलाने से, उन्हें नौकर या गुलाम बनाने से, उन्हें डराने, धमकाने से भी उन्हें उतने ही दुःख, पीड़ा या क्लेश का अनुभव होता है। अतः किसी भी प्राणी को मारना-पीटना, गाली देना, डराना-धमकाना, जबरन उसे दासी-दास आदि बनाना या जबर्दस्ती पकड़कर कैद कर देना, सताना या व्यथित करना, किसी भी प्रकार से उन्हें हैरान करना कथमपि उचित नहीं है। वे महान पुरुष (साधक) इस उत्तम विज्ञान के कारण पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस; इन षट्काय के जीवों को कष्ट देने या हानि पहुँचाने वाली प्रवृत्तियों का त्याग कर देते हैं। ऐसे महान् पुरुष ही धर्म के रहस्य को जानने वाले हैं। क्योंकि भूतकाल में केवलज्ञानी, निर्वाणी सागर आदि जितने भी तीर्थंकर हो चुके हैं, वर्तमान में ऋषभ, अजित आदि जो तीर्थंकर हुए हैं तथा भविष्य में पद्मनाभ, अमम, शूरसेन आदि जो भी तीर्थंकर होंगे, उन सब तीर्थंकरों का यही कथन, प्ररूपण एवं आदेश है, संदेश या उपदेश है कि किसी भी जीव को मारना, जबरन अपनी आज्ञा में चलाना, अपना गुलाम बनाना, उसे संताप देना या उद्विग्न करना उचित नहीं है, यही अहिंसाधर्म है, जो शाश्वत है, नित्य है, ध्रुव है, सदा एकरूप से स्थित एवं उत्पाद-विनाश से रहित है। उन महापुरुषों ने केवलज्ञान के प्रकाश में इस शाश्वत धर्म का प्रतिपादन किया है।

इस धर्म की रक्षा के लिए शुद्ध संयमी साधु दतौन आदि से अपने दाँतों को साफ नहीं करते, न शोभा के लिए आँखों में अंजन लगाते हैं, न ही दवा लेकर वमन और विरेचन करते हैं तथा वे अपने कपड़ों को धूप आदि से सुवासित नहीं करते, न रोग के उपशमनार्थ धूप आदि देते हैं और न धूम्रपान ही करते हैं। बयालीस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोषों से रहित शुद्ध, एषणीय, कल्पनीय, प्रासुक आहार भी केवल संयम और शरीर के निर्वाहार्थ लेते हैं, रसलोलुपता की दृष्टि से नहीं लेते। वे समय के अनुसार ही सारी क्रियाएँ करते हैं, व्यर्थ की एक भी सावद्य क्रिया नहीं करते। वे अन्न के समय में अन्न लेते हैं, पानी के समय में पानी पीते हैं, वस्त्र के समय वस्त्र परिधान करते हैं और शयन के समय में शय्या बिछाते हैं। इस प्रकार उनके आहार, विहार, नीहार आदि सब कार्य नियमित, यतना से युक्त एवं उपयोगपूर्वक होते हैं, अन्यथा नहीं होते। वे अठारह पापों से निवृत्त होकर ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना करते हैं। वे साधु इन्द्रियों और मन को वश में करते हैं, जीवहिंसादिजनक कार्यों से दूर रहते हैं, चार कषायों को भी उपशान्त कर देते हैं, वे इहलोक-परलोक सम्बन्धी कामना नहीं करते हैं। साधु इस प्रकार की आकांक्षा न करे कि मैंने जो शास्त्राध्ययन (ज्ञानाराधन) किया है, जो तपश्चरण किया है, नियमों का पालन किया है, नाना प्रकार के अभिग्रह धारण किये हैं, शरीर-यात्रा के निर्वाहार्थ शुद्ध प्रासुक आहार का सेवन किया है, एवं धर्माचरण किया है, इन सब के फलस्वरूप इस शरीर को छोड़ने पर मैं देव हो जाऊँ, सब प्रकार के काम-भोग मेरे अधीन हो जाएँ, अणिमा आदि सिद्धियाँ मेरे आगे हाथ जोड़े खड़ी हों, मैं सभी दुःखों और अशुभ फलों से बच जाऊँ। मुनि इस प्रकार की कोई आकांक्षा या कामना न करे, क्योंकि तपश्चर्या से कदाचित् कोई कामना पूर्ण होती है, कोई नहीं भी होती। ऐसा कोई नियम नहीं है कि तपस्या से प्रत्येक कामना पूरी हो ही जाए। अतः भिक्षु को अपने मन-वचन-काया पर नियन्त्रण रखना चाहिए। जो पाँचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्त न हो, वही सुसंयमी साधु है। सच्चे साधु इहलोक-परलोक के सुखों की तृष्णा से रहित परम वैराग्यसम्पन्न होते हैं। वही साधु महान् कर्मबन्धों से निवृत्त हो जाते हैं, शुद्ध संयम पालन में उद्यत रहते हैं और पापों से विरत हो जाते हैं।

ऐसे सुसंयमी साधु चाहे जिस देश में विचरण करते हों, वे वहाँ की जनता के कल्याण के लिए अहिंसादि धर्म का उपदेश देते हैं। वे सावद्य-निरवद्य का विभाग करके धर्म के सम्बन्ध में प्रेरणा करते हैं। जनता के निर्दोष धर्म और उसके फल की प्ररूपणा करते हैं, वे समस्त प्राणियों का हितचिन्तन करके शान्ति, विरति, उपशम, वैराग्य, निर्वाण, शौच, आर्जव, मार्दव, लाघव, अहिंसा आदि धर्मों के विषय में प्रवचन करते हैं। उनके उपदेश को सुनकर कोई श्रोता धर्माचरण में उद्यत हो या न हो, वे कल्याणकारी उपदेश ही देते हैं। वे अपना धर्मोपदेश स्वादिष्ट भोजन, श्रेष्ठ पेय पदार्थ, बढ़िया वस्त्र, उत्तम मकान एवं शयनादि सामग्री तथा अन्य किसी भी प्रकार के काम-भोग के साधनों को प्राप्त करने के लिए नहीं करते।

ऐसे महान् पुरुष और ऐसे महान् पुरुषों से शुद्ध धर्म का श्रवण-मनन एवं हृदयंगम करके कर्मविदारण में समर्थ वीर पुरुष दीक्षित होकर आर्हत धर्म में उद्यत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुए पुरुष ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपरूप मोक्षमार्ग को प्राप्त करते हैं, समस्त कषायों को जीत लेते हैं, समस्त सावद्यकर्मों से रहित हो जाते हैं, अन्त में समस्त कर्मों का क्षय कर देते हैं।

ऐसे पुरुषों द्वारा दिये गये उपदेशों को सुन-समझकर मनुष्य कल्याण-भाजन होता है, वही पुरुष पूर्वोक्त पुष्करिणी में स्थित उत्तम श्वेतकमल को पाने में सफल होने वाला पाँचवाँ पुरुष है। वही पुरुष शुद्ध धर्म का आचरण करके स्वयं भवसागर को पार कर जाता है, और अनेकों भव्य जीवों को पार कर देता है। ऐसे पुरुष को ही श्रमण, माहन, जितेन्द्रिय, ऋषि, मुनि, कृती, क्षान्त, दान्त आदि पदों से विभूषित किया जा सकता है।

इस प्रकार सूत्रकृतांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध का प्रथम पुण्डरीक नामक अध्ययन अमर सुखबोधिनी व्याख्या सहित पूर्ण हुआ।

॥ प्रथम अध्ययन समाप्त ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय अध्ययन : क्रियास्थान

प्रथम अध्ययन की व्याख्या की जा चुकी है। अब द्वितीय अध्ययन की व्याख्या की जाती है। प्रथम अध्ययन में पुष्करिणी और पुण्डरीक के दृष्टान्त से यह समझाया गया है कि मोक्ष-प्राप्ति के सम्यक् उपाय को न जानने वाले परतीर्थी कर्मबन्धन से मुक्त नहीं होते, किन्तु सम्यक् श्रद्धा से पवित्र हृदय, राग-द्वेषरहित, विषय-कषायों से उपशान्त उत्तम साधु ही कर्मबन्ध को तोड़कर मोक्ष-पद के भाजन होते हैं और दूसरों को भी वे मोक्ष के अधिकारी बनाते हैं। प्रश्न होता है जीव किन कारणों से कर्मबन्धन में पड़ता है और किनसे कर्मबन्धन से मुक्त हो सकता है? इसी प्रश्न के उत्तर में इस दूसरे अध्ययन की रचना हुई है। सामान्यतया यह माना जाता है—**'क्रियातः कर्म'** क्रिया से कर्मबन्ध होता है, पर ऐसी भी क्रिया होती है, जो बन्धनों से मुक्त कराती है। इस अध्ययन में बारह प्रकार के क्रियास्थानों से बन्धन और तेरहवें क्रियास्थान से मुक्ति बताई गई है।

अध्ययन का संक्षिप्त परिचय

इस अध्ययन का नाम क्रियास्थान है। क्रियास्थान का अर्थ है—प्रवृत्ति का निमित्त। विविध प्रकार की प्रवृत्तियों के विविध कारण होते हैं। इन कारणों को प्रवृत्ति-निमित्त या क्रियास्थान कहते हैं। प्रस्तुत अध्ययन में इन क्रियास्थानों के विषय में कहा गया है कि जो व्यक्ति कर्मक्षय करना चाहता है, वह १२ प्रकार के क्रिया-स्थानों को पहले जान ले, और फिर उनका त्याग कर दे तथा तेरहवें क्रियास्थान को मोक्ष-मार्ग में प्रवृत्ति करने हेतु अपनाए। जो पुरुष इस प्रकार करता है, वह अवश्य ही मुक्ति का अधिकारी होता है।

क्रियास्थान मुख्यतया दो प्रकार के हैं अधर्म क्रियास्थान और धर्म क्रियास्थान। अधर्म क्रियास्थान के १२ भेद हैं—(१) अर्थदण्ड, (२) अनर्थदण्ड, (३) हिंसादण्ड, (४) अकस्मात्दण्ड, (५) दृष्टिविपर्यासदण्ड, (६) मृषाप्रत्ययदण्ड, (७) अदत्तादानप्रत्ययदण्ड, (८) अध्यात्मप्रत्ययदण्ड, (९) मानप्रत्ययदण्ड, (१०) मित्रदोषप्रत्ययदण्ड, (११) माया प्रत्ययदण्ड, (१२) लोभप्रत्ययदण्ड।

ये १२ अधर्म क्रियास्थान एवं १ धर्म क्रियास्थान, यों इन १३ क्रियास्थानों का निरूपण प्रस्तुत अध्ययन का विषय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संक्षेप में सामान्यतया क्रिया का अर्थ होता है—हिलना, चलना, स्पन्दन और कम्पन आदि प्रवृत्ति या व्यापार करना। जैन तार्किकों की दृष्टि से इसके दो भेद होते हैं—द्रव्यक्रिया और भावक्रिया। घट-पट आदि जड़ द्रव्यों का और इसी तरह सचेतन-प्राणवान द्रव्यों का चलन, कम्पन आदि द्रव्यक्रिया है और भावप्रधान क्रिया भावक्रिया है, जो ८ प्रकार की होती है—(१) प्रयोग क्रिया, (२) उपाय क्रिया, (३) करणीय क्रिया, (४) समुदान क्रिया, (५) ईर्यापथ क्रिया, (६) सम्यक्त्व क्रिया, (७) सम्यग्-मिथ्यात्व क्रिया और (८) मिथ्यात्व क्रिया।

प्रयोग क्रिया के मनप्रयोग क्रिया, वचन प्रयोग क्रिया और काय प्रयोग क्रिया—ये तीन भेद होते हैं। मनोद्रव्य जिस क्रिया के द्वारा आत्मा के उपयोग का साधन बनता है, उसे **मनःप्रयोग क्रिया** कहते हैं। इसी तरह वचन और काया सम्बन्धी प्रयोग होते हैं। जिन उपायों से घट-पटादि पदार्थ निर्माण किये जाते हैं, उन उपायों का प्रयोग करना **उपाय क्रिया** है। जो वस्तु जिस तरह की जाती है उसे उसी तरह करना **करणीय क्रिया** है। समुदाय के रूप में जिस क्रिया को करके जीव प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेश रूप से अपने अन्दर स्थापित करता है, उसे **समुदान क्रिया** कहते हैं। जो क्रिया उपशान्तमोह से लेकर सूक्ष्मसम्पराय तक रहती है, वह **ईर्यापथ क्रिया** है। जिस क्रिया से जीव सम्यक्दर्शन के योग्य ७७ कर्मप्रकृतियों को बाँधता है, उसे **सम्यक्त्व क्रिया** कहते हैं। इसी प्रकार प्राणी जब सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनों दोनों के योग्य कर्मप्रकृतियों को बाँधता है, तब उसे **सम्यग्मिथ्यात्व क्रिया** कहते हैं। तीर्थंकर नाम, आहारक शरीर व आहारक अंगोपांग इन तीन प्रकृतियों को छोड़ कर ११७ प्रकृतियों को जीव जिस क्रिया द्वारा बाँधता है, उसे **मिथ्यात्व क्रिया** कहते हैं।

इन द्रव्य-भावरूप क्रियाओं का जो प्रवृत्ति-निमित्त या स्थान है, उसे ही क्रिया-स्थान कहते हैं। इसी क्रियास्थान का इस अध्ययन में वर्णन है।

बौद्ध-परम्परा में हिंसाजन्य प्रवृत्ति को परिभाषा भिन्न प्रकार की है। वहाँ निम्नोक्त ५ अवस्थाओं में हुई हिंसा को ही हिंसा माना जाता है—

(१) मारा जाने वाला प्राणी होना चाहिए, (२) मारने वाले को 'यह प्राणी है' ऐसा स्पष्ट भान होना चाहिए, (३) मारने वाला यह समझता हो कि मैं इसे मार रहा हूँ, (४) साथ ही शारीरिक क्रिया होनी चाहिए, (५) शारीरिक क्रिया के साथ प्राणिवध भी हो।

इन बातों को देखते हुए बौद्ध परम्परा में अकस्मात्दण्ड, अनर्थदण्ड आदि हिंसारूप नहीं माने जा सकते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन परिभाषा के अनुसार प्रत्येक राग-द्वेषजन्य प्रवृत्ति हिंसारूप होती है, जो वृत्ति अर्थात् भावना की तीव्रता-मन्दता के अनुसार कर्मबन्ध का कारण बनती है।

प्रसंगवशात् शास्त्रकार ने अष्टांग निमित्तों एवं अंगविद्या आदि विविध विद्याओं का भी उल्लेख किया है। दीर्घनिकाय के सामञ्ञफलसुत्त में भी अंगविद्या, स्वप्नविद्या आदि के लक्षणों का इसी प्रकार उल्लेख है।

प्रस्तुत अध्ययन का पहला सूत्र इस प्रकार है—

मूल पाठ

सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु किरियाठाणे णामज्झयणे पण्णत्ते, तस्स णं अयमट्ठे। इह खलु संजूहेणं दुवे ठाणे एवमाहिज्जंति, तं जहा—धम्मे चेव अधम्मे चेव, उवसंते चेव अणुवसंते चेव।

तत्थ णं जे से पढमस्स ठाणस्स अहम्मपक्खस्स विभंगे, तस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते, इह खलु पाइणं वा ६ संतेगइया मणुस्सा भवंति, तं जहा—आरियावेगे, अणारिया वेगे, उच्चागोया वेगे, णीयागोया वेगे, कायमंता वेगे, हस्समंता वेगे, सुवण्णा वेगे, दुवण्णा वेगे, सुरूवा वेगे, दुरूवा वेगे। तेसिं च णं इमं एयारूवं दंडसमादाणं संपेहाए, तं जहा—णेरइएसु वा, तिरिक्खजोणिएसु वा, मणुस्सेसु वा, देवेसु वा, जे जावन्ने तहप्पगारा पाणा विन्नू वेयणं वेयंति। तेसिं पि य णं इमाइं तेरस किरियाठाणाइं भवंतीतिमक्खायं, तं जहा—अट्ठादंडे १, अणट्ठादंडे २, हिंसादंडे ३, अकम्हादंडे ४, दिट्ठिविपरियासियादंडे ५, मोसवत्तिए ६, अदिन्नादाणवत्तिए ७, अज्झत्थवत्तिए ८, माणवत्तिए ९, मित्तदोसवत्तिए १०, मायावत्तिए ११, लोभवत्तिए १२, इरियावत्तिए १३॥ सू० १६॥

संस्कृत छाया

श्रुतं मया आयुष्मता तेन भगवतेदमाख्यातम्—इह खलु क्रियास्थानं नामाध्यमनं प्रज्ञप्तम् तस्यायमर्थः। इह खलु संयूथेन (समूहेन—सामान्येव) द्वे स्थाने एवमाख्यायेते। तद्यथा—धर्मश्चैव अधर्मश्चैव, उपशान्तश्चैव अनुपशान्तश्चैव। तत्र योऽसौ प्रथमस्य स्थानस्य अधर्मपक्षस्य विभंगः, तस्य खल्वयमर्थः प्रज्ञप्तः। इह खलु प्राच्यां वा ६ सन्त्येकतये मनुष्याः भवन्ति, तद्यथा—आर्यावैके, अनार्यावैके, उच्चगोत्रावैके, नीचगोत्रावैके, कायवन्तोवैके, ह्रस्ववन्तोवैके, सुवर्णावैके, दुर्वर्णावैके, सुरूपावैके, दुरूपावैके। तेषां च खल्विदमेतद्रूपं दण्डसमादानं सम्प्रेक्ष्य तद्यथा—नैरयिकेषु वा, तिर्यग्योनिकेषु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वा, मनुष्येषु वा, देवेषु वा ये चान्ये तथाप्रकाराः प्राणाः विद्वांसो वेदनां वेदयन्ति, तेषामपि च खलु इमानि त्रयोदशक्रियास्थानानि भवन्तीत्याख्यातम् तद्यथा—अर्थदण्डः १, अनर्थदण्डः २, हिंसादण्डः ३, अकस्माद्दण्डः ४, दृष्टिविपर्यासदण्डः ५, मृषाप्रत्ययिकः ६, अदत्तादानप्रत्ययिकः ७, अध्यात्मप्रत्ययिकः ८, मानप्रत्ययिकः ९, मित्रदोषप्रत्ययिकः १०, मायाप्रत्ययिकः ११, लोभप्रत्ययिकः १२, ईर्यापथप्रत्ययिकः १३ ॥ सू० १६ ॥

अन्वयार्थ

(आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं मे सुयं) हे आयुष्मन् ! उन भगवान् महावीर ने इस प्रकार कहा था, मैंने सुना है। **(इह खलु किरियाठाणे णामज्झयणे पण्णत्ते)** इस जैनशासन या प्रवचन में क्रियास्थान नाम का अध्ययन कहा गया है उसका अर्थ (प्रतिपाद्य विषय) यह है—**(इह खलु संजूहेणं दुवे ठाणे एवमाहिज्जंति, तं जहा—धम्मे चेव, अधम्मे चेव, उवसंते चेव, अणुवसंते चेव)** इस लोक में सामान्य रूप से दो स्थान बताये जाते हैं, एक धर्मस्थान, दूसरा अधर्मस्थान, एवं एक उपशान्त स्थान और दूसरा अनुपशान्त स्थान। **(तत्थ जे से पढमस्स ठाणस्स अहम्मपक्खस्स विभंगे, तस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते)** इन दोनों स्थानों में से पहला अधर्मपक्ष का जो विभंग (विकल्प) है, उसका अर्थ (अभिप्राय) इस प्रकार कहा गया है—**(इह खलु पाइणं वा ६ संतेगइया मणुस्सा भवंति)** इस लोक में पूर्व आदि दिशाओं और विदिशाओं में अनेक विध मनुष्य रहते हैं, **(तं जहा—आरिया वेगे, अणारिया वेगे, उच्चागोया वेगे, णीयागोया वेगे, कायमंता वेगे, हस्समंता वेगे, सुवण्णा वेगे, दुवण्णावेगे, सुरूवा वेगे, दुरूवा वेगे)** जैसे कि कई लोग आर्य हैं, कई अनार्य हैं, अथवा कई उच्चगोत्र में उत्पन्न हैं, कई नीच गोत्र में उत्पन्न हैं, या कई लम्बे कद के और कई ठिगने कद के हैं अथवा कई उत्कृष्ट वर्ण वाले और कई निकृष्ट वर्ण वाले होते हैं, या कई सुरूप हैं तो कई कुरूप मनुष्य हैं। **(तेसिं च णं इमं एयारूवं दंडसमादाणं संपेहाए, तं जहा—णेरइएसु वा, तिरिक्खजोणिएसु वा, मणुस्सेसु वा, देवेसु वा जे जावन्ने तहप्पगारा विन्नू वेयणं वेयंति)** उन मनुष्यों के आगे कहे अनुसार पापकर्म (दण्ड समादान) करने का संकल्प-विकल्प होता है, जैसे कि नारकों में, तिर्यञ्चयोनि के प्राणियों में, मनुष्यों में और देवों में, या जो इसी प्रकार के अन्य प्राणी हैं उनमें जो विज्ञ (समझदार) प्राणी हैं, वे सुख-दुःख का वेदन (अनुभव) करते हैं, **(तेसिं पि य णं इमाइं तेरस किरियाठाणाइं भवंतीतिमक्खायं)** उनमें अवश्य ही ये तेरह प्रकार के क्रियास्थान होते हैं; ऐसा श्री तीर्थंकरदेव ने कहा है। **(तं जहा)** वे क्रियास्थान इस प्रकार हैं—**(अट्ठादंडे)** अपने किसी प्रयोजन के लिए दण्ड हिंसादि पाप (अर्थदण्ड) की क्रिया करना, **(अणट्ठादंडे)** निष्प्रयोजन हिंसादि पाप पापक्रिया (अनर्थदण्ड क्रिया) करना, **(हिंसादंडे)** प्राणियों की हिंसा के रूप में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दण्ड—पाप (हिंसादण्ड) की क्रिया करना (**अकस्हादंडे**) दूसरे के अपराध का दूसरे को दण्ड देना—अकस्मात् दण्ड क्रिया करना, (**दिट्ठिविपरियासिया दंडे**) दृष्टि-दोष-वश किसी को दण्ड देना, जैसे पत्थर का टुकड़ा समझकर पक्षी को बाण से मारना दृष्टिविपर्यासिक दण्ड किया, (**मोसवत्तिए**) मिथ्या भाषण करके पाप करना—मृषाप्रत्ययिक दण्ड किया, (**अदिन्नादाणवत्तिए**) वस्तु के मालिक के दिये बिना ही उसकी वस्तु ले लेना—अदत्तादानप्रत्ययिक क्रिया, (**अज्झत्थवत्तिए**) मन में बुरा चिन्तन करना—अध्यात्मप्रत्ययिक क्रिया (**माणवत्तिए**) जाति आदि के गर्व के कारण दूसरे को अपने से नीच मानना मानप्रत्ययिक क्रिया, (**मित्तदोसवत्तिए**) मित्रों के साथ द्वेषभाव या द्रोह करना मित्रद्वेषप्रत्ययिक क्रिया, (**मायावत्तिए**) छलकपट, ठगी आदि करना मायाप्रत्ययिक क्रिया, (**लोभवत्तिए**) लोभ करना—किसी वस्तु के लोलुप—आसक्त बनना लोभप्रत्ययिक क्रिया, (**इरियावत्तिए**) पाँच समिति और तीन गुप्तियों का पालन (ईर्यापूर्वक चर्या) करने और सर्वत्र उपयोग रखने पर भी सामान्यतः कर्मबन्ध होना—ईर्यापथिक क्रिया है।

इन तेरह क्रियास्थानों से जीव के कर्मबन्ध होता है, इनके अतिरिक्त कोई ऐसी क्रिया नहीं है, जो कर्मबन्ध का कारण हो।

व्याख्या

संसार के समस्त जीव : इन्हीं तेरह क्रियास्थानों में

इस सूत्र में श्री सुधर्मास्वामी श्री जम्बूस्वामी से भगवान महावीर के श्रीमुख से सुने हुए १३ क्रियास्थानों का उल्लेख करते हैं। वे क्रियास्थान किस-किस प्रवृत्ति के निमित्त से होते हैं, कौन-से धर्मरूप हैं और कौन-से अधर्मरूप है इत्यादि बातों का निरूपण शास्त्रकार ने किया है।

श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य श्री जम्बूस्वामी से कहते हैं—आयुष्मन्! मैंने तीर्थंकर देव श्री भगवान् महावीर के श्रीमुख से क्रियास्थान का वर्णन सुना है, उन्होंने जिस प्रकार से क्रियास्थानों का निरूपण किया था, मैं तुम्हें सुनाता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो। इस जगत् में पूर्वादि दिशाओं तथा विदिशाओं में कई प्रकार के मनुष्य रहते हैं, उनमें कई आर्य हैं, कई अनार्य, कई उच्चगोत्रीय हैं तो कई नीच गोत्रीय, कई भाग्यशाली हैं तो कई अभागे हैं, कई सुरूप और सुवर्ण हैं, तो कई कुरूप और कुवर्ण। इस प्रकार के विचित्र एवं विविध प्रकार के मनुष्यों से भरे हुए इस लोक में खासकर दो प्रकार के क्रियास्थानों में समस्त जीव प्रवर्तमान रहते हैं—एक तो धर्म क्रियास्थान और दूसरा अधर्म क्रियास्थान; अथवा एक उपशान्त और दूसरा अनुपशान्त क्रियास्थान है। कोई भी क्रियावान् प्राणी इन दोनों स्थानों से अलग नहीं है। जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वकृत शुभ कर्म-उदय को प्राप्त हैं वे शक्तिशाली पुरुष उपशान्त धर्म क्रियास्थान में प्रवृत्त रहते हैं, और इससे भिन्न प्राणी अनुपशान्त अधर्म क्रियास्थान में प्रवर्तमान रहते हैं। इस जगत् में जितने भी प्राणी समझदार (विज्ञ) और विशिष्ट चेतनाशील (देव, मनुष्य, नारक और तिर्यचों में) हैं, वे सब सुख-दुःखरूप संवेदन का अनुभव करते हैं, उनके भी ये तेरह क्रियास्थान श्रमण भगवान् महावीर ने बताये हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं--

(१) अर्थदण्ड, (२) अनर्थदण्ड, (३) हिंसादण्ड, (४) अकस्मात्दण्ड, (५) दृष्टिविपर्यासदण्ड, (६) मृषाप्रत्ययिकदण्ड, (७) अदत्तादानप्रत्ययिकदण्ड, (८) अध्यात्मप्रत्ययिक, (९) लोभप्रत्ययिक, (१०) मित्रद्वेषप्रत्ययिक, (११) माया-प्रत्ययिक, (१२) लोभप्रत्ययिक और (१३) ईर्यापथिक। ये १३ क्रियास्थान कहलाते हैं। इन्हीं के द्वारा जीवों को कर्मबन्ध होता है। इनसे भिन्न कोई क्रिया ऐसी नहीं है, जो कर्मबन्ध का कारण हो। इन्हीं तेरह क्रियास्थानों में संसार के समस्त प्राणी प्रवर्तमान हैं।

यद्यपि इन तेरह ही क्रियास्थानों की व्याख्या क्रमशः शास्त्रकार करेंगे, तथापि संक्षेप में यहाँ हम उनका अर्थ देते हैं—

(१) हिंसा आदि दूषणयुक्त जो प्रवृत्ति किसी प्रयोजन से की जाती है, फिर वह चाहे अपनी जाति, कुटुम्ब, मित्र आदि के लिए ही क्यों न की जाती हो, वह **अर्थदण्ड** है।

(२) बिना किसी प्रयोजन के केवल आदत के कारण या मनोरंजन के हेतु की जाने वाली हिंसादि दूषणयुक्त प्रवृत्ति **अनर्थदण्ड** है।

(३) अमुक प्राणियों ने मुझे या मेरे सम्बन्धी को मारा था, मारेगा या मार रहा है ऐसा समझकर जो मनुष्य उन्हें मारने की प्रवृत्ति करता है, वह **हिंसादण्ड** का भागी होता है।

(४) मृगादि को मारने की भावना से बाण आदि छोड़ने पर अकस्मात् किसी अन्य पक्षी आदि का वध हो जाने को **अकस्मात्दण्ड** कहते हैं।

(५) दृष्टि में विपरीतता होने पर मित्र आदि को अमित्र आदि की बुद्धि से मार डालना **दृष्टिविपर्यासदण्ड** है।

(६) अपने लिए, अपने कुटुम्ब या अन्य किसी के लिए झूठ बोलना, बुलवाना या झूठ बोलने वाले का समर्थन करना **मृषाप्रत्ययदण्ड** है।

(७) इसी प्रकार चोरी करना, करवाना, करने वाले का समर्थन करना **अदत्तादानप्रत्ययदण्ड** है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(८) हमेशा चिन्ता में डूबे रहना, संकल्प-विकल्प में लीन रहना, उदास रहना, या दुश्चिन्तन करते रहना **अध्यात्मप्रत्ययदण्ड** है।

(९) जाति, कुल, बल, रूप, ज्ञान, तप, लाभ, ऐश्वर्य आदि के मदों के कारण दूसरों को हीन या नीच समझना **मानप्रत्ययदण्ड** है।

(१०) अपने साथ रहने वालों में से किसी का जरा-सा भी अपराध होने पर उसे भारी सजा (दण्ड) देना, अथवा अपने साथियों के साथ द्रोह करना, **मित्र-द्वेष-प्रत्ययदण्ड** है।

(११) कपटपूर्वक अनर्थकारी प्रवृत्ति या धोखेबाजी, ठगी आदि करना **माया-प्रत्ययदण्ड** है।

(१२) तृष्णा, लोलुपता या आसक्ति के कारण लोभवश हिंसाजनित प्रवृत्ति करना **लोभप्रत्ययदण्ड** है।

(१३) तेरहवाँ क्रियास्थान **ऐर्यापथिक** है, जो धर्महेतुक प्रवृत्ति का है। जो इस प्रकार की प्रवृत्ति धीरे-धीरे बढ़ाते हैं, वे यतनापूर्वक समस्त प्रवृत्ति करते हैं, पाँच समिति एवं त्रिगुप्ति से युक्त, जितेन्द्रिय, निःस्पृही एवं अपरिग्रही होते हैं। अन्ततोगत्वा वे निर्वाण प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार प्रारम्भ के १२ क्रियास्थान अधर्महेतुक प्रवृत्ति के निमित्त हैं, हिंसा पूर्ण हैं, इनसे साधक को दूर रहना चाहिए; जबकि यह १३वाँ क्रियास्थान निर्वाण के अभिलाषियों, मुमुक्षुओं के लिए आचरणीय है।

मूल पाठ

पढमे दंडसमादाणे अट्ठादंडवत्तिएत्ति आहिज्जइ। से जहाणामए केइ पुरिसे आयहेउं वा, णाइहेउं वा, अगारहेउं वा, परिवारहेउं वा, मित्तहेउं वा, णागहेउं वा, भूतहेउं वा, जक्खहेउं वा, तं दंडं तसथावरेहिं पाणेहिं सयमेव णिसिरिति, अण्णेणवि णिसिरावेति, अण्णंपि णिसिरंतं समणुजाणइ, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ, पढमे दंडसमादाणे अट्ठादंडवत्तिएत्ति आहिए॥ सू० १७॥

संस्कृत छाया

प्रथमं दण्डसमादानमर्थदण्डप्रत्ययिकमित्याख्यायते। तद्यथा नाम कश्चित् पुरुषः आत्महेतोर्वा, ज्ञातिहेतोर्वा, अगारहेतोर्वा, परिवारहेतोर्वा, मित्रहेतोर्वा, नागहेतोर्वा, भूतहेतोर्वा, यक्षहेतोर्वा तं दंडं त्रसस्थावरेषु प्राणेषु स्वयमेव निसृजति, अन्येनाऽपि निसर्जयति, अन्यमपि निसृजन्तं समनुजानाति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं खलु तस्य तत्प्रत्ययिकं सावद्यमाधीयते, प्रथमं दण्डसमादानं अर्थदण्ड-प्रत्ययिकमित्याख्यातम् ॥ सू० १७ ॥

अन्वयार्थ

(**पढमे दंडसमादाणे अट्ठादंडवत्तिएत्ति आहिज्जइ**) प्रथम दण्डसमादान अर्थात् क्रियास्थान अर्थदण्डप्रत्ययिक कहलाता है। (**से जहाणामए केइ पुरिसे आयहेउं वा, णाइहेउं वा, अगारहेउं वा, परिवारहेउं वा, मित्तहेउं वा, णागहेउं वा, भूतहेउं वा, जक्खहेउं वा तं दण्डं तसथावरेहिं पाणेहिं सयमेव णिसिरति**) कोई पुरुष अपने लिए, अपने ज्ञातिजनों के लिए अथवा अपने घर या परिवार के लिए या अपने मित्र-जनों के लिए, या भूत, नाग, यक्ष आदि के लिए स्वयं त्रस और स्थावर प्राणियों को दण्ड देता है, (**अण्णेणवि णिसिरावेति**) अथवा पूर्वोक्त कारणों से दूसरे से इन्हें दण्ड दिलवाता है, (**अण्णंपि णिसिरंतं समणुजाणइ**) अथवा दूसरा दण्ड दे रहा हो, उसका अनुमोदन समर्थन करता है, (**एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ**) ऐसी स्थिति में उसे उस क्रिया के निमित्त से सावद्यकर्म का बन्ध होता है। (**पढमे दंडसमादाणे अट्ठादंड-वत्तिएत्ति आहिए**) इस प्रकार प्रथम क्रियास्थान अर्थदण्डप्रत्ययिक कहा गया।

व्याख्या

अर्थदण्डप्रत्यय क्रियास्थान का निरूपण

इस सूत्र में अर्थदण्ड क्रियास्थान की व्याख्या की गई है। कई मतवादी सार्थक क्रियाओं से जनित दण्ड (हिंसा) को पापकर्मबन्धकारक नहीं मानते, परन्तु भगवान महावीर की दृष्टि में वह पापकर्मबन्ध का कारण है, क्योंकि जिस किसी भी प्रवृत्ति में, फिर वह चाहे किसी भी अनिवार्य कारणवश या किसी घनिष्ठ सम्बन्धी के लिए भी क्रिया की गई हो, वह अवश्य ही पापकर्मबन्ध का कारण होगा, हालांकि कर्मबन्ध हलका होगा। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं कि जो व्यक्ति अपने लिए अथवा परिवार, ज्ञातिजन, गृह, मित्र एवं किसी में प्रविष्ट नाग, भूत या यक्ष आदि के निवारणार्थ त्रस-स्थावर प्राणियों की हिंसा स्वयं करता है, दूसरे से हिंसा करवाता है, हिंसा करने वालों की अनुमोदना करता है, उस पुरुष को प्रथम क्रियास्थान अर्थदण्डप्रत्ययिक के अनुष्ठान का पापबन्ध होता है। यही प्रथम क्रियास्थान का स्वरूप है।

मूल पाठ

अहावरे दोच्चे दंडसमादाणे अणट्ठादंडवत्तिएत्ति आहिज्जइ। से जहाणामए केइ पुरिसे जे इमे तसा पाणा भवंति, ते णो अच्चाए, णो अजिणाए, णो मंसाए, णो सोणियाए एवं हिययाए, पित्ताए, वसाए, पुच्छाए, बालाए,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिंगाए, विसाणाए, दंताए, दाढाए, णहाए, ण्हारुणिए, अट्ठीए, अट्ठिमंजाए, णो हिंसिसु मेत्ति, णो हिंसंति मेत्ति, णो हिंसिस्संति मेत्ति, णो पुत्तपोसणाए, णो पसुपोसणाए, णो अगारपरिबूहणताए, णो समणमाहणवत्तणाहेउं, णो तस्स सरीरगस्स किंचि विप्परियादित्ता भवंति, से हंता, छेत्ता, भेत्ता, लुंपइत्ता, विलुंपइत्ता, उद्दवइत्ता उज्झिउं बाले वेरस्स आभागी भवइ अणट्ठादंडे। से जहाणामए केइ पुरिसे जे इमे थावरा पाणा भवंति, तं जहा—इक्कडाइ वा, कडिणाइ वा, जंतुगाइ वा, परगाइ वा, मोक्खाइ वा, तणाइ वा, कुसाइ वा, कुच्छगाइ वा, पव्वगाइ वा, पलालाइ वा, ते णो पुत्तपोसणाए, णो पसुपोसणाए, णो अगारपडिबूहणयाए, णो समणमाहणपोसणयाए, णो तस्स सरीरगस्स किंचि विपरियाइत्ता भवंति। से हंता, छेत्ता, भेत्ता, लुंपइत्ता, विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता उज्झिउं बाले वेरस्स आभागी भवति, अणट्ठादंडे। से जहाणामए केइ पुरिसे कच्छंसि वा, दहंसि वा, उदगंसि वा, दवियंसि वा, वलयंसि वा, णूमंसि वा, गहणंसि वा, गहणविदुग्गंसि वा वणंसि वा, वणदुग्गंसि वा, पव्वयंसि वा, पव्वयदुग्गंसि वा, तणाइं ऊसविय ऊसविय सयमेव अगणिकायं णिसिरति, अण्णेण वि अगणिकायं णिसिरावेति, अण्णंपि अगणिकायं णिसिरंतं समणुजाणइ अणट्ठादंडे। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ, दोच्चे दंडसमादाणे अणट्ठादंडवत्तिएत्ति आहिए॥ सू० १८॥

संस्कृत छाया

अथाऽपरं द्वितीयं क्रियास्थानमनर्थदण्डप्रत्ययिकमित्याख्यायते। तद्यथा नाम कश्चित् पुरुषः, ये इमे त्रसाः प्राणाः भवन्ति, तान् नो अर्चायै, नो अजिनाय, नो मांसाय, नो शोणिताय एवं हृदयाय, पित्ताय, वसायै, पिच्छाय, पुच्छाय, बालाय, शृंगाय, विषाणाय, दन्ताय, दंष्ट्रायै, नखाय, स्नायवे, अस्थ्ने, अस्थिमज्जायै, नो अहिंसिषुर्ममेति, नो हिंसन्ति ममेति, नो हिंसिष्यन्ति ममेति, नो पुत्रपोषणाय, नो पशुपोषणाय, नो अगारपरिवृद्धये, नो श्रमण-माहनवर्तनाहेतोः, नो तस्य शरीरस्य किंचित् परित्राणाय भवति, स हन्ता, छेत्ता, भेत्ता, लुम्पयिता, विलुम्पयिता, उपद्रावयिता उज्झित्वा बालोवैरस्य आभागी भवति अनर्थदण्डः। तद्यथा नाम कश्चित् पुरुषः ये इमे स्थावराः प्राणाः भवन्ति, तद्यथा इक्कडादिर्वा, कठिनादिर्वा, जन्तुकादिर्वा, परकादिर्वा, मुस्तादिर्वा, तृणादिर्वा, कुशादिर्वा, कुच्छकादिर्वा, पर्वकादिर्वा, पलालादिर्वा, तान् नो पुत्र-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पोषणाय, पशुपोषणाय, नो अगारपरिवृंहणाय, नो श्रमण-माहनपोषणाय, नो तस्य शरीरस्य किंचित् परित्राणाय भवति, स हन्ता, छेत्ता, भेत्ता, लुम्पयिता, विलुम्पयिता, उपद्रावयिता, उज्झित्वा बालोवैरस्याऽऽभागी भवति अनर्थ-दण्डः। तद्यथा नामकः कश्चित् पुरुषः कच्छे वा, ह्रदे वा, उदके वा, द्रव्ये वा वलये वा, अवतमसे वा, गहने वा, गहनविदुर्गे वा, वने वा, वनविदुर्गे वा, पर्वते वा, पर्वतविदुर्गे वा, तृणानि उत्सर्प्य उत्सर्प्य स्वयमेव अग्निकायं निसृजति, अन्येनाऽपि अग्निकायं निसर्जयति, अन्यमपि अग्निकायं निसृजन्तं समनुजानाति अनर्थदण्डः। एवं च खलु तस्य तत्प्रत्ययिकं सावद्यमाधीयते। द्वितीयं दण्डसमादानं अनर्थदण्डप्रत्ययिकमाख्यातम् ॥ सू० १८ ॥

अन्वयार्थ

(**अहावरे दोच्चे दंडसमादाणे अणट्ठादंडवत्तिएत्ति आहिज्जइ**) इसके पश्चात् दूसरा क्रियास्थान अनर्थदण्डप्रत्ययिक कहलाता है। (**से जहाणामए केइ पुरिसे जे इमे तसा पाणा भवंति, ते णो अच्चाए, णो अजिणाए, णो मंसाए, णो सोणियाए**) जैसे कोई पुरुष ऐसा होता है कि वह त्रस प्राणियों को अपने शरीर की रक्षा या संस्कार के लिए, चमड़े के लिए, मांस के लिए, और रक्त के लिए नहीं मारता है। (**एवं हिययाए, पित्ताए, वसाए, पिच्छाए, पुच्छाए, बालाए, सिंगाए, विसाणाए, दंताए, दाढाए, णहाए, ण्हारुणिए, अट्ठीमंजाए**) एवं हृदय के लिए, पित्त के लिए, चर्बी, पंख, पूंछ, बाल, सींग, विषाण, दांत, दाढ़, नख, नाड़ी, हड्डी और हड्डी की चर्बी के लिए नहीं मारता। (**णो हिंसिसु मेत्ति, णो हिंसति मेत्ति, णो हिंसिस्संति मेत्ति**) तथा इसने मेरे किसी सम्बन्धी को मारा है, अथवा मार रहा है, या मारेगा, इसलिए नहीं मारता। (**णो पुत्तपोसणाए, णो पसुपोसणाए, णो अगारपरिबूहणाए**) एवं पुत्र-पोषण, पशुपोषण, तथा अपने घर की मरम्मत एवं हिफाजत के लिए भी नहीं मारता, (**णो समणमाहणवत्तणाहेउं, णो तस्स सरीरगस्स किंचि विप्परियादित्ता भवंति**) श्रमण और माहन के जीवन-निर्वाह के लिए तथा अपने शरीर या प्राणों की रक्षा के लिए उन पशुओं को नहीं मारता। (**अणट्ठादंडे बाले हंता**) किन्तु प्रयोजन बिना ही वह मूर्ख प्राणियों को निरर्थक दण्ड देता हुआ उन्हें मारता है। (**छेत्ता, भेत्ता, लुंपइत्ता विलुंपइत्ता, उद्दवइत्ता**) वह उन्हें छेदन करता है, भेदन करता है, प्राणियों के अंगों को काट-काटकर अलग-अलग करता है, उनकी चमड़ी और आँखें निकालता है, उखाड़ता है, उन्हें डराता-धमकाता है। (**उज्झिउं**) वह विवेक का त्याग कर बैठा है (**बालो-वेरस्स आभागी भवइ**) इसलिए बिना ही प्रयोजन प्राणियों को दण्ड देने वाला वह मूर्ख उन प्राणियों के साथ निरर्थक वैर बाँधने का भागी बन जाता है। (**से जहाणामए**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केइ पुरिसे जे इमे थावरा पाणा भवंति, तं जहा—इक्कडाइ वा, कडिणाइ वा, जंतुगाइ वा, परगाइ वा, मोक्खाइ वा, तणाइ वा, कुसाइ वा, कुच्छगाइ वा, पव्वगाइ वा, पलालाइ वा) जैसे कोई पुरुष प्रयोजन बिना ही इन स्थावर प्राणियों को दण्ड देता है, जैसे कि इक्कड, कठिन, जन्तुक, परक, मुस्ता (मोथा), तृण, कुश, कुच्छक, पर्वक और पलाल नामक विभिन्न वनस्पतियों को व्यर्थ ही दण्ड देता है। (**णो पुत्त-पोसणाए, णो पसुपोसणाए, णो अगारपरिबूहणयाए, णो समणमाहणपोसणयाए**) वह इन वनस्पतियों को पुत्र या पशु के पोषणार्थ, या गृहरक्षार्थ या श्रमण-माहन के पोषणार्थ दण्ड नहीं देता, (**णो तस्स सरीरगस्स किंचि विप्परियाइत्ता भवंति**) तथा वे वनस्पतियाँ उसके शरीर की रक्षा के लिए भी कुछ काम नहीं आतीं, (**से हंता, छेत्ता, भेत्ता, लुंपयित्ता, विलुंपयित्ता, उद्दवइत्ता**) तथापि वह अज्ञ निरर्थक ही उनका हनन, छेदन, भेदन, खण्डन, मर्दन और उपद्रव करता है। (**उज्झिउं बाले अणट्ठादंडे वेरस्स आभागी भवति**) विवेक का त्याग करके वह मूर्ख व्यर्थ ही प्राणियों को दण्ड देकर वृथा ही उन प्राणियों के वैर का भागी बनता है। (**से जहाणामए केइ पुरिसे कच्छंसि वा, दहंसि वा, उदगंसि वा, दवियंसि वा, वलयंसि वा णूमंसि वा**) जैसे कोई पुरुष नदी के तट पर, तालाब पर, किसी जलाशय पर, तृणराशि पर तथा नदी आदि द्वारा घिरे हुए स्थान में, एवं अँधेरे से भरे स्थान में, (**गहणंसि वा, गहणदुग्गंसि वा, वणंसि वा, वणदुग्गंसि वा, पव्वयंसि वा, पव्वयविदुग्गंसि वा**) किसी गहन दुष्प्रवेश स्थान में, वन में, तथा घोर वन में, किसी दुर्गम स्थान पर या किसी किले पर, पर्वत पर या पर्वत के किसी दुर्ग (किले) पर या गहन स्थान में (**तणाइं ऊसविय ऊसविय**) तिनकों या घास को बिछा-बिछाकर या फैला-फैलाकर (**सयमेव अगणिकायं निसिरति**) स्वयं अग्नि को जलाता है, (**अण्णेणवि णिसिरावेति**) या दूसरे से आग लगवाता है, (**अण्णंवि अगणिकायं णिसिरंतं समणुजाणइ**) तथा इन स्थानों पर आग जलाते या लगाते हुए व्यक्ति का समर्थन या अनुमोदन करता है। (**अणट्ठादंडे**) ऐसा व्यक्ति निष्प्रयोजन ही प्राणियों का घात कर निरर्थक दण्ड का भागी बनता है। (**एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ**) ऐसे पुरुष को निरर्थक प्राणियों के घात का सावद्यकर्म बँधता है। (**दोच्चे दंडसमादाणे अणट्ठादंडवत्तिएत्ति आहिए**) यह दूसरा अनर्थदण्डप्रत्ययिक क्रियास्थान कहा गया है।

व्याख्या

अनर्थदण्ड : क्या, कैसे और किसके लिए

इस सूत्र में अनर्थदण्ड का सांगोपांग वर्णन करके उसके स्वामी को अनर्थदण्ड क्रिया का स्वामी कहा गया है। जगत् में ऐसे कई लोग होते हैं जो बिना ही प्रयोजन के प्राणियों का घात किया करते हैं। ऐसे महामूर्ख व्यक्ति अपने शरीर के लिए या पुत्र,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पशु आदि के पोषणार्थ प्राणिघात नहीं करते, अपितु बिना ही किसी प्रयोजन के कौतुक या मनोरंजनवश प्राणिघात जैसा निन्द्यकर्म करते हैं। ऐसा व्यक्ति अपने, अपने परिवार के या अपने घर के पोषण-संवर्द्धन के लिए या श्रमण-माहन के निर्वाह के लिए या अपने प्राणों की रक्षा के लिए पशुओं को नहीं मारता, अपितु निष्प्रयोजन ही प्राणियों को दण्ड देता हुआ वह मूर्ख उन्हें मारता-पीटता है, उनको काटता है, छेदता है, काट-काटकर पृथक् करता है। उनके अंगोपांगों को उखाड़ता है। उन पर उपद्रव करता है। वह मूर्ख विवेक को तिलांजलि देकर उन प्राणियों के साथ बिना मतलब ही जन्म-जन्मान्तर तक के लिये वैर बाँध लेता है। इससे बढ़कर मूर्खता और क्या हो सकती है? वह स्थावर प्राणियों को भी बिना ही प्रयोजन के दण्ड देता रहता है। बिना ही मतलब मिट्टी खोदता है, पेड़ उखाड़ता है, वृक्ष के पत्ते नोंचता है, आग जलाता है, हवा चलाता है, पानी व्यर्थ ही ढोलता है, तथा बिना ही प्रयोजन नदी, तालाब, या जलशय के तट पर जाकर या वनों, पर्वतों, दुर्गों आदि में आग लगा देता है। बिना किसी आवश्यकता के वह इन चीजों को नष्ट-भ्रष्ट करता है, ऐसा करके वह प्राणियों को अनर्थदण्ड देता है, इतना ही नहीं स्थावर प्राणियों का उपमर्दन वह स्वयं तो करता ही है, दूसरों से भी उपमर्दन करवाता है और जो लोग स्थावर जीवों का घात करते हैं, उनकी प्रशंसा करता है, उनको इनाम देता है, उनकी पीठ ठोकता है। ऐसा मूर्ख व्यक्ति जो निरर्थक ही त्रस-स्थावर प्राणियों का घात करके सावद्यकर्म-बन्धन कर लेता है, वह उसके लिए अनर्थदण्ड क्रियास्थान हुआ। इस प्रकार दूसरे अनर्थदण्डप्रत्ययिक क्रियास्थान का निरूपण किया गया है।

मूल पाठ

अहावरे तच्चे दंडसमादाणे हिंसादंडवत्तिएत्ति आहिज्जइ। से जहाणामए केइ पुरिसे ममं वा, ममिं वा, अन्नं वा, अन्नि वा, हिंसिसु वा, हिंसइ वा, हिंसिस्सइ वा तं दंडं तसथावरेहिं पाणेहिं सयमेव णिसिरति, अण्णेणवि णिसिरावेति, अन्नंपि णिसिरंतं समणुजाणइ, हिंसादंडे। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ। तच्चे दंडसमादाणे हिंसादंडवत्तिएत्ति आहिए॥ सू० १९॥

संस्कृत छाया

अथाऽपरं तृतीयं दण्डसमादानं हिंसादण्डप्रत्ययिकमित्याख्यायते। तद्यथा नाम कश्चित् पुरुषः मां वा, मदीयं वा, अन्यं वा, अन्यदीयं वा, अवधीत् हिनस्ति, हिंसिष्यति वा तं दण्डं त्रसे स्थावरे प्राणे स्वयमेव निसृजति,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्येनापि निसर्जयति, अन्यमपि निसृजन्तं समनुजानाति हिंसादण्डः। एवं खलु तस्य तत्प्रत्ययिकं सावद्यमित्याधीयते। तृतीयं दण्डसमादानं हिंसादण्ड-प्रत्ययिकमित्याख्यातम् ॥ सू० १६ ॥

अन्वयार्थ

(**अहावरे तच्चे दंडसमादाणे हिंसादंडवत्तिएत्ति आहिज्जइ**) इसके पश्चात् तीसरा क्रियास्थान हिंसादण्डप्रत्ययिक कहा जाता है। (**से जहाणामए केइ पुरिसे ममं वा, ममि वा, अन्नं वा, अन्नि वा, हिंसिसु वा, हिंसइ वा, हिंसिस्सइ वा तं दंडं तस-थावरेहिं पाणेहिं सयमेव णिसिरति**) जैसे कोई पुरुष त्रस और स्थावर प्राणियों को इसलिए दण्ड देता है कि 'इस (त्रस या स्थावर) जीव ने मुझे या मेरे सम्बन्धी को तथा दूसरे को या दूसरे के सम्बन्धी को मारा था, मार रहा है या मारेगा।' (**अण्णेणवि णिसिरावेति, अन्नंवि णिसिरंतं समणुजाणइ**) तथा वह दूसरे से त्रस और स्थावर प्राणी को दण्ड दिलाता है एवं त्रस और स्थावर प्राणी को दण्ड देते हुए पुरुष को वह अच्छा मानता है। (**हिंसादंडे**) ऐसा पुरुष प्राणियों को हिंसारूप दण्ड देता है। (**एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ**) ऐसे पुरुष को हिंसाप्रत्ययिक सावद्य कर्म का बन्ध होता है। (**तच्चे दंडसमादाणे हिंसावत्तिएत्ति आहिए**) इस प्रकार यह तीसरा क्रियास्थान हिंसादण्डप्रत्ययिक कहा गया।

व्याख्या

हिंसादण्डप्रत्ययिक : स्वरूप और विश्लेषण

इस सूत्र में हिंसादण्डप्रत्ययिक क्रियास्थान का निरूपण किया गया है। हिंसादण्ड क्रिया कैसी होती है ? इसे बताने के लिए शास्त्रकार कहते हैं कि कई लोग ऐसे होते हैं, जो प्राणियों को इस आशंका से खत्म कर देते हैं या उनको नष्ट-भ्रष्ट कर देते है कि 'यह जीवित रहकर मुझे न मार डालें।' जैसे कंस ने देवकी के पुत्रों को इसलिए मरवाने का उपक्रम किया था कि वे भविष्य में मुझे मार डालेंगे। तथा बहुत से मनुष्य अपने सम्बन्धी के घात की आशंका से क्रोधवश प्राणियों का नाश कर डालते हैं, जैसे परशुराम ने अपने पिता के घात से क्रुद्ध होकर कार्तवीर्य को मार डाला था। बहुत से मनुष्य सिंह, सर्प, बिच्छू आदि प्राणियों का इसलिए वध कर डालते हैं कि यह जिंदा रहेगा तो अन्य अनेक प्राणियों का सफाया कर देगा। इस प्रकार जो पुरुष त्रस, या स्थावर प्राणी का स्वयं घात करता है अथवा दूसरों से घात करवाता है या प्राणिघात करते हुए व्यक्ति का समर्थन-अनुमोदन करता है। उसे हिंसादण्डहेतुक सावद्य (पाप) कर्म का बन्ध होता है। यह तीसरे हिंसादण्डप्रत्ययिक नामक क्रियास्थान का विवेचन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

अहावरे चउत्थे दंडसमादाणे अकम्हादंडवत्तिएत्ति आहिज्जइ। से जहाणामए केइ पुरिसे कच्छंसि वा जाव वणविदुग्गंसि वा मियवत्तिए, मियसंकप्पे, मियपणिहाणे, मियवहाए गंता एए मियत्तिकाउं अन्नयरस्स मियस्स वहाए उसुं आयामेत्ता णं णिसिरेज्जा, स मियं वहिस्सामित्ति कट्टु तित्तिरं वा, वट्टगं वा, चडगं वा, लावगं वा, कवोयगं वा, कविं वा, कविंजलं वा विंधित्ता भवइ। इह खलु से अन्नस्स अट्ठाए अण्णं फुसति अकम्हादंडे।

से जहाणामए केइ पुरिसे सालीणि वा, वीहीणि वा, कोद्दवाणि वा, कंगूणि वा, परगाणि वा, रालाणि वा, णिलिज्जमाणे अन्नयरस्स तणस्स वहाए सत्थं णिसिरेज्जा, से सामगं तणगं कुमुदगं वीहीऊसियं कलेसुयं तणं छिंदिस्सामित्ति कट्टु सालिं वा, वीहिं वा, कोद्दवं वा, कंगुं वा, परगं वा, रालयं वा, छिंदित्ता भवइ। इति खलु से अन्नस्स अट्ठाए अन्नं फुसति, अकम्हादंडे। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं आहिज्जइ। चउत्थे दंडसमादाणे अकम्हादंडवत्तिए आहिए॥ सू० २०॥

संस्कृत छाया

अथाऽपरं चतुर्थं दण्डसमादानं अकस्माद्दण्डप्रत्ययिकमित्याख्यायते। तद्यथा नाम कश्चित् पुरुषः कच्छे वा यावद् वनविदुर्गे वा मृगवत्तिकः, मृगसंकल्पः, मृगप्राणिधानः मृगवधाय गन्ता, एते मृगा इति कृत्वा अन्यतरस्य मृगस्य वधाय इषुमायाम्य निःसृजेत्। स मृगं हनिष्यामीति कृत्वा तित्तिरं वा, वर्त्तकं वा, चटकं वा, लावकं वा, कपोतकं वा, कपिं वा, कपिंजलं वा, व्यापादयिता भवति। इह खलु स अन्यस्य अर्थाय अन्यं स्पृशति अकस्माद्दण्डः। तद्यथा नाम कश्चित् शालीन् वा, व्रीहीन् वा, कोद्रवान् वा, कंगून् वा, परकान् वा, रालान् वा अपनयन् अन्यतरस्य तृणस्य वधाय शस्त्रं निःसृजेत् स श्यामाकं तृणकं कुमुदुकं व्रीह्यच्छूतं कलेसुकं तृणं छेत्स्यामीति कृत्वा शालिं वा, व्रीहिं वा, कोद्रवं वा, कंगुं वा, परकं वा, रालं वा, छिन्द्यात्, इति स खलु अन्यस्य अर्थाय अन्यं स्पृशति अकस्माद्दण्डः। एवं खलु तस्य तत्प्रत्ययिकं सावद्यमाधीयते, चतुर्थं दण्डसमादानं अकस्माद्दण्डप्रत्ययिकमित्याख्यातम्॥ सू० २०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**अहावरे चउत्थे दंडसमादाणे अकम्हादंडवत्तिएत्ति आहिज्जइ**) इसके बाद चौथा क्रियास्थान अकस्माद्-दण्डप्रत्ययिक कहलाता है। (**से जहाणामए केइ पुरिसे कच्छंसि वा जाव वणविदुग्गंसि वा मियवत्तिए, मियसंकप्पे, मियपणिहाणे, मियवहाए गंता**) जैसे कोई व्यक्ति नदी के किनारे या किसी घोर जंगल में जाकर मृग को मारने की प्रवृत्ति करता है, मृग को मारने का संकल्प करता है, मृग का ही ध्यान रखता है, और मृग को मारने के लिए ही चल पड़ता है, (**एए मियत्तिकाउं अन्नयरस्स मियस्स वहाए उसुं आयामेत्ता णं णिसिरेज्जा**) 'यह मृग है' यों जानकर किसी एक मृग को मारने के लिए वह व्यक्ति अपने धनुष पर बाण को खींचकर चलाए, (**स मियं वहिस्सामित्ति कट्टु तित्तिरं वा, वट्टगं वा, चडगं वा, लावगं वा, कवोयगं वा, कविं वा, कविंजलं वा विंधित्ता भवइ**) परन्तु उस मृग को मारने का आशय होने पर भी उसका बाण (तीर) लक्ष्य पर न गिरकर तीतर, बटेर, चिड़िया, लावक, कबूतर, बन्दर या कपिंजल पक्षी पर कदाचित् जा गिरे तो वह उन प्राणियों का घातक होता है, (**इह खलु से अन्नस्स अट्ठाए अन्नं फुसति अकम्हादंडे**) ऐसी दशा में वह पुरुष दूसरे के लिए प्रयुक्त दण्ड से दूसरे का घात करता है और वह दण्ड इच्छा न होने पर भी अकस्मात् हो जाता है, इसलिए इसे अकस्माद्दण्ड कहते हैं, (**से जहाणामए केइ पुरिसे सालीणि वा, वीहीणि वा, कोद्दवाणि वा, कंगूणि वा, परगाणि वा, रालाणि वा, णिलिज्जमाणे अण्णयरस्स तणस्स वहाए सत्थं णिसिरेज्जा**) जैसे कोई पुरुष शाली, व्रीहि, कोद्रव (कोदों), कंगू, परक और राल नामक धान्यों (अनाजों) को शोधन (साफ) करता हुआ, किसी तृण (घास) को काटने के लिए शस्त्र (दाँती या हँसिया) चलाए, (**से सामगं तणगं कुमुदगं छिंदिस्सामित्ति कट्टु सालिं वा, कोद्दवं वा, कंगुं वा, परगं वा, रालं वा छिंदित्ता भवइ**) और 'मैं श्यामाक, तृण और कुमुद आदि घास को काटूँ' ऐसा आशय होने पर भी लक्ष्य चूक जाने से शाली, व्रीहि, कोद्रव, कंगू, परक और राल के पौधों का ही छेदन कर बैठता है। (**इति खलु अन्नस्स अट्ठाए अन्नं फुसति अकम्हादंडे**) इसी प्रकार यह दण्ड भी घातक पुरुष का अभिप्राय न होने पर भी अचानक हो जाने के कारण अकस्माद्दण्ड कहलाता है। (**एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं आहिज्जइ**) इस प्रकार अकस्माद्दण्ड देने के कारण उस घातक पुरुष को सावद्य कर्म का बन्ध होता है, (**चउत्थे दंडसमादाणे अकम्हादंडवत्तिएत्ति आहिए**) यह चौथा क्रियास्थान अकस्माद्दण्डप्रत्ययिक कहा गया है।

व्याख्या

चतुर्थ क्रियास्थान : अकस्माद्दण्डप्रत्ययिक

इस सूत्र में शास्त्रकार ने चौथे क्रियास्थान का स्वरूप बताया है। दूसरे प्राणी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को घात करने के इरादे से चलाये हुए शस्त्र से यदि किसी अन्य प्राणी का घात हो जाए तो उसे अकस्माद्दण्ड कहते हैं, क्योंकि घातक पुरुष का आशय उस प्राणी के घात का न होने पर भी अचानक उसका घात हो जाता है। उदाहरणार्थ, हिरणों को मार कर अपनी आजीविका का चलाने वाला शिकारी किसी हिरण को लक्ष्य करके तीर चलाता है, मगर वह तीर, कभी-कभी लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाता है, यानी जिस हिरण को मारने के लिए तीर चलाया है, उसके नहीं लगता; अपितु वह किसी दूसरे पक्षी आदि प्राणी को लग जाता है और वह मर जाता है। इस प्रकार पक्षी को मारने का आशय न होने पर भी उस शिकारी (घातक) के हाथ से यदि उस पक्षी आदि का घात हो जाता है तो वह अकस्माद्दण्ड कहलाता है। किसान जब अपनी खेती की जमीन का परिशोधन (साफ) करता है तो पौधों को हानि करने वाले झाड़-झंखाड़-घास आदि का सफाया करने हेतु वह उन पर शस्त्र चलाता है, मगर संयोगवश वह शस्त्र कभी-कभी घास पर न लगकर अनाज के पौधों पर लग जाता है, जिससे अनाज के पौधों का नाश हो जाता है। यद्यपि किसान का इरादा अनाज को काटने का नहीं होता, फिर भी अचानक उसके हाथ से अनाज के पौधों का नाश हो जाता है, इसे ही अकस्माद्दण्ड कहते हैं। इसी प्रकार मारने की इच्छा न होने पर भी व्यक्ति द्वारा चलाये गये शस्त्र से कोई अन्य प्राणी अचानक मर जाये तो वह अकस्माद्दण्ड के पाप का भागी हो जाता है। यही चौथे क्रियास्थान का स्वरूप है।

मूल पाठ

अहावरे पंचमे दंडसमादाणे दिट्ठिविपरियासियादंडवत्तिएत्ति आहिज्जइ। से जहाणामए केइ पुरिसे माईहिं वा, पिईहिं वा, भाईहिं वा, भगिणीहिं वा, भज्जाहिं वा, पुत्तेहिं वा, धूताहिं वा, सुण्हाहिं वा, सद्धिं संवसमाणे मित्तं अमित्तमेव मन्नमाणे मित्ते हयपुव्वे भवइ दिट्ठिविपरियासियादंडे। से जहाणामए केइ पुरिसे गामघायंसि वा, णगरघायंसि वा, खेड० कब्बड० मंडबघायंसि वा, दोणमुहघायंसि वा, पट्टणघायंसि वा, आसमघायंसि वा, सन्निवेसघायंसि वा, निग्गमघायंसि वा, रायहाणिघायंसि वा अतेणं तेणमिति मन्नमाणे अतेणे हयपुव्वे भवइ दिट्ठिविपरियासियादंडे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ। पंचमे दंडसमादाणे दिट्ठिविपरियासियादंडवत्तिएत्ति आहिए ॥ सू० २१ ॥

संस्कृत छाया

अथाऽपरं पञ्चमं दण्डसमादानं दृष्टिविपर्यासदण्डप्रत्ययिकमित्याख्या-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यते । तद्यथा नाम कश्चित् पुरुषः मातृभिर्वा, पितृभिर्वा, भ्रातृभिर्वा, भगिनीभिर्वा, भार्याभिर्वा, पुत्रैर्वा, दुहितृभिर्वा, स्नुषादिभिर्वा सार्धं संवसन् मित्रममित्रमेव मन्यमानः मित्रं हतपूर्वो भवति दृष्टिविपर्यासदण्डः । तद्यथा नामकः कोऽपि पुरुषः ग्रामघाते वा, नगरघाते वा, खेडकर्वटमडम्बघाते वा, द्रोणमुखघाते वा, पट्टनघाते वा, आश्रमघाते वा, सन्निवेशघाते वा, निर्गमघाते वा, राजधानीघाते वा, अस्तेनं स्तेनमिति मन्यमानः अस्तेनं हतपूर्वो भवति दृष्टिविपर्यास दण्डः । एवं खलु तस्य तत्प्रत्ययिकं सावद्यमित्याधीयते । पंचमं दण्डसमादानं दृष्टिविर्यासप्रत्ययिकमाख्यातम् ।। सू० २१ ।।

अन्वयार्थ

(अहावरे **पंचमे दंडसमादाणे दिट्ठिविपरियासियादंडवत्तिएत्ति आहिज्जइ**) इसके पश्चात् पाँचवें क्रियास्थान दृष्टिविपर्यासदण्डप्रत्ययिक के सम्बन्ध में कहा जाता है । (**से जहाणामए केइ पुरिसे माईहिं वा, पिईहिं वा, भाईहिं वा, भगिणीहिं वा, भज्जाहिं वा, पुत्तेहिं वा, धूतीहिं वा, सुण्हाहिं वा, सद्धिं संवसमाणे मित्तं अमित्तमेव मन्नमाणे मित्ते हयपुव्वे भवइ**) माता, पिता, भाई, बहन, स्त्री, पुत्र, पुत्री और पुत्रवधू के साथ निवास करता हुआ कोई पुरुष मित्र को शत्रु मानकर शत्रु के भ्रम से मित्र को ही मार देता है । (**दिट्ठिविप्परियासियादंडे**) इसी को दृष्टिविपर्यासदण्ड कहते हैं । क्योंकि यह दण्ड गलतफहमी से होता है, जान-बूझकर नहीं । (**से जहाणामए केइ पुरिसे गामघायंसि वा, नगरघायंसि वा, खेडकब्बडमंडबघायंसि वा, दोणमुहघायंसि वा, पट्टणघायंसि वा, आसमघायंसि वा, संनिवेसघायंसि वा, निग्गमघायंसि वा, रायहाणिघायंसि वा अतेणं तेणमिति मन्नमाणे अतेणे हयपुव्वे भवइ**) ग्राम, नगर, खेड, कब्बड, मडम्ब, द्रोणमुख, पत्तन, आश्रम, सन्निवेश, निगम और राजधानी के घात के समय यदि कोई पुरुष किसी चोर से भिन्न व्यक्ति को चोर समझकर मार डाले तो वह चोर-भिन्न व्यक्ति को भ्रम से मारता है । (**दिट्ठिविपरियासिया दंडे**) इसलिए इस दंड को दृष्टिविपर्यासदण्ड कहते हैं । (**एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ**) इस प्रकार जो पुरुष अन्य प्राणी के भ्रम से अन्य प्राणी को मारता है, उसे दृष्टिविपर्यासदण्ड का पाप लगता है । (**पंचमे दंडसमादाणे दिट्ठिविपरियासियादंडवत्तिएत्ति आहिए**) यह दृष्टिविपर्यासदण्डप्रत्ययिक नामक पाँचवें क्रियास्थान का स्वरूप बताया गया है ।

व्याख्या

पञ्चम क्रियास्थान : दृष्टिविपर्यासदण्डप्रत्यय

इस सूत्र में पाँचवें क्रियास्थान का निरूपण किया गया है । इसका नाम दृष्टि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विपर्यासदण्ड है। माता, पिता, भाई, बहन, पत्नी, पुत्र, पुत्री पुत्रवधू आदि पारिवारिकजन या अन्य मित्रादि हितैषीजन जो हितैषी, सहायक एवं मित्र हैं, उन्हें गलतफहमी से शत्रु समझना और शत्रु को मित्र समझना अथवा साहूकार को चोर और चोर को भ्रम से साहूकार समझकर दण्ड देना, दृष्टिविपर्यासदण्ड कहलाता है। मनुष्य कई बार गलतफहमी में पड़कर अदण्ड्य को दण्ड दे बैठता है, तथा जो दण्डनीय है उसे अदण्ड्य समझ लेता है। संसार में इसी दृष्टिविपर्यास के कारण अनेक अनर्थ होते हैं। यही पाँचवें क्रियास्थान का स्वरूप है।

मूल पाठ

अहावरे छट्ठे किरियट्ठाणे मोसावत्तिएत्ति आहिज्जइ। से जहाणामए केइ पुरिसे आयहेउं वा, णाइहेउं वा, अगारहेउं वा, परिवारहेउं वा सयमेव मुसं वयति, अण्णेण वि मुसं वाएइ, मुसं वयंतंपि अण्णं समणुजाणइ, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ। छट्ठे किरियट्ठाणे मोसावत्तिएत्ति आहिए॥ सू० २२॥

संस्कृत छाया

अथाऽपरं षष्ठं क्रियास्थानं मिथ्याप्रत्ययिकमित्याख्यायते। तद्यथा नाम कश्चित् पुरुषः आत्महेतोर्ज्ञातिहेतोरगारहेतोः परिवारहेतोः स्वयं मृषा वदति, अन्येनाऽपि मृषा वादयति, मृषावदन्तमन्यं समनुजानाति, एवं खलु तस्य तत्प्रत्ययिकं सावद्यमाधीयते। षष्ठं क्रियास्थानं मृषावादप्रत्ययिकमाख्यातम्॥ सू० २२॥

अन्वयार्थ

(**अहावरे छट्ठे किरियट्ठाणे मोसावत्तिएत्ति आहिज्जइ**) इसके पश्चात् छठे क्रियास्थान का वर्णन है, जो मृषाप्रत्ययिक कहलाता है। (**से जहाणामए केइ पुरिसे आयहेउं वा, णाइहेउं वा, अगारहेउं वा, परिवारहेउं वा सयमेव मुसं वयति, अण्णेणवि मुसं वाएइ, मुसं वयंतंपि अण्णं समणुजाणइ**) जैसे कोई पुरुष अपने लिए, या अपनी ज्ञाति (जाति) के लिए, अपने घर या अपने परिवार के लिए स्वयं झूठ बोलता है, दूसरे से भी झूठ बुलवाता है और जो असत्य बोलते हैं, उनका अनुमोदन-समर्थन करता है, उनकी पीठ थपथपाता है। (**एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंत्ति आहिज्जइ**) ऐसा करने के कारण उस व्यक्ति को असत्य बोलने का पाप लगता है। (**छट्ठे किरियट्ठाणे मोसावत्तिएत्ति आहिए**) इस प्रकार छठे क्रियास्थान मृषाप्रत्ययिक का स्वरूप बताया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

छठा क्रियास्थान : मृषाप्रत्ययिक

इस सूत्र में छठे क्रियास्थान का स्वरूप बताया गया है। उसका स्वरूप इस प्रकार है—जो व्यक्ति अपने लिए, अपनी ज्ञाति, घर तथा परिवार के लिए स्वयं असत्य बोलता है, दूसरे से असत्य बुलवाता है तथा जो व्यक्ति असत्य बोलता है, उसे अच्छा समझता है, उसका अनुमोदन-समर्थन करता है, उसे मिथ्याभाषण से उत्पन्न सावद्य कर्म का बन्ध होता है। यही छठे क्रियास्थान का स्वरूप है। इसके पूर्व जो पाँच क्रियास्थान बताये गये हैं, उनमें प्रायः प्राणियों का घात होता है, इसलिए उनको दण्डसमादान कहा है, जबकि छठे क्रियास्थान से लेकर तेरहवें क्रियास्थान तक के भेदों में प्रायः प्राणियों का घात नहीं होता, इसलिए इनको दण्डस्थान न कहकर क्रिया-स्थान कहा गया है।

मूल पाठ

अहावरे सत्तमे किरियट्ठाणे अदिन्नादाणवत्तिएत्ति आहिज्जइ। से जहाणामए केइ पुरिसे आयहेउं वा जाव परिवारहेउं वा सयमेव अदिन्नं आदियइ, अन्नेणवि अदिन्नं आदियावेति, अदिन्नं आदियंतं अन्नं समणु-जाणइ, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ। सत्तमे किरियट्ठाणे अदिन्नादाणवत्तिएत्ति आहिए ॥ सू० २३ ॥

संस्कृत छाया

अथाऽपरं सप्तमं क्रियास्थानमदत्तादानप्रत्ययिकमित्याख्यायते। तद्यथा नाम कश्चित् पुरुषः आत्महेतोर्वा यावत् परिवारहेतोर्वा स्वयमेव अदत्तमा-दद्यात्, अन्येनाऽप्यादापयेत् अदत्तमाददानमन्यं समनुजानाति, एवं खलु तस्य तत्प्रत्ययिकं सावद्यमाधीयते। सप्तमं क्रियास्थानमदत्तादान प्रत्ययिकमित्या-ख्यातम् ॥ सू० २३ ॥

अन्वयार्थ

(**अहावरे सत्तमे किरियट्ठाणे अदिन्नादाणवत्तिएत्ति आहिज्जइ**) इसके बाद सातवाँ क्रियास्थान है, जिसे 'अदत्तादान-प्रत्ययिक' कहते हैं। (**से जहाणामए केइ पुरिसे आयहेउं वा जाव परिवारहेउं वा सयमेव अदिन्नं आदियइ**) जैसे कोई व्यक्ति अपने लिए, अपनी जाति, घर या परिवार आदि के लिए स्वयं मालिक के द्वारा न दी गई वस्तु को ले लेता है, (**अन्नेणवि अदिन्नं आदियावेति**) मालिक के द्वारा न दी हुई वस्तु को दूसरे से भी ग्रहण कराता है। (**अदिन्नं आदियंतं अन्नं समणुजाणइ**) तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अदत्त ग्रहण करने वाले अन्य व्यक्ति का अनुमोदन करता है, (**एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जति आहिज्जइ**) इस प्रकार करने वाले उस व्यक्ति को अदत्तादान-सम्बन्धित पाप लगता है। (**सत्तमे किरियट्ठाणे अदिन्नादाणवत्तिएत्ति आहिए**) यों सप्तम अदत्तादान-प्रत्ययिक क्रियास्थान का स्वरूप बताया गया है।

व्याख्या

सप्तम क्रियास्थान : अदत्तादानप्रत्ययिक

इस सूत्र में सातवें क्रियास्थान का वर्णन किया गया है। इसका नाम अदत्तादानप्रत्ययिक क्रियास्थान है। जिस वस्तु का स्वामी हो अथवा न भी हो, तो भी उस पदार्थ को उससे बिना पूछे या उसकी इच्छा के बिना या दिये बिना ग्रहण कर लेना या अपने अधिकार में कर लेना, अदत्तादान या चोरी है। अदत्तादान से सम्बन्धित क्रियास्थान अदत्तादानप्रत्ययिक क्रियास्थान कहलाता है। जो व्यक्ति अपने लिए तथा परिवार, ज्ञातिजन, घर या अन्य किसी प्रियजन के लिए स्वयं बिना दिये ग्रहण करता है, दूसरों से इसी प्रकार ग्रहण कराता है, या जो इस प्रकार ग्रहण करता है, उसे अच्छा समझता है, उसे अदत्तादान या चोरी करने का पाप लगता है। यह सातवें अदत्तादानप्रत्ययिक क्रियास्थान का स्वरूप है।

मूल पाठ

अहावरे अट्ठमे किरियट्ठाणे अज्झत्थवत्तिएत्ति आहिज्जइ। से जहा-णामए केइ पुरिसे णत्थि णं केइ किंचि विसंवादेति सयमेव हीणे दीणे दुट्ठे दुम्मणे ओहयमणसंकप्पे चिंतासोगसागरसंपविट्ठे करतलपल्हत्थमुहे अट्ट-ज्झाणोवगए भूमिगयदिट्ठिए झियाइ। तस्स णं अज्झत्थया असंसइया चत्तारि ठाणा एवमाहिज्जंति, तं जहा—कोहे, माणे, माया, लोहे, अज्झत्थमेव कोह-माण-माया-लोहे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ। अट्ठमे किरियट्ठाणे अज्झत्थवत्तिएत्ति आहिए॥ सू० २४॥

संस्कृत छाया

अथाऽपरमष्टमं क्रियास्थानमध्यात्मप्रत्ययिकमित्याख्यायते। तद्यथा नाम कश्चित् पुरुषः नास्ति कोऽपि किंचिद् विसंवादयिता स्वयमेव हीनो दीनो दुष्टः दुर्मनाः उपहतमनःसंकल्पः चिन्ताशोकसागरसंप्रविष्टः करतल-पर्यस्तमुखः आर्तध्यानोपगतः भूमिगतदृष्टिः ध्यायति। तस्य खलु आध्यात्मि-कानि असंशयितानि चत्वारि स्थानानि एवमाख्यायन्ते, तद्यथा—क्रोधो मानं माया लोभः, आध्यात्मिका एव क्रोध-मान-माया-लोभाः। एवं खलु तस्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्प्रत्ययिकं सावद्यमाधीयते । अष्टमं क्रियास्थानम् अध्यात्मप्रत्ययिकमित्याख्यातम् ।। सू० २४ ।।

अन्वयार्थ

(**अहावरे अट्ठमे किरियट्ठाणे अज्झत्थवत्तिएत्ति आहिज्जइ**) इसके पश्चात् आठवाँ क्रियास्थान है, जो अध्यात्मप्रत्ययिक कहलाता है। (**से जहाणामए केइ पुरिसे णत्थि णं केइ किंचि विसंवादेति**) जैसे कोई व्यक्ति ऐसा होता है, जिसे कोई क्लेश देने वाला न हो तो भी (**सयमेव हीणे दीणे दुट्ठे दुम्मणे ओहयमणसंकप्पे चिंतासोगसागरसंपविट्ठे करतलपल्हत्थमुहे अट्टज्झाणोवगए भूमिगयदिट्ठिए झियाइ**) वह अपने आप ही दीन, हीन, दुःखित, उदास तथा मन में दुःसंकल्प करता रहता है; तथा चिन्ता और शोक के समुद्र में डूबा रहता है, हथेली पर ठुड्डी रखे एवं नीचे की ओर मुँह किये हुए आर्त्तध्यान करता रहता है। (**तस्स णं अज्झत्थया असंसइया चत्तारि ठाणा एवं आहिज्जंति**) निःसंदेह ही उसके हृदय में चार बातें पड़ी हैं, ऐसा जाना जाता है। (**तं जहा—कोहे माणे माया लोहे**) वे चार इस प्रकार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। (**अज्झत्थमेव कोहमाणमायालोहे**) क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चार आध्यात्मिक भाव ही हैं। (**एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ**) इस प्रकार का कार्य करने वाले पुरुष को अध्यात्मसम्बन्धी सावद्य (पाप) कर्म का बन्ध होता है। (**अट्ठमे किरियट्ठाणे अज्झत्थवत्तिएत्ति आहिए**) यह आठवाँ अध्यात्मप्रत्ययिक क्रियास्थान का स्वरूप बताया गया है।

व्याख्या

आठवाँ क्रियास्थान : अध्यात्मप्रत्ययिक

इस सूत्र में आठवें क्रियास्थान का स्वरूप बताया गया है। इसका नाम अध्यात्मप्रत्ययिक है। इसका स्वरूप इस प्रकार है—एक व्यक्ति है, जिसका कोई अपमान या तिरस्कार नहीं करता, न ही उसके धन, पुत्र या पशु का नाश हुआ है, न किसी प्रकार की कोई हानि हुई है, न किसी ने उसे कष्ट पहुँचाया है; अर्थात् दुःख का कोई भी कारण न होने पर भी दीन-हीन, उदास और दुःखी होता रहता है, मन ही मन कुढ़ता रहता है, मन में व्यर्थ के संकल्प-विकल्प करता रहता है, तथा चिन्ता और शोक के सागर में डूबता-उतराता रहता है, वह हथेली पर ठुड्डी रखे एवं नीचा मुँह किये हुए आर्त्तध्यान करता रहता है। ऐसा विवेकहीन व्यक्ति कभी धर्मध्यान नहीं करता। वास्तव में ऐसे व्यक्ति की चिन्ता या आर्तध्यान का कोई न कोई आन्तरिक कारण होना चाहिए। शास्त्रकार कहते हैं—'**तस्स णं....चत्तारि ठाणा एवमाहिज्जंति**' अर्थात् निःसंदेह ऐसे पुरुष की चिन्ता के ४ कारण हो सकते हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। ये चारों भाव आत्मा से उत्पन्न होने के कारण आध्यात्मिक कहलाते हैं; यद्यपि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रोध आदि आत्मा के स्वाभाविक धर्म नहीं हैं क्योंकि वे चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से पैदा होते हैं। यदि उन्हें आत्मा के स्वाभाविक धर्म मान लिया जायेगा तो मुक्तावस्था में भी ज्ञान-दर्शन के समान उनका अस्तित्व मानना पड़ेगा, यह अभीष्ट नहीं है। इसलिए क्रोध आदि आत्मा के असाधारण वैभाविकभाव हैं। मैं क्रुद्ध हूँ, ऐसा भान भी होता है, इस कारण व्यवहारनय से क्रोधादि आत्मा के धर्म मान लिये गये हैं। ये क्रोधादि विकार ही बाह्य कारणों के अभाव में चिन्ता, उदासीनता आदि के कारण बनते हैं। क्रोधादि ये चारों विकारीभाव मन को दूषित करते हैं, विचारों को मलिन बनाते हैं। जिस व्यक्ति में ये प्रबल होकर रहते हैं, उसे आध्यात्मिक सावद्य—पापकर्म का बन्ध होता है। यही आठवें क्रियास्थान का स्वरूप है।

मूल पाठ

अहावरे णवमे किरियट्ठाणे माणवत्तिएत्ति आहिज्जइ। से जहाणामए केई पुरिसे जातिमएण वा, कुलमएण वा, बलमएण वा, रूवमएण वा, तवोमएण वा, सुयमएण वा, लाभमएण वा, इस्सरियमएण वा, पन्नामएण वा, अन्नयरेण वा, मयट्ठाणेणं मत्ते समाणे परं हीलेइ, निंदेइ, खिंसइ, गरहइ, परिभवइ, अवमण्णेइ, इत्तरिए अयं, अहमंसि पुण विसिट्ठजाइकुलबलाइगुणोववेए, एवं अप्पाणं समुक्कसे, देहच्चुए कम्मबितिए अवसे पयाइ। तं जहा—गब्भाओ गब्भं, जम्माओ जम्मं, माराओ मारं, णरगाओ णरगं, चंडे थद्धे, चवले माणियावि भवइ। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ। णवमे किरियट्ठाणे माणवत्तिएत्ति आहिए॥ सू० २५॥

संस्कृत छाया

अथाऽपरं नवमं क्रियास्थानं, मानप्रत्ययिकमित्याख्यायते। तद्यथा नाम कश्चित् पुरुषः जातिमदेन वा, कुलमदेन वा, बलमदेन वा, रूपमदेन वा, तपोमदेन वा, श्रुतमदेन वा, लाभमदेन वा, ऐश्वर्यमदेन वा, प्रज्ञामदेन वा, अन्यतरेण वा मदस्थानेन मत्तः परं हीलयति, निन्दति, जुगुप्सते, गर्हति, परिभवति अवमन्यते, इतरोऽयम्, अहमस्मि पुनः विशिष्ट जाति कुलबलादि गुणोपेतः एवमात्मानं समुत्कर्षयेत्। देहच्युतः कर्मद्वितीयः अवशः प्रयाति, तद्यथा—गर्भतोगर्भम्, जन्मतोजन्म, मरणान्मरणम्, नरकान्नरकम्, चण्डः स्तब्धः चपलः मान्यपि भवति। एवं खलु तस्य तत्प्रत्ययिकं सावद्यमाधीयते। नवमं क्रियास्थानं मानप्रत्ययिकमित्याख्यायतम्॥ सू० २५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(अहावरे णवमे किरियट्ठाणे माणवत्तिएत्ति आहिज्जइ) इसके पश्चात् नौवाँ क्रियास्थान है, जिसे मानप्रत्ययिक कहते हैं। (से जहाणामए केइ पुरिसे जातिमएण वा, कुलमएण वा, बलमएण वा, रूवमएण वा, तवोमएण वा, सुयमएण वा, लाभमएण वा, इस्सरियमएण वा, पन्नामएण वा, अन्नयरेण वा, मयट्ठाणेणं मत्ते समाणे परं हीलेइ निंदेइ, खिसइ, गरहइ, परिभवइ, अवमण्णेइ) जैसे कोई व्यक्ति जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, तपोमद, शास्त्रज्ञानमद, लाभमद, ऐश्वर्यमद, बुद्धिमद, आदि में से किसी एक मद से मत्त होकर दूसरे व्यक्ति की अवहेलना करता है, निन्दा करता है, घृणा करता है, गर्हा करता है, अपमान करता है, तिरस्कार करता है, (इत्तरिए अयं अहमंसि पुण विसिट्ठजाइकुलबलाइगुणोववेए) वह समझता है—'यह दूसरा व्यक्ति हीन है, मैं एक विशिष्ट व्यक्ति हूँ, मैं उत्तम जाति, कुल, बलादि गुणों से युक्त हूँ।' (एवं अप्पाणं समुक्कसे) इस प्रकार वह अपने आपको उत्कृष्ट मानता हुआ गर्व करता है। (देहच्चुए कम्मबितिए अवसे पयाइ) वह अभिमानी आयु पूरी होने पर शरीर को छोड़कर कर्ममात्र को साथ लेकर विवशतापूर्वक परलोक में जाता है। (गब्भाओ गब्भं, जम्माओ जम्मं, माराओ मारं, णरगाओ णरगं) वह एक गर्भ से दूसरे गर्भ में, एक जन्म से दूसरे जन्म में, एक मरण से दूसरे मरण में, एक नरक से दूसरे नरक में जाता है। (चंडे थद्धे चवले माणियावि भवइ) वह परलोक में भयंकर, नम्रतारहित, चंचल और अभिमानी भी होता है। (एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ) इस प्रकार वह व्यक्ति उक्त अभिमान (मद) से उत्पन्न सावद्य (पाप) कर्म का बन्ध करता है। (णवमे किरियट्ठाणे माणवत्तिएत्ति आहिए) इस प्रकार नौवें मानप्रत्ययिक क्रियास्थान का स्वरूप बताया गया है।

व्याख्या

नौवाँ क्रियास्थान : मानप्रत्ययिक

इस सूत्र में नौवें क्रियास्थान का निरूपण किया गया है। इसका नाम मानप्रत्ययिक है। इसका स्वरूप इस प्रकार है—जो पुरुष जाति, कुल, बल, रूप, तप, शास्त्रज्ञान, लाभ, ऐश्वर्य और प्रज्ञा के मद से मत्त होकर दूसरों को अपने से हीन-तुच्छ समझता है और अपने आप को जाति, कुल आदि में श्रेष्ठ समझता है। इन मदों में से किसी न किसी मद से मत्त होकर वह दूसरों का तिरस्कार एवं अपमान करता है, दूसरों से घृणा करता है, द्वेष करता है और ईर्ष्या भी करता है। इस प्रकार का अभिमानी व्यक्ति इस लोक में निन्दा का पात्र होता है और परलोक में भी उसकी दशा बुरी होती है। इस पापकर्मबन्ध के कारण वह बार-बार गर्भ में आता है, जन्म लेता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, मरता है और अन्त में एक नरक से दूसरे नरक में जाता है, जहाँ उसे क्षण भर भी दुःख से छुटकारा नहीं मिलता। यदि संयोगवश वह मनुष्यलोक में जन्म लेता है तो भी भयंकर, प्रचण्ड, उद्धत, चपल और घमण्डी होता है। यह मानप्रत्ययिक क्रिया-स्थान का स्वरूप है।

मूल पाठ

अहावरे दसमे किरियट्ठाणे मित्तदोसवत्तिएत्ति आहिज्जइ। से जहा-णामए केई पुरिसे माईहिं वा, पिईहिं वा, भाईहिं वा, भइणीहिं वा, भज्जाहिं वा, धूयाहिं वा, पुत्तेहिं वा, सुण्हाहिं वा, सद्धिं संवसमाणे तेसिं अन्नयरंसि अहा-लहुगंसि अवराहंसि सयमेव गरुयं दंडं निवत्तेइ, तं जहा—सीओदगवियडंसि वा कायं उच्छोलित्ता भवइ, उसिणोदगवियडेण वा कायं ओसिंचित्ता भवइ, अगणिकाएणं कायं उवडहित्ता भवइ, जोत्तेण वा, वेत्तेण वा, णेत्तेण वा, तयाइ वा, कण्णेण वा, छियाए वा, लयाए वा, अन्नयरेण वा, दवरएण पासाइं उद्दालित्ता भवइ। दंडेण वा, अट्ठीण वा, मुट्ठीण वा, लेलूण वा, कवालेण वा, कायं आउट्टित्ता भवइ। तहप्पगारे पुरिसजाए संवसमाणे दुम्मणा भवइ, पवसमाणे सुमणा भवइ। तहप्पगारे पुरिसजाए दंडपासी दंडगुरुए दंडपुर-क्कडे अहिए इमंसि लोगंसि अहिए परंसि लोगंसि संजलणे कोहणे पिट्ठिमंसि यावि भवइ। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ। दसमे किरिय-ट्ठाणे मित्तदोसवत्तिएत्ति आहिए॥ सू० २६॥

संस्कृत छाया

अथाऽपरं दशमं क्रियास्थानं मित्रदोषप्रत्ययिकमित्याख्यायते। तद्यथा नाम कोऽपि पुरुषः मातृभिर्वा, पितृभिर्वा, भ्रातृभिर्वा, भगिनीभिर्वा, भार्याभिर्वा, दुहितृभिर्वा, पुत्रैर्वा, स्नूषाभिर्वा सार्धं संवसन् तेषामन्यतमस्मिन् लघुकेऽप्यपराधे स्वयमेव गुरुकं दण्डं निर्वर्तयति। तद्यथा—शीतोदकविकटे वा कायमुच्छो-लयिता भवति, उष्णोदकविकटे वा कायमपसिंचयिता भवति, अग्निकायेन कायमुपदाहयिता भवति, जोत्रेण वा, वेत्रेण वा, नोदेन वा, त्वचा वा, कशया वा, छेदकेन वा, लतया वा, अन्यतरेण वा दवरकेण पार्श्वाणि उद्दायलयिता भवति, दण्डेन वा, अस्थ्ना वा, मुष्टिना वा, लेष्टुना वा, कपालेन वा कायमा-कुट्टयिता भवति। तथाप्रकारे पुरुषजाते संवसति दुर्मनसो भवन्ति, प्रवसमाने सुमनसो भवन्ति। तथाप्रकारः पुरुषजातः दण्डपार्श्वी दण्डगुरुकः दण्डपुर-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्कृतः अहितः अस्मिन् लोके, अहितः परस्मिन् लोके, संज्वलनः क्रोधनः पृष्ठ-मांसखादकश्चाऽपि भवति। एवं खलु तस्य तत्प्रत्ययिकं सावद्यमाधीयते। दशमं क्रियास्थानं मित्रदोषप्रत्ययिकमित्याख्यातम् ॥सू० २६॥

अन्वयार्थ

(**अहावरे दसमे किरियट्ठाणे मित्तदोसवत्तिएत्ति आहिज्जइ**) इसके बाद दसवाँ क्रियास्थान मित्रदोषप्रत्ययिक कहलाता है, (**से जहाणामए केइ पुरिसे माईहिं वा, पिईहिं वा, भाईहिं वा, भइणीहिं वा, भज्जाहिं वा, धूयाहिं वा, पुत्तेहिं वा, सुण्हाहिं वा सद्धिं संवसमाणे तेसिं अन्नयरंसि अहालहुगंसि वा अवराहंसि सयमेव गुरुयं दंडं निवत्तेइ**) जैसे माता, पिता, भाई, बहन, स्त्री, कन्या, पुत्र, पुत्रवधू आदि के साथ निवास करता हुआ कोई पुरुष इनके द्वारा छोटा-सा अपराध होने पर भी इन्हें भारी दण्ड देता है, (**तं जहा—सीओदगवियडंसि वा कायं उच्छोलित्ता भवइ**) जैसे कि वह ठंड के समय भगिनी आदि के शरीर को ठंडे जल में डाल देता है, या ठंडे जल में उछालता है। (**उसिणोदगवियडेण वा कायं ओसिंचित्ता भवइ**) तथा गर्मी के दिनों में उनके शरीर पर अत्यन्त गर्म पानी छींटता है, (**अगणिकाएणं कायं उवडहित्ता भवइ**) अग्नि से उनके शरीर को जला देता है, या गर्म दाग देता है। (**जोत्तेण वा, वेत्तेण वा, नेत्तेण वा, तयाइ वा, कण्णेण वा, छियाए वा, लयाए वा, अन्नयरेण वा, दवरएण पासाइं उद्दालित्ता भवइ**) जोत्र से, बेंत से, छड़ी से, चमड़े से, लता से, चाबुक से या किसी प्रकार की रस्सी से मारकर उनके बगल (पार्श्वभाग) की खाल उधेड़ देता है। (**दंडेण वा, अट्ठीण वा, मुट्ठीण वा, लेलूण वा, कवालेण वा कायं आउट्टित्ता भवइ**) डंडे से, हड्डी से, मुक्के से, ढेले से, ठीकरे या खप्पर से मार-मारकर उनके शरीर को ढीला (जर्जर) कर देता है। (**तहप्पगारे पुरिसजाए संवसमाणे दुम्मणा भवइ**) ऐसे पुरुष के साथ घर में रहने वाला परिवार दुःखी रहता है, (**पवसमाणे सुमणा भवइ**) और उसके परदेश चले जाने पर वह (परिवार) सुखी हो जाता है। (**तहप्पगारे पुरिसजाए दंडपासी दंडगुरुए दंड-पुरक्कडे अहिए इमंसि लोगंसि अहिए परंसि लोगंसि संजलणे कोहणे पिट्ठमंसि यावि भवइ**) ऐसा व्यक्ति जो बगल में डंडा दबाये रहता है, जरा से अपराध पर भारी सजा (दण्ड) देता है, हर बात में दंड को आगे रखता है या दंड को आगे रखकर बात करता है, वह इस लोक में भी अपना अहित करता है और परलोक में भी अपना अहित करता है, हरदम ईर्ष्या से जलता रहता है, बात-बात में क्रोध करता है, दूसरों की पीठ पीछे निन्दा करता है या चुगली खाता है। (**एवं खलु तस्स तप्पत्तियं साव-ज्जंति आहिज्जइ**) ऐसे व्यक्ति को मित्रदोषप्रत्ययिक पापकर्म का बन्ध होता है। (**दसमे किरियट्ठाणे मित्तदोसवत्तिएत्ति आहिए**) इस प्रकार दशवें मित्रदोषप्रत्ययिक क्रियास्थान का स्वरूप बताया गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

दसवाँ क्रियास्थान : मित्रदोषप्रत्ययिक

इस सूत्र में दसवें मित्रदोषप्रत्ययिक क्रियास्थान का स्वरूप बताया गया है। इस जगत् में कई ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो अपने माता, पिता, भाई, बहन, स्त्री, पुत्र, पुत्री, पुत्रवधू आदि परिजन या प्रियजन का जरा सा अपराध होने पर वे उन्हें बड़ा भारी दण्ड देते हैं। जैसे सर्दी के दिनों में वे उन्हें बर्फ के समान ठंडे पानी में गिरा या डुबा देते हैं, गर्मी के दिनों में उनके शरीर पर खौलता हुआ गर्म पानी डालकर कष्ट देते हैं या गर्म पानी उन पर छींटते हैं। गर्म लोहे से या गर्म तेल छिड़ककर उनके शरीर को जला डालते हैं। बेंत, छड़ी, चमड़ा, चाबुक, लता या किसी रस्सी से पीट-पीटकर उनके शरीर की चमड़ी उधेड़ देते हैं। डंडे, मुक्के, ढेले, हड्डी, खप्पर या ठीपरे से मार-मारकर उनके शरीर को जर्जर कर डालते हैं। ऐसे व्यक्ति जब घर पर रहते हैं तब परिवार वाले उनके बुरे स्वभाव के कारण दुःखी रहते हैं, और उनके परदेश चले जाने पर सुखी हो जाते हैं। ऐसा व्यक्ति, जो हर समय डंडा बगल में लिये फिरता है, जरा से कसूर पर भारी दंड देता है, डंडा आगे ही रखकर ही बात करता है, वह अपना इस लोक में भी अहित करता है, और परलोक में भी, वह यहाँ और वहाँ सर्वत्र अपने शत्रु बना लेता है। वह बात-बात में ईर्ष्या से जलता है, क्रोध करता है, हर किसी की पीठ पीछे निन्दा या चुगली करता है। मरने के बाद वह परलोक में भी ईर्ष्यालु, क्रोधी और परोक्षनिन्दक होता है। ऐसा व्यक्ति मित्रदोषप्रत्ययिक नामक क्रियास्थान का ज्वलन्त उदाहरण है। वह इस क्रियास्थान के कारण पापकर्म का बन्ध करता है। यह दसवें क्रियास्थान का स्वरूप है।

मूल पाठ

अहावरे एक्कारसमे किरियट्ठाणे मायावत्तिएत्ति आहिज्जइ। जे इमे भवंति—गूढायारा तमोकसिया उलुगपत्तलहुया पव्वइगुरुया ते आयरिया वि संता अणारियाओ भासाओ वि पउज्जंति। अन्नहा संतं अप्पाणं अन्नहा मन्नंति, अन्नं पुट्ठा अन्नं वागरंति, अन्नं आइक्खियव्वं अन्नं आइक्खंति। से जहाणामए केइ पुरिसे अंतोसल्ले तं सल्लं णो सयं णिहरइ, णो अन्नेण णिहरावेइ, णो पडिविद्धं सेइ, एवमेव निण्हवेइ अविउट्टमाणे अंतो अंतो रियइ एवमेव माई मायं कट्टु णो आलोएइ, णो पडिक्कमेइ, णो णिंदइ, णो गरहइ, णो विउट्टइ, णो विसोहेइ, णो अकरणाए अब्भुट्ठेइ, णो अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जइ। माई अस्सिं लोए पच्चायाइ, माई परंसि लोए पुणो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुणो पच्चायाइ, निंदइ, गरहइ, पसंसइ, णिच्चरइ, ण नियट्टइ णिसिरियं दंडं छाएइ। माई असमाहडसुहलेस्से यावि भवइ। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ। एक्कारसमे किरियट्ठाणे मायावत्तिएत्ति आहिए ॥ सू० २७ ॥

संस्कृत छाया

अथाऽपरमेकादशं क्रियास्थानं मायाप्रत्ययिकमित्याख्यायते। ये इमे भवन्ति गूढाचाराः तमःकाषिणः उलूकपत्रलघवः पर्वतगुरुकाः ते आर्या अपि सन्तः अनार्य्याः भाषाः प्रयुंजते। अन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा मन्यन्ते, अन्यत् पृष्टा अन्यद् व्यागृणन्ति। अन्यस्मिन् आख्यातव्ये अन्यद् आख्यान्ति। तद्यथा नाम कश्चित् पुरुषः अन्तःशल्यस्तं शल्यं नो स्वयं निर्हरति, नाऽप्यन्येन निर्हारयति, नाऽपि प्रतिविध्वंसयति, एवमेव निन्हुते पीड्यमानोऽन्तोऽन्तः रीयते। एवमेव मायी मायां कृत्वा नो आलोचयति, नो प्रतिक्रमते, नो निन्दति, नो गर्हते, नो त्रोटयति, नो विशोधयति, नो अकरणाय अभ्युत्तिष्ठते, नो यथार्हं तपः कर्म प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यते, मायी अस्मिन् लोके प्रत्यायाति, मायी परस्मिन् लोके प्रत्यायाति, निन्दति, गर्हते, प्रशंसति, निश्चरति न निवर्तते। निसृज्य दण्डं छादयति मायी असमाहृत शुभलेश्यश्चापि भवति। एवं खलु तस्य तत्प्रत्ययिकं सावद्यमित्याधीयते। एकादशं क्रियास्थानं मायाप्रत्ययिकमित्याख्यातम् ॥ सू० २७ ॥

अन्वयार्थ

(**अहावरे एक्कारसमे किरियट्ठाणे मायावत्तिएत्ति आहिज्जइ**) अब ग्यारहवाँ क्रियास्थान है, जिसे मायाप्रत्ययिक कहते हैं। (**जे इमे भवंति—गूढायारा तमोकसिया उलुगपत्तलहुया पव्वयगुरुया ते आरिया वि संता अणारियाओ भासाओ वि पउज्जंति**) जो व्यक्ति दूसरों को पता न चले ऐसे गूढ़ आचार वाले होते हैं, विश्वास पैदा करके जगत् को ठगते हैं, लोगों को अंधेरे में रखकर बुरे काम करते हैं, उल्लू के पंख के समान हलके होते हुए भी वे अपने को पहाड़ के समान भारी मानते हैं, तथा वे आर्य होते हुए भी अनार्य (म्लेच्छ) भाषाओं का प्रयोग करते हैं। (**अन्नहा संतं अप्पाणं अन्नहा मन्नंति**) वे और तरह के होकर भी अपने आपको और तरह के मानते हैं। (**अन्नं पुट्ठा अन्नं वागरंति**) वे और बात पूछे जाने पर और ही बात बतलाते हैं, (**अन्नं आइक्खियव्वं अन्नं आइक्खंति**) उन्हें दूसरी बात कहनी चाहिए, लेकिन कहते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं वे और ही बात। (**से जहाणामए केइ पुरिसे अंतोसल्ले तं सल्लं णो सयं णिहरइ**) जैसे कोई पुरुष अपने हृदय में गड़ी हुई तीखी कील को स्वयं नहीं निकालता, (**णो अन्नेण णिहरावेइ**) न किसी दूसरे से वह निकलवाता है। (**णो पडिविद्धंसेइ**) तथा उस कील को भी नष्ट नहीं करता, (**एवमेव णिण्हवेइ, अविउट्टमाणे अंतो अंतो रियइ**) किन्तु उस काँटे या कील को अन्दर ही अन्दर व्यर्थ ही छिपाता है, तथा उससे पीड़ित होकर अन्दर ही अन्दर वेदना भोगता है। (**एवमेव माई कट्टु मायं णो आलोएइ, णो पडिक्कमेइ, णो णिंदइ, णो गरहइ, णो विउट्टइ, णो विसोहेइ, णो अकरणाए अब्भुट्ठेइ, णो अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जइ**) इसी प्रकार मायावी (कपटी) व्यक्ति माया (छल-कपट) करके उसकी आलोचना नहीं करता, प्रतिक्रमण नहीं करता, उसकी निन्दा नहीं करता, उसकी गर्हा नहीं करता, उसे वहीं मिटाता नहीं, न उसकी शुद्धि करता है, उसे पुनः न करने के लिए उद्यत नहीं होता, और उस पाप के अनुरूप तपश्चरण के रूप में प्रायश्चित्त भी स्वीकार नहीं करता (**माई अस्सिं लोए पच्चायाइ, माई परंसि लोए पुणो पुणो पच्चायाइ**) उस मायी का इस लोक में कोई विश्वास नहीं करता अथवा मरकर (वह) इस लोक में पुनः आ जाता है और परलोक में भी बार-बार जन्म ग्रहण करता है अथवा परलोक में भी बार-बार वह नीच गतियों में जाता है। (**निंदइ, गरहइ, पसंसइ, णिच्चरइ, ण नियट्टइ णिसिरियं दंडं छाएइ**) वह दूसरे की निन्दा और अपनी प्रशंसा करता है, दूसरे से घृणा करता है, बुरे कार्य करता है, असत्कर्मों से निवृत्त नहीं होता, वह प्राणी को दण्ड देकर भी उसे छिपाता है, प्रकट नहीं करता, (**माई असमाहडसुहलेस्से यावि भवइ**) ऐसा मायी शुभ लेश्याओं—अच्छे विचारों से कोसों दूर रहता है। (**एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ**) ऐसे मायावी पुरुष के मायाप्रत्ययिक सावद्य (पाप) कर्म का बन्ध होता है। (**एक्कारसमे किरियट्ठाणे मायावत्तिएत्ति आहिए**) इस प्रकार भगवान् ने मायाप्रत्ययिक नामक ग्यारहवें क्रियास्थान का स्वरूप बताया है।

व्याख्या

ग्यारहवाँ क्रियास्थान : मायाप्रत्ययिक

इस सूत्र में मायाप्रत्ययिक क्रियास्थान का स्वरूप बताकर उसकी प्रक्रिया का विश्लेषण किया गया है।

इस जगत् में बहुत-से लोग ऐसे होते हैं, जो बाहर से बड़े ही सभ्य, भले और सदाचारी मालूम होते हैं, परन्तु अन्दर ही अन्दर वे छिपकर पापाचार करते हैं, वे लोगों पर अपने विश्वास का सिक्का जमाकर बाद में उन्हें ठगते और धोखा देते रहते हैं, वे उलूक (उल्लू) के समान अत्यन्त तुच्छ (हलकी) वृत्ति वाले होकर भी अपने आपको पहाड़ के समान भारी समझते हैं। वे कपट-क्रिया करने में बड़े

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुर होते हैं। वे आर्य होकर भी दूसरों पर अपना प्रभाव जमाने के लिए अनार्य भाषाओं में बोलते हैं। उनसे पूछा जाता है किसी अन्य विषय में, और वे उत्तर देते हैं किसी अन्य विषय का। कई-कई व्याकरण और तर्क में ऐसे पारंगत होते हैं कि वादी को शास्त्रार्थ में पराजित करने हेतु व्यर्थ का तर्कजाल प्रस्तुत कर देते हैं, अथवा अपने अज्ञान को छिपाने के लिए व्यर्थ का शब्दाडम्बर करके समय गँवाते हैं, वे दूसरी बात कहना चाहते हुए भी और ही कोई अप्रासंगिक बात कह डालते हैं। कपट-कार्यों में फँसे हुए वे मायावी निन्दनीय अकार्यों में रत रहते हैं। जैसे कोई मूर्ख आदमी अपने हृदय में चुभे हुए तीखे काँटे या तीर को पीड़ा के डर से स्वयं नहीं निकलता, न दूसरों से निकलवाता है तथा उसे छिपा-छिपाकर व्यर्थ ही उसकी पीड़ा से दुःखी होता रहता है। इसी तरह कपटी पुरुष भी हृदयस्थित कपट को निन्दा के भय से बाहर निकालकर नहीं फेंकता, अपने कुकृत्यों को निन्दा के डर से छिपाता है। वह अपनी आत्मसाक्षी से अपने किये हुए मायाचार की निन्दा (पश्चात्ताप) भी नहीं करता, न गुरु या बड़ों के सामने उस दुष्कृत्य की आलोचना करता है, न गुरु के समक्ष अपने दोषों को प्रगट करता है। अपराध विदित हो जाने पर गुरुजनों द्वारा निर्दिष्ट प्रायश्चित्त का आचरण भी वह नहीं करता। इस प्रकार कपटाचरण द्वारा अपने समस्त कारनामों को छिपाने वाले व्यक्ति की इस लोक में अत्यन्त निन्दा होती है, जनता का विश्वास उस पर से उठ जाता है, वह किसी समय दोष न करने पर भी दोषी माना जाता है। मरने के पश्चात् परलोक में भी वह नीच और दुःखपूर्ण गति या योनि में जाता है। वह खासकर तिर्यञ्चयोनि में बार-बार जन्म लेता है, नरकगति तो उसके लिए सुरक्षित है ही। ऐसा पुरुष दूसरों को ठगकर या धोखा देकर कभी लज्जित नहीं होता, अपितु प्रसन्न होता है। वह दूसरों को ठगकर अपने को धन्य मानता है। उसकी चित्तवृत्ति सदैव दूसरों को ठगने में लीन रहती है, उसके सब कार्य प्रायः परवंचनात्मक होते हैं। उसके हृदय-मन्दिर में कभी शुभ भावों का दीपक नहीं जलता। ऐसा पुरुष माया-प्रत्ययिक पापकर्म का बन्ध करता रहता है। ऐसा पुरुष मायाप्रत्ययिक क्रियास्थान का भागी होता है। यह ग्यारहवें क्रियास्थान—मायाप्रत्ययिक का स्वरूप बताया गया है।

मूल पाठ

अहावरे बारसमे किरियट्ठाणे लोभवत्तिएत्ति आहिज्जइ। जे इमे भवंति, तं जहा—आरन्निया, आवसहिया, गामंतिया, कण्हुईरहस्सिया णो बहुसंजया णो बहुपडिविरया सव्वपाणभूयजीवसत्तेहिं ते अप्पणो सच्चामोसाइं एवं विउंजंति, अहं ण हंतव्वो अन्ने हंतव्वा, अहं ण अज्जावेयव्वो अन्ने अज्जावेयव्वा, अहं ण परिघेतव्वो अन्ने परिघेतव्वा, अहं ण परितावे-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यव्वो अन्ने परितावेयव्वा, अहं ण उद्दवेयव्वो अन्ने उद्दवेयव्वा, एवमेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया, गिद्धा, गढिया, गरहिया, अज्झोववन्ना जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं अप्पयरो वा, भुज्जयरो वा, भुंजित्तु भोगभोगाइं कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु आसुरिएसु किव्विसिएसु ठाणेसु उववत्तारो भवंति। ततो विप्पमुच्चमाणे भुज्जो भुज्जो एलमूयत्ताए तमूयत्ताए जाइमूयत्ताए पच्चायंति। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ। दुवालसमे किरियट्ठाणे लोभवत्तिएत्ति आहिए। इच्चेयाइं दुवालसकिरियट्ठाणाइं दविएणं समणेण वा माहणेण वा सम्मं सुपरिजाणिअव्वाइं भवंति ॥ सू० २८ ॥

संस्कृत छाया

अथाऽपरं द्वादशं क्रियास्थानं लोभप्रत्ययिकमित्याख्यायते। ये इमे भवन्ति, तद्यथा—आरण्यकाः, आवसथिकाः, ग्रामान्तिकाः, क्वचिद् राहसिकाः नो बहुसंयताः नो बहुप्रतिविरताः, सर्वप्राण-भूत-जीव-सत्त्वेभ्यस्ते आत्मना सत्य-मृषाभूतानि एवं प्रयुञ्जते—अहं न हन्तव्योऽन्ये हन्तव्याः, अहं नाऽऽज्ञापयितव्योऽन्ये आज्ञापयितव्याः, अहं न परितापयितव्योऽन्ये परितापयितव्याः, अहं न परिग्रहीतव्योऽन्ये परिग्रहीतव्याः, अहं न उपद्रावयितव्योऽन्ये उपद्रावयितव्याः। एवमेव ते स्त्रीकामेषु मूर्च्छिताः गृद्धाः ग्रथिताः गर्हिताः अध्युपपन्नाः यावद् वर्षाणि चतुः पंच, षड्दशकानि अल्पतरान् वा भूयस्तरान् वा भुक्त्वा भोगान् कालमासे कालं कृत्वाऽन्यतरेषु आसुरिकेषु किल्विषिकेषु स्थानेषु उपपत्तारो भवन्ति। ततो विप्रमुच्यमानाः भूयो भूयः एलमूकत्वया तमस्त्वाय, जातिमूकत्वाय प्रत्यागच्छन्ति। एवं खलु तस्य तत्प्रत्ययिकं सावद्यमित्याधीयते। द्वादशं क्रियास्थानं लोभप्रत्ययिकमित्याख्यातम्।

इत्येतानि द्वादश क्रियास्थानानि द्रव्येण श्रमणेण वा माहनेन वा सम्यक् सुपरिज्ञातव्यानि भवन्ति ॥ सू० २८ ॥

अन्वयार्थ

(अहावरे बारसमे किरियट्ठाणे लोभवत्तिएत्ति आहिज्जइ) इसके पश्चात् बारहवाँ क्रियास्थान है, जो लोभप्रत्ययिक कहलाता है। **(जे इमे भवंति, तं जहा—आरन्निया, आवसहिया, गामंतिया, कण्हुईरहस्सिया णो बहुसंजया णो बहुपडिविरया सव्वपाणभूयजीवसत्तेहिं)** ये जो वन में निवास करने वाले (आरण्यक) हैं, जो कुटी बनाकर रहते (आवसथिक) हैं, जो गाँव के आसपास डेरा डालकर ग्राम के आश्रय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से अपना निर्वाह करने हेतु रहते हैं, कई एकान्त में निवास करते हैं, या किसी गुप्त क्रिया को करने वाले होते हैं, यद्यपि ये पाखण्डी लोग त्रस प्राणी का घात नहीं करते, तथापि समस्त सावद्य कर्मों से निवृत्त नहीं हैं, समस्त प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों की हिंसा से विरत नहीं हैं। **(ते अप्पणो सच्चामोसाइं एवं विउंजंति)** वे कुछ सच्ची और कुछ झूठी ऐसी बातें कहा करते हैं— **(अहं ण हंतव्वो अन्ने हंतव्वा, अहं ण अज्जावेयव्वो अन्ने अज्जावेयव्वा, अहं ण परिघेतव्वो अन्ने परिघेतव्वा, अहं ण परितावेयव्वो अन्ने परितावेयव्वा, अहं ण उद्दवेयव्वो अन्ने उद्दवेयव्वा)** मैं मारे जाने योग्य नहीं हूँ, किन्तु दूसरे प्राणी मारे जाने योग्य (मारे जा सकते) हैं, मैं आज्ञा देने योग्य नहीं हूँ, किन्तु दूसरे प्राणी आज्ञा देने योग्य हैं, मैं दासी-दास आदि के रूप में गुलाम बनाने या गिरफ्तार करने योग्य नहीं हूँ, दूसरे प्राणी दास आदि बनाने या गिरफ्तार करने योग्य हैं, मैं सन्ताप (कष्ट) देने योग्य नहीं हूँ, मगर दूसरे जीव कष्ट देने योग्य हैं, मैं उपद्रव के या भयभीत करने के योग्य नहीं हूँ, जबकि दूसरे प्राणी उपद्रव या भय के योग्य हैं। **(एवमेव ते इत्थिकामेहिं मूच्छिया गिद्धा गढिया अज्झोववन्ना)** इस प्रकार के उपदेष्टा वे पूर्वोक्त पुरुष स्त्री और कामभोगों में सदा आसक्त रहते हैं, ये सतत विषयभोग की तलाश में रहते हैं, इनकी चित्तवृत्ति सदा विषय-भोगों में लगी रहती है, **(जाव वासाइं चउपंचमाइ छद्दसमाइं अप्पयरो वा भुज्जयरो वा भोगभोगाइं भुंजित्तु कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु आसुरिएसु किव्विसिएसु ठाणेसु उववत्तारो भवंति)** वे चार, पांच, छह या दस वर्ष तक थोड़े या अधिक कामभोगों का उपभोग कर मृत्यु के समय मृत्यु प्राप्त करके असुरलोक में किल्विषी देव के स्थानों में उत्पन्न होते हैं, **(ततो विप्पमुच्चमाणे भुज्जो भुज्जो एलमूयत्ताए तमूयत्ताए जाइमूयत्ताए पच्चायंति)** उक्त देवयोनि से च्युत होकर वे बार-बार गूंगे, जन्मान्ध या जन्म से मूक होते हैं। **(एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ)** इस प्रकार उस लोभी विषयलोलुप पाखंडी को लोभप्रत्ययिक सावद्य (पाप) कर्म का बन्ध होता है। **(दुवालसमे किरियट्ठाणे लोभवत्तिएत्ति आहिए)** यह लोभप्रत्ययिक नामक बारहवें क्रियास्थान का स्वरूप बताया गया। **(इच्चेयाइं दुवालसकिरियट्ठाणाइं दविएणं समणेण वा माहणेण वा सम्मं सुपरिजाणिअव्वाइं भवंति)** इन पूर्वोक्त बारह क्रियास्थानों को द्रव्य मुक्ति जाने योग्य श्रमण या माहन को सम्यक् प्रकार से जान लेना चाहिए और जानकर इनका त्याग करना चाहिए।

व्याख्या

बारहवाँ क्रियास्थान : लोभप्रत्ययिक

इस सूत्र में लोभप्रत्ययिक क्रियास्थान का स्वरूप बताते हुए आरण्यक (वनवासी) तापसों आदि की चर्या को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। लोभप्रत्ययिक क्रियास्थान के नमूने इस प्रकार हैं—जैसे कई लोग वन में पत्तों की कुटिया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बनाकर निवास करते हैं। वहाँ वे कन्द, मूल, पत्र, फूल आदि खाकर अपना निर्वाह करते हैं, कोई पेड़ों के मूल में डेरा जमाकर रहते हैं, कोई आश्रम या झोंपड़ी बना कर रहते हैं, कोई ग्राम से अपना निर्वाह करते हुए ग्राम में ही निवास करते हैं या गाँव के आस-पास ही रहते हैं। कई एकान्त में निवास करते हैं या कुछ गुप्त क्रियाएँ करते हैं। ये पाखण्डी यद्यपि त्रसजीवों का घात नहीं करते, तथापि अपने निर्वाह के लिए सचित्त जल, वनस्पति, अग्नि आदि का आरम्भ करके एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा करते ही हैं। तापस आदि प्रायः इसी तरह के होते हैं। ये तापस आदि द्रव्यरूप से अनेक व्रतों का पालन करते हुए भी भावरूप से एक भी व्रत का पालन नहीं करते; क्योंकि भावव्रत का पालन करने के लिए सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्दर्शन अपेक्षित हैं, जो उनमें नहीं होते। इस कारण वास्तव में वे व्रतहीन हैं। वे पाखण्डी अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए लोगों को बहुत-सी सच्ची-झूठी कपोलकल्पित बातें कहते हैं। वे कहते हैं—मैं ब्राह्मण या तापस हूँ, इसलिए डंडे आदि से मारने-पीटने योग्य नहीं हूँ। परन्तु दूसरे जो शूद्र आदि हैं, वे डंडे आदि से मारने-पीटने योग्य हैं। इस बात के समर्थन में इनके द्वारा मान्य शास्त्र का वाक्य प्रस्तुत है—

"शूद्रं व्यापाद्य प्राणायामं जपेत् किञ्चिद् दद्यात्।"

अर्थात्—शूद्र को मार कर प्राणायाम करे, मन्त्रजाप करे और कुछ दान दे दे।

"क्षुद्रसत्त्वानामनस्थिकानां शकटभरमपि व्यापाद्य ब्राह्मणं भोजयेत्।"

बिना हड्डी के क्षुद्र प्राणियों को एक गाड़ी भर मारकर ब्राह्मण को भोजन करा दे। इसलिए वे कहते हैं—हम वर्णों में श्रेष्ठ हैं, वर्णों के गुरु हैं, हम चाहें कितना ही बड़ा अपराध कर लें, हमें लाठी आदि से दण्ड नहीं देना चाहिए। किन्तु दूसरों को कठोर से कठोर दण्ड देने में कोई दोष नहीं है। मैं दास या भृत्य बनाने योग्य नहीं हूँ, दूसरे शूद्रादि दास या भृत्य बनाने योग्य हैं। मैं पकड़कर कैद करने या गिरफ्तार करने लायक नहीं हूँ, किन्तु दूसरे प्राणियों को पकड़कर बन्धन में डालना चाहिए। हम ब्राह्मण या तापस हैं, हमें किसी प्रकार का कष्ट नहीं देना चाहिए, किन्तु दूसरों को कष्ट देने में कोई दोष नहीं है। हम ब्राह्मण या तापस हैं, हमें कोई डरा, धमका नहीं सकता। दूसरों को डरा-धमकाकर काम लेने में कोई दोष नहीं है।

इस प्रकार असम्बद्ध प्रलाप करने वाले ये अन्यतीर्थी विषमदृष्टि हैं, इनके पास न्यायसंगत कोई बात नहीं है, अन्यथा, अपने आपको अदण्डनीय और दूसरों को दण्डनीय ये लोग कैसे कहते? इसलिए इनमें प्रथम अहिंसा व्रत तो है ही नहीं, सत्य आदि अन्य व्रत भी ऐसे ऊटपटांग उपदेशों के कारण नहीं हैं। ये कामिनियों के राग-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रंग में तथा इन्द्रिय-विषयों के उपभोग में अत्यन्त आसक्त, मूर्च्छित, मोहित रहते हैं। सम्यग्ज्ञान न होने के कारण वे रात-दिन विषयभोगों की तलाश में रहते हैं, उन्हीं में रचे-पचे रहते हैं, उनकी चित्तवृत्ति निरन्तर विषयभोगों में लगी रहती है। दशवैकालिक सूत्र में कहा है—

'मूलमेयमहम्मस्स महादोससमुस्सयं'

स्त्री-संसर्ग अधर्म का मूल और दोषों की खान है। अतः जो स्त्री में आसक्त है, वह सब विषयों में आसक्त है। ऐसे स्त्री तथा काम-भोगों में आसक्त अन्यतीर्थी चार, पाँच, छह से लेकर दस वर्ष तक थोड़े या ज्यादा विषयोपभोग करके मृत्यु के समय शरीर को छोड़कर किसी आसुरी देवयोनि में किल्विषी देवों में उत्पन्न होते हैं। वहाँ से पतन होने पर तिर्यञ्च योनि में बकरा आदि के रूप में या मनुष्य लोक में गूँगा, जन्मान्ध या जन्म से मूक अज्ञानी होते हैं। इस प्रकार लोभी या विषयलोलुप व्यक्तियों के लोभप्रत्ययिक सावद्य (पाप) कर्म का बन्ध होता है। यह है लोभप्रत्ययिक क्रियास्थान का स्वरूप।

अतः विवेकी एवं सुसंयमी साधुओं को अर्थदण्ड से लेकर लोभप्रत्ययिक तक के १२ क्रियास्थानों को कर्मबन्ध का कारण जानकर सर्वथा त्याग करना चाहिए।

मूल पाठ

अहावरे तेरसमे किरियट्ठाणे इरियावहिएत्ति आहिज्जइ। इह खलु आत्तत्ताए संवुडस्स अणगारस्स ईरियासमियस्स भासासमियस्स एसणासमियस्स आयाणभंडमत्तणिक्खेवणासमियस्स उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणियासमियस्स मणसमियस्स वयसमियस्स कायसमियस्स मणगुत्तस्स वयगुत्तस्स कायगुत्तस्स गुत्तिंदियस्स गुत्तबंभयारिस्स आउत्तं गच्छमाणस्स आउत्तं चिट्ठमाणस्स आउत्तं णिसीयमाणस्स आउत्तं तुयट्टमाणस्स आउत्तं भुंजमाणस्स आउत्तं भासमाणस्स आउत्तं वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं गिण्हमाणस्स वा, णिक्खिवमाणस्स वा, जाव चक्खुपम्हणिवायमवि अत्थि विमाया सुहुमा किरिया ईरियावहिया नाम कज्जइ, सा पढमसमए बद्धा पुट्ठा बितीय समए वेइया तइयसमए णिज्जिण्णा सा बद्धा पुट्ठा उदीरिया वेइया णिज्जिण्णा सेयकाले अकम्मे यावि भवइ। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ। तेरसमे किरियट्ठाणे ईरियावहिएत्ति आहिज्जइ।

से बेमि जे य अतीता जे य पडुपन्ना जे य आगमिस्सा अरिहंता भगवंता सव्वे ते एयाइं चेव तेरस किरियट्ठाणाइं भासिंसु वा, भासेंति वा,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भासिस्संति वा, पन्नविंसु वा, पन्नविंति वा, पन्नविस्संति वा, एवं चेव तेरसमं किरियट्ठाणं सेविंसु वा, सेवंति वा, सेविस्संति वा ।। सू० २९ ।।

संस्कृत छाया

अथाऽपरं त्रयोदशं क्रियास्थानमैर्यापथिकमित्याख्यायते। इह खलु आत्मत्वाय संवृत्तस्यानगारस्य ईर्यासमितस्य भाषासमितस्य एषणासमितस्य आदानभाण्डमात्रानिक्षेपणासमितस्य उच्चारप्रस्रवणखेलसिंघानजलपरिष्ठापनासमितस्य मनःसमितस्य वचःसमितस्य कायसमितस्य मनोगुप्तस्य वचोगुप्तस्य कायगुप्तस्य गुप्तेन्द्रियस्य गुप्तब्रह्मचर्यस्य आयुक्तं गच्छतः आयुक्तं तिष्ठतः आयुक्तं निषीदतः आयुक्तं त्वग्वर्तनां कुर्वतः आयुक्तं भुंजानस्य आयुक्तं भाषमाणस्य आयुक्तं वस्त्रं परिग्रहं कम्बलं पादप्रोञ्छनं गृह्णतो वा निक्षिपतो वा यावत् चक्षुःपक्ष्मनिपातमपि। अस्ति विमात्रा सूक्ष्मा क्रिया ऐर्यापथिकी नाम क्रियते। सा च प्रथमसमये बद्धा स्पृष्टा द्वितीय समये वेदिता तृतीयसमये निर्जीर्णा सा बद्धस्पृष्टा इदीरिता वेदिता निर्जीर्णा एष्यत्काले अकर्मताऽपि भवति। एवं खलु तस्य तत्प्रत्ययिकं सावद्यमाधीयते त्रयोदशं क्रियास्थानमैर्यापथिकमित्याख्यायते। स ब्रवीमि ये च अतीताः ये च प्रत्युत्पन्नाः ये च आगमिष्यन्तः अर्हन्तो भगवन्तः सर्वे ते एतानि चैव त्रयोदश क्रियास्थानानि अभाषिषुः भाषन्ते भाषिष्यन्ते प्राजिज्ञपन् प्रज्ञायन्ति प्रज्ञापयिष्यन्ति वा। एवं त्रयोदशं क्रियास्थानं सेवितवन्तः सेवन्तेः सेविष्यन्ते ।। सू० २९ ।।

अन्वयार्थ

(**अहावरे तेरसमे किरियाट्ठाणे इरियावहिएत्ति आहिज्जइ**) इसके पश्चात् तेरहवाँ क्रियास्थान है, जिसे ऐर्यापथिक कहते हैं। (**इह खलु आत्तत्ताए संवुडस्स अणगारस्स**) इस जगत में जो व्यक्ति अपना आत्मकल्याण करने के लिए सब पापों से निवृत्त है तथा घरबार छोड़कर मुनिधर्म में प्रव्रजित हो गया है, (**इरियासमियस्स**) जो ईर्यासमिति से युक्त है, (**भासासमियस्स**) जो सावद्य भाषा नहीं बोलता, इसलिए भाषासमिति से युक्त है, (**एसणासमियस्स**) जो एषणा समिति का पालन करता है, (**आयाणभंडमत्तणिक्खेवणासमियस्स**) जो पात्र, उपकरण आदि के ग्रहण करने और रखने की समिति से युक्त है, (**उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणियासमियस्स**) जो लघुनीति, बड़ी नीति, थूक, कफ और नाक के मैल की परिष्ठापन समिति से युक्त है। (**मणसमियस्स वयसमियस्स कायसमियस्स**) जो मन-समिति, वचनसमिति और कायसमिति से युक्त है, (**मणगुत्तस्स वयगुत्तस्स कायगुत्तस्स**)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति से युक्त है (**गुत्तिदियस्स**) जो अपनी इन्द्रियों को गुप्त अर्थात् वश में रखता है, (**गुत्तबंभयारिस्स**) जो ब्रह्मचर्य का पालन करता है। (**आउत्तं गच्छमाणस्स आउत्तं चिट्ठमाणस्स आउत्तं णिसीयमाणस्स**) जो उपयोग (यतना) सहित चलता है, उपयोगपूर्वक खड़ा होता है, उपयोगपूर्वक बैठता है, (**आउत्तं तुयट्टमाणस्स आउत्तं भुंजमाणस्स आउत्तं भासमाणस्स आउत्तं वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं गिण्हमाणस्स वा णिक्खिवमाणस्स वा जाव चक्खुपम्हणिवायमवि**) जो साधक उपयोग के सहित करवट बदलता है, यतनापूर्वक भोजन करता है, भाषण करता है, उपयोगपूर्वक वस्त्र, पात्र, कम्बल, पाद-प्रोंछन को ग्रहण करता हैं, तथा जो उपयोग सहित इन वस्तुओं को रखता है, यहाँ तक कि आँखों की पलकें भी उपयोगपूर्वक झपकाता है। (**अत्थि विमाया सुहुमा किरिया ईरियावहिया नाम कज्जइ**) वह साधु विविध मात्रा (प्रकार) वाली सूक्ष्म ऐर्यापथिकी क्रिया को प्राप्त कर लेता है। (**सा पढमसमए बद्धा पुट्ठा**) उस ऐर्यापथिकी क्रिया का प्रथम समय में बन्ध और स्पर्श होता है, (**बितीयसमये वेइया**) दूसरे समय में उसका वेदन (अनुभव) होता है, (**तइयसमए णिज्जिण्णा**) और तीसरे समय में उसकी निर्जरा होती है। (**सा बद्धा पुट्ठा उदीरिया वेइया णिज्जिण्णा सेयकाले अकम्मे यावि भवइ**) वह ईर्यापथिकी क्रिया प्रथम समय में बन्ध और स्पर्श को प्राप्त करती है तथा दूसरे समय में वेदन (अनुभव) का विषय होती है, तृतीय समय में उसकी निर्जरा होती है और चौथे समय में अकर्मता को प्राप्त होती है, यानी कर्मरहित हो जाती है (**एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ**) इस प्रकार वीतराग पुरुष को ऐर्यापथिकी क्रिया का बन्ध होता है। (**तेरसमे किरियट्ठाणे ईरियावहिएत्ति आहिज्जइ**) यह तेरहवाँ क्रियास्थान ऐर्यापथिक कहलाता है। (**से बेमि जे य अतीता जे य पडुपन्ना जे य आगमिस्सा अरिहंता भगवंता सव्वे ते एयाइं चेव तेरस किरियट्ठाणाइं भासिंसु वा, भासेंति वा, भासिस्संति वा, पन्नविंसु वा, पन्नवेंति वा, पन्नविस्संति वा**) श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं—पूर्व काल में जितने तीर्थंकर हुए हैं, वर्तमान समय में जितने तीर्थंकर विद्यमान हैं, तथा भविष्य में जितने भी तीर्थंकर होंगे, सभी ने इन तेरह क्रियास्थानों का प्ररूपण किया है, तथा करते हैं और करेंगे। (**एवं चेव तेरसमं किरियट्ठाणं सेविंसु वा सेवंति वा सेविस्संति वा**) भूतकालीन तीर्थंकरों ने इसी तेरहवें क्रियास्थान का सेवन किया है और वर्तमान तीर्थंकर इसी का सेवन करते हैं तथा भविष्य के तीर्थंकर भी इसी का सेवन करेंगे।

व्याख्या

तेरहवाँ क्रियास्थान : ऐर्यापथिक

इस सूत्र में ऐर्यापथिक नामक तेरहवें क्रियास्थान का स्वरूप बताया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वास्तव में वीतराग छद्मस्थ और वीतरागी आत्मा के लिए सयोगावस्था तक यही क्रियास्थान होता है।

आत्मा का अपने शुद्ध स्वरूप में सदा के लिए प्रतिष्ठित हो जाना आत्म-लीनता, मुक्ति या निर्वाण कहलाता है। यह अवस्था जीव को कभी प्राप्त नहीं हुई, क्योंकि वह अनादिकाल से दूसरे स्वरूप में स्थित होता चला आ रहा है। यही कारण है कि इसे कभी आत्मिक सुख की प्राप्ति नहीं हुई। जब जीव को शुभकर्मोदय से यह जिज्ञासा पैदा होती है कि सच्चा आत्मिक सुख कैसा होता है? उसे कैसे प्राप्त कर सकूँगा? अब तो मुझे सच्चे आत्मसुख की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना है, तब वह सांसारिक सुखों में आसक्त न होकर, बल्कि उनका त्याग करके शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है। उसकी वैषयिक सुखों से विरक्ति हो जाती है। तब उत्तमोत्तम शब्दादि विषय उसे प्रलोभित नहीं कर पाते। गृहवास तो उसे पाशबन्धन के समान प्रतीत होता है। वह व्यक्ति फिर माता-पिता, भाई-बहन आदि सम्बन्धियों तथा धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद आदि का ममत्व छोड़कर मुनिदीक्षा ग्रहण कर लेता है। तत्पश्चात् शास्त्रानुसार अप्रमत्त होकर साधु-धर्म का पालन करता हुआ, जीवन-मरण से निःस्पृह होकर अपना संयमी-जीवन यापन करता है। वह आस्रवों से तथा इन्द्रिय-विषयों एवं कषायों से निवृत्त होकर पापकर्म से आत्मा की रक्षा करता है। वह चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते सदैव जीवों की विराधना का ध्यान रखता हुआ प्रवृत्ति करता है। वह बिना उपयोग के अपने नेत्र के पलकों को झपकाना भी बुरा समझता है। वह अपने साधनों और उपकरणों को उठाते एवं रखते समय तथा लघु-नीति एवं बड़ी नीति तथा कफ और नाक के मल का विसर्जन करते समय जीवों की विराधना का ध्यान रखता हुआ यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करता है। वह अपने मन को बुरे विचारों में नहीं जाने देता, वाणी पर नियन्त्रण रखता हुआ वह सावद्यभाषा का उच्चारण कभी नहीं करता और न ही शरीर को किसी बुरी प्रवृत्ति में जाने देता है। वह नौ गुप्तियों सहित ब्रह्मचर्य का पालन करता है। सदैव मन-वचन-काया से पापक्रियाओं से वह बचता रहता है। इस तरह यद्यपि वह साधक सब ओर से पापक्रियाओं से बचा रह सकता है, तथापि ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें गुणस्थान की प्राप्ति के दौरान तेरहवीं ऐर्यापथिकी क्रिया से बच नहीं सकता। यह क्रिया इतनी सूक्ष्म है कि धीरे से पलक गिराने पर भी यह लग जाती है। वीतराग भगवान् को भी सयोगावस्था तक इस क्रिया का बन्ध होता है। केवलज्ञानी पुरुष सयोगावस्था में निश्चल होकर रहें, यह सम्भव नहीं है, क्योंकि मन-वचन-काया के योग जब तक विद्यमान हैं, तब तक जीव सर्वथा निश्चल नहीं हो सकता।

वास्तव में ऐर्यापथिकी क्रिया इतनी सूक्ष्म है कि प्रथम समय में इसका बन्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और स्पर्श होता है, दूसरे समय में वेदन होता है और तीसरे समय में निर्जरा हो जाती है। जैन सिद्धान्त यह है कि योगों के कारण कर्मों का बन्ध होता है, और कषायों के कारण उनकी स्थिति होती है। इसलिए जहाँ कषाय नहीं हैं, वहाँ स्थिति बन्ध नहीं होता। यहाँ मूल पाठ में ऐर्यापथिक क्रिया की जो स्थिति बताई है, उसे भी औपचारिक समझना चाहिए, क्योंकि वहाँ स्थिति का कारण कषाय सर्वथा नष्ट हो गया है। आशय यह है कि योग के कारण निष्कषाय वीतराग पुरुष (ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें गुणस्थानवर्ती) के इसका बन्ध तो हो जाता है, लेकिन कषाय न होने से स्थिति का बन्ध नहीं होता। यह ऐर्यापथिकी क्रिया का स्वरूप है।

निष्कर्ष यह है कि मूल पाठ में जो पंचसमिति, तीन गुप्तियों आदि से युक्त सुविहित सामान्य साधु को ऐर्यापथिक क्रिया की प्राप्ति बताई है, वह सम्भाव्य वर्तमान की दृष्टि से समझनी चाहिए। अर्थात् वर्तमान में उक्त साधु में ऐर्यापथिक क्रिया न होने पर भी भविष्य में ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें गुणस्थान की प्राप्ति होने पर वही साधु ऐर्यापथिकी क्रिया को प्राप्त करेगा, जिसमें मूल पाठ में उक्त योग्यता होगी। जिस साधु में मूलपाठ में उक्त योग्यता नहीं है, वह उक्त वीतराग अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकता और वीतराग अवस्था को प्राप्त किये बिना कोई भी आत्मा ऐर्यापथिक क्रियास्थान को प्राप्त नहीं कर सकता।

यही कारण है कि ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें गुणस्थानवर्ती पुरुष के सिवाय शेष प्राणियों को साम्परायिक क्रिया का बन्ध होता है, क्योंकि उनमें मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग विद्यमान रहते हैं, जबकि उक्त वीतराग पुरुष में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद एवं कषाय नहीं होते, सिर्फ योग विद्यमान रहते हैं, इसलिए उन्हें ऐर्यापथिक क्रिया का बन्ध होता है। मूल पाठ में उक्त सुविहित साधु के मिथ्यात्व, अविरति तथा प्रमाद न होने पर भी कषाय की सूक्ष्म मात्रा रहती है, इसलिए उन्हें ऐर्यापथिकी क्रिया वर्तमान में नहीं लगती, किन्तु वे ऐर्यापथिक क्रियास्थान के निकट अवश्य पहुँच जाते हैं।

यहाँ मूल पाठ में भूत, भविष्य एवं वर्तमानकालिक अरिहन्त भगवान के लिए तेरहवें क्रियास्थान का सेवन करना बताया गया है, वह भी औपचारिक ही समझना चाहिए। वस्तुतः वीतरागों का उपयोग उस क्रियास्थान में नहीं होता, अपितु उनका उपयोग सर्वथा निजस्वरूप में स्थित रहता है, वह कभी स्वरूप से बाहर नहीं जाता। इसलिए द्रव्ययोगों की प्रवृत्ति से वह क्रिया सयोगी अवस्था तक उनके होती रहती है, अरिहंत वीतरागों को वस्तुतः भावबन्ध नहीं होता, द्रव्यबन्ध ही होता है।

यद्यपि ऐर्यापथिक क्रियास्थान शुभ है, तथापि बन्ध की अपेक्षा से शास्त्रकार ने उसे '**सावज्जंति आहिज्जइ**' कहकर 'सावद्य' बताया है। किन्तु यहाँ सावद्य का अर्थ पापयुक्त नहीं समझना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री सुधर्मास्वामी, जम्बूस्वामी से कहते हैं कि यह जो तेरह क्रियास्थानों का वर्णन मैंने किया है, वह भूत, भविष्य, वर्तमान के समस्त तीर्थंकरों द्वारा इसी प्रकार प्रतिपादित एवं प्ररूपित है। इसमें किसी भी प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिए।

मूल पाठ

अदुत्तरं च णं पुरिसविजयं विभंगमाइक्खिस्सामि। इह खलु णाणापण्णाणं णाणाछंदाणं णाणासीलाणं णाणादिट्ठीणं णाणारुईणं णाणारंभाणं णाणाज्झवसाणसंजुत्ताणं णाणाविहपावसुयज्झयणं एवं भवइ, तं जहा—भोमं उप्पायं सुविणं अंतलिक्खं अंगं सरं लक्खणं वंजणं इत्थिलक्खणं पुरिसलक्खणं हयलक्खणं गयलक्खणं गोणलक्खणं मिंढलक्खणं कुक्कुडलक्खणं तित्तरलक्खणं वट्टगलक्खणं लावयलक्खणं चक्कलक्खणं छत्तलक्खणं चम्मलक्खणं दंडलक्खणं असिलक्खणं मणिलक्खणं कागिणिलक्खणं सुभगाकरं दुब्भगाकरं गब्भाकरं मोहणकरं आहव्वणिं पागसासणिं दव्वहोमं खत्तियविज्जं चंदचरियं सूरचरियं सुक्कचरियं बहस्सइचरियं उक्कापायं दिसादाहं मियचक्कं वायसपरिमंडलं पंसुवुट्ठिं केसवुट्ठिं मंसवुट्ठिं रुहिरवुट्ठिं वेतालिं अद्धवेतालिं ओसोवणिं तालुग्घाडणिं सोवारिं सोवरिं दामिलिं कालिंगिं गोरिं गंधारिं ओवतणिं उप्पयणिं जंभणिं थंभणिं लेसणिं आमयकरणिं विसल्लकरणिं पक्कमणिं अंतद्धाणिं आयमिणिं, एवमाइआओ विज्जाओ अन्नस्स हेउं पउंजंति, पाणस्स हेउं पउंजंति, वत्थस्स हेउं पउंजंति, लेणस्स हेउं पउंजंति सयणस्स हेउं पउंजंति, अन्नेसिं वा विरूवरूवाणं कामभोगाणं हेउं पउंजति, तिरिच्छं ते विज्जं से वेंति, ते अणारिया विप्पडिवन्ना कालमासे कालं किच्चा अन्नयराइं आसुरियाइं किव्विसियाइं ठाणाइं उववत्तारो भवंति। ततोऽवि विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए तमअंधयाए पच्चायंति॥ सू० ३०॥

संस्कृत छाया

अत उत्तरं पुरुषविजयविभंगमाख्यास्यामि। इह खलु नानाप्रज्ञानां नानाच्छंदसां नानाशीलानां नानादृष्टीनां नानारुचीनां नानारम्भाणां नानाऽध्यवसानसंयुक्तानां नानाविधपापश्रुताध्यमनमेवं भवति। तद्यथा भौमम्, उत्पातम्, स्वप्नम्, आन्तरिक्षम्, आङ्गम्, स्वरलक्षणं, व्यंञ्जनम्, स्त्रीलक्षणम्, पुरुषलक्षणम्, हयलक्षणम्, गजलक्षणम्, गोलक्षणम्, मेषलक्षणम्, कुक्कुटलक्षणम्, तित्तिरलक्षणम्, वर्तकलक्षणम्, लावकलक्षणम्, चक्रलक्षणम्, छत्रलक्षणम्, चर्म-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लक्षणम्, दण्डलक्षणम्, असिलक्षणम्, मणिलक्षणम्, काकिनीलक्षणम्, सुभगाकरीम्, दुर्भगाकरीम्, गर्भकरीम्, मोहनकरीम्, आथर्वणीम्, पाकशासनीम्, द्रव्यहोमम्, क्षत्रियविद्याम्, चन्द्रचरितम्, सूर्यचरितम्, शुक्रचरितम्, बृहस्पतिचरितम्, उल्कापातम्, दिग्दाहम्, मृगचक्रम्, वायसपरिमण्डलम्, पांसुवृष्टिम्, केशवृष्टिम्, मांसवृष्टिम्, रुधिरवृष्टिम्, वैतालीम्, अर्द्ध वैतालीम्, उपस्वापिनीम्, तालोद्घाटनीम्, श्वापाकीम्, शाम्बरीम्, द्राविडीम्, कालिंगीम्, गौरीम्, गान्धारीम्, अवपतनीम्, उत्पतनीम्, जृम्भणीम्, स्तम्भनीम्, श्लेषणीम्, आमयकरणीम्, विशल्यकरणीम्, प्रक्रामणीम्, अन्तर्धानीम्, आयमनीम्, एवमादिकाः विद्याः अन्नस्य हेतोः प्रयुञ्जते, पानस्य हेतोः प्रयुञ्जते, वस्त्रस्य हेतोः प्रयुञ्जते, लयनस्य हेतोः प्रयुञ्जते, शयनस्य हेतोः प्रयुञ्जते, अन्येषां वा विरूपरूपाणां कामभोगानां हेतोः प्रयुञ्जते, तिरश्चीनां ते विद्यां सेवन्ति ते अनार्य्याः विप्रतिपन्नाः कालमासे कालं कृत्वा अन्यतरेषु आसुरिकेषु किल्विषिकेषु स्थानेषु उपपत्तारो भवन्ति। ततोऽपि विप्रमुक्ताः भूयः एलमूकत्वाय तत्तोऽन्धत्वाय प्रत्यायान्ति ॥ सू० ३० ॥

अन्वयार्थ

(अदुत्तरं च णं पुरिसविजयं विभंगं आइक्खिस्सामि) इसके पश्चात् जिस विद्या से पुरुषगण विजय प्राप्त करते हैं, अथवा जिसका अन्वेषण करते हैं, उस विद्या को बताऊँगा। **(इह खलु णाणापण्णाणं णाणाछंदाणं णाणासीलाणं णाणादिट्ठीणं णाणारूईणं णाणारंभाणं णाणाज्झवसाणसंजुत्ताणं णाणाविहपावसुयज्झयणं एवं भवइ)** इस जगत् में भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रज्ञा (ज्ञान) वाले, विभिन्न अभिप्राय वाले, नाना प्रकार के शील (आचार), दृष्टि, रुचि एवं आरम्भ वाले तथा अनेक प्रकार के अध्यवसाय से युक्त मनुष्य होते हैं। वे अपनी-अपनी रुचि के अनुसार विभिन्न प्रकार के पापमय शास्त्रों का अध्ययन करते हैं। **(तं जहा)** —वे पापमय शास्त्र इस प्रकार हैं— (१—**भोमं**) भूकम्प तथा भूमिगत जल तथा खनिज पदार्थों की शिक्षा देने वाला भूमि सम्बन्धी शास्त्र, (२—**उप्पायं**) किसी न किसी प्रकार के उत्पात (प्राकृतिक प्रकोप या उपद्रव) की सूचना देने एवं फल बताने वाला शास्त्र, (३—**सुविणं**) स्वप्न के शुभाशुभ फल बताने वाला शास्त्र, (४—**अंतलिक्खं**) आकाश में होने वाले मेघ आदि विषय का ज्ञान कराने वाला शास्त्र, (५—**अंगं**) भ्रकुटि, नेत्र, भुजा आदि अंगों के स्फुरण (फड़कने) का फल बताने वाला शास्त्र, (६—**सरं**) कौआ, शृगाली आदि स्वरों (शब्दों) के फल बताने वाला स्वर शास्त्र अथवा स्वरोदयशास्त्र, (७—**लक्खणं**) पुरुषों या स्त्रियों के हाथ आदि अंगों में पड़े हुए यव, मत्स्य, शंख, पद्म तथा श्रीवत्स,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चक्र आदि रेखाओं का फल बताने वाला शास्त्र, (८—**वंजणं**) मानव शरीर में मस, तिल आदि के फल को बताने वाला शास्त्र, (९—**इत्थिलक्खणं**) स्त्री के लक्षणों को बताने वाला शास्त्र, (१०—**पुरिसलक्खणं**) पुरुष के लक्षणों को बताने वाला शास्त्र, (११—**हयलक्खणं**) घोड़े के लक्षणों को बताने वाला शालिहोल शास्त्र, (१२—**गयलक्खणं**) हाथी के लक्षणों को बताने वाला शास्त्र, (१३—**गोणलक्खणं**) गौ के लक्षणों को बताने वाला शास्त्र, (१४—**मिंढलक्खणं**) मेष (भेड़ या मेंढ़ा) के लक्षणों को बताने वाला शास्त्र, (१५—**कुक्कुडलक्खणं**) मुर्गे के लक्षणों को बताने वाला शास्त्र, (१६—**तित्तिरलक्खणं**) तीतर के लक्षणों को बताने वाला शास्त्र, (१७—**वट्टगलक्खणं**) बत्तख या बटेर के लक्षणों को बताने वाला शास्त्र, (१८—**लावयलक्खणं**) लावक पक्षी के लक्षणों को बताने वाला शास्त्र, (१९—**चक्कलक्खणं**) चकवे के लक्षणों को बताने वाला शास्त्र, (२०—**छत्तलक्षणं**) छत्र के लक्षणों को बताने वाला शास्त्र, (२१—**चम्मलक्खणं**) चमड़े के लक्षणों को बताने वाला शास्त्र, (२२—**दंडलक्खणं**) दण्ड के लक्षणों को बताने वाला शास्त्र, (२३—**असिलक्खणं**) तलवार के लक्षणों को बताने वाला शास्त्र, (२४—**मणिलक्खणं**) मणि के लक्षणों को बताने वाला शास्त्र, (२५—**कागिणिलक्खणं**) काकिणी रत्न या कौड़ी के लक्षणों को बताने वाला शास्त्र, (२६—**सुभगाकरं**) कुरूप को सुरूप बना देने वाली विद्या, (२७—**दुब्भगाकरं**) सुरूप को कुरूप बनाने वाली विद्या, अथवा सधवा को विधवा बनाने वाली विद्या, (२८—**गब्भाकरं**) गर्भवती बनाने वाली विद्या, (२९—**मोहणकरं**) पुरुष या स्त्री को मोहित करने वाली विद्या, (३०—**आहव्वणिं**) तत्काल अनर्थ करने वाली आथर्वणी या जगत् का विध्वंस करने वाली विद्या, (३१—**पागसासणि**) इन्द्रजाल विद्या, (३२—**दव्वहोमं**) उच्चाटन करने के लिए मधु, घृत आदि द्रव्यों का होम करने की विद्या, (३३—**खत्तियविज्जं**) क्षत्रियों की विद्या यानी शस्त्रास्त्र विद्या, (३४—**चंदचरियं**) चन्द्रमा की गति—चर्या आदि को बताने वाला शास्त्र, (३५—**सूरचरियं**) सूर्य की गति—चर्या आदि को बताने वाला शास्त्र, (३६—**सुक्कचरियं**) शुक्र की चाल को बताने वाला शास्त्र, (३७—**बहस्सइचरियं**) बृहस्पति—गुरु की चाल को बताने का शास्त्र, (३८—**उक्कापायं**) उल्कापात को बताने वाला शास्त्र, (३९—**दिसादाहं**) दिग्दाह को बताने वाला शास्त्र, (४०—**मियचक्कं**) ग्राम आदि में प्रवेश के समय जानवरों के दिखने का शुभाशुभ फल बताने वाला शास्त्र—मृगचक्र, (४१—**वायसपरिमण्डलं**) कौए आदि पक्षियों के बोलने का शुभाशुभ फल बताने वाला शास्त्र, (४२—**पंसुवुट्ठि**) धूलि-वर्षा का फल-निरूपण करने वाला शास्त्र, (४३—**केसवुट्ठि**) केश-वर्षा का फल बताने वाला शास्त्र, (४४—**मंसवुट्ठि**) मांस-वर्षा का फल बताने वाला शास्त्र, (४५—**रुहिरवुट्ठि**) रक्त की वर्षा का फल बताने वाला शास्त्र,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(४६—**वेतालिं**) वैताली विद्या, जिसके प्रभाव से अचेतन काष्ठ में भी चेतना आ जाती है, (४७—**अद्धवेतालिं**) अर्द्ध वैताली विद्या—वैताली विद्या की विरोधिनी विद्या, अथवा जिस विद्या के प्रभाव से उठाया हुआ दण्ड गिरा दिया जाता है, (४८—**ओसोवणिं**) अवस्वापिनी विद्या—जिस विद्या के प्रभाव से जागते हुए मनुष्य को सुला दिया जाये, (४९—**तालुग्घाडणिं**) ताला खोल देने वाली विद्या, (५०—**सोवागिं**) चाण्डालों की विद्या, (५१—**सोवरिं**) शाम्बरी विद्या, (५२—**दामिलिं**) द्राविड़ी (तमिल लोगों की) विद्या, (५३—**कालिंगि**) कालिंगी (कलिंग-उड़ीसा के लोगों की) विद्या, (५४—**गोरिं**) गौरी विद्या, (५५—**गंधारी**) गान्धारी विद्या, (५६—**ओवतणिं**) अवपतनी—नीचे गिराने वाली विद्या, (५७—**उप्पयणिं**) उत्पतनी—ऊपर उठाने वाली विद्या, (५८—**जंभणिं**) जमुहाई लेने सम्बन्धी विद्या, (५९—**थंभणि**) स्तम्भनी—जहाँ का तहाँ थाम देने या रोक देने वाली विद्या, (६०—**लेसणिं**) श्लेषणी=चिपका देने वाली विद्या, (६१—**आमयकरणिं**) किसी भी प्राणी को रोगी बना देने वाली विद्या, (६२—**विसल्लकरणिं**) निःशल्य—नीरोग कर देने वाली विद्या, (६३—**पक्कमणिं**) प्रकामणी—किसी प्राणी को भूत-प्रेत आदि की पीड़ा (बाधा) उत्पन्न कर देने वाली विद्या, (६४—**अंतद्धाणिं**) अन्तर्धानी—अदृश्य कर देने वाली विद्या, (६५—**आयमिणिं**) आयामिनी—छोटी वस्तु को बड़ी बनाकर दिखाने वाली विद्या, (**एवमाइआओ विज्जाओ अन्नस्स हेउं पउंजंति, पाणस्स हेउं पउंजंति, वत्थस्स हेउं पउंजंति, लेणस्स हेउं पउंजंति, सयणस्स हेउं पउंजति**) इन और ऐसी ही अन्य विद्याओं का प्रयोग अन्न-पानी के लिए, वस्त्र के लिए, निवास स्थान के लिए, शय्या की प्राप्ति के लिए पाखण्डी लोग करते हैं। (**अन्नेसिं वा विरूवरूवाणं कामभोगाणं हेउं पउंजंति**) तथा वे नाना प्रकार के विषय-भोगों की प्राप्ति के लिए इन विद्याओं का प्रयोग करते हैं। (**तिरिच्छं ते विज्जं सेवेंति**) वस्तुतः ये विद्याएँ परलोक के या आत्महित के प्रतिकूल हैं, इन प्रतिकूल विद्याओं का वे अनार्य लोग सेवन करते हैं। (**ते अणारिया विप्पडिवन्ना कालमासे कालं किच्चा अन्नयराइं आसुरियाइं किब्विसियाइं ठाणाइं उववत्तारो भवंति**) भ्रम में पड़े हुए अनार्य पुरुष इन प्रतिकूल विद्याओं का अध्ययन और प्रयोग करके मृत्यु का अवसर आने पर (आयु क्षीण होने पर) मरकर किसी असुर सम्बन्धी किल्विषिक स्थानों में उत्पन्न होते हैं। (**ततो वि विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए तमअंधयाए पच्चायंति**) वहाँ से आयु पूर्ण होते ही च्यवन कर ऐसी योनि में जाते हैं, जहाँ वे बकरे की तरह गूँगे, या जन्म से गूँगे और अन्धे होते हैं।

व्याख्या

प्रतिकूल विद्याओं के प्रयोग से प्रतिकूल गति

इस सूत्र में शास्त्रकार ने उन लोगों की मनोवृत्ति का परिचय दिया है, जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लौकिक, पापकर्मबन्धक विभिन्न चामत्कारिक विद्याओं का अध्ययन और प्रयोग करते हैं। उनको इन प्रतिकूल विद्याओं के फलस्वरूप आसुरी योनि प्राप्त होती है, तत्पश्चात् वे मूक और अन्धे बनते हैं।

इस विश्व में मनुष्यों की बुद्धि अलग-अलग प्रकार की होती है, किसी को कोई वस्तु अच्छी लगती है, किसी को कोई दूसरी। आहार, विहार, शयन, आसन, वस्त्र, आभूषण, यान, वाहन, वाद्य और गायन आदि में सबकी रुचि एक सरीखी नहीं होती। कोई किसी चीज को पसन्द करता है, दूसरा किसी दूसरी चीज को। रोजगार, धन्धे, व्यवसाय आदि में भी सबकी रुचि समान नहीं होती। इसीलिए कोई खेती करता है, कोई व्यापार करता है, कोई कल-कारखाना चलाता है, कोई नौकरी करता है, कोई किसी प्रकार का शिल्प करता है, किसी का अध्यवसाय (मनोभाव) शुभ होता है, किसी का अशुभ। इन रुचि-विभिन्नताओं के बावजूद भी जो प्रबल पुण्योदय से उत्तम विवेक सम्पन्न है, उसकी सांसारिक पदार्थों में आसक्ति नहीं होती, इस कारण वह विविध मिथ्याशास्त्रों का अध्ययन नहीं करता; न उनका प्रयोग ही करता है। परन्तु इसके विपरीत जो व्यक्ति काम-भोगों में आसक्त होता है, परलोक की तृष्णा से युक्त है, वह सांसारिक भोग-सामग्री की प्राप्ति के लिए एवं दूसरों का अनिष्ट करने के लिए अनेक प्रकार की पापमयी विद्याओं का अध्ययन और प्रयोग करता है। यद्यपि वे जिन (अन्न-वस्त्रादि) कामनाओं की पूर्ति के लिए अनेकविध पापमय विद्याओं या शास्त्रों का अध्ययन एवं प्रयोग करते हैं, उनकी वे कामनाएँ कदाचित् आसानी से पूर्ण हो जाती हैं, और वे उन पदार्थों का उपभोग भी कर लेते हैं, तथापि इन विद्याओं का प्रयोग करने में अनेक प्राणियों की आरम्भजनित हिंसा हो जाती है, असत्यादि का व्यवहार भी होता है, इसलिए सावद्य (पाप) कर्मजनित बन्ध के फल-स्वरूप उनका परलोक बिगड़ जाता है। इसलिए आर्यजाति में जन्म लेकर भी जो व्यक्ति इन प्रतिकूल विद्याओं का अध्ययन एवं प्रयोग करने में आसक्त है, उसे भाव से अनार्य समझना चाहिए। परलोक की चिन्ता को भूलकर जो केवल इस लोक के भोग-साधनों को उत्पन्न करने वाली कपटप्राय विद्याओं में आसक्त हैं, वे भ्रम में पड़े हैं। ये विद्याएँ परलोक के प्रतिकूल हैं, इसलिए जो इनका अध्ययन एवं प्रयोग इह-लौकिक एवं परलौकिक विषयभोगों की प्राप्ति की कामना से प्रेरित होकर करते हैं, वे मरकर असुरलोक में किल्विषी देव के रूप में उत्पन्न होते हैं। आयु क्षीण होने पर वे वहाँ से मनुष्य लोक में जन्म लेकर गूंगे और जन्मान्ध होते हैं। अतः विवेकी पुरुष इन पापश्रुतों के चक्कर में नहीं पड़ते।

शास्त्रकार ने मूलपाठ में उन पापमय विद्याओं की सूची दी है। उनके नाम के अनुसार ही उनका अर्थ स्पष्ट है। अतः यहाँ उनकी व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

से एगइओ आयहेउं वा, णाइहेउं वा, सयणहेउं वा, अगारहेउं वा, परिवारहेउं वा, नायगं वा, सहवासियं वा, णिस्साए अदुवा अणुगामिए १, अदुवा उवचरए २, अदुवा पडिपहिए ३, अदुवा संधिछेदए ४, अदुवा गंठिछेदए ५, अदुवा उरब्भिए ६, अदुवा सोवरिए ७, अदुवा वागुरिए ८, अदुवा साउणिए ९, अदुवा मच्छिए १०, अदुवा गोघायए ११, अदुवा गोवालए १२, अदुवा सोवणिए १३, अदुवा सोवणियंतिए १४। एगइओ आणुगामियभावं पडिसंधाय तमेव अणुगामियाणुगामियं हंता छेत्ता भेत्ता, लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारं आहारेइ, इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ।

से एगइओ उवचरयभावं पडिसंधाय तमेव उवचरियं हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारं आहारेइ, इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ।

से एगइओ पाडिपहियभावं पडिसंधाय तमेव पाडिपहे ठिच्चा हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारं आहारेइ। इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ।

से एगइओ संधिछेदगभावं पडिसंधाय तमेव संधिं छेत्ता भेत्ता जाव इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ।

से एगइओ गंठिछेदगभावं पडिसंधाय तमेव गंठिं छेत्ता भेत्ता जाव इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ।

से एगइओ उरब्भियभावं पडिसंधाय तमेव उरब्भं वा, अण्णयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ।

एसो अभिलावो सव्वत्थ।

से एगइओ सोयरियभावं पडिसंधाय महिसं वा अण्णयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ।

से एगइओ वागुरियभावं पडिसंधाय मियं वा, अण्णयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ।

से एगइओ सउणियभावं पडिसंधाय सउणिं वा, अण्णयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से एगइओ मच्छियभावं पडिसंधाय मच्छं वा, अण्णयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ ।

से एगइओ गोघायभावं पडिसंधाय तमेव गोणं वा, अण्णयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ ।

से एगइओ गोवालभावं पडिसंधाय तमेव गोवालं वा परिजविय परिजविय हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ ।

से एगइओ सोवणियभावं पडिसंधाय तमेव सुणगं वा, अण्णयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ ।

से एगइओ सोवणियंतियभावं पडिसंधाय तमेव मणुस्सं वा, अण्णयरं वा तसं पाणं हंता जाव आहारं आहारेइ, इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ ॥ सू० ३१ ॥

संस्कृत छाया

स एकतयः आत्महेतोर्वा ज्ञातिहेतोर्वा स्वजन (शयन) हेतोर्वा अगार-हेतोर्वा परिवारहेतोर्वा ज्ञातकं वा सहवासिकं वा निश्रित्य अथवा अनुगामिकः अथवा उपचरकः अथवा प्रतिपथिकः, अथवा संधिच्छेदकः अथवा ग्रन्थि-च्छेदकः, अथवा औरभ्रिकः, अथवा शौकरिकः, अथवा वागुरिकः, अथवा शाकुनिकः, अथवा मात्स्यिकः, अथवा गोघातकः, अथवा गोपालकः, अथवा शौवनिकः अथवा श्वभिरन्तकः । एकतयः अनुगामुकभावं प्रतिसन्धाय तमेव अनुगामुकानुगम्यं हत्त्वा छित्त्वा भित्त्वा लोपयित्वा विलोप्य उपद्राव्य आहार-माहारयति । इति स महद्भिः पापैः कर्मभिरात्मानमुपख्यायिता भवति ।

स एकतयः उपचरकभावं प्रतिसन्धाय तमेवोपचर्य हत्त्वा छित्त्वा भित्त्वा लोपयित्वा विलोप्य उपद्राव्य आहारमाहारयति । इति स महद्भिः पापैः कर्मभिरात्मानमुपख्यापयिता भवति ।

स एकतयः प्रतिपथिकभावं प्रतिसन्धाय तमेव प्रतिपथे स्थित्त्वा हत्त्वा छित्त्वा भित्त्वा लोपयित्वा विलोप्य उपद्राव्य आहारमाहारयति, इति स महद्भिः पापैः कर्मभिरात्मानमुपख्यापयिता भवति ।

स एकतयः सन्धिच्छेदकभावं प्रतिसन्धाय तमेव सन्धिम् छित्त्वा, भित्त्वा यावत् इति स महद्भिः पापैः कर्मभिरात्मानमुपख्यापयिता भवति ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स एकतयः ग्रन्थिच्छेदकभावं प्रतिसन्धाय तमेव ग्रन्थिं छित्त्वा भित्त्वा यावत्, इति स महद्भिः पापैः कर्मभिरात्मानमुपख्यापयिता भवति।

स एकतयः औरभ्रिकभावं प्रतिसन्धाय उरभ्रं वा अन्यतरं वा त्रसं प्राणं हत्वा यावदुपख्यापयिता भवति।

एष अभिलापः सर्वत्र।

स एकतयः शौकरिकभावं प्रतिसन्धाय महिषं वा अन्यतरं वा त्रसं प्राणं हत्वा यावदुपख्यापयिता भवति।

स एकतयः वागुरिकभावं प्रतिसन्धाय मृगं वा अन्यतरं वा त्रसं प्राणं हत्वा यावदुपख्यापयिता भवति।

स एकतयः शाकुनिकभावं प्रतिसन्धाय शकुनिं वा अन्यतरं वा त्रसं प्राणं हत्वा यावदुपख्यापयिता भवति।

स एकतयः मात्स्यिकभावं प्रतिसन्धाय मत्स्यं वा अन्यतरं वा त्रसं प्राणं हत्वा यावदुपख्यापयिता भवति।

स एकतयः गोघातकभावं प्रतिसन्धाय तमेव गां वा अन्यतरं वा त्रसं प्राणं हत्वा यावत् उपख्यापयिता भवति।

स एकतयः गोवालभावं प्रतिसन्धाय तमेव गोपालं परिविच्य परिविच्य हत्वा यावदुपख्यापयिता भवति।

स एकतयः सौवनिकभावं प्रतिसन्धाय तमेव श्वानं वा अन्यतरं वा त्रसं प्राणं हत्वा यावदुपख्यापयिता भवति।

स एकतयः श्वभिरन्तकभावं प्रतिसन्धाय तमेव मनुष्यं वा अन्यतरं वा त्रसं प्राणं हत्वा यावदाहारमाहारयति।

इति स महद्भिः पापैः कर्मभिरात्मानमुपख्यापयिता भवति ॥सू०३१॥

अन्वयार्थ

(**से एगइओ आयहेउं वा, णाइहेउं वा, सयणहेउं वा, अगारहेउं वा, परिवारहेउं वा**) कोई पापी मनुष्य अपने लिए अथवा अपनी ज्ञाति के लिए अथवा अपने स्वजन के लिए या शयनसामग्री के लिए, अपना घर बनाने के लिए अथवा अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए (**नायगं वा सहवासियं वा णिस्साए**) अथवा अपने परिचित व्यक्ति या पड़ौसी अथवा साथ रहने वाले के लिए निम्नोक्त पापकर्म का आचरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता है। (**अदुवा अणुगामिए**) कोई पापी किसी स्थान पर जाते हुए पुरुष के पीछे-पीछे उसका धन हरण करने जाता है। (**अदुवा उवचरए**) अथवा वह पाप करने के लिए किसी की सेवा करता है, (**अदुवा पडिपहिए**) अथवा वह धन हरण करने के लिए किसी पुरुष के सम्मुख जाता है, (**अदुवा संधिछेदए**) कोई पापी दूसरे के धन को चुराने के लिए उसके घर में सेंध लगाता है, (**अदुवा गंठिछेदए**) अथवा वह किसी की गाँठ काटता है, (**अदुवा उरब्भिए**) अथवा वह भेड़ चराता है, (**अदुवा सोवरिए**) अथवा वह सूअर पालता या चराता है, (**अदुवा वागुरिए**) अथवा वह जाल फेंककर मृग आदि को पकड़ता है, (**अदुवा साउणिए**) अथवा वह जाल बिछाकर पक्षियों को फँसाता है और पकड़ता है, (**अदुवा मच्छिए**) अथवा वह मछलियों को पकड़ता है, (**अदुवा गोघायए**) अथवा वह गायों का घात करता है, यानी कसाई का काम करता है, (**अदुवा गोवालए**) अथवा वह गोपालन करता है, (**अदुवा सोवणिए**) अथवा वह कुत्तों को पालता है, (**अदुवा सोवणियंतिए**) अथवा वह कुत्तों के द्वारा जानवरों का शिकार करता है, (**एगइयो आणुगमियभावं पडिसंधाय तमेव अणुगामियाणुगामियं हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारं आहारेइ**) कोई पापी पुरुष ग्राम आदि में जाते हुए किसी धनिक के पीछे-पीछे जाकर उस व्यक्ति को डंडे आदि से मारकर अथवा तलवार आदि से काटकर अथवा शूल आदि से बींधकर उसे घसीटकर अथवा चाबुक आदि से मारकर अथवा उसकी हत्या करके उसके धन को लूटकर अपना आहार उपार्जन करता है। (**इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ**) इस प्रकार महापाप करने वाला पुरुष जगत् में महापापी के नाम से प्रसिद्ध होता है। (**से एगइओ उवचरयभावं पडिसंधाय तमेव उवचरियं हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारं आहारेइ**) कोई पापी किसी धनवान की सेवावृत्ति स्वीकार करके उसी अपने सेव्य (स्वामी) को ही मार-पीटकर तथा उसका छेदन, भेदन, घात और जीवन का नाश करके उसके धन का हरण करके अपना आहार उपार्जन करता है। (**इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ**) इस प्रकार वह महापापी व्यक्ति अपने महापाप कर्मों के कारण महापापी के नाम से से प्रख्यात होता है। (**से एगइओ पाडिपहियभावं पडिसंधाय तमेव पाडिपहे ठिच्चा हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारं आहारेइ**) कोई पापी जीव किसी ग्राम आदि से आये हुए किसी धनाढ्य के सम्मुख जाकर उसका मार्ग रोककर उसे मार-पीट, छेदन-भेदन आदि करके उसके धन को लूटकर अपनी जीविका उपार्जन करता है। (**इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ**) इस प्रकार महान् पापकर्म करने के कारण जगत् में वह अपने आपको महापापी के नाम से विख्यात कर लेता है। (**से एगइओ संधिछेदगभावं पडिसंधाय तमेव संधिं छेत्ता भेत्ता जाव इति**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ) कोई पापी धनिकों के घरों में सेंध लगाने वाला बनकर सेंध डालकर उनके धन को चुराकर अपनी आजीविका चलाता है, इस प्रकार का महापाप करने के कारण वह अपने आपको महापापी के नाम से प्रसिद्ध कर लेता है। (**से एगइओ गठिछेदगभावं पडिसंधाय तमेव गंठिं छेत्ता भेत्ता जाव इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ**) कोई व्यक्ति धनाढ्यों के धन की गाँठ काटने वाला बनकर धनिकों की गाँठ काटता फिरता है और इस प्रकार के महान् पापकर्म के कारण जगत् में स्वयं महापापी के नाम से मशहूर हो जाता है। (**से एगइओ उरब्भियभावं पडिसंधाय तमेव उरब्भं वा अण्णयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ**) कोई पुरुष भेड़ों का चरवाहा बनकर उन भेड़ों को या किन्हीं अन्य त्रस प्राणियों को मारकर अपनी जीविका उपार्जन करता है, इसलिए जगत् में वह इस महान् पाप के कारण महापापी के नाम से प्रख्यात होता है। (**से एगइओ सोयरियभावं पडिसंधाय महिसं वा अन्नयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ**) कोई पुरुष सौकरिक (कसाई या सूअरों का पालक) बनकर भैंसे, सूअर या दूसरे त्रस प्राणियों को मार-काटकर अपनी रोजी कमाता है। इस प्रकार के महापाप करने के कारण जगत् में वह महापापी के नाम से मशहूर हो जाता है। (**से एगइओ वागुरिय-भावं पडिसंधाय मियं वा अण्णयरं वा तसं पाणं हंता छेत्ता जाव उवक्खाइत्ता भवइ**) कोई पुरुष शिकारी (मृगघातक) का धन्धा अपनाकर हिरण या दूसरे त्रस प्राणियों मारकर, छेदन-भेदन करके अपना आहार उपार्जन करता है, वह पापी इस प्रकार के महान् पापकर्म करने के कारण संसार में अपने आपको महापापी के नाम से प्रसिद्ध कर लेता है। (**से एगइओ सउणियभावं पडिसंधाय सउणिं वा अण्णयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ**) कोई पापी बहेलिया (पारधी) बनकर पक्षी पकड़ने का धन्धा अपनाता है और पक्षी को या दूसरे किसी त्रस प्राणी को मार-काटकर अपनी रोटी-रोजी कमाता है, अतः वह इस महान् पाप के कारण जगत् में महापापी के नाम से प्रख्यात हो जाता है। (**से एगइओ मच्छियभावं पडिसंधाय मच्छं वा अण्णयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ**) कोई पापी पुरुष मछली पकड़ने वाले (मछुए या मच्छीमार) का धन्धा अपनाकर मछली या किसी दूसरे त्रस प्राणी को मारकर अपना आहार उपार्जन करता है। इसलिए वह इस महापाप कर्म के कारण जगत् में अपने आपको महापापी के नाम से प्रसिद्ध कर लेता है। (**से एगइओ गोघायभावं पडि-संधाय तमेव गोणं वा अण्णयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ**) कोई व्यक्ति गौ-घातक यानी कसाई का धन्धा अपनाकर गाय को या दूसरे किसी त्रस प्राणी को मारकर अपनी आजीविका चलाता है, ऐसे महापापकर्म करने के कारण वह जगत् में महापापी के नाम से मशहुर हो जाता है। (**से एगइओ गोवालभावं पडिसंधाय तमेव**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गोवालं परिजविय परिजविय हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ) कोई व्यक्ति गोपालन का कार्य अपनाकर उन्हीं गायों के बछड़ों को टोले से बाहर निकालकर मारता है, या उन गाय-बछड़ों को कसाई को बेच देता है, और इस तरह अपनी रोजी कमाता है। अपने इस महापाप के सेवन करने के कारण वह पुरुष जगत् में घोर पापी के नाम से मशहूर हो जाता है। (**से एगइओ सोवणियभावं पडिसंधाय तमेव सुणगं वा अण्णयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ**) कोई व्यक्ति कुत्तों को पालने का (चाण्डाल का) धन्धा अपनाकर उसी कुत्ते को या दूसरे किसी त्रस जीव को मारकर अपनी आजीविका चलाता है, अतः वह उक्त महापापकर्म के कारण जगत् में अपने आपको महापापी के नाम से प्रसिद्ध कर लेता है। (**से एगइओ सोवणियंतियभावं पडिसंधाय तमेव मणुस्सं वा अण्णयरं वा तसं पाणं हंता जाव आहारं आहारेइ**) कोई पुरुष शिकारी कुत्तों के द्वारा जंगली जानवरों को मारने की वृत्ति स्वीकार करके मनुष्य को या अन्य त्रस प्राणी को मारकर या छेदन-भेदन करके अपनी रोजी कमाता है। (**इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ**) अतः वह महापापकर्म करने के कारण महापापी के नाम से विख्यात हो जाता है।

व्याख्या

महापापियों के विभिन्न महापातक कर्म और प्रसिद्धि

इस सूत्र में विभिन्न महापाप-व्यवसायियों के महापापकर्म करने के कारणों तथा उनकी विविध वृत्तियों का उल्लेख शास्त्रकार ने किया है।

पूर्व सूत्र में यह कहा जा चुका है कि इस जगत् में अनेक प्रकार की रुचि, वृत्ति, आचार-विचार और आजीविका वाले मनुष्य हैं। शास्त्रकार पहले उन लोगों की चर्या और जीविका का निरूपण करते हैं, जो महान् पापकर्म-बन्ध के कारण हैं, और उस-उस महापाप कर्म के करने के कारण जगत् में वे नामी महापापी कहलाने लगते हैं। ऐसे व्यक्तियों को अपनी आत्मा का, अपने हिताहित का, अपने आत्मकल्याण का या अपने वास्तविक आत्मसुख का अथवा इहलोक-परलोक सुधारने का कोई भान नहीं रहता। वे अपने अज्ञान, मोह, स्वार्थ और लोभादि कषायों में अन्धे होकर तथा जगत् के प्राणियों की पुकार को अनसुनी करके विविध पापकर्मों में रात-दिन रचे-पचे रहते हैं। उनके लिए कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य कोई चीज नहीं है। सांसारिक विषय-भोगों का उपार्जन करना ही वे अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं। उसी धुन में वे बड़े से बड़े पाप करने से नहीं हिचकिचाते। वे झूठ बोलकर, चोरी करके, लूट-पाट करके, विश्वासघात करके या मनुष्य, बालक, पशु, स्त्री आदि की हत्या करके किसी का धन छीनने, अपहरण करने या अपने कब्जे में करने में जरा भी नहीं झिझकते। ऐसे महापाप करते समय वे बड़े कठोर एवं नृशंस बन जाते हैं। दया, करुणा, मानवता, सहानुभूति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाम की कोई चीज उनके दिल में नहीं होती। उनकी नस-नस में क्रूरता भरी रहती है। सांसारिक सुख-सामग्री का येन-केन-प्रकारेण उपार्जन करना ही वे अपना कार्य समझते हैं। वे अनुगामिक, उपचरक, प्रतिपथिक, संधिछेदक, ग्रन्थिछेदक, औरभ्रिक, सौवरिक, वागुरिक, शाकुनिक, मात्स्यिक, गोघातक, गोपालक, शौनिक और श्वभिरन्तक—इन १४ प्रकार के महापाप व्यवसायों तथा इसी प्रकार के अन्य महापाप कर्मों के द्वारा अपनी जीविका चलाकर जीवन को महापापमय बना लेते हैं। जगत् भी ऐसे लोगों को महापापी कहकर सम्बोधित करता है। वे किस-किस प्रकार के पापमय कर्मों को अपनाते हैं? वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(१) कोई पापी किसी धनिक को धन लेकर दूसरे गाँव आदि जाते देखकर उसके पीछे-पीछे चल पड़ता है। जहाँ वह अपने पापकर्म के योग्य स्थान और समय देखता है, वहाँ उसे मार-पीटकर या उसकी हत्या करके उसका धन छीन लेता है। आए दिन वह ऐसा ही धन्धा करता है।

(२) कोई धन-हरण करने के लिए किसी धनिक का नौकर बनकर उसकी सेवा करता है, अपनी सेवा से उसका विश्वासपात्र बन जाता है। मौका पाकर वह उसे मार कर उसके धन-माल पर हाथ साफ करके नौ-दो-ग्यारह हो जाता है।

(३) कोई व्यक्ति किसी धनिक को दूसरे गाँव से आता हुआ सुनकर उसके सम्मुख जाता है। मार्ग में ही मौका पाकर उसे मार-पीटकर उसका धन लूट लेता है, या छीन लेता है।

(४) कोई धनिकों के घरों में सेंध लगाकर उनमें घुसता है और धन-माल चुराकर भाग जाता है। इस प्रकार चोरी के धन्धे से अपना, अपने परिवार आदि का पालन करता है।

(५) कोई धनाढ्य लोगों को असावधान देखकर उनकी गाँठ काटता है, जेबें कतरता है और इस प्रकार धनहरण करके अपनी जीविका चलाता है।

(६) कोई भेड़ों को पालता है, उनके बालों तथा मांस को बेचकर अपनी रोजी कमाता है, तथा भेड़ों एवं अन्य प्राणियों का वध करता है, इस तरह वह महापापी बनता है।

(७) कोई सूअरों को पालता है, और बुरी तरह मारकर उनका छेदन-भेदन करके, उनके बाल, खाल, मांस आदि बेचकर धन कमाता है। भंगी, चाण्डाल या खटीक लोग प्रायः यह पाप कर्म करते हैं।

(८) कोई जाल बिछाकर मृग आदि पशुओं को फँसाता है, उन्हें पकड़कर मांसाहारियों को बेच देता है, या उनका मांस बेचकर अपनी जीविका चलाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(९) कोई तीतर, बटेर चिड़िया आदि को अपने जाल में फँसाकर या पिंजरे में डालकर पकड़ता है और उन्हें मांसाहारियों को बेचकर या उन्हें मारकर उनका मांस बेचकर अपनी आजीविका उपार्जन करता है और स्वजनवर्ग का पालन करता है।

(१०) कोई मछलियाँ पकड़कर, उन्हें मारकर या बेचकर अपनी रोटी-रोजी कमाता है।

(११) कोई पापी गोहत्या का कार्य अपनाकर उनका मांस आदि बेचकर अपना जीवनयापन करता है।

(१२) कोई गोपालन का धंधा करके गायों और बछड़ों को कसाई को बेच देता है। इस प्रकार की निन्द्य जीविका करता है।

(१३) कोई कुत्तों या अन्य त्रस प्राणियों को मारने का धंधा अपनाकर अपनी जीविका चलाते हैं।

(१४) कोई पापी पुरुष शिकारी कुत्ते पालकर उनके द्वारा मनुष्यों या पशुओं का घात कराकर अपनी जीविका चलाते हैं।

ये और इस प्रकार के अन्य महापापमय कार्य व्यवसाय के रूप में अपनाकर महान् पापकर्मबन्ध करते हैं। उन पापकर्मों के कारण जनता में वे व्यक्ति महापापी के नाम से मशहूर हो जाते हैं। वे अपने उपार्जित महापापकर्म के फलस्वरूप घोर नरक में जाते हैं। वहाँ चिरकाल तक वे भयंकर दुःखों और दारुण यातनाओं से पीड़ित होते रहते हैं। अतः विवेकी पुरुषों को इन महापातक कार्यों से सदैव दूर रहना चाहिए।

मूल पाठ

से एगइओ परिसामज्झाओ उट्ठित्ता अहमेयं हणामीत्ति कट्टु तित्तिरं वा, वट्टगं वा, लावगं वा, कवोयगं वा, कविंजलं वा, अन्नयरं वा तंसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ।

से एगइओ केणवि आयाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं गाहावईण वा, गाहावइपुत्ताणं वा, सयमेव अगणिकाएणं सस्साइं झामेइ, अन्नेणवि अगणिकाएणं सस्साइं झामावेइ, अगणिकाएणं सस्साइं झामंतं वि अण्णं समणुजाणइ, इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से एगइओ केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं गाहावईण वा, गाहावइपुत्ताणं वा, उट्टाणं वा, गोणाणं वा, घोडगाणं वा, गद्दभाणं वा सयमेव घूराओ कप्पेइ, अन्नेण वि कप्पावेइ, कप्पंतं वि अन्नं समणुजाणइ, इति से महया जाव भवइ।

से एगइओ केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं गाहावईण वा, गाहावइपुत्ताणं वा उट्टसालाओ वा, गोणसालाओ वा, घोडगसालाओ वा, गद्दभसालाओ वा कंटकबोंदियाए परिपेहित्ता सयमेव अगणिकाएणं झामेइ, अन्नेण वि झामावेइ, झामंतं वि अन्नं समणुजाणइ इति से महया जाव भवइ।

से एगइओ केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं गाहावईण वा, गाहावइपुत्ताणं वा, कुंडलं वा, मणिं वा, मोत्तियं वा सयमेव अवहरइ, अन्नेण वि अवहरावइ, अवहरंतं वि अन्नं समणुजाणइ, इति से महया जाव भवइ।

से एगइओ केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं समणाण वा, माहणाण वा, छत्तगं वा, दंडगं वा, भंडगं वा, मत्तगं वा, लट्ठिं वा, भिसिगं वा, चेलगं वा, चिलिमिलिगं वा, चम्मयं वा, छेयणगं वा, चम्मकोसियं वा, सयमेव अवहरति जाव समणुजाणइ इति से महया जाव उवक्खाइत्ता भवइ।

से एगइओ णो वितिगिच्छइ, तं जहा—गाहावईण वा, गाहावइ-पुत्ताणं वा, सयमेव अगणिकाएणं ओसहीओ झामेइ जाव अन्नंपि झामंतं समणुजाणइ इति से महया जाव उवक्खाइत्ता भवइ।

से एगइओ णो वितिगिच्छइ, तं जहा—गाहावईण वा, गाहावइपुत्ताणं वा, उट्टाण वा, गोणाण वा, घोडगाण वा, गद्दभाण वा, सयमेव घूराओ कप्पेइ, अन्नेणवि कप्पावेइ, अन्नंपि कप्पतं समणुजाणइ।

से एगइओ णो वितिगिच्छइ, तं जहा—गाहावईण वा, गाहावइपुत्ताण वा, उट्टसालाओ वा जाव गद्दभसालाओ वा कंटकबोंदियाहिं परिपेहित्ता सयमेव अगणिकाएणं झामेइ जाव समणुजाणइ।

से एगइओ णो वितिगिच्छइ, तं जहा—गाहावईण वा, गाहावइपुत्ताण वा, जाव मोत्तियं वा सयमेव अवहरइ जाव समणुजाणइ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से एगइओ णो वितिगिच्छइ, तं जहा—समणाण वा, माहणाण वा, छत्तगं वा, दंडगं वा, जाव चम्मछेदणगं वा सयमेव अवहरइ, जाव समणुजाणइ इति से महया जाव उवक्खाइत्ता भवइ।

से एगइओ समणं वा, माहणं वा, दिस्सा नानाविहेहिं पावकम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ, अदुवा णं अच्छराए आफालित्ता भवइ, अदुवा णं फरुसं वदित्ता भवइ। कालेणपि से अणुपविट्ठस्स असणं वा पाणं वा जाव णो दवावेत्ता भवइ।

जे इमे भवंति वोनमंता भारक्कंता अलसगा वसलगा किवणगा समणगा पव्वयंति।

ते इणमेव जीवितं धिज्जीवितं संपडिबूहेंति, नाइ ते परलोगस्स अट्ठाए किंचिवि सिलोसंति, ते दुक्खंति, ते सोयंति, ते जूरंति, ते तिप्पंति, ते पिट्टंति, ते परितप्पंति, ते दुक्खणजूरणसोयणतिप्पणपिट्टणपरितप्पणवहबंधणपरिकिलेसाओ अप्पडिविरया भवंति। ते महया आरंभेणं, ते महया समारंभेणं, ते महया आरंभसमारंभेणं विरूवरूवेहिं पावकम्मकिच्चेहिं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजित्तारो भवंति, तं जहा—अन्नं अन्नकाले, पाणं पाणकाले, वत्थं वत्थकाले, लेणं लेणकाले, सयणं सयणकाले सपुव्वावरं च णं ण्हाए कयबलिकम्मे कयकोउयमंगलपायच्छित्ते सिरसा ण्हाए कंठे मालाकडे आविद्धमणिसुवन्ने कप्पियमालामउली पडिबद्धसरीरे वग्घारियसोणिसुत्तगमल्लदामकलावे अहतवत्थपरिहिए चंदणोक्खित्तगायसरीरे महतिमहालियाए कूडागारसालाए महतिमहालयंसि सीहासणंसि इत्थी गुम्मसंपरिवुडे सव्वराइएणं जोइणा झियायमाणेणं महयाहयनट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुपवाइयरवेणं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ।

तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स जाव चत्तारि पंच जणा आवुत्ता चेव अब्भुट्ठंति, भणह देवाणुप्पिया! किं करेमो? किं आहरेमो? किं उवणेमो? किं आचिट्ठामो? किं भे हियं इच्छियं? किं भे आसगस्स सयइ? तमेव पासित्ता अणारिया एवं वयंति—देवे खलु अयं पुरिसे, देवसिणाए खलु अयं पुरिसे, देवजोवणिज्जे खलु अयंपुरिसे, अन्ने वि य णं उवजीवंति, तमेव पासित्ता आरिया वयंति—अभिक्कंतकूरकम्मे खलु अयं पुरिसे, अतिधुन्ने अइयायरक्खे दाहिणगामिए नेरइए कण्हपक्खिए आगमिस्साणं दुल्लहबोहियाए यावि भविस्सइ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इच्चेयस्स ठाणस्स उट्ठिया वेगे अभिगिज्झंति अणुट्ठिया वेगे अभिगिज्झंति अभिझंझाउरा वेगे अभिगिज्झंति, एस ठाणे अणारिए अकेवले अप्पडिपुन्ने अणेयाउए असंसुद्धे असल्लगत्तणे असिद्धिमग्गे अमुत्तिमग्गे अनिव्वाणमग्गे अणिज्जाणमग्गे असव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहु एस खलु पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए ॥ सू० ३२ ॥

संस्कृत छाया

स एकतयः पर्षन्मध्यादुत्थाय अहमेतं हनिष्यामीति कृत्वा तित्तिरं वा, वर्तकं वा, लावकं वा, कपोतकं वा, कपिञ्जलं वा, अन्यतरं वा, त्रसं प्राणं हंता यावद् उपख्यापयिता भवति ।

स एकतयः केनाप्यादानानेन विरुद्धः सन् अथवा खलदानेन अथवा सुरास्थालकेन गृहपतेरथवा गृहपतिपुत्राणां वा स्वयमेव अग्निकायेन शस्यानि ध्मापयति, अन्येनापि अग्निकायेन शस्यानि ध्मापयति, अग्निकायेन शस्यानि ध्मापयन्तमन्यं वा समनुजानाति, इति स महद्भिः पापैः कर्मभिरात्मानमुपख्यापयिता भवति ।

स एकतयः केनाप्यादानेन विरुद्धः सन् अथवा खलदानेन अथवा सुरास्थालकेन गाथापतीनां गाथापतिपुत्राणां वा, उष्ट्राणां, गवां, घोटकानां, गर्दभाणां स्वयमेव अंगादीन् कल्पयति, अन्येनापि कल्पयति, कल्पयन्तं वा अन्यं समनुजानाति, इति महद्भिर्यावद् भवति ।

स एकतयः केनाप्यादानेन विरुद्धः सन् अथवा खलदानेन अथवा सुरास्थालकेन गाथापतीनां वा, गाथापतिपुत्राणां वा, उष्ट्रशालाः वा, गोशालाः वा, घोटकशालाः वा, गर्दभशालाः वा, कण्टकशाखाभिः परिपिधाय स्वयमेवाग्निकायेन धमति, अन्येनापि ध्मापयति, धमन्तमप्यन्यं समनुजानाति, इति स महद्भिर्यावद् भवति ।

स एकतयः केनाप्यादानेन विरुद्धः सन् अथवा खलदानेन अथवा सुरास्थालकेन गाथापतीनां वा गाथापतिपुत्राणां वा कुण्डलं वा, मणिं वा, मौक्तिकं वा, स्वयमेव अपहरति अन्येनाप्यपहारयति अपहरन्तमप्यन्यं समनुजानाति इति स महद्भिः यावद् भवति ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स एकतयः केनाप्यादानेन विरुद्धः सन् अथवा खलदानेन सुरास्थालकेन श्रमणानां वा, माहनानां वा, छत्रकं वा, दण्डकं वा, भाण्डकं वा, मात्रकं वा, यष्टिकां वा, वृसीं वा, चेलकं वा, प्रच्छादनपटीं वा, चर्मकं वा, छेदनकं वा, चर्मकोशिकां वा, स्वयमेव अपहरति यावत् समनुजानाति, इति सः महद्भिः यावद् उपख्यापयिता भवति ।

स एकतयः नो विमर्षति, तद्यथा—गाथापतीनां वा, गाथापतिपुत्राणां वा, स्वयमेवाग्निकायेन ओषधीः ध्मति यावद् ध्मन्तमप्यन्यं समनुजानाति, इति स महद्भिर्यावदुपख्यापयिता भवति ।

स एकतयः नो विमर्षति, तद्यथा—गाथापतीनां वा, गाथापतिपुत्राणां वा, उष्ट्राणां गवां घोटकानां गर्दभाणां वा स्वयमेव अवयवान् कल्पयति, अन्येनापि कल्पयति अन्यमपि कल्पयन्तं समनुजानाति ।

स एकतयः नो विमर्षति, तद्यथा—गाथापतीनां वा, गाथापतिपुत्राणां वा, उष्ट्रशालाः वा यावद् गर्दभशालाः वा कण्टकशाखाभिः परिपिधाय स्वयमेव अग्निकायेन ध्मापयति यावत् समनुजानाति ।

स एकतयः नो विमर्षति, तद्यथा—गाथापतीनां वा, गाथापतिपुत्राणां वा यावद् मौक्तिकं स्वयमेवापहरति यावत् समनुजानाति ।

स एकतयः नो विमर्षति, तद्यथा—श्रमणानां वा, माहनानां वा, छत्रकं वा, दण्डकं वा, यावत् चर्मच्छेनकं वा स्वयमेव अपहरति यावत् समनुजानाति इति स महद्भिर्यावदुपख्यापयिता भवति ।

स एकतयः श्रमणं वा, माहनं वा दृष्ट्वा नानाविधैः पापकर्मभिरात्मानमुपख्यापयिता भवति, अथवा अप्सरसः आस्फालयिता भवति अथवा परुषं वदिता भवति कालेनापि तस्यानुप्रविष्टस्य अशनं वा पानं वा यावन्नो दापयिता भवति ।

ये इमे भवन्ति व्युत्क्रमन्तः भाराक्रान्ताः अलसकाः वृषलकाः कृपणकाः श्रमणकाः प्रव्रजन्ति ।

ते इदमेव जीवितं धिग्जीवितं सम्प्रतिवृंहन्ति । नापि ते परलोकस्य अर्थाय किञ्चिदपि श्लिष्यन्ति, ते दुःख्यन्ति, ते शोचन्ते, ते जूरयन्ति, ते तिप्यन्ति, ते पिट्टन्ति, ते परितप्यन्ति, ते दुःखनजूरणशोचनतेपनपिट्टन-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परितापनवधबन्धनपरिक्लेशेभ्योऽप्रतिविरताः भवन्ति, ते महता आरंभेण महता समारंभेण ते महद्भ्यामारम्भासमारम्भाभ्यां विरूपरूपैः पापकर्मकृत्यैः उदाराणां मानुष्यकानां भोगानां भोक्तारो भवन्ति, तद्यथा—अन्नमन्नकाले, पानं पानकाले, वस्त्रं वस्त्रकाले, लयनं लयनकाले, शयनं शयनकाले सपूर्वापरञ्च स्नातः कृतबलिकर्मा कृतकौतुकमंगलप्रायश्चित्तः शिरसा स्नातः कण्ठे मालाकृत् आबिद्धमणिसुवर्णः कल्पितमालामुकुटी प्रतिबद्धशरीरः प्रतिलम्बित-श्रोणिसूत्रकमाल्यदामकलापः अहत वस्त्रपरिहितः चन्दनोक्षितगात्रशरीरः महत्यां विस्तीर्णायां कूटागारशालायां महति विस्तीर्णे सिंहासने स्त्रीगुल्मसंपरिवृतः सार्वरात्रेण ज्योतिषा ध्यायमानेन महताहतनाट्यगीतवादित्रतंत्रीतलताल-त्रुटिकघनमृदंगपटु प्रवादितरवेण उदारान् मानुष्यकान् भोगान् भुंजानो विहरति।

तस्यैकमप्याज्ञापयतः यावच्चत्वारः पञ्च वा जनाः अनुक्ताश्चैवाभ्युत्तिष्ठन्ति। भणत देवानुप्रियाः! किं कुर्मः, किमाहरामः, किमुपनयामः, किमातिष्ठामः, किं भवतां हितमिष्टं, किं भवतः आस्यस्य स्वदते? तमेव दृष्ट्वा अनार्याः एवं वदन्ति—देवः खलु अयं पुरुषः, देवस्नातकः खलु अयं पुरुषः, देवजीवनीयः खलु अयं पुरुषः, अन्येऽप्यन्येनमुपजीवन्ति। तमेव दृष्ट्वा आर्या वदन्ति—अभिक्रान्तक्रूरकर्मा खलु अयं पुरुषः, अतिधूर्तः, अत्यात्मरक्षः, दक्षिणगामी नैरयिकः कृष्णपाक्षिकः आगमिष्यति दुर्लभबोधिकोऽपि भविष्यति।

इत्येतस्य स्थानस्य उत्थिता वैके अभिगृध्यन्ति, अनुत्थिताः वैके अभिगृध्यन्ति, अभिझंझाकुलाः, वैके अभिगृध्यन्ति। एतत् स्थानमनार्यमकेवलमप्रतिपूर्णमनैयायिकमसंशुद्धमशल्यकर्त्तनम् असिद्धिमार्गममुक्तिमार्गमनिर्वाणमार्गमनिर्याणमार्गमसर्वदुःखप्रहीणमार्गम् एकान्तमिथ्या असाधु एष खल प्रथमस्य स्थानस्य अधर्मपक्षस्य विभंग एवमाख्यातः ॥सू० ३२॥

अन्वयार्थ

(**से एगइओ परिसामज्झाओ उट्ठित्ता अहमेयं हणामीत्ति कट्टु तित्तिरं वा, वट्टगं वा, लावगं वा, कवोयगं वा, कविंजलं वा अन्नयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ**) कोई व्यक्ति सभा में से उठकर प्रतिज्ञा करता है कि 'मैं इसी प्राणी को मारूँगा।' तत्पश्चात् वह तीतर, बतक, लावक, कबूतर, कपिंजल या किसी अन्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रस प्राणी को मारकर अपने इस महापाप कर्म के कारण महापापी के नाम से अपने आपको प्रसिद्ध कर लेता है। (**से एगइओ खलदाणेणं सुराथालएणं केणवि आयाणेणं विरुद्धे समाणे गाहावईणं गाहावइपुत्ताणं वा सस्साइं सयमेव अगणिकाएणं झामेइ**) कोई पुरुष सड़े-गले या कम अन्न देने से अथवा अपने किसी अन्य अभीष्ट स्वार्थ के सिद्ध न होने से अथवा अपमान आदि अन्य किसी भी कारणवश गृहपतियों या गृहस्थ-पुत्रों पर नाराज (विरुद्ध) होकर उनके या उनके पुत्रों के शालिधान, जौ, गेहूँ आदि अनाजों को स्वयं आग लगाकर जला देता है, (**अन्नेणवि अगणिकाएणं सस्साइं झामावेइ, अगणिकाएणं सस्साइं झामंतं वि अण्णं समणुजाणइ**) दूसरे से भी आग लगवाकर उक्त गृहपतियों के अनाजों को जलवा देता है, तथा गृहपति एवं उसके पुत्रों के धान्यों को जो जला देता है, उसे अच्छा समझता है। (**इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ**) इस प्रकार वह व्यक्ति उक्त महान् पाप कर्मों के कारण जगत् में अपने आप को महापापी के नाम से मशहूर कर देता है। (**से एगइओ खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे गाहावईण वा, गाहावइपुत्ताणं वा, उट्टाणं वा, गोणाणं वा, घोडगाणं वा, गद्दभाणं वा सयमेव घूराओ कप्पेइ**) कोई व्यक्ति गड़ा-गला या कम अन्न पाने से अथवा अन्य किसी इष्ट स्वार्थ की सिद्धि न होने से अथवा अपमान आदि किसी और कारण से तिलमिलाकर क्रुद्ध होकर उक्त गाथापति या गाथापति-पुत्रों के ऊँटों, गायों, घोड़ों या गधों के जांघ आदि अंगों को काट देता है। (**अण्णेणवि कप्पावेइ, कप्पंतं वि अन्नं समणुजाणइ**) दूसरों से उनके अंग कटवा देता है तथा जो गृहपति के ऊँट आदि पशुओं के अंग काटता है, उसे अच्छा समझता है। (**इति से महया जाव भवइ**) इस महान् पाप के कारण वह संसार में महापापी के नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। (**से एगइओ केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं गाहावईणं वा गाहावइपुत्ताणं वा उट्टसालाओ वा, गोणसालाओ वा, घोडगसालाओ वा, गद्दभसालाओ वा**) कोई पुरुष अपमान आदि किसी कारणवश, अथवा खराब या कम अन्न पाने से या उससे अपनी इष्ट सिद्धि न होने के कारण उक्त गृहपति या गृहपति-पुत्रों के विरुद्ध एवं उनसे क्रुद्ध होकर उनकी ऊँटशाला, गौशाला, अश्वशाला या गर्दभशाला को (**कंटकबोंदियाए परिपेहित्ता**) कांटों की झाड़ियों से या कटीली डालियों से ढक कर (**सयमेव अगणिकाएणं झामेइ**) उनमें स्वयं आग लगा देता है, (**अन्नेण वि झामावेइ, झामंतं वि अन्नं समणुजाणइ**) दूसरों से उनमें आग लगवाता है, तथा जो उनमें आग लगाता है, उसे अच्छा समझता है। (**इति से महया जाव भवइ**) इस प्रकार के महान् पापकर्म करने के कारण जगत् में वह महापापी के नाम से विख्यात हो जाता है। (**से एगइओ केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं**) कोई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरुष ऐसा होता है कि किसी गृहपति से कम या तुच्छ अनाज पाने से या किसी अन्य मनोरथ के सिद्ध न होने से अथवा अपमान आदि किसी कारण से उक्त गृहपति या उसके पुत्रों पर नाराज एवं विरुद्ध होकर (**गाहावईण वा गाहावइपुत्ताण वा कुंडलं वा मणिं वा मोत्तियं वा सयमेव अवहरइ**) उक्त गृहपतियों या उनके पुत्रों के कुण्डल, मणि या मोतियों को स्वयं चुराता है, (**अन्नेण वि अवहरावेइ**) दूसरे से भी उनकी चोरी करवा देता है, (**अवहरंतं वि अन्नं समणुजाणइ**) उनकी चोरी करने वाले को अच्छा समझता है। (**इति से महया जाव भवइ**) ऐसा महान् पापकर्म करने के कारण वह व्यक्ति महापापी के नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। (**से एगइओ खलदाणेणं वा सुराथालएणं अदुवा केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे**) कोई व्यक्ति श्रमणों या माहनों के किसी भक्त से कम या सड़ा-गला अनाज पाकर अथवा मद्य की हंडिया न मिलने से या किसी अभीष्ट स्वार्थ के सिद्ध न होने से अथवा किसी भी अन्य कारणवश श्रमणों या माहनों पर कुपित या उनके विरुद्ध होकर (**समणाणं वा, माहणाणं वा छत्तगं वा, दंडगं वा, भंडगं वा, मत्तगं वा, लट्ठिं वा, भिसिगं वा, चेलगं वा, चिलिमिलिगं वा, चम्मयं वा, छेयणगं वा, चम्मकोसियं वा सयमेव अवहरति**) उन श्रमणों या माहनों का छाता, डंडा, उपकरण, पात्र, लाठी, आसन, वस्त्र, पर्दा या मच्छरदानी, चर्म काटने का चाकू या छुरी आदि, या चमड़े की थैली को स्वयं हरण कर लेता है, (**जाव समणुजाणइ**) तथा दूसरे से इन वस्तुओं को हरण कराता है, या हरण करते हुए व्यक्ति को अच्छा समझता है, (**इति से महया जाव उवक्खाइत्ता भवइ**) इस प्रकार वह इस महान् पापकर्म के कारण जगत् में महापापी के नाम से बदनाम हो जाता है। (**से एगइओ णो वितिगिंछइ**) कोई व्यक्ति तो कुछ भी विचार नहीं करता (**तं जहा—गाहावईण वा गाहावइपुत्ताण वा ओसहीओ सयमेव अगणिकाएणं झामेइ**) जैसे कि अकारण ही वह गृहपति या उसके पुत्रों के अन्न आदि को स्वयं आग लगाकर भस्म कर देता है, (**जाव अन्नंपि झामंतं समणुजाणइ**) अथवा वह उसे दूसरों से जलवाकर भस्म करा देता है या जो जलाकर भस्म कर देता है, उसे अच्छा समझता है। (**इति से महया जाव उवक्खाइत्ता भवइ**) इस प्रकार महापाप कर्म उपार्जन करने के कारण जगत् में वह महापापी के नाम से पहिचाना जाता है। (**से एगइओ णो वितिगिंछइ**) कोई-कोई व्यक्ति अपने कृत कर्मों के फल का जरा भी विचार नहीं करता (**तं जहा—गाहावईण वा गाहावइपुत्ताण वा उट्टाण वा, गोणाण वा, घोडगाण वा, गद्दभाण वा सयमेव धूराओ कप्पेइ**) जैसे कि वह किसी भी गृहस्थ या उसके पुत्रों के ऊँट, गाय, घोड़े या गधों के अंगों को स्वयं काटता है, (**अन्नेणवि कप्पावेइ, कप्पंतं वि अन्नं समणुजाणइ**) दूसरे से उनके अंग कटवाता है तथा जो उनके अंग काटता है, उसकी प्रशंसा एवं अनुमोदन करता है। अपनी इस पाप वृत्ति के कारण वह महापापी के नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। (**से एगइओ णो वितिगिंछइ**) कोई आदमी ऐसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है जो जरा-सा भी स्वकृत कर्म के परिणाम का विचार नहीं करता। **(तं गाहावईण वा गाहावइपुत्ताण वा उट्टसालाओ वा जाव गद्दभसालाओ वा)** जैसे कि वे गृहपति या उनके पुत्रों की ऊँटशाला, घुड़साल, गोशाला एवं गदर्भशाला को **(कंटकबोंदियाहिं परिपेहित्ता सयमेव अगणिकाएणं झामेइ)** सहसा कंटीली झाड़ियों या डालियों से ढककर स्वयं आग लगाकर उन्हें भस्म कर डालता है। **(जाव समणुजाणइ)** वह दूसरे को प्रेरित करके जलवा देता है, अथवा जो उन्हें उस प्रकार जलाता है, उसकी प्रशंसा करता है। **(से एगइओ णो वितिगिच्छइ)** कोई-कोई व्यक्ति अपने पापकर्म के फल का जरा भी विचार नहीं करता, **(तं जहा—गाहावईण वा गाहावइपुत्ताण वा जाव मोत्तियं वा सयमेव अवहरइ जाव समणुजाणइ)** जैसे कि वह अकारण ही गृहपति या गृहपतिपुत्रों के कुण्डल, मणि या मोती आदि को स्वयं चुराता है, दूसरों से चोरी कराता है और जो चोरी करता है, उसे अच्छा समझता है। **(से एगइओ णो वितिगिच्छइ)** कोई पाप कर्म करते हुए उसके फल का जरा भी विचार नहीं करता, **(तं जहा—समणाण वा माहणाण वा छत्तगं वा दंडगं वा जाव चम्मछेदणगं वा सयमेव अवहरइ जाव समणुजाणइ)** जैसे कि वह अकारण द्वेषी बनकर श्रमणों या माहनों के छाता, दंड, कमंडल, भंडोपकरणों से लेकर चर्मछेदनक तक साधनों का स्वयं अपहरण कर लेता है, दूसरों से अपहरण करा लेता है, और जो अपहरण करता है, उसे अच्छा समझता है। **(इति से महया जाव उवक्खाइत्ता भवइ)** इस प्रकार महान् पापकर्म के कारण वह व्यक्ति जगत् में महापापी के नाम से मशहूर हो जाता है। **(से एगइओ समणं माहणं वा दिस्सा)** कोई पुरुष श्रमण और ब्राह्मण को देखकर **(नानाविहेहिं पावकम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ)** उनके प्रति अनेक प्रकार के पापमय व्यवहार करता है; और उस पापकर्म के कारण उसकी महापापी के नाम से प्रसिद्धि हो जाती है। **(अदुवा णं अच्छराए आफालित्ता भवइ)** वह साधु को अपने सामने से हट जाने के लिए चुटकी बजाता है। **(अदुवा णं फरुसं वदित्ता भवइ)** अथवा वह साधु को कठोर वचन कहता है। **(कालेणपि से अणुपविट्ठस्स असणं वा पाणं वा जाव णो दवावेत्ता भवइ)** गोचरी के समय यदि साधु उसके घर पर गोचरी जाता है, तो वह साधु को अशन पान आदि नहीं देता। **(जे इमे भवंति वोनमंता भारक्कंता अलसगा वसलगा किवणगा समणगा पव्वयंति)** वह पापी पुरुष कहता है—ये भार ढोने वाले या ऐसे ही नीचे काम करने वाले दरिद्र, शूद्र एवं बेचारे आलसी हैं, जो आलस्य के कारण या काम न होने के कारण श्रमणदीक्षा लेकर सुखी बनने की चेष्टा करते हैं। **(ते इणमेव जीवितं धिज्जीवितं संपडिबूहेंति)** वे साधु-द्रोही लोग इस साधुद्रोहमय जीवन को जो वस्तुतः धिग्जीवन है, उत्तम मानते हैं **(ते परलोगस्स अट्ठाए नाइ किंचिवि सिलीसंति)** वे मूर्ख परलोक के लिए कुछ भी कार्य नहीं करते, **(ते दुक्खंति)** वे दुःख पाते हैं, **(ते सोयंति)** वे शोक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते हैं, (**ते जूरंति**) वे पश्चात्ताप करते हैं, (**ते तिप्पंति**) वे दुःखी होते हैं, (**ते पिट्टंति**) वे पीड़ित होते हैं, (**ते परितप्पंति**) वे सन्ताप पाते हैं, (**ते दुक्खणजूरणसोयणतिप्पण-पिट्टणपरितिप्पणवहबंधणपरिकिलेसाओ अप्पडिविरया भवंति**) वे दुःख, निन्दा, शोक, संताप, पीड़ा, परिताप, वध, बन्धन आदि क्लेशों से कभी निवृत्त नहीं होते। (**ते महया आरंभेणं, ते महया समारंभेणं, ते महया आरंभसमारंभेण विरूवरूवेहिं पावकम्मकिच्चेहिं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजित्तारो भवंति**) वे महान् आरम्भ, महान् समारम्भ और अनेक प्रकार के महारम्भ-समारम्भ तथा नाना प्रकार के पापकर्म-जनक कुकृत्य करके उत्तमोत्तम मनुष्य सम्बन्धी भोगों का उपभोग करते हैं। (**तं जहा—अन्नं अन्नंकाले, पाणं पाणकाले, वत्थं वत्थकाले, लेणं लेणकाले, सयणं सयणकाले**) जैसे कि वे अन्न के समय अन्न का, पान (पेय पदार्थ) के समय पान का, वस्त्र के समय वस्त्र का, निवास स्थान (गृह) के समय निवास स्थान का और शय्या के समय शय्या का उपभोग करते हैं। (**सपुव्वावरं च णं ण्हाए कयबलिकम्मे**) वे प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल में स्नान करके देवपूजा के रूप में बलिकर्म करते हैं, (**कयकोउयमंगलपायच्छित्ते**) वे देवता की आरती करके मंगल के लिए स्वर्ण, चन्दन, दधि, अक्षत और दर्पण आदि मांगलिक पदार्थों का स्पर्श करते हैं। (**सिरसा ण्हाए कंठेमालाकडे**) वे सशीर्ष स्नान करके गले में माला धारण करते हैं। (**आविद्धमणिसुवन्ने कप्पियमालामउली**) वे अपने अंगों पर मणि और सोना पहनकर सिर पर पुष्पमाला का मुकुट धारण करते हैं। (**पडिबद्धसरीरे वग्घारियसोणिसुत्तगमल्लदामकलावे**) युवावस्था के कारण शरीर से वे हृष्ट-पुष्ट होते हैं, और कमर में करधनी तथा छाती पर फूलों की माला पहनते हैं। (**अहतवत्थपरिहिए**) वे अत्यन्त स्वच्छ और नये वस्त्र पहनते हैं। (**चंदणोक्खित्तगाय-सरीरे**) अपने अंगों पर चन्दन का लेप करते हैं। (**महतिमहालियाए कूडागारसालाए**) इस प्रकार सजधजकर वे महाप्रसाद में जाते हैं। (**महतिमहालयंसि सीहासणंसि**) वहाँ वे एक बड़े सिंहासन पर बैठ जाते हैं, (**इत्थीगुम्मसंपरिवुडे**) वहाँ स्त्रियाँ आकर चारों ओर से उन्हें घेर लेती हैं, (**सव्वराइएणं जोइणा झियायमाणेणं**) वहां रातभर दीपक जगमगाते हैं। (**महयाहयनट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुप्पवाइयरवेणं**) फिर वहाँ बड़े जोर से नाच, गान, वाद्य, वीणा, तल, ताल, त्रुटित, मृदंग तथा हाथ की तालियों की ध्वनि होने लगती है, (**उरालाइं माणुस्सगाइं भोगाभोगाइं भुंजमाणे विहरइ**) इस प्रकार उत्तमोत्तम मनुष्य सम्बन्धी भोगों का उपभोग करता हुआ वह पुरुष अपना जीवन व्यतीत करता है। (**तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स तस्स आवुत्ता चेव चत्तारि पंच जणा अब्भु-ट्ठंति**) वह व्यक्ति जब किसी एक नौकर को आज्ञा देता है तो चार-पाँच मनुष्य बिना कहे ही वहाँ आकर खड़े हो जाते हैं। (**देवाणुप्पिया ! भणह किं करेमो, किं आहरेमो, किं उवणेमो, किं आचिट्ठामो, किं भे हियं इच्छियं, किं भे आसगस्स किं सयइ ?**) देवों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रिय ! कहिये, हम आपकी क्या सेवा करें ? क्या लाएँ ? क्या भेंट करें ? तथा क्या कार्य करें ? आपका क्या हित है और क्या इष्ट है ? आपके सुख के लिए कौन-सी वस्तु रुचिकर है ? बताइए। (**तमेव पासित्ता अणारिया एवं वयंति**) उस पुरुष को इस प्रकार सुखोपभोग करते देखकर अनार्य लोग यों कहते हैं—(**देवे खलु अयं पुरिसे, देवसिणाए खलु अयं पुरिसे, देवजीवणिज्जे खलु अयं पुरिसे**) यह पुरुष तो सचमुच देव है ! यह तो देवों से भी श्रेष्ठ है, यह तो देवों का-सा जीवन जी रहा है। (**अन्ने-वि य णं उपजीवंति**) इसके आश्रय से दूसरे लोग भी आनन्दपूर्वक जीते हैं। (**तमेव पासित्ता आरिया वयंति**) किन्तु इस प्रकार भोगविलास में डूबे हुए व्यक्ति को देखकर आर्य पुरुष कहते हैं—(**अभिक्कंतकूरकम्मे खलु अयं पुरिसे**) यह पुरुष तो अत्यन्त क्रूर कर्म करने वाला है (**अतिधुन्ने**) यह अत्यन्त धूर्त आदमी है, (**अइयायरक्खे**) यह अपने शरीर की बहुत हिफाजत (रक्षा) करता है। (**दाहिणगामिए**) यह दक्षिण दिशा के नरक में जाने वाला है, (**नेरइए कण्हपक्खिए**) यह नरकगामी तथा कृष्णपक्षी है। (**आगमिस्साणं दुल्लहबोहियाए यावि भविस्सइ**) यह भविष्य में दुर्लभबोधि प्राणी होगा।

(**उट्ठिया वेगे इच्चेयस्स ठाणस्स अभिगिज्झंति**) कई मूर्ख जीव मोक्ष के लिए उद्यत होकर (साधु धर्म में दीक्षित होकर) भी इस (पूर्वोक्त) स्थान (विषय-सुख साधन) को पाने की इच्छा करते हैं, (**वेगे अणुट्ठिया अभिगिज्झंति**) कई गृहस्थ (अनुत्थित) भी इस स्थान को पाने के लिए लालायित रहते हैं, (**अभिझंझाउरा वेगे अभिगिज्झंति**) अत्यन्त तृष्णातुर मनुष्य इस स्थान को प्राप्त करने के लिए उधेड़-बुन करते रहते हैं। (**एस ठाणे अणारिए**) वस्तुतः यह स्थान अनार्य यानी बुरा है। (**अकेवले**) यह स्थान केवल-ज्ञानरहित है, (**अप्पडिपुन्ने**) इसमें पूर्ण सुख नहीं है, (**अणेयाउए**) यह न्याय से दूर है, (**असंसुद्धे**) इसमें शुद्धता—पवित्रता नहीं है, (**असल्लगत्तणे**) यह कर्म रूपी शल्य को काटने वाला नहीं है, (**असिद्धिमग्गे**) यह सिद्धि का मार्ग नहीं है, (**अमुत्तिमग्गे**) यह मुक्ति का मार्ग नहीं है, (**अनिव्वाणमग्गे**) यह निर्वाण का मार्ग नहीं है, (**अणिज्जाणमग्गे**) यह निर्याण—संसारसागर से पार होने का मार्ग नहीं है, (**असव्वदुक्खपहीणमग्गे**) यह समस्त दुःखों का नाश करने वाला मार्ग नहीं है, (**एगंतमिच्छे असाहु**) यह स्थान एकान्त (सर्वथा) मिथ्या और बुरा है। (**एस खलु पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए**) यह अधर्मपक्ष नामक प्रथम स्थान का विकल्प है, ऐसा तीर्थंकरदेव ने कहा है।

व्याख्या

प्रथमस्थान : अधर्मपक्ष का स्वरूप और विश्लेषण

इस सूत्र में प्रथम स्थान के अधिकारी अधर्मपक्षीय मनुष्यों के विचार, आचार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं व्यवहार का निरूपण किया गया है। प्रथम स्थान के अधिकारी कोई एक ही प्रकार के नहीं होते। वे विभिन्न प्रकार के अधर्मयुक्त विचारों और प्रवृत्ति से युक्त होते हैं, वे महापाप में ही रचे-पचे रहते हैं। यहाँ मूलपाठ में निम्नोक्त कोटि के व्यक्तियों का निरूपण किया गया है--

(१) कोई पुरुष संकल्पपूर्वक तीतर, कबूतर, लावक, कपिंजल आदि में से किसी भी प्राणी को मारकर महान् पापकर्म उपार्जित करता है।

(२) कोई पुरुष सड़े-गले अन्न देने से या अपने किसी स्वार्थ या मनोरथ की सिद्धि न होने से या अन्य किसी भी कारणवश गृहपति या उसके पुत्रों पर नाराज होकर उनके शाली, गेहूँ आदि अनाजों में आग लगा देता है, दूसरों से आग लगवाता है या आग लगाने वाले को अच्छा समझता है।

(३) पूर्वोक्त किसी भी कारणवश कोई पुरुष किसी गृहस्थ या उसके पुत्रों पर क्रुद्ध होकर उनके ऊँटों, गायों, घोड़ों और गधों के अंगों को स्वयं काटता है, दूसरे से कटवाता है या काटने वाले को अच्छा समझता है।

(४) पूर्वोक्त किसी भी कारणवश क्रुद्ध होकर कोई पुरुष किसी गृहस्थ या उसके पुत्रों की उष्ट्रशाला, गोशाला, अश्वशाला या गदर्भशाला को कँटीली डालियों या झाड़ियों से ढककर उनमें आग लगा देता है, आग लगवाता है या लगाने वाले को अच्छा समझता है।

(५) कोई व्यक्ति पूर्वोक्त कारणों में से किसी भी कारणवश गृहस्थ अथवा उसके पुत्रों पर नाराज होकर उनके कुण्डल, मणि या मोती की स्वयं चोरी कर लेता है, दूसरों से चोरी करवाता है या चोरी करने वाले को अच्छा समझता है।

(६) पूर्वोक्त कारणों में से किसी भी कारण को लेकर कोई व्यक्ति श्रमणों या माहनों का विरोधी बनकर उनकी छाता, डण्डा, उपकरण, पात्र, लाठी, आसन, वस्त्र, पर्दा, चर्मछेदनक या चमड़े की थैली आदि वस्तुओं का स्वयं अपहरण करता है, दूसरों से अपहरण कराता है, तथा अपहरण करने वाले का अनुमोदन एवं समर्थन करता है।

(७) कोई पुरुष बिना सोचे-समझे अकारण ही गृहस्थ या उसके पुत्रों के अन्न आदि के आग लगाता है, आग लगवाता है तथा आग लगाने वाले का समर्थन करता है।

(८) कोई पुरुष पापकर्म के फल का विचार किये बिना अकारण ही गृहस्थ या उसके पुत्रों के ऊँटों, गायों, घोड़ों और गधों के अवयवों का स्वयं छेदन करता है, दूसरे से करवाता है तथा छेदनकर्ता को अच्छा समझता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(९) कोई व्यक्ति अकारण ही पूर्वापर विचार किये बिना किसी गृहस्थ या उसके पुत्रों की उष्ट्रशाला, गदर्भशाला, अश्वशाला तथा गोशाला को काँटों की बाड़ से ढककर उनमें आग लगा देता है, दूसरों से आग लगवाता है, तथा आग लगाने वाले को अच्छा समझता है।

(१०) कोई व्यक्ति ऐसा भी होता है, जो कर्मफल का विचार किये बिना अकारण ही किसी गृहपति या उसके पुत्रों के कुण्डल, मणि या मोती को चुरा लेता है, दूसरों से चोरी करवाता है या चोरी करने वाले को अच्छा समझता है।

(११) कोई पुरुष अकारण ही श्रमणों या माहनों का द्वेषी बनकर दुष्कर्म के परिणाम का विचार किये बिना ही श्रमणों या माहनों के छत्र, दण्ड आदि उपकरणों का हरण कर लेता है, या हरण कराता है, अथवा हरण करने वाले की प्रशंसा करता है।

(१२) कोई-कोई व्यक्ति ऐसा भी होता है, जो श्रमण या माहन को देखकर उनके साथ अनेक प्रकार का पापमय दुर्व्यवहार करता है। अथवा वह साधु को अपने सामने देखना भी नहीं चाहता, इसलिए हट जाने के लिए चुटकी बजाता है, या कठोर वचन कहकर साधु को दुःखित करता है, जब साधु उसके यहाँ गोचरी जाते हैं तो वह उन्हें अशनादि आहार नहीं देता।

पूर्वोक्त कोटि में से किसी भी कोटि का व्यक्ति अपने जीवन में महान् पाप-कर्म करता है। उस पापकर्म के कारण वह इस लोक में महान् पापी के नाम से बदनाम और मशहूर हो जाता है। वे मूढ़ जीव यह विचार नहीं करते कि हम जो पापकर्म कर रहे हैं, उसका कितना बुरा नतीजा आयेगा, उन कटुफलों को भोगते समय हम पर क्या बीतेगी ?

कोई भी श्रमण या माहन उनके हितैषी बनकर उन्हें पापकर्म छोड़ने के लिए कहते हैं अथवा उन्हें आर्यकर्म करने या धर्माचरण करने के लिए कहते हैं तो वे उन पर एकदम झल्ला उठते हैं, और कहने लगते हैं—'ये बेचारे साधु वे ही हैं, जो पहले भार ढोने वाले मजदूर थे, नीचे काम करने वाले शूद्र थे, आलसी थे, घर में काम नहीं होता था, इसलिए साधु बनकर संसार पर बोझ बन गये।'

पूर्वोक्त प्रकार से साधुओं के प्रति द्वेष, द्रोह करने वाले, निन्दा करके बदनाम करने वाले साधुद्रोहियों का जीवन नीच और अधम होता है, जिसे वे उत्तम मानते हैं। वे परलोक के लिए कोई भी शुभ कार्य नहीं करते। वे नाना प्रकार के पापकर्मों में रचे-पचे रहकर स्वयं दुःख भोगते हैं और दूसरों को भी कष्ट देते हैं। वे अहर्निश चिन्ता, शोक, आर्तध्यान, निन्दा, वध, बन्धन, संताप आदि क्लेशों से पीड़ित रहते हैं। वे प्राणियों को नाना प्रकार की पीड़ाएँ देकर अपने लिए भोग-सामग्री तैयार करते और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करवाते हैं। चाहे करोड़ों प्राणियों की हत्या क्यों न हो जाये, वे अपने कामभोगों में किसी प्रकार की कमी नहीं आने देते। शास्त्रकार ऐसे महापापियों की विलासिता की कुछ झाँकी देते हैं—वे प्रातःकाल उठकर स्नान करते हैं, फिर मंगलार्थ सुवर्ण, दर्पण, दही, अक्षत, मृदंग आदि मांगलिक पदार्थों का स्पर्श करते हैं। तत्पश्चात् देवार्चन करके अपने अंगों पर चंदन आदि का लेप करते हैं और फूलमाला, करधनी, तथा मुकुट आदि आभूषणों को धारण करते हैं। युवावस्था तथा यथेष्ट भोग-साधनों की प्राप्ति के कारण उनका शरीर अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट होता है। वे सायंकाल शृंगार करके ऊँचे महल में बड़े-से सिंहासन पर जाकर बैठ जाते हैं। वहाँ नवयौवना स्त्रियाँ उन्हें चारों ओर से घेर लेती हैं तथा नृत्य, गीत, वाद्य और हावभावों से उनका मनोरंजन करती हैं। अनेक दीपकों की जगमगाहट में रातभर वे पुरुष नाच, गान, रागरंग एवं मधुर शब्दों में मशगूल रहते हैं। इस प्रकार उत्तमोत्तम भोगोपभोगों का सेवन करते हुए वे अपनी जिंदगी बिताते हैं। जब वे किसी को आदेश देते हैं, तो बिना कहे ही एक साथ ४-५ जीहजूरिए आकर खड़े हो जाते हैं, और हाथ जोड़कर कहते हैं—"देवानुप्रिय ! बतलाइए, हम आपकी क्या सेवा करें ? कौन-सी वस्तु आपको प्यारी है, जिसे लाकर हम आपकी सेवा में हाजिर करें ? हम क्या कार्य करें ? इत्यादि।"

इस प्रकार अनुचरों से सेवा किये जाते हुए तथा उत्तमोत्तम विषय-भोगों को भोगते देखकर अनार्य लोग उस भोगी को बहुत अच्छा समझते हैं। वे कहते हैं—यह मनुष्य नहीं अपितु देव है, सचमुच यह देवताओं से भी बढ़कर है, देवता का-सा जीवन व्यतीत कर रहा है यह पुरुष। संसार में इसके समान कोई सुखी नहीं है। दूसरे लोग जो इसकी सेवा करते हैं वे भी चैन की बंशी बजाते हैं। अतः यह पुरुष महाभाग्यशाली है। परन्तु जो पुरुष विवेकी और आर्य हैं, वे उस विषय-भोगों के कीड़े को भाग्यवान् नहीं कहते, वे उसे अत्यन्त क्रूर कर्म करने वाला, अत्यन्त धूर्त, अति-स्वार्थी, शरीरासक्त, एवं विषय-प्राप्ति के लिए अत्यन्त पापकर्म करने वाला कहते हैं। तथा वे आर्य पुरुष कहते हैं कि ऐसा मनुष्य नरकगामी, दक्षिणनरक का पथिक, भविष्य में दुर्लभबोधि और कृष्णपक्षी होता है।

इस अधर्मपक्ष के अधिकारी वे व्यक्ति भी होते हैं, जो घरबार छोड़कर मोक्ष-प्राप्ति के लिए दीक्षित होकर भी पूर्वोक्त विषय-सुखों की लालसा रखते हैं, तथा गृहस्थ एवं दूसरे विषयासक्त प्राणी भी इस अधर्मपक्षीय स्थान की कामना करते हैं। वास्तव में यह स्थान विवेकी एवं मोक्षसुखाभिलाषी पुरुष के लिए कथमपि उपादेय या अभीष्ट नहीं है, क्योंकि यह हिंसा, झूठ, कपट आदि दोषों से परिपूर्ण होने के कारण अधर्ममय है। इस स्थान में केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, न कर्मबंधन नष्ट होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। यह स्थान संसार को बढ़ाने वाला एवं कर्मपाश को सुदृढ़ करने वाला है। इस स्थान के अधिकारी से सिद्धि, मुक्ति, निर्वाण या निर्याण तथा समस्त दुःखनाश कोसों दूर रहता है। मृगतृष्णा के जल के समान इसमें सुख की भ्रान्ति है, विषलिप्त भोजन के समान परिणाम में यह अत्यन्त दुःखोत्पादक है, एकान्त मिथ्याजाल है, बुरा है, दुष्परिणामजनक है। अतः बुद्धिमान पुरुष को कदापि इस स्थान की इच्छा नहीं करनी चाहिए। यह अधर्मपक्ष नामक प्रथम स्थान का स्वरूप है।

मूल पाठ

अहावरे दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ। इह खलु पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा संतेगइया मणुस्सा भवंति, तं जहा – आरिया वेगे, अणारिया वेगे, उच्चागोया वेगे, णीयागोया वेगे, कायमंता वेगे, हस्समंता वेगे, सुवन्ना वेगे, दुवन्ना वेगे, सुरूवा वेगे, दुरूवा वेगे, तेसिं च णं खेत्तवत्थूणि परिग्गहियाइं भवंति। एसो आलावगो जहा पोंडरीए तहा णेयव्वो। तेणेव अभिलावेण जाव सव्वोवसंता सव्वत्ताए परिनिव्वुडे त्ति बेमि।

एस ठाणे आरिए केवले जाव सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहु। दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए॥ सू० ३३॥

संस्कृत छाया

अथापरः द्वितीयस्य स्थानस्य धर्मपक्षस्य विभंगः एवमाख्यायते। इह खलु प्राच्यां वा प्रतीच्यां वा उदीच्यां वा दक्षिणस्यां वा सन्त्येकतये मनुष्याः भवन्ति, तद्यथा – आर्या एके, अनार्या एके, उच्चगोत्रा एके, नीचगोत्रा एके, कायवन्त एके, ह्रस्वा एके, सुवर्णा एके, दुर्वर्णा एके, सुरूपा एके, दुरूपा एके, तेषां च क्षेत्रवास्तूनि परिगृहीतानि भवन्ति। एष आलापकः यथा पौण्डरीके तथा नेतव्यः। तेनैवाभिलापेन यावत् सर्वोपशान्ताः सर्वात्मतया परिनिर्वृत्ताः इति ब्रवीमि।

एतत्स्थानमार्यम् केवलं यावत् सर्वदुःखप्रहीणमार्गं एकान्त सम्यक साधु। द्वितीयस्य स्थानस्य धर्मपक्षस्य विभंग एवमाख्यातः॥ सू० ३३॥

अन्वयार्थ

(अहावरे दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ) इसके पश्चात् द्वितीय स्थान जो धर्मपक्ष कहलाता है, उसका विकल्प इस प्रकार कहा गया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। (**इह खलु पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा संतेगइया मणुस्सा भवंति**) इस मनुष्यलोक में पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशाओं में अनेक प्रकार के मनुष्य रहते हैं। (**तं जहा—आरिया वेगे, अणारिया वेगे, उच्चागोआ वेगे, णीयागोया वेगे, कायमंता वेगे, हस्समंता वेगे, सुवन्ना वेगे, दुवन्ना वेगे, सुरूवा वेगे, दुरूवा वेगे**) वे इस प्रकार हैं—कई आर्य हैं, कई अनार्य हैं, कई विशालकाय हैं, कई ठिगने कद के हैं, कई सुन्दर वर्ण वाले और कई खराब वर्ण के होते हैं, कई सुरूप है तो कई कुरूप! (**तेसिं च णं खेत्तवत्थूणि परिग्गहियाइं भवंति**) इन मनुष्यों के खेत और मकान परिग्रह होते हैं। (**एसो आलावगो जहा पोंडरीए तहा णेयव्वो**) ये सब बातें, जो पुण्डरीक के प्रकरण में कही हैं, यहाँ भी कहनी चाहिए। (**तेणेव अभिलावेण जाव सव्वोवसंता सव्वत्ताए परिनिव्वुडेत्ति बेमि**) और उसी बोल के अनुसार जो पुरुष समस्त कषायों से उपशान्त हैं यहाँ तक कि समस्त इन्द्रिय-भोगों से निवृत्त हैं, वे धर्मपक्ष वाले हैं। यह मैं (सुधर्मा स्वामी) कहता हूँ। (**एस ठाणे आरिए केवले जाव सव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतसम्मे साहु**) यह स्थान (द्वितीय स्थान) आर्य है, यावत् केवलज्ञान को प्राप्त कराने वाला तथा समस्त दुःखों का नाशक है। यह एकान्त सम्यक् और उत्तम स्थान है। (**दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए**) यह द्वितीय स्थान, जो धर्मपक्ष है, उसका विचार इस प्रकार किया गया है।

व्याख्या

द्वितीय स्थान : धर्मपक्ष का स्वरूप और विश्लेषण

प्रथम स्थान अधर्मपक्ष का वर्णन करने के पश्चात् इस सूत्र में धर्मपक्ष नामक द्वितीय स्थान का निरूपण किया गया है। अहिंसा, सत्य आदि धर्माचरण करने वाले या सम्यग्दृष्टि एवं शुभ (पुण्य) कार्यों में संलग्न मानव धर्मपक्ष के अधिकारी होते हैं। जगत् में धर्म का आचरण करने वाले बहुत से मनुष्य इस विश्व में हैं। वे विश्व के कोने-कोने में हैं। उनमें से कई आर्यवंश में उत्पन्न पुण्यात्मा भी हैं, इसके विपरीत कई शक, यवन, बर्बर आदि अनार्यजन भी ऐसे पुण्यात्मा हैं जो धर्मपक्षीय हैं। कई विशालकाय हैं तो कई ह्रस्वकाय हैं, कई सुन्दर वर्ण वाले हैं तो कई बुरे वर्ण वाले हैं। कई सुरूप हैं तो कई कुरूप। मतलब यह है कि सभी प्रकार के रंग, रूप, वर्ण, जाति और देश में ऐसे धर्मपक्षीय जन होते हैं। वे कैसे होते हैं? इसके समाधानार्थ शास्त्रकार कहते हैं कि पुण्डरीक नामक अध्ययन में इसका विस्तृत रूप से वर्णन किया है। वहाँ जिस प्रकार का वर्णन किया गया है, वही लक्षण धर्मपक्षीय व्यक्ति का समझना चाहिए। यहाँ तक कि धर्मपक्षीय पुरुषों के समस्त कषाय उपशान्त होते हैं। वे समस्त इन्द्रिय-विषयों की आसक्ति से निवृत्त होते हैं। इस सम्बन्ध में इतना विशेष समझ लेना चाहिए कि शक,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यवन आदि अनार्य पुरुषों के जो दोष बताये गये हैं उन दोषों से रहित जो पुरुष उत्तम आचार में प्रवृत्त हैं, वे ही धार्मिक हैं, धर्मपक्ष के अधिकारी हैं। उनका जो स्थान है वह धर्म-स्थान या धर्मपक्ष है। यही स्थान आर्य है, केवलज्ञान की प्राप्ति का कारण है, न्यायसंगत है, मुक्ति, सिद्धि और निर्वाण का मार्ग है। अतः विवेकी पुरुष को इस द्वितीय स्थान—धर्मपक्ष का ही अवलम्बन लेना चाहिए।

मूल पाठ

अहावरे तच्चस्स ठाणस्स मिस्सगस्स विभंगे एवमाहिज्जइ। जे इमे भवंति आरण्णिया आवसहिया गामणियंतिया कण्हुईरहस्सिया जाव ते तओ विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए तमूत्ताए पच्चायंति। एस ठाणे अणारिए अकेवले जाव असव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू। एस खलु तच्चस्स ठाणस्स मिस्सगस्स विभंगे एवमाहिए॥ सू० ३४॥

संस्कृत छाया

अथाऽपरस्तृतीयस्य स्थानस्य मिश्रकस्य विभंगः एवमाख्यायते। ये इमे आरण्यका आवसथिकाः ग्रामान्तिकाः क्वचिद्राहसिकाः यावत् ते ततो विप्रमुच्यमाना भूयः एलमूकत्वाय तमस्त्वाय प्रत्यायन्ति—एतत् स्थानमनार्यम् अकेवलं यावत् असर्वदुःखप्रहीणमार्गमेकान्तमिथ्या असाधु। एष खलु तृतीयस्य स्थानस्य मिश्रकस्य विभंगः एवमाख्यातः॥ सू० ३४॥

अन्वयार्थ

(**अहावरे तच्चस्स ठाणस्स मिस्सगस्स विभंगे एवमाहिज्जइ**) इसके पश्चात् तीसरा स्थान, जो मिश्रपक्ष कहलाता है, उसका विचार इस प्रकार है—(**जे इमे आरण्णिया आवसहिया गामणियंतिया कण्हुईरहस्सिया जाव भवंति**) इसके अधिकारी वन में रहने वाले तापस हैं, जो घर या कुटिया बनाकर रहते हैं या ग्राम के निकट निवास करने वाले तापस या फिर एकान्त में रहने वाले या किसी गुप्त क्रिया का अनुष्ठान करने वाले पुरुष हैं। (**ते तओ विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए तमूयत्ताए पच्चायंति**) वे यहाँ से देह छोड़ने पर किल्वषी देव होते हैं, फिर वहाँ से लौटकर इस लोक में पुनः पुनः गूँगे और अन्धे होते हैं। (वे जिस मार्ग का सेवन करते हैं, उसे मिश्र स्थान कहते हैं) (**एस ठाणे अणारिए अकेवले जाव असव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहु**) यह स्थान अनार्य है यानी आर्य पुरुषों के द्वारा सेवित नहीं है, तथा यह केवलज्ञान की प्राप्ति कराने वाला नहीं है, यहाँ तक कि समस्त दुःखों से छुटकारा दिलाने वाला यह मार्ग नहीं है। यह स्थान एकान्त मिथ्या और खराब है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(एस खलु तच्चस्स ठाणस्स मिस्सगस्स विभंगे एवमाहिए) यह तीसरे मिश्र स्थान का विचार कहा गया है।

व्याख्या

तृतीय स्थान : मिश्रपक्ष का स्वरूप और विश्लेषण

इस सूत्र में तृतीय स्थान का वर्णन किया गया है जिसे शास्त्रकार ने मिश्र स्थान बताया है। इसमें धर्म और अधर्म दोनों का पलड़ा बराबर नहीं है। बल्कि जिस स्थान में पाप बहुत अधिक और पुण्य बिलकुल अल्पमात्रा में हैं वही शास्त्रकार की दृष्टि में मिश्र स्थान है क्योंकि इस स्थान को शास्त्रकार सर्वथा मिथ्या और बुरा बताते हैं। यह तभी हो सकता है, जबकि पुण्य का अंश बिलकुल नगण्य-सा हो। इस स्थान के अधिकारी मुख्यतया तापस हैं, जो या तो जंगल में रहते हैं या कोई कुटिया या आश्रम बनाकर रहते हैं अथवा ग्राम की सीमा पर रहते हैं। ये तापस अपने आप को धार्मिक और मोक्षार्थी बतलाते हैं। प्राणातिपात आदि दोषों से ये किञ्चित् निवृत्त भी देखे जाते हैं मगर वह निवृत्ति नहीं के बराबर है। क्योंकि एक तो ये मिथ्यात्व मल से दूषित रहते हैं तथा इन्हें जीव-अजीव का विवेक नहीं होता। दूसरे ये जिस पथ का अनुसरण करते हैं उसमें पाप बहुत और पुण्य बिलकुल अल्प-मात्रा में होता है। अतः इस स्थान को यहाँ मिश्रस्थान कहा गया है।

इस स्थान के अधिकारी मरने के पश्चात् किल्विषी देव होते हैं। फिर वहाँ से भ्रष्ट होकर ये मनुष्य लोक में आते हैं लेकिन यहाँ वे मूक एवं अंधे होते हैं। इस कारण इनका जो स्थान है, वह आर्य-जनों के लिए उपादेय एवं उचित नहीं है। वह केवलज्ञान को प्राप्त कराने वाला और समस्त दुःखों का नाशक नहीं है। किन्तु एकान्त मिथ्या और बुरा है। इस प्रकार तीसरे मिश्र स्थान का निरूपण तीर्थंकर देव ने किया है।

मूल पाठ

अहावरे पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ। इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइया मणुस्सा भवंति—गिहत्था महेच्छा महारंभा महापरिग्गहा अधम्मिया अधम्माणुया (ण्णा) अधम्मिट्ठा अधम्मक्खाई अधम्मपायजीविणो अधम्मप(वि)लोई अधम्मपलज्जणा अधम्मसील-समुदायारा अधम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति।

हण छिंद भिंद विगत्तगा लोहियपाणी चंडा रुद्दा खुद्दा साहस्सिया उक्कुंचण-वंचण-माया-णियडि-कूडकवड-साइसंपओगबहुला दुस्सीला दुव्वया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुप्पडियाणंदा असाहू, सव्वाओ पाणाइवायाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए जाव सव्वाओ परिग्गहाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए सव्वाओ कोहाओ जाव मिच्छादंसणसल्लाओ अप्पडिविरया, सव्वाओ ण्हाणुम्मद्दण-वण्णग-गंध-विलेवणसद्दफरिसरसरूवगंधमल्लालंकाराओ अप्पडिविरया, जावज्जीवाए सव्वाओ सगड-रह-जाण-जुग्ग-गिल्लिथिल्लि-सियासंदमाणिया-सयणासण-जाणवाहणभोगभोयणपवित्थरविहीओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए सव्वाओ कयविक्कय-मासद्धमासरूवगसंववहाराओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए सव्वाओ हिरण्ण-सुवण्ण-धण-धण्ण-मणि-मोत्तिय-संख-सिल-प्पवालाओ अप्प-डिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ कूडतुल-कूडमाणाओ अप्पडिविरया जाव-ज्जीवाए, सव्वाओ आरंभसमारंभाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ करण-कारावणाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ पयण-पयावणाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ कुट्टणपिट्टणतज्जणताडणवहबंधणपरि-किलेसाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, जे आवण्णे तहप्पगारा सावज्जा अबोहिया कम्मंता परपाणपरियावणकरा जे अणारिएहिं कज्जंति, ततो अप्प-डिविरया जावज्जीवाए।

से जहाणामए केइ पुरिसे कलममसूरतिलमुग्गमासनिप्फावकुलत्थ-आलिसंदगपलिमंथगमादिएहिं अयंते कूरे मिच्छादंडं पउंजति, एवमेव तहप्प-गारे पुरिसजाए तित्तिरवट्टगलावगकवोतकविंजलमियमहिसवराहगाहगोह-कुम्भसिरिसिवमादिएहिं अयंते कूरे मिच्छादंडं पउंजति, जावि य से बाहिरिया परिसा भवइ, तं जहा—दासे इ वा, पेसे इ वा, भयए इ वा, भाइल्ले इ वा, कम्मकरए इ वा, भोगपुरिसे इ वा, तेसिं पि य णं अन्नयरंसि वा अहालहुगंसि अवराहंसि सयमेव गरुयं दंडं निवत्तेइ, तं जहा—इमं दंडेह, इमं मुंडेह, इमं तज्जेह, इमं तालेह, इमं अदुयबंधणं करेह, इमं नियलबंधणं करेह, इमं हडि-बंधणं करेह, इमं चारगबंधणं करेह, इमं नियलजुयलसंकोचियमोडियं करेह, इमं हत्थछिन्नयं करेह, इमं पायछिन्नयं करेह, इमं कन्नछिण्णयं करेह, इमं नक्क-ओट्ठसीसमुहछिन्नयं करेह, वेयगछहियं अंगछहियं पक्खाफोडियं करेह, इमं णयणुप्पाडियं करेह, इमं दसणुप्पाडियं करेह, वसणुप्पाडियं जिब्भुप्पाडियं ओलंबियं करेह, घसियं करेह, घोलियं करेह, सूलाइयं करेह, सूलाभिन्नयं करेह, खारवत्तियं करेहं सीह पुच्छियगं करेह, वसभपुच्छि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यगं करेह, दवग्गिदड्ढयंगं कागणिमंसखावियंगं भत्तपाणनिरुद्धगं इमं जाव-ज्जीवं वहबंधणं करेह, इमं अन्नयरेणं असुभेणं कुमारेणं मारेह ।

जा वि य से अब्भितरिया परिसा भवइ, तं जहा—मायाइ वा, पियाइ वा, भायाइ वा, भगिणीइ वा, भज्जाइ वा, पुत्ताइ वा, धूयाइ वा, सुण्हाइ वा, तेसिं पि य णं अन्नयरंसि अहालहुगंसि अवराहंसि सयमेव गरुयं दंडं णिवत्तेइ, सीओदगवियडंसि उच्छोलित्ता भवइ, जहा मित्तदोसवत्तिए जाव अहिए परंसि लोगंसि, ते दुक्खंति सोयंति जूरंति तिप्पंति पिट्टंति परितप्पंति ते दुक्खणसोयणजूरणतिप्पणपिट्टणपरितप्पणवहबंधणपरिकिलेसाओ अप्पडिविरया भवंति ।

एवमेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया अज्झोववन्ना जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं वा, अप्पतरो वा, भुज्जतरोवा कालं भुंजित्तु भोगभोगाइं पविसुइत्ता वेरायतणाइ संचिणित्ता बहूइं पावाइं कम्माइं उस्सन्नाइं संभारकडेण कम्मणा से जहाणामए अयगोलेइ वा सेलगोलेइ वा उदगंसि पक्खित्ते समाणे उदगतलमइवइत्ता अहे धरणितलपइट्ठाणे भवइ, एवमेव तहप्पगारे पुरिसजाते वज्जबहुले धूतबहुले पंकबहुले वेरबहुले अप्पत्तियबहुले दंभबहुले णियडिबहुले साइबहुले अयसबहुले उस्सन्नतसपाणघाती कालमासे कालं किच्चा धरणितलमइवइत्ता अहे णरगतलपइट्ठाणे भवइ ॥ सू० ३५ ॥

संस्कृत छाया

अथाऽपरः प्रथमस्य स्थानस्य अधर्मपक्षस्य विभंगः एवमाख्यायते । इह खलु प्राच्यां वा ४ सन्त्येकतये मनुष्याः भवन्ति – गृहस्थाः महेच्छाः महारम्भाः महापरिग्रहाः अधार्मिकाः अधर्मानुगाः अधर्मिष्ठाः अधर्मख्यायिनः अधर्मप्रायजीविनः अधर्मप्रलञ्जनाः अधर्मशीलसमुदाराः अधर्मेण चैव वृत्तिं कल्पयन्तः विहरन्ति ।

जहि छिन्धि भिन्धि विकर्त्तका लोहितपाणयः चण्डाः रौद्राः क्षुद्राः साहसिकाः उत्कुञ्चनवञ्चनमायानिकृतिकूटकपटसातिसम्प्रयोगबहुलाः दुःशीला दुर्व्रताः दुष्प्रत्यानन्दाः असाधवः सर्वस्मात्प्राणातिपातादप्रतिविरताः यावज्जीवनं यावत् सर्वपरिग्रहादप्रतिविरता यावज्जीनम् । सर्वस्मात् क्रोधाद् यावद् मिथ्यादर्शनशल्यादप्रतिविरताः । सर्वस्मात् स्नानोन्मर्दनवर्णकविलेपन शब्दस्पर्शरूपरसगन्धमाल्यालंकारादप्रतिविरताः यावज्जीवनम । सर्वस्मात्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शकटरथयानयुग्यगिल्लिथिल्लिस्यन्दनशयनासनयानवाहनभोग्यभोजनप्रविस्तरविधितः अप्रतिविरताः यावज्जीवनम् । सर्वतः क्रय-विक्रय माषार्धमाषरूपक संव्यवहारादप्रतिविरता यावज्जीवनम् । सर्वस्मात् हिरण्यसुवर्णधनधान्यमणिमौक्तिकशंखशीलप्रवालादप्रतिविरताः यावज्जीवनम् । सर्वस्मात्कूटतुलकूटमानादप्रतिविरताः यावज्जीवनम् । सर्वस्मादारम्भसमारम्भादप्रतिविरताः यावज्जीवनम् । सर्वतः पचनपाचनतोऽप्रतिविरताः यावज्जीवनम् । सर्वतः कुट्टनपिट्टनतर्जनताडनवधबन्धनपरिक्लेशादप्रतिविरताः यावज्जीवनम् । ये यावदन्ये तथाप्रकाराः सावद्याः अबोधिकाः कर्मसमारम्भाः परप्राणपरितापनकराः य अनार्यैः क्रियन्ते ततोऽप्रतिविरताः यावज्जीवनम् ।

तद्यथानाम केचित्पुरुषाः कलममसूरतिलमुद्गमाषनिष्पावकुलत्थालिसन्दकपरिमन्थादिकेषु अत्यन्त क्रूराः मिथ्यादण्डं प्रयुञ्जते, एवमेव तथाप्रकाराः पुरुषजाताः तित्तिरवर्तकलावककपोतकपिंजलमृगमहिषवराहग्राहगोधाकूर्मसरिसृपादिकेषु अत्यन्त क्रूराः मिथ्यादण्डं प्रयुञ्जन्ति । याऽपि च तेषां बाह्या परिषद् भवति, तद्यथा—दासो वा, प्रेष्यो वा, भृतको वा, भागिको वा, कर्मकरो वा, भोगपुरुषो वा, तेषां चान्यतरस्मिन् लघुकेऽप्यपराधे स्वयमेव गुरुकं दण्डं निर्वर्तयन्ति, तद्यथा—इमं दण्डयत, इमं मुंडयत, इमं तर्जयत, इमं ताडयत, इमं पृष्ठबन्धनं कुरुत, इमं निगडबन्धनं कुरुत, इमं हाडीबन्धन कुरुत, इमं चारकबंधनं कुरुत, इमं निगडयुगलं संकोचितमोटितं कुरुत, इमं हस्तछिन्नकं कुरुत, इमं पादछिन्नकं कुरुत, इमं कर्णछिन्नकं कुरुत, इमं नासिकौष्ठशीर्षमुखच्छिन्नकं कुरुत, इमं वेदकच्छिन्नांगच्छिन्नकं पक्षस्फोटितं कुरुत, इमं नयनोत्पाटितं कुरुत, इमं दशनोत्पाटितं वृषणोत्पाटितं जिह्वोत्पाटितं अवलम्बितं कुरुत, घर्षितं कुरुत, घोलितं कुरुत, शूलार्पितं कुरुत, शूलाभिन्नकं कुरुत, क्षारवर्तिनं कुरुत, वध्यवर्तिनं कुरुत, सिंहपुच्छितकं कुरुत, वृषभपुच्छितकं कुरुत, दावाग्नि दग्धांगं कुरुत, काकालीमांसखादितांगं भक्तपान निरुद्धकं यावज्जीवनम् वधबन्धनं कुरुत, इममशुभेन कुमारेण मारयत ।

याऽपि च तस्य आभ्यन्तरिकी परिषद् भवति तद्यथा—माता वा, पिता वा, भ्राता वा, भगिनी वा, भार्या वा, पुत्राः वा, दुहितरो वा, स्नुषा वा तेषां च अन्यतरस्मिन् लघुकेऽप्यपराधे स्वयमेव गुरुक दण्डं निर्वर्तयन्ति, शीतोदकविकटे उत्क्षेप्तारो भवन्ति, यथा मित्रदोषप्रत्ययिके यावत् अहिताः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परस्मिन् लोके ते दुख्यन्ति शोचन्ते जूरयन्ति तिप्यन्ति पीड्यन्ते परितप्यन्ति, ते दुःखनशोचनजूरणतेपनपिट्टनपरितापनवधबन्धनपरिक्लेशेभ्योऽप्रतिविरताः भवन्ति ।

एवमेव ते स्त्रीकामेषु मूर्च्छिताः गृद्धाः ग्रथिताः अध्युपपन्नाः यावद् वर्षाणि चतुः पञ्च षड्दश वा अल्पतरं वा भूयस्तर वा कालं भुक्त्वा भोगान् प्रविसूय वैरायतनानि सञ्चित्य बहूनि पापानि कर्माणि उत्सन्नानि सम्भार-कृतेन कर्मणा तद् यथा नाम अयोगोलको वा शैलगोलको वा उदके प्रक्षिप्य-माणः उदकतलमतिवर्त्य अधःधरणितल प्रतिष्ठानो भवति एवमेव तथाप्रकारः पुरुषजातः पर्यायबहुलः धुतबहुलः, पंकबहुलः, वैरबहुलः, अप्रत्ययबहुलः दम्भ-बहुलः, निकृतिबहुलः, अयशोबहुल, उत्सन्नत्रसप्राणघाती कालमासे कालं कृत्वा धरणितलमतिवर्त्य अधोनरकतलप्रतिष्ठानो भवति ।। सू० ३५ ।।

अन्वयार्थ

(अहावरे **पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ**) इसके पश्चात् प्रथम स्थान, जो अधर्मपक्ष है, उसका विचार इस प्रकार किया जाता है। (**इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइया मणुस्सा भवंति**) इस मनुष्य लोक में पूर्व आदि दिशाओं में ऐसे मनुष्य भी रहते हैं, (**गिहत्था मल्लेच्छा महारंभा महापरिग्गहा**) जो कौटुम्बिक जीवन व्यतीत करने वाले गृहस्थ हैं, बड़ी-बड़ी इच्छाओं वाले, महान् आरम्भ करने वाले तथा महापरिग्रही होते हैं। (**अधम्मिया अधम्माणुया अधम्मिट्ठा अधम्मक्खाई अधम्मपायजीविणो अधम्मपलोई अधम्मपलज्जणा, अधम्मसीलसमुदायारा अधम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति**) वे अधर्म करने वाले, अधर्म के पीछे चलने वाले, अधर्म को अपना इष्ट मानने वाले, अधर्म की ही चर्चा करने वाले होते हैं, तथा वे अधर्ममय जीविका करने वाले, अधर्म को ही देखने वाले, एवं अधर्म में ही आसक्त होते हैं, तथा वे अधर्ममय स्वभाव, और आचरण वाले पुरुष अधर्म से ही अपनी जीविका उपार्जन करते हुए आयु पूर्ण करते हैं।

(**हण छिंद भिंद**) वे हमेशा यही आज्ञा देते रहते हैं—प्राणियों को मारो, काटो और भेदन करो, (**विगत्तगा लोहियपाणी चंडा रुद्दा खुद्दा साहस्सिया**) जो प्राणियों की चमड़ी उधेड़ लेते हैं, जिनके हाथ खून से रंगे रहते है, जो बड़े क्रोधी, भयंकर और क्षुद्र होते हैं, वे पाप करने में बड़े साहसी होते हैं, (**उक्कुंचणवंचणमायाणियडिकूडकवडसाइ-संपओगबहुला**) वे प्राणियों को ऊपर उछाल कर शूल पर चढ़ाते हैं, दूसरों को ठगते हैं, माया करते हैं, और बगुलाभक्त बनते हैं, तौल-माप में कम देते हैं, जनता की आँखों में धूल झोंकते हैं, देश, वेष और भाषा को धोखा देने के लिए बदल देते हैं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(**दुस्सीला दुव्वया दुप्पडियाणंदा असाहू**) वे दुराचारी, दुष्ट स्वभाव वाले, बुरे व्रत वाले और दुःख से प्रसन्न किये जा सकने वाले दुर्जन होते हैं। (**सव्वाओ पाणाइवायाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए**) वे आजीवन सब प्रकार की हिंसाओं से विरत नहीं होते, (**जाव सव्वाओ परिग्गहाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए**) जो असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और समस्त परिग्रहों से जीवनभर निवृत्त नहीं होते। (**सव्वाओ कोहाओ जाव मिच्छादंसणसल्लाओ जावज्जीवाए अप्पडिविरया**) जो क्रोध से लेकर मिथ्यादर्शन शल्य तक अठारह पापों से जीवन भर निवृत्त नहीं होते। (**सव्वाओ ण्हाणुम्मद्दणवण्णगगंधविलेवणसद्दफरिसरसरूवगंधमल्लालंकाराओ जावज्जीवाए अप्पडिविरया**) जो जीवनभर स्नान, तैलमर्दन तथा शरीर में रंग लगाना, गंध लगाना, चन्दन का लेप करना, मनोहर और कर्णप्रिय शब्द सुनना, स्पर्श-रस-रूप और गंध को भोगना तथा फूलमाला और अलंकारों को धारण करना—इन सब बातों का त्याग नहीं करते (**सव्वाओ सगडरहजाणजुग्गगिल्लिथिल्लिसियासंदमाणियासयणासणजाणवाहणभोगभोयणपवित्थरविहीओ जावज्जीवाए अप्पडिविरया**) जो गाड़ी, रथ, सवारी, डोली, आकाश-यान और पालकी आदि वाहनों पर चढ़कर चलना तथा शय्या, आसन, यान, वाहन, भोग और भोजन के विस्तार को जीवन भर नहीं छोड़ते (**सव्वाओ कयविक्कयमासद्धमासरूवगसंववहाराओ जावज्जीवाए अप्पडिविरया**) जो सब प्रकार के क्रय-विक्रय तथा माशा, आधा माशा और तोला आदि व्यवहारों से जीवनभर निवृत्त नहीं होते (**सव्वाओ हिरण्णसुवण्णधणधण्णमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालाओ जावज्जीवाए अप्पडिविरया**) जो सोना, चाँदी, धन, धान्य, मणि, मोती, शंख, शिला, प्रवाल (मूँगा) आदि के संचय से जीवनभर निवत्त नहीं होते (**सव्वाओ कूडतुलकूडमाणाओ जावज्जीवाए अप्पडिविरया**) जो झूठे तोल और माप यानी कम-तोलने और मापने से जीवन भर निवृत्त नहीं होते (**सव्वाओ आरम्भसमारम्भाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए**) जो सभी प्रकार के आरम्भ और समारम्भों का जीवनभर त्याग नहीं करते (**सव्वाओ करणकारावणाओ अप्पडिविरया**) सभी प्रकार के सावद्य (पाप) कर्मों को करने और कराने से जीवनभर निवृत्त नहीं होते (**सव्वाओ पयणपयावणाओ जावज्जीवाए अप्पडिविरया**) जो सभी प्रकार के पचन-पाचन अर्थात् स्वयं अन्न पकाने और दूसरों द्वारा पकवाने से जीवनभर निवृत्त नहीं होते (**सव्वाओ कुट्टणपिट्टणतज्जणताडणवहबंधणपरिकिलेसाओ जावज्जीवाए अप्पडिविरया**) जो जीवनभर प्राणियों को कूटने, पीटने, धमकाने, मारने, वध करने और बाँधने तथा नाना प्रकार से उन्हें क्लेश देने से निवृत्त नहीं होते (**जे आवण्णे तहप्पगारा सावज्जा अबोहिया परपाणपरियावणकरा कम्मंता**) ये और इसी प्रकार के अन्य कर्म जो अन्य प्राणियों को क्लेश एवं सन्ताप देने वाले हैं, सावद्य (पापमय) तथा बोधिबीज को नष्ट करने वाले हैं, (**जे अणारिएहिं कज्जंति**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ततो जावज्जीवाए अप्पडिविरया) जो अनार्य पुरुषों द्वारा किये जाते हैं, उन कर्मों से वे जीवनभर निवृत्त नहीं होते, इन सब पुरुषों को एकान्त अधर्मस्थान में स्थित जानना चाहिए।

(**से जहाणामए अयंते कूरे केइ पुरिसे**) जैसे कोई अत्यन्त क्रूर पुरुष (**कलम मसूरतिलमुग्गमासनिप्फावकुलत्थआलिसंदगपलिमंथगमादिएहिं मिच्छादंडं पउंजंति**) चावल, मसूर, तिल, मूँग, उदड़, निष्पाव (एक प्रकार का अन्न), कुलत्थी, चंवला, परिमंथक (धान्य विशेष) आदि को अपराध के बिना व्यर्थ ही दण्ड देते हैं, (**एवमेव तहप्पगारे पुरिसजाए अयंते कूरे तित्तिरवट्टगलावगकवोतकविंजलमियमहिसवराहगाह-गोहकुम्मसिरिसिवमादिएहिं मिच्छादंडं पउंजंति**) इसी तरह तथाकथित अत्यन्त क्रूर पुरुष तीतर, बटेर, लावक, कबूतर, कपिंजल, मृग, भैंसा, सूअर, घड़ियाल, मगरमच्छ, गोह और जमीन पर सरककर चलने वाले जानवरों को अपराध के बिना व्यर्थ ही दण्ड देते हैं।

(**जा वि य से बाहिरिया परिसा भवइ, तं जहा—दासे इ वा, पेसे इ वा, भयए इ वा, भाइल्ले इ वा, कम्मकरए इ वा भोगपुरिसे इ वा**) उन क्रूर पुरुषों की जो बाह्य परिषद् होती है, वह इस प्रकार है—दासीपुत्र (दास), संदेशवाहक (प्रेष्य) या दूत, वेतन लेकर सेवा करने वाला नौकर, छठा भाग लेकर बटाई पर खेती करने वाला, दूसरे काम-काज करने वाला, तथा भोग की सामग्री देने वाला इत्यादि पुरुष होते हैं। (**तेसिं पि य णं अन्नयरंसि वा अहालहुगंसि अवराहंसि सयमेव गरुयं दंडं निवत्तेइ**) इन लोगों में किसी भी व्यक्ति का जब कभी जरा-सा भी अपराध हो जाता है तो वे क्रूर पुरुष स्वयं उन्हें भारी दण्ड देते हैं। (**तं जहा—इमं दडेह, इमं मुंडेह, इमं तज्जेह, इमं तालेह, इमं अदुयबंधणं करेह, इमं नियलबंधणं करेह, इमं हडिबंधणं करेह, इमं चारगबंधणं करेह, इमं नियलजुयलसंकोचियमोडियं करेह**) जैसे कि वे कहते हैं—इस पुरुष को दण्ड दो या डंडे से पीटो, इसका सिर मूंड़ दो, इसे डाँटो-फटकारो, इसे लाठी आदि से पीटो, इसकी भुजाएँ पीछे को बाँध दो, इसके हाथ-पैरों में हथकड़ी और बेड़ी डाल दो, इसे हाडीबंधन में दे दो, इसे जेल में बन्द कर दो, इसे हथकड़ी-बेड़ियों से बाँधकर इसके अंगों को सिकोड़कर मरोड़ दो, (**इमं हत्थछिन्नयं करेह**) इसके हाथ काट डालो, (**इमं पायछिन्नयं करेह**) इसके पैरों को काट दो, (**इमं कण्णछिन्नयं करेह**) इसके कान काट लो, (**इमं नक्कओट्ठसीसमुहछिन्नयं करेह**) इसके नाक, ओठ, सिर और मुँह काट दो, (**वेयगछहियं, अंगछहियं पक्खाफोडियं करेह**) इसे मार-मार कर बेहोश कर दो, इसके अंग-अंग जर्जर (ढीले) कर दो, चाबुक के मारकर इसकी खाल खींच लो, (**इमं णयणुप्पाडियं करेह**) इसकी आँखें निकाल लो, (**इमं दंसणुप्पाडियं वसणुप्पाडियं**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिब्भुप्पाडियं ओलंबियं करेह) इसके दाँत, अण्डकोश और जीभ को उखाड़कर इसे उलटा लटका दो, (**घसियं करेह**) इसे जमीन पर घसीटो, (**घोलियं करेह**) इसे पानी में गिराकर डुबा दो या घोल दो, (**सूलाइयं करेह**) इसे सूली पर लटका दो, (**सूलाभिन्नयं करेह**) शूल चुभोकर इसके टुकड़े-टुकड़े कर दो, (**खारवत्तियं करेह**) इसके अंगों को घायल करके उन पर नमक छिड़क दो, (**वज्झवत्तियं करेह**) इसे मृत्युदण्ड दे दो, (**सीहपुच्छियगं वसभपुच्छियगं करेह**) इसे सिंह की पूँछ में बाँध दो, या इसे बैल की पूँछ के साथ बाँध दो, (**दवग्गिदड्ढयगं करेह**) इसके अंगों को दावाग्नि में झोंककर जला दो, (**कागणिमंसखावियंगं**) इसका माँस काट-काटकर कौओं को खिला दो (**भत्तपाणनिरुद्धगं इमं जावज्जीवं वहबंधणं करेह**) इसको भोजन-पानी देना बंद कर दो, इसे जीवन भर मारो-पीटो और कैद में डाल दो। (**इमं असुभेणं अन्नयरेणं कुमारेण मारेह**) इसे इनमें से किसी भी प्रकार से बुरी मौत मारो; इसे मार-मार कर जीवन-रहित कर दो।

(**जा वि य से अब्भितरिया परिसा भवइ**) इन क्रूर पुरुषों की आभ्यन्तर परिषद भी होती है, (**तं जहा—मायाइ वा, पियाइ वा, भायाइ वा, भगिणीइ वा, भज्जाइ वा, पुत्ताइ वा, धूयाइवा, सुण्हाइ वा**) जैसे कि माता, पिता, भाई, बहन, पत्नी, पुत्र, पुत्री और पुत्रवधू आदि। (**तेसिं पि य णं अन्नयरंसि अहालहुगंसि अवराहंसि सयमेव गरुयं दंडं णिवत्तेइ**) इन लोगों में से किसी से जरा सा भी अपराध हो जाने पर वे क्रूर पुरुष इन्हें बड़ा भारी दंड देते हैं। (**सीओदगवियडंसि उच्छोलित्ता भवइ**) ये उन्हें सर्दी के दिनों में ठंडे पानी में डाल देते हैं, (**जहा मित्तदोसवत्तिए जाव**) जो-जो दण्ड मित्रद्वेषप्रत्ययिक क्रियास्थान में कहे गये हैं, वे सभी दण्ड वे इन्हें देते हैं। (**अहिए परंसि लोगंसि**) वे ऐसा करके अपने हाथों से अपना परलोक बिगाड़ लेते हैं। (**ते दुक्खंति सोयंति जूरंति तिप्पंति पिट्टंति परितप्पंति**) ऐसे क्रूर कर्म करने वाले वे पुरुष अन्त में दुःख पाते हैं, शोक करते हैं, पश्चात्ताप करते हैं, पीड़ित होते हैं, संतप्त होते हैं। (**ते दुक्खण-सोयण-जूरणतिप्पणपिट्टणपरितप्पणवहबंधणपरिकिलेसाओ अप्पडिविरया भवंति**) वे दुःख, शोक, पश्चात्ताप, पीड़ा, संताप एवं वध-बंधन आदि क्लेशों से कभी निवृत्त नहीं होते।

(**एवमेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया गिद्धा, गढिया अज्झोववन्ना**) पूर्वोक्त प्रकार से स्त्री-भोग तथा अन्य विषय-भोगों में अत्यन्त आसक्त, लालायित, भोगों में अत्यन्त रचे-पचे या गुंथे हुए (मशगूल) तथा तल्लीन व्यक्ति (**चउपंचमाइं छद्दसमाइं वा, अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं भोगभोगाइं भुंजित्तु**) चार, पाँच, छह या अधिक से अधिक दस वर्षों तक या थोड़े बहुत समय तक शब्दादि विषयों का उपभोग करके (**वेरायतणाइ पविसुइंता**) प्राणियों के साथ वैर का पुंज बाँध (उत्पन्न) करके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(**बहूइं पावाइं कम्माइं संचिणित्ता**) बहुत से पाप कर्मों का संचय करके, (**उसन्नाइं संभारकडेणकम्मणा**) पापकर्म के भार से इस तरह दब जाते हैं (**से जहाणामए अयगोलेइ वा सेलगोलेइ वा उदगंसि पक्खित्ते समाणे उदगतलमइवइत्ता धरणितल पइट्ठाणे भवति**) जैसे कोई लोहे का गोला या पत्थर का गोला पानी में डालने पर पानी को लाँघ (भेद) कर पृथ्वी पर भार के कारण नीचे बैठ जाता है, (**एवमेव तहप्पगारे पुरिसजाते वज्जबहुले, धूतबहुले, पंकबहुले, वेरबहुले, अप्पत्तियबहुले, दंभबहुले, णियडिबहुले, साइबहुले, अयसबहुले उस्सन्नतसपाणघाती कालमासे कालं किच्चा धरणितलमइवइत्ता अहे णरगतलपइट्ठाणे भवइ**) इसी तरह कर्मों के भार से दबा हुआ गुरुकर्मी तथाकथित क्रूर पुरुष अत्यधिक पापयुक्त, कर्म-पंक से अत्यधिक मलिन, अनेक प्राणियों के साथ वैर बँधा हुआ, बुरे विचारों से पूर्ण, अविश्वासयोग्य, दंभ से पूर्ण, ठग, देश, वेश और भाषा को बदलकर दूसरों के साथ द्रोह या धोखा करने वाला, उत्तम वस्तु में तुच्छ वस्तु मिलाकर या नाप-तौल में गड़बड़ करके ठगने वाला, जगत् में अपयश के कार्य करने वाला, तथा त्रस प्राणियों का घात करने वाला वह पुरुष आयुष्य पूर्ण होते ही मरकर ऊपर-ऊपर की रत्नप्रभा आदि नरक भूमियों को लाँघकर नीचे के नरक तल में जाकर स्थित होता है।

व्याख्या

ये अधर्मस्थान के अधिकारी पुरुष

इससे पूर्व सूत्रों में अधर्म, धर्म और मिश्र स्थानों का वर्णन किया गया था। परन्तु इस सूत्र से इन स्थानों में रहने वाले पुरुषों का वर्णन प्रारम्भ होता है। इस सूत्र में खासतौर से उन पुरुषों की वृत्ति, प्रवृत्ति, व्यवहार, चर्या, रंग-ढंग आदि का वर्णन किया गया है, जो अधर्मस्थान के अधिकारी होते हैं।

इस लोक में जो व्यक्ति गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करते हुए विषयसुख-साधनों को पाने की बड़ी-बड़ी आशायें और महत्वाकांक्षायें रखते हैं अर्थात् जो लोग रात-दिन इसी धुन में रहते हैं कि कैसे धन-धान्य, पशु, परिवार, मकान-जमीन, जायदाद तथा भोग-सामग्री आदि बढ़ाई जाए। साथ ही ये लोग वाहन, ऊंट, घोड़ा, गाड़ी, नाव, खेत, मकान, दास-दासी आदि परिग्रह (वस्तुओं का संग्रह) अधिक से अधिक रखते हैं और इनके पालन-रक्षण के लिए महान आरम्भ-समारम्भ करते हैं। ये हिंसा आदि पाँचों महान् आस्रवों में से किसी से भी निवृत्त न होकर सबका जीवन भर सेवन करते हैं। रात-दिन अधर्म के कार्यों में संलग्न रहकर ये अधर्म की ही चर्चा और अधर्ममय चर्या रखते हैं। ऐसे लोग जिन्दगी भर दूसरे प्राणियों को मारने-पीटने तथा उन्हें नाना प्रकार से कष्ट देने की आज्ञा देते रहते हैं। वे स्वयं प्राणियों का वध करते रहते हैं। वे हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह को जीवन भर नहीं छोड़ते। वे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इतने क्रूर, रौद्र और साहसी होते हैं कि अपने जीवन में धोखेबाजी, जालसाजी, कूट-कपट, माया, व्यवसाय में झूठ, तोल-नाप में गड़बड़ी आदि के किसी अवसर को नहीं चूकते। वे सदैव क्रोध, मान, माया और लोभ में वृद्धि करते रहते हैं। वे राग, द्वेष, दोषारोपण, पैशुन्य, परनिन्दा, अधर्म में रुचि, धर्म में अरुचि, दम्भ, मिथ्यात्व आदि दोषों का जीवन भर त्याग नहीं कर सकते। वे आजीवन शरीर शृंगार करने, उत्तम-मोत्तम वस्त्राभूषणों से सुसज्जित रहने और उत्तम रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दादि विषयों का सेवन करने में दत्त-चित्त रहते हैं। वे इन विषयों की प्राप्ति के लिए अहर्निश वेशभूषा और भाषा तथा देश को बदलते रहते हैं। वे जीवन भर विविध वाहनों, यानों, गाड़ियों, शय्या, विविध भोग्य साधनों और स्वादिष्ट भोजनों की वृद्धि करने में लगे रहते हैं।

इसी प्रकार वे सदा खरीदने-बेचने में तत्पर रहकर माशा, आधा माशा और तोला आदि का अभ्यास करते रहते हैं तथा सोना, चाँदी, धन-धान्य, मणि, मोती, शंख, शिला, मूँगा आदि कीमती पदार्थों के जुटाने में आजीवन लगे रहते हैं। इसी प्रकार जो आजीवन समस्त आरम्भ-समारम्भों, करने-कराने, भोजन पकाने-पकवाने से सन्तुष्ट नहीं होते। समस्त प्रकार की सावद्य प्रवृत्तियों में वे रचे-पचे रहते हैं, तथा जीवन भर प्राणियों को कूटने-पीटने, धमकाने, मारने, वध करने और बंधन में डालने से निवृत्त नहीं होते। वे अनार्यों द्वारा आचरित सभी दुष्कर्मों का सेवन करते हैं, तथा उन सभी अकार्यों को भी स्वयं करते-कराते हैं, जिनमें प्राणियों को बिना ही अपराध के संताप एवं दण्ड दिया जाता है, तथा जो कार्य सावद्य हैं और बोधिबीज का नाश करने वाले हैं। ऐसे व्यक्ति अधर्मस्थान में स्थित हैं, यह समझ लेना चाहिए।

इस जगत में बहुत से लोग ऐसे होते हैं, जो बिना ही अपराध के प्राणियों को दण्ड देते हैं। जैसे कोई क्रूर पुरुष अपने और दूसरों के भोजन के लिए चावल, गेहूँ, मूँग आदि अन्नों को अनाप-शनाप मात्रा में पकाकर दूसरे प्राणियों को दण्ड देता रहता है, वैसे ही ये भी क्रूर बनकर बिना ही अपराध के तीतर, बटेर, बत्तक, सूअर, ग्राह आदि पशु-पक्षियों का वध करके उन्हें दण्ड देते रहते हैं। इन पुरुषों का बाह्य परिवार इस प्रकार है—दासीपुत्र, संदेशवाहक, वेतनभोगी नौकर-चाकर, बटाई या हिस्से पर खेती करने वाला, अन्य कर्मचारीगण आदि। ये लोग भी इनके समान ही अत्यन्त निर्दय होते हैं। किसी के थोड़े-से अपराध को अधिक बताकर उसे घोर दण्ड दिलवाते हैं, तथा इनसे भी जब जरा-सा अपराध हो जाता है तो इनका क्रूर स्वामी इन्हें भी निर्दयतापूर्वक कठोर दण्ड देता है। वह दण्ड इस प्रकार है—डंडों से पीटना, सिर मूँड़ देना, लातों और मुक्कों से मारना, मुश्कें बँधवाना, हाथों और पैरों में हथकड़ियाँ-बेड़ियाँ डलवा देना, कैद करके जेलखाने में डाल देना, हाथ,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पैर, आँख, नाक, कान, भुजा आदि अंगों का छेदन कर देना, सर्वस्व हरण करके निकाल देना, सिंह और साँड़ की पूँछ के साथ बाँधकर मार डालना, शूली पर चढ़ाना, तीखे शूलों से बींध डालना, अन्न-पानी बन्द कर देना, जीवन भर जेल में डाल कर सड़ाना, दावाग्नि में झोंककर भस्म कर देना, कौओं से माँस नुचवाना, कुमौत मारना इत्यादि। इस प्रकार प्राणियों को घोर दण्ड देने वाले वे निर्दय व्यक्ति अधर्म-पक्ष में स्थित हैं, यह जानना चाहिए।

इन क्रूर कर्मा पुरुषों के आभ्यन्तर परिवार के लोग ये हैं—माता, पिता, भाई, बहन, भार्या, पुत्र, पुत्री और पुत्रवधू आदि। इनका थोड़ा-सा अपराध होने पर वे इन्हें भयंकर सजा देते हैं। सर्दी के दिनों में वे इन्हें ठंडे पानी में डाल देते हैं तथा मित्रद्वेषप्रत्ययिक क्रियास्थान में जिन दण्डों का वर्णन किया गया है, वे सभी प्रकार के दण्ड इन्हें वे देते हैं। इस तरह निर्दयतापूर्वक अपने बाह्य और आभ्यन्तर परिवार के साथ व्यवहार करने वाले वे अधर्मपक्षीय व्यक्ति अपने परलोक को नष्ट करते हैं। अपने क्रूर कर्मों के फलस्वरूप वे सदा दुःख, शोक, पश्चात्ताप, पीड़ा, संताप से घिरे रहते हैं। इनसे वे कभी छुटकारा नहीं पाते हैं।

इसी प्रकार कंचन, कामिनी और शब्दादि विषयों के अत्यन्त आसक्त वे अधार्मिक पुरुष चार से लेकर दस साल तक या इससे न्यूनाधिक भोगों का सेवन करके प्राणियों के साथ वैर बाँधकर एवं अधिकाधिक पापों का संचय करके उस पाप के भार से अत्यन्त दब जाते हैं। जिस तरह लोहे या पत्थर के गोले को पानी में फेंकने पर वह पानी की सतह को पार करके पृथ्वीतल में बैठ जाता है उसी तरह ये पापी जीव भी पाप के भार से इतने दब जाते हैं कि नरक की ऊपरी भूमियों को पार करके, तथा रत्नप्रभा आदि पृथ्वियों को लांघकर नीचे के नरक-तल में जा पहुँचते हैं, उसी नरक में जाकर अपना डेरा डालकर चिरकाल के लिए वहीं बस जाते हैं।

यह है अधर्मस्थान के अधिकारी की वृत्ति-प्रवृत्ति का स्वरूप !

मूल पाठ

ते णं णरगा अंतो वट्टा, बाहिं चउरंसा, अहे खुरप्पसंठाणसंठिया णिच्चंधकारतमसा ववगयगहचंदसूरनक्खत्तजोइप्पहा मेदवसामंसरुहिरपूयपडलचिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्भिगंधा कण्हा अगणिवण्णाभा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा णरगा, असुभा णरएसु वेयणाओ। णो चेव णरएसु नेरइया णिद्दायंति वा पयलायंति वा सुइं वा रतिं वा धितिं वा मतिं वा उवलभंते। ते णं तत्थ उज्जलं पगाढं विउलं कडुयं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कक्कसं चंडं दुग्गं तिव्वं दुरहियासं णेरइया वेयणं पच्चणुभवमाणा विहरंति ॥ सू० ३६ ॥

संस्कृत छाया

ते नरकाः अन्तोवृत्ताः बहिश्चतुरस्राः अधः क्षुरप्रसंस्थानसंस्थिताः नित्यान्धकारतमसो, व्यपगतग्रहचन्द्रसूर्यनक्षत्रज्योतिष्पथाः, मेदोवसामांसरुधिरपूयपटललिप्तानुलेपनतलाः अशुचयो विश्राः परमदुर्गन्धाः कृष्णा अग्निवर्णाभाः कर्कशस्पर्शाः दुरधिसहाः अशुभाः नरकाः, अशुभाः नरकेषु वेदनाः नो चैव नरकेषु नैरयिकाः निद्रान्ति वा, प्रचलायन्ते वा शुचिं वा रतिं वा धृतिं वा मतिं वा उपलभन्ते । ते खलु तत्र उज्ज्वलां प्रगाढां विपुलां कटुकां कर्कशां दुःखां दुर्गां तीव्रां दुरधिसहां, नैरयिकाः वेदनां पर्यनुभवन्तो विहरन्ति ॥ सू० ३६ ॥

अन्वयार्थ

(**ते णरगा अंतो वट्टा बाहिं चउरंसा**) वे नरक अन्दर से गोल और बाहर से चौकोन होते हैं । (**अहे खुरप्पसंठाणसंठिया**) वे नीचे उस्तरे की धार के समान तीखे होते हैं । (**णिच्चंधकारतमसा**) उनमें सदा घोर अंधेरा रहता है । (**ववगयचंदसूरगहनक्खत्तजोइप्पहा**) वे चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और ज्योतिमण्डल के प्रकाश से रहित होते हैं । (**मेदवसामंसरुहिरपूयपडलचिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला**) उनका भूमितल मेद, चर्बी, मांस, रक्त और मवाद की परतों से उत्पन्न कीचड़ से लिप्त है । (**असुइ वीसा परमदुब्भिगंधा कण्हा**) वे अपवित्र, सड़े हुए माँस से युक्त, अत्यन्त दुर्गन्ध से पूर्ण और काले हैं । (**अगणिवण्णाभा कक्खडफासा दुरहियासा**) वे सधूम अग्नि के समान वर्ण वाले, कठिन स्पर्श वाले और दुसह्य हैं । (**असुभा णरगा असुभा णरएसु वेयणाओ**) इस प्रकार नरक बड़े अशुभ हैं और उनकी पीड़ा भी बड़ी अशुभ है । (**णो चेव णरएसु नेरइया णिद्दायंति वा पयलायंति वा सुइं वा धिंतिं वा रतिं वा मतिं वा उवलभंते**) उन नरकों में रहने वाले जीव कभी निद्रा-सुख को प्राप्त नहीं करते और न ही प्रचल निद्रा ही आती है, न उन्हें श्रुति, (धर्म श्रवण), रति (किसी विषय में रुचि), धृति (धैर्य) और मति (सोचने-विचारने की बुद्धि) प्राप्त होती है (**ते णेरइया तत्थ उज्जलं विउलं पगाढं कडुयं कक्कसं चंडं दुक्खं दुग्गं तिव्वं दुरहियासं वेयणं पच्चणुभवमाणा विहरंति**) वे नारकीय जीव वहाँ कठिन, विपुल, प्रगाढ़, कर्कश, तीव्र, दुःसह और अपार दुःख को भोगते हुए अपना समय व्यतीत करते हैं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

नरक और वहाँ का वातावरण

पूर्व सूत्र में महापापी और अधर्मपक्षीय व्यक्तियों को नरकगामी बताया गया है। इस सूत्र में उन नरकों का वर्णन संक्षेप में किया गया है।

पूर्वोक्त अधर्मपक्षीय पुरुष जिन नरकों में जाते हैं, वे नरक अन्दर से गोल और बाहर से चतुष्कोण होते हैं। नीचे से उनकी बनावट तेज उस्तरे की धार के समान तीक्ष्ण होती है। उनमें चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र आदि का प्रकाश नहीं होता अपितु सदैव गाढ़ अंधकार व्याप्त रहता है। वहाँ के भूमितल सड़े हुए माँस, रक्त, चर्बी और मवाद से लथपथ होते हैं। ये अत्यन्त बदबूदार और गंदे होते हैं। उनकी दुर्गन्ध असह्य है। उनका स्पर्श काँटे से भी अधिक कर्कश होता है। कहाँ तक कहा जाय, उनके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द सभी अशुभ होते हैं। उनमें रहने वाले प्राणी कभी सुख की नींद नहीं सोते, न प्रचला निद्रा ही उन्हें आती है। नरक में न तो धर्म-श्रवण कर सकते हैं, न उनकी किसी विषय में रुचि होती है, न धैर्य होता है; उनकी बुद्धि मारी जाती है। नारकीय जीव प्रगाढ़, कठोर एवं तीव्र दुःसह वेदना भोगते हुए जीवन यापन करते हैं।

कुल मिलाकर नरक असह्य दुःखों के भंडार हैं जिनमें अधर्मपक्षीय लोग चिर-काल तक रहकर अपने दुष्कर्मों का फल भोगते हैं।

मूल पाठ

से जहाणामए रुक्खे सिया पवयग्गे जाए मूले छिन्ने अग्गे गरुए जओ णिण्णं जओ विसमं जओ दुग्गं तओ पवडति, एवामेव तहप्पगारे पुरिसजाए गब्भाओ गब्भं जम्माओ जम्मं माराओ मारं णरगाओ णरगं दुक्खाओ दुक्खं दाहिणगामिए णेरइए कण्हपक्खिए आगमिस्साणं दुल्लभबोहिए यावि भवइ। एस ठाणे अणारिए अकेवले जाव असव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंत मिच्छे असाहू। पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए ॥ सू० ३७ ॥

संस्कृत छाया

तद्यथा नाम वृक्षः स्यात् पर्वताग्रे जातः मूलेच्छिन्नः अग्रे गुरुकः यतो निम्नं यतो विषमं यतो दुर्गं ततः प्रपतति एवमेव तथाप्रकारः पुरुषजातः गर्भतो गर्भं, जन्मतो जन्मं, मरणतो मरणं, नरकान्नरकं, दुःखाद् दुःखं (प्राप्नोति) दक्षिणगामी नैरयिकः कृष्णपाक्षिकः आगमिष्यति दुर्लभबोधिक-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्चाऽपि भवति। एतत् स्थानमनार्यम् अकेवलं यावदसर्वदुःखप्रहीणमार्गम् एकान्तमिथ्या असाधु। प्रथमस्य स्थानस्य अधर्मपक्षस्य विभंगः एवमाख्यातः ॥ सू० ३७ ॥

अन्वयार्थ

(**से जहाणामए रुक्खे सिया**) जिस प्रकार कोई वृक्ष ऐसा हो, (**पव्वयग्गे जाए**) जो पर्वत के अग्र भाग में उत्पन्न हो। (**मूले छिन्ने अग्गे गरुए**) उसकी जड़ काट दी गई हो, और वह आगे से भारी हो, (**जओ णिण्णं जओ विसमं जओ दुग्गं तओ पवडति**) तो वह जिधर नीचा होता है, जिधर विषम होता है, जिधर दुर्गम स्थान होता है, उधर ही गिरता है। (**एवामेव तहप्पगारे पुरिसजाए**) इसी तरह गुरुकर्मी पूर्वोक्त पापी पुरुष (**गब्भाओ गब्भं जम्माओ जम्मं माराओ मारं णरगाओ णरगं दुक्खाओ दुक्खं दाहिणगामिए णेरइए कण्हपक्खिए आगमिस्साणं दुल्लभबोहिए यावि भवइ**) एक गर्भ से दूसरे गर्भ को, एक जन्म से दूसरे जन्म को, एक मरण से दूसरे मरण को, एक नरक से दूसरे नरक को तथा एक दुःख से दूसरे दुःख को प्राप्त करता है, वह नारकी, दक्षिणगामी, कृष्णपाक्षिक एवं भविष्य में दुर्लभबोधि होता है। (**एस ठाणे अणारिए अकेवले जाव असव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंत मिच्छे असाहू**) अतः यह अधर्मस्थान अनार्य है, तथा केवलज्ञान रहित है, यह समस्त दुःखों का नाशक मार्ग नहीं है, यह एकान्त मिथ्या और बुरा है। (**पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए**) इस प्रकार प्रथम स्थान जो कि अधर्मपक्ष है, उसका इस प्रकार विचार किया गया है।

व्याख्या

अधर्मपक्षीय व्यक्ति नरक में कहाँ, कैसे, किस स्थिति में ?

इस सूत्र में अधर्मपक्ष नामक प्रथम स्थान का अधिकारी पुरुष नरक में कैसे जाता है, किस नरक में जाता है, वहाँ उसे आत्म-विकास की कौन-कौन सी सामग्री नहीं मिलती, इसका विचार किया गया है।

वास्तव में एकान्त रूप से पापकर्म करने में आसक्त पुरुष नरक में इस तरह गिरता है, जिस तरह पर्वत के अग्रभाग में पैदा हुए पेड़ की जड़ कट जाने से वह आगे से भारी होकर एकाएक टूटकर नीचे गिर पड़ता है। इसी प्रकार गुरुकर्मी पूर्वोक्त पापात्मा कभी सुख नहीं पाता। वह एक गर्भ से दूसरे में, एक जन्म से दूसरे जन्म में, एक मृत्यु से दूसरी मृत्यु में तथा एक दुःख से अन्य दुःख में एवं एक नरक से दूसरे नरक में लगातार भटकता रहता है। जब भी वह नरक में जाता है तब दक्षिण दिशा में स्थित नरक में जाता है, जहाँ द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से उसे घोर अंधकार मिलता है। वह कृष्णपक्षीय तथा भविष्य में दुर्लभबोधि होता है। स्पष्ट शब्दों में कहें तो यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थान अनार्यों द्वारा सेवित, अधर्मस्थान एवं केवलज्ञान से रहित है, इस स्थान में रहने वाला जीव कदापि सर्वदुःखों से मुक्त नहीं होता। यह बिलकुल मिथ्या एवं अशुभ स्थान है। अतः विवेकी पुरुषों को इसका दूर से ही त्याग कर देना चाहिए। यह प्रथम स्थान, जो अधर्मपक्ष रूप है, उसके सम्बन्ध में शास्त्रकार का विचार है।

मूल पाठ

अहावरे दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ—इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइया मणुस्सा भवंति, तं जहा—अणारंभा, अपरिग्गहा, धम्मिया, धम्माणुया, धम्मिट्ठा जाव धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति, सुसीला सुव्वया सुप्पडियाणंदा सुसाहू सव्वओ पाणातिवायाओ पडिविरया जावज्जीवाए जाव जे यावन्ने तहप्पगारा सावज्जा अबोहिया कम्मंता परपाण-परियावणकरा कज्जंति ततो विप्पडिविरया जावज्जीवाए।

से जहाणामए अणगारा भगवंतो ईरियासमिया भासासमिया एसणा-समिया आयाणभंडमत्तणिक्खेवणासमिया उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्ल-परिट्ठावणियासमिया मणसमिया वयसमिया कायसमिया मणगुत्ता वयगुत्ता कायगुत्ता गुत्ता गुत्तिंदिया गुत्तबंभयारी अकोहा अमाणा अमाया अलोभा संता पसंता उवसंता परिणिव्वुडा अणासवा अग्गंथा छिन्नसोया निरुवलेवा कंसपाइ व मुक्कतोया, संखो इव णिरंजणा, जीव इव अप्पडिहयगई, गगणतलं व निरालंवणा, वाउरिव अपडिबद्धा, सारदसलिलं व सुद्धहियया, पुक्खरपत्तं व निरुवलेवा, कुम्मो इव गुत्तिंदिया, विहग इव विप्पमुक्का, खग्गिविसाणं व एगजाया, भारंडपक्खीव अप्पमत्ता, कुंजरो इव सोंडीरा, वसभो इव जात-त्थामा, सीहो इव दुद्धरिसा, मंदरो इव अप्पकंपा, सागरो इव गंभीरा, चंदो इव सोमलेस्सा, सूरो इव दित्ततेया, जच्चकंचणगं व जातरूवा, वसुंधरा इव सव्वफासविसहा, सुहुयहुयासणोविव तेयसा जलंता। णत्थि णं तेसिं भग-वंताणं कत्थवि पडिबंधे भवइ। से पडिबंधे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—अंडए इ वा, पोयए इ वा, उग्गहे इ वा, पग्गहे इ वा, जन्नं जन्नं दिसं इच्छंति, तन्नं तन्नं दिसं अप्पडिबद्धा सुइभूया लहुभूया अप्पगंथा संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति। तेसिं णं भगवंताणं इमा एतारूवा जायामायावित्ति होत्था, तं जहा—चउत्थे भत्ते, छट्ठे भत्ते, अट्ठमे भत्ते, दसमे भत्ते, दवालसमे भत्ते, चउद्दसमे भत्ते, अद्धमासिए भत्ते, मासिए भत्ते, दोमासिए, तिमासिए,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चउम्मासिए, पंचमासिए, छम्मासिए; अदुत्तरं च णं उक्खित्तचरगा णिक्खित्तचरगा, उक्खित्तणिक्खित्तचरगा अन्तचरगा पन्तचरगा लूहचरगा समुदाणचरगा संसट्ठचरगा असंसट्ठचरगा तज्जातसंसट्ठचरगा दिट्ठलाभिया अदिट्ठलाभिया पुट्ठलाभिया अपुट्ठलाभिया भिक्खलाभिया अभिक्खलाभिया अन्नायचरगा उवनिहिया संखादत्तिया, परिमितपिण्डवाइया सुद्धेसणिया अंताहारा पंताहारा अरसाहारा विरसाहारा लूहाहारा तुच्छाहारा अंतजीवी पंतजीवी आयंबिलिया पुरिमड्ढिया निव्विगइया अमज्जमंसासिणो णो णियामरसभोई ठाणाइया पडिमाठाणाइया उक्कडुआसणिया, णेसज्जिया वीरासणिया दण्डायतिया लगंडसाइणो अप्पाउडा अगत्तया अकंडुया अणिट्ठुहा (एवं जहोववाइए) धुतकेसमंसुरोमनहा सव्वगायपडिकम्मविप्पमुक्का चिट्ठंति। ते णं एतेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं सामन्नपरियागं पाउणंति २ बहु बहु आबाहंसि उप्पन्नंसि वा अणुप्पन्नंसि वा बहूइं भत्ताइं पच्चक्खंति, पच्चक्खाइत्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदिंति, अणसणाए छेदित्ता जस्सट्ठाए कीरति नग्गभावे मुण्डभावे अदन्तधणगे अछत्तए अणोवाहणए भूमिसेज्जा फलगसेज्जा कट्ठसेज्जा केसलोए बंभचेरवासे परघरवेसे लद्धावलद्धे माणावमाणणाओ हीलणाओ निंदणाओ खिसणाओ गरहणाओ तज्जणाओ तालणाओ उच्चावया गामकंटगा बावीसं परीसहोवसग्गा अहियासिज्जंति तमट्ठं आराहंति, तमट्ठं आराहित्ता चरमेहिं उस्सासनिस्सासेहिं अणंतं अणुत्तरं निव्वाघायं निरावरणं कसिणं पडिपुण्णं केवलवरणाणदंसणं समुप्पाडेंति, समुप्पाडित्ता तओ पच्छा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणं अंतं करेंति।

एगच्चाए पुण एगे भयंतारो भवंति, अवरे पुण कम्मावसेसेणं कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवन्ति, तं जहा—महड्ढिएसु महज्जुइएसु महापरक्कमेसु महाजसेसु महाबलेसु महाणुभावेसु महासुक्खेसु ते णं तत्थ देवा भवंति महड्ढिया महज्जुइया जाव महासुक्खा हारविराइयवच्छा कडगतुडियथंभियभुया अंगयकुण्डलमट्ठगण्डयलकन्नपीढधारी विचित्तहत्थाभरणा विचित्तमालामउलिमउडा कल्लाणगन्धपवरवत्थपरिहिया कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणधरा भासुरबोंदी पलंबवणमालधरा दिव्वेणं रूवेणं दिव्वेणं वन्नेणं दिव्वेणं गन्धेणं दिव्वेणं फासेणं दिव्वेणं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संघाएणं, दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्ढीए दिव्वाए जुत्तीए दिव्वाए पभाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चाए, दिव्वेणं तेएणं दिव्वाए लेसाए दस दिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा गइकल्लाणा ठिइकल्लाणा आगमेसिभद्दया यावि भवंति।

एस ठाणे आरिए जाव सव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतसम्मे सुसाहू। दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए ॥ सू० ३८ ॥

संस्कृत छाया

अथाऽपरो द्वितीयस्य स्थानस्य धर्मपक्षस्य विभंगः एवमाख्यायते। इह खलु प्राच्यां वा ४ सन्त्येकतये मनुष्याः भवन्ति, तद्यथा—अनारम्भाः, अपरिग्रहाः, धार्मिकाः, धर्मानुगाः धर्मिष्ठाः यावद् धर्मेण चैव वृत्तिं कल्पयन्तः विहरन्ति सुशीलाः सुव्रताः सुप्रत्यानन्दाः सुसाधवः सर्वतः प्राणातिपातात् प्रतिविरताः यावज्जीवनम् यानि यावत् चान्यानि तथाप्रकाराणि सावद्यानि अबोधकानि कर्माणि परप्राणपरितापनकराणि क्रियन्ते ततः प्रतिविरताः यावज्जीवनम्।

तद्यथा नाम अनगाराः भगवन्तः ईर्यासमिताः भाषासमिताः एषणासमिताः आदानभाण्डमात्रानिक्षेपणासमिताः उच्चारप्रस्रवणखेलसिंघाणमलप्रतिष्ठापनासमिताः मनःसमिताः वचःसमिताः कायसमिताः मनोगुप्ताः वचोगुप्ताः कायगुप्ताः गुप्ताः गुप्तेन्द्रियाः गुप्तब्रह्मचर्याः अक्रोधाः अमानाः अमायाः अलोभाः शान्ताः प्रशान्ताः उपशान्ताः परिनिर्वृत्ताः अनाश्रवाः अग्रन्थाः छिन्नशोकाः, निरुपलेपाः, कांस्यपात्रीव मुक्ततोयाः, शंख इव निरंजनाः, जीव इव अप्रतिहतगतयः, गगनतलमिव निरवलम्बनाः, वायुरिव अप्रतिबद्धाः, शारदसलिलमिव शुद्धहृदयाः, पुष्करपत्रमिव निरुपलेपाः, कूर्म इव गुप्तेन्द्रियाः, विहग इव विप्रमुक्ताः, खड्गविषाणमिवैकजाताः, भारण्डपक्षीव अप्रमत्ताः, कुंजर इव शौण्डीराः, वृषभ इव जातस्थामानः, सिंह इव दुर्धर्षाः, मन्दर इव अप्रकम्पाः, सागर इव गम्भीराः, चन्द्र इव सोमलेश्याः, सूर्य इव दीप्ततेजसः, जात्यकंचनमिव जातरूपाः, वसुन्धरा इव सर्वस्पर्शसहाः, सुहुतहुताशन इव तेजसा ज्वलन्तः, नास्ति तेषां भगवतां कुत्राऽपि प्रतिबन्धो भवति। स प्रतिबन्धश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—अण्डजे वा पोतजे वा अवग्रहे वा प्रग्रहे वा यां यां दिशमिच्छन्ति तां तां दिशमप्रतिबद्धा शुचीभूताः लघुभूताः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अल्पग्रन्थाः संयमेन तपसा आत्मानं भावयन्तो विहरन्ति। तेषाञ्च भगवतामियमेतद्रूपा यात्रामात्रावृत्तिरभवत्। तद्यथा—चतुर्थं भक्तं, षष्ठं भक्तं, अष्टमं भक्तं, दशमं भक्तं, द्वादशं भक्तं, चतुर्दशं भक्तं, अर्द्धमासिकं भक्तं, मासिकं भक्तं, द्विमासिकं भक्तं, त्रैमासिकं भक्तं, चातुर्मासिकं भक्तं, पाञ्चमासिकं भक्तं, षाण्मासिकं; अत उत्तरं च खलु उत्क्षिप्तचरकाः निक्षिप्तचरकाः, उत्क्षिप्तनिक्षिप्तचरकाः अन्तचरकाः प्रान्तचरकाः रूक्षचरकाः समुदानचरकाः, संसृष्टचरकाः, असंसृष्टचरकाः तज्जातसंसृष्टचरकाः दृष्टलाभिकाः अदृष्टलाभिकाः, प्रष्टलाभिकाः, अप्रष्टलाभिकाः, भिक्षालाभिकाः, अभिक्षाभिकाः, अज्ञातचरकाः, उपनिहितकाः, संख्यादत्तयः, परिमितपिण्डपातिकाः, शुद्धैषणाः, अन्ताहाराः, प्रान्ताहाराः अरसाहाराः विरसाहाराः रूक्षाहाराः तुच्छाहाराः अन्तजीविनः, प्रान्तजीविनः, आचाम्लिकाः, पुरिमर्द्धिकाः, निर्विकृतिकाः, अमद्यमांसाशिनः, नो निकामरसभोजिनः, स्थानान्विताः, प्रतिमास्थानान्विताः, उत्कटासनिकाः, नैषद्यकाः, वीरासनिकाः, दण्डायतिकाः, लगण्डशायिनः, अप्रावृताः, अगतयः, अकण्डूयकाः, अनिष्ठीवनाः, (एवं यथौपपातिके), धुतकेशश्मश्रुरोमनखाः, सर्वगात्रपरिकर्मविप्रमुक्तास्तिष्ठन्ति। ते एतेन विहारेण विहरन्तः बहूनि वर्षाणि श्रामण्यपर्यायं पालयन्ति, बहुबहव्यामाबाधायामुत्पन्नयामनुत्पन्नायां वा बहूनि भक्तानि प्रत्याख्यान्ति, प्रत्याख्याय बहूनि भक्तानि अनशनेन छेदयन्ति, अनशनेन छेदयित्वा यदर्थाय क्रियते नग्नभावः मुण्डभावः अस्नानभावः, अदन्तवर्णकः, अछत्रकः, अनुपानत्कः भूमिशय्या, फलकशय्या, काष्ठशय्या केशलोचः, ब्रह्मचर्यवासः परगृहप्रवेशः लब्धापलब्धानि मानापमानानि हीलनाः निन्दनाः खिंसनानि गर्हणाः तर्जनानि ताड़नानि, उच्चावचाः ग्रामकण्टकाः द्वाविंशति परीषहोपसर्गाः अध्यासह्यन्ते तमर्थं आराधयन्ति, तमर्थमाराध्य चरमोच्छ्वासनिःश्वासैः अनन्तमनुत्तरं निर्व्याघातं निरावरणं कृत्स्नं परिपूर्णं केवलवरज्ञानदर्शनं समुत्पादयन्ति, समुत्पाद्य तत्पश्चात् सिध्यन्ति बध्यन्ते मुञ्चन्ति परिनिर्वान्ति सर्वदुःखानामन्तं कुर्वन्ति।

एकार्चया पुनरेके भयत्रातारो भवन्ति, अपरे पुनः पूर्वकर्मावशेषेण कालमासे कालं कृत्वा अन्यतरेषु देवलोकेषु देवत्वाय उपपत्तारो भवन्ति, तद्यथा—महर्द्धिकेषु महाद्युतिकेषु महापराक्रमेषु महायशस्विषु महाबलेषु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महानुभावेषु महासुखेषु ते तत्र देवाः भवन्ति महर्द्धिकाः महाद्युतिकाः यावन्महासुखाः हारविराजितवक्षसः, कटकत्रुटितस्तम्भितभुजाः अंगदकुण्डलमृष्टगण्डतलकर्णपीठधराः विचित्रहस्ताभरणाः विचित्रमालामौलिमुकुटाः, कल्याणगन्धप्रवरवस्त्रपरिहिताः कल्याणप्रवरमाल्यानुलेपनधराः भास्वरशरीराः, प्रलम्बवनमालाधराः दिव्येन रूपेण, दिव्येन वर्णेन, दिव्येन गन्धेन, दिव्येन स्पर्शेन, दिव्येन संघातेन, दिव्येन संस्थानेन, दिव्यया ऋद्धया, दिव्यया द्युत्या, दिव्यया प्रभया, दिव्यया छायया, दिव्यया अर्चया, दिव्येन तेजसा, दिव्यया लेश्यया दश दिशः उद्योतयन्तः प्रभासयन्तः गतिकल्याणाः, स्थिति कल्याणाः, आगामिभद्रकाश्चाऽपि भविष्यन्ति ।

एतत्स्थानं आर्य यावत् सर्वदुःखप्रहीणमार्ग एकान्तसम्यक् सुसाधु । द्वितीयस्य स्थानस्य धर्मपक्षस्य विभंगः एवमाख्यातः ॥ सू० ३८ ॥

अन्वयार्थ

(**अहावरे दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ**) इसके पश्चात् दूसरा स्थान, जो धर्मपक्ष कहलाता है; उसका विवरण इस प्रकार दिया जाता है। (**इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइया मणुस्सा भवंति**) इस मनुष्य लोक में पूर्व आदि दिशाओं में कई पुरुष ऐसे होते हैं (**अणारंभा, अपरिग्गहा**) जो आरम्भ नहीं करते, न परिग्रह रखते हैं। (**धम्मिया धम्माणुया धम्मिट्ठा जाव धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति**) जो स्वयं धर्माचरण करते हैं, धर्म के अनुसार चलते हैं, या दूसरों को भी धर्म की आज्ञा देते हैं, धर्म को ही अपना इष्ट मानते हैं, यहाँ तक कि धर्म से ही अपनी जीविका उपार्जित करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं। (**सुसीला सुव्वया सुप्पडियाणंदा सुसाहू**) जो सुशील हैं, सुन्दर व्रतधारी हैं, शीघ्र सुप्रसन्न हो जाते हैं, और उत्तम साधु पुरुष हैं। (**सव्वओ पाणातिवायाओ पडिविरया जावज्जीवाए**) जो आजीवन समस्त प्रकार की जीवहिंसाओं से निवृत्त रहते हैं, (**जाव जे यावन्ने तहप्पगारा सावज्जा अबोहिया कम्मंता परपाणपरियावणकरा कज्जंति ततो विप्पडिविरया जावज्जीवाए**) जो प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शन शल्य तक सभी पापस्थानों से विरत रहते हैं, और दूसरे तथाप्रकार के अधार्मिक लोग दूसरे प्राणियों को संताप देने वाले, अज्ञानयुक्त जिन सावद्य (पापयुक्त) कर्मों को करते हैं, उन दुष्कर्मों से वे जीवनभर निवृत्त रहते हैं।

(**से जहाणामए अणगारा भगवंतो**) वे धार्मिक पुरुष भाग्यवान अनगार (घरबार आदि का परित्याग किये हुए) होते हैं। (**ईरियासमिया भासासमिया एसणासमिया आयाणभंडमत्तणिक्खेवणासमिया उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपरिट्ठावणिया-**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समिया) वे ईर्या, भाषा, एषणा, आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणा एवं उच्चार-प्रस्रवण-खेलसिंघाणजल्लपरिष्ठापनिका, इन पाँच समितियों से युक्त होते हैं। (**मणसमिया वयसमिया कायसमिया मणगुत्ता वयगुत्ता कायगुत्ता**) तथा मनसमिति, वचनसमिति, कायसमिति तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्ति से युक्त होते हैं। (**गुत्ता गुत्तिदिया गुत्तबंभयारी**) वे अपनी आत्मा को पापों से गुप्त—सुरक्षित रखते हैं, अपनी इन्द्रियों को विषय-भोगों से गुप्त रखते हैं, और ब्रह्मचर्य का नौ गुप्तियों सहित पालन करते हैं। (**अकोहा अमाणा अमाया अलोभा संता पसंता उवसंता परिणिव्वुडा अणासवा अग्गंथा छिन्नसोया निरुवलेवा**) वे क्रोध मान, माया और लोभ से रहित होते हैं, वे शान्ति, उत्कृष्ट शान्ति—बाहर-भीतर की शान्ति से युक्त होते हैं, तथा समस्त संतापों से रहित होते हैं, वे किसी भी आस्रव का सेवन नहीं करते और बाह्य आभ्यन्तर परिग्रह-ग्रन्थियों से मुक्त होते हैं, वे महात्मा संसार के प्रवाह को छेदन कर देते हैं, कर्ममल के लेप से भी रहित होते हैं। (**कंसपाइ व मुक्कतोया**) जैसे कांसे की पात्री (बर्तन) में जल का लेप नहीं लगता, इसी तरह उन महात्माओं में कर्ममल का लेप नहीं लगता। (**संखो इव णिरंजणा**) जैसे शंख कालिमा से रहित होता है, वैसे ही वे महात्मा रागादि के कालुष्य से रहित होते हैं, (**जीव इव अप्पडिहयगई**) जैसे सचेतन जीव की गति कहीं नहीं रुकती, वैसे ही उन महात्माओं की गति कहीं नहीं रुकती, (**गगणतलं व निरालंबणा**) जैसे आकाश-तल बिना अवलम्बन से ही रहता है, वैसे ही वे महात्मा भी निरालम्बी रहते हैं अर्थात् अपने निर्वाह के लिए किसी व्यापार-धंधे या व्यक्ति का अवलम्बन नहीं लेते। (**वाउरिव अपडिबद्धा**) जैसे वायु को कोई रोक नहीं सकता, वह अप्रतिबद्ध चलता है, वैसे ही वे महात्मा भी प्रतिबन्ध (रुकावट) से रहित होते हैं। (**सारदसलिलमिव सुद्धहियया**) शरद काल के स्वच्छ पानी तरह उनका हृदय भी अत्यन्त स्वच्छ और शुद्ध होता है। (**पुक्खरपत्तं व निरुवलेवा**) कमल का पत्ता जैसे जल के लेप से दूर रहता है, वैसे ही वे भी कर्ममल के लेप से दूर रहते हैं। (**कुम्मो इव गुत्तिदिया**) वे कछुए की तरह अपनी इन्द्रियों को (विषय-भोगों से) गुप्त-सुरक्षित रखते हैं। (**विहग इव विप्पमुक्का**) जैसे पक्षी आकाश में स्वतन्त्र-विहारी होता है, वैसे ही वे महात्मा समस्त ममत्व-बंधनों से रहित होकर आध्यात्मिक आकाश में स्वतन्त्र-विहारी होते हैं। (**खग्गिविसाणं व एगजाया**) जैसे गेंडे का सींग एक ही होता है, उसी तरह वे महात्मा भाव से राग-द्वेष वर्जित अकेले ही होते हैं। (**भारंडपक्खीव अप्पमत्ता**) वे भारण्ड पक्षी की तरह अप्रमत्त (सावधान) होते हैं। (**कुञ्जरो इव सोंडीरा**) जैसे हाथी वृक्ष आदि को उखाड़ने में दक्ष होता है, वैसे ही वे मुनि कषायों को मिटाने में शूरवीर व दक्ष होते हैं। (**वसभो इव जातत्थामा**) जैसे बैल भार वहन करने में समर्थ होता है, वैसे ही वे महात्मा संयम-भार को वहन करने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में समर्थ होते हैं। (**सीहो इव दुद्धरिसा**) जैसे सिंह दूसरे पशुओं से दबता नहीं, हारता नहीं, वैसे ही वे महामुनि परीषहों और उपसर्गों से दबते और हारते नहीं। (**मंदरो इव अप्पकंपा**) जैसे मन्दर पर्वत कम्पित नहीं होता, इसी तरह वे महात्मा खतरों, उपसर्गों और भयों से काँपते नहीं। (**सागरो इव गंभीरा**) वे सागर की तरह गंभीर होते हैं, यानि हर्ष-शोकादि से व्याकुल नहीं होते। (**चंदो इव सोमलेस्सा**) उनकी प्रकृति चन्द्रमा के समान शीतल एवं सौम्य होती है। (**सूरो इव दित्ततेया**) वे सूर्य के समान तेजस्वी होते हैं। (**जच्चकंचणगं व जातरूवा**) जैसे उत्तम जाति के सोने में से मल नहीं निकलता, वैसे ही उन महात्माओं के कर्ममल नहीं लगता। (**वसुंधरा इव सव्वफासविसहा**) वे पृथ्वी के समान सभी स्पर्शों को सहन करते हैं। (**सुहुयहुयासणोविव तेयसा जलंता**) अच्छी तरह होम (प्रज्वलित) की हुई अग्नि के समान वे तेज से जाज्वल्यमान रहते हैं। (**तेसिं भगवंताणं कत्थवि पडिबंधे णत्थि भवइ**) उन भाग्यशाली महात्माओं के लिए कहीं भी प्रतिबन्ध (रुकावट) नहीं है। (**से पडिबंधे चउव्विहे पण्णत्ते**) वह प्रतिबन्ध चार प्रकार का होता है। (**तं जहा—अंडए इ वा पोयए इ वा उग्गहे इ वा पग्गहे इ वा**) वह प्रतिबन्ध चार प्रकार से होता है-जैसे कि अण्डे से उत्पन्न होने वाले हंस, मोर आदि पक्षियों से तथा बच्चे के रूप में उत्पन्न होने वाले हाथी आदि के बच्चों से, एवं निवास स्थान तथा पीठ, फलक आदि उपकरणों से, विहार(विचरण) में प्रतिबन्ध होता है परन्तु उनके विहार (विचरण) में ये चारों ही प्रतिबन्ध नहीं हैं। (**जन्नं जन्नं दिसं इच्छंति तन्नं तन्नं दिसं अपडिबद्धा**) वे जिस-जिस दिशा में जाना चाहते हैं, उस उस दिशा में प्रतिबन्धरहित चले जाते हैं। (**सुइभूया लहुभूया अप्पगंथा संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति**) वे पवित्रहीन हृदय और परिग्रहरहित होने से हलके-फुलके, अल्पग्रन्थ एवं बन्धनहीन महात्मा संयम और तपस्या से अपनी आत्मा को भावित (सुवासित) करते हुए विचरण करते हैं। (**तेसिं भगवंताणं इमा एतारूवा जायामायावित्ति होत्था**) उन भाग्यशाली महात्माओं की संयमयात्रा के निर्वाहार्थ ऐसी कुछ जीविकावृत्ति होती है। (**तं जहा—चउत्थे भत्ते छट्ठे भत्ते अट्ठमे भत्ते दसमे भत्ते दुवालसमे भत्ते चउदसमे भत्ते**) जैसे कि एक दिन का उपवास, दो दिन का उपवास, तीन, चार, पाँच तथा छह दिन का उपवास। (**अद्धमासिए भत्ते मासिए भत्ते दोमासिए भत्ते तिमासिए चउम्मासिए पंचमासिए छम्मासिए**) एक पक्ष का उपवास, मासिक उपवास, द्विमासिक उपवास, तीन मास का, चार मास का, पाँच मास का एवं छह मास का उपवास वे करते हैं। (**अदुत्तरं उक्खित्तचरगा, णिक्खित्तचरगा, उक्खित्तणिक्खित्तचरगा, अंतचरगा, पंतचरगा, लूहचरगा, समुदाणचरगा, संसट्ठचरगा, असंसट्ठचरगा, तज्जातसंसट्ठचरगा**) इसके सिवाय किसी का अभिग्रह होता है—वे हंडिया में से निकाला हुआ ही अन्न लेते हैं, कोई महात्मा परोसने के लिए हंडिया में से निकालकर फिर उसमें रखा हुआ ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्न लेते हैं, कोई हंडिया में से निकाले हुए तथा हंडिया में निकालकर फिर उसमें रखे हुए इन दोनों ही प्रकार के आहारों को लेते हैं। कोई अन्त, प्रान्त (बचा-खुचा) आहार लेने का अभिग्रह करते हैं, कोई रूक्ष आहार ही ग्रहण करते हैं, कोई छोटे-बड़े अनेक घरों से भिक्षा ग्रहण करते हैं, कोई भरे हुए हाथ से दिये हुए आहार को ही ग्रहण करते हैं, कोई जिस अन्न या साग आदि से चम्मच या हाथ भरा हो, उस हाथ या चम्मच से उसी वस्तु को लेने का अभिग्रह करते हैं। (**दिट्ठलाभिया अदिट्ठलाभिया पुट्ठलाभिया अपुट्ठलाभिया भिक्खलाभिया अभिक्खलाभिया**) कोई न देखे हुए आहार को ही लेते हैं, कोई न देखे हुए आहार तथा न देखे हुए दाता की ही गवेषणा करते हैं, कोई पूछकर ही आहार ग्रहण करते हैं, कोई बिना पूछे ही आहार ग्रहण करते हैं, कोई तुच्छ आहार ही लेते हैं, कोई अतुच्छ आहार लेते हैं। (**अन्नायचरगा**) कोई अज्ञात (अपरिचित) कुलों या घरों से ही आहार लेते हैं, (**उवनिहिया**) कोई देने वाले के निकट ही रखे हुए आहार को लेते हैं, (**संखादत्तिया**) कोई दत्ति की संख्या नियत करके आहार लेते हैं, (**परिमितपिंडपातिया**) कोई सीमित मात्रा में ही आहार लेते हैं, (**सुद्धेसणिया**) कोई शुद्ध यानी दोषरहित आहार की ही गवेषणा करते हैं, (**अंताहारा पंताहारा अरसाहारा विरसाहारा लूहाहारा**) कोई प्रान्त यानी बचा-खुचा आहार ही लेते हैं, कोई अन्त आहार यानी भुने हुए चने आदि ही लेते हैं, कोई रस-वर्जित ही आहार लेते हैं, कोई विरस आहार लेते हैं, कोई रूखा आहार ही लेते हैं, (**तुच्छाहारा**) कोई तुच्छ आहार ही लेते हैं। (**अंतजीवी पंतजीवी आयंबिलिया पुरिमड्ढिया निव्विगइया**) कोई अन्त-प्रान्त आहार से ही अपना निर्वाह करते हैं, कोई नित्य आयम्बिल ही करते हैं, कोई सदा दोपहर के बाद ही आहार करते हैं, कोई घी, तेल, मीठा, दूध, दही आदि विग्गइ से रहित आहार करते हैं। (**अमज्जमंसासिणो**) वे सभी महात्मा मद्य और मांस का सेवन कभी भी नहीं करते, (**णो णियामरसभोइ**) वे अधिक मात्रा में सरस आहार नहीं करते, (**ठाणाइया पडिमाठाणाइया उक्कडुआसणिया णेसज्जिया वीरासणिया दंडायतिया लगंडसाइणो**) वे सदा कायोत्सर्ग करते हैं, प्रतिमा का पालन करते हैं, उत्कट(ऊकडु) आसन से बैठते हैं, वे आसनयुक्त भूमि पर ही बैठते हैं, वे वीरासन लगाकर बैठते हैं, वे डंडे की तरह लम्बे होकर रहते हैं, वे लक्कड़ की तरह टेढ़े होकर सोते हैं, (**अप्पाउडा अगत्तया**) वे बाह्य प्रावरण (वस्त्रादि के आवरण) से रहित होकर ध्यानस्थ रहते हैं, (**अकंडुया अणिट्ठुहा एवं जहोववाइए**) वे शरीर को नहीं खुजलाते, वे थूक को बाहर नहीं फैंकते इसी प्रकार औपपातिक सूत्र में जो गुण बताये हैं, उन सबको यहाँ समझ लेना चाहिए। (**धुतकेसमंसुरोमनहा**) वे अपने सिर के बालों, दाढ़ी-मूंछों तथा रोम और नख की साज-सज्जा नहीं करते, (**सव्वगायपडिकम्मविप्पमुक्का चिट्ठइ**) वे अपने सारे शरीर का परिकर्म (नहाना, धोना, तेल-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फुलेल आदि लगाना) नहीं करते। (**ते णं एतेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं सामन्नपरियागं पाउणंति**) वे महात्मा इस प्रकार उग्रविहार करते हुए बहुत वर्षों तक श्रमण पर्याय (साधु दीक्षा) का पालन करते हैं, (**बहु बहु आबाहंसि उपन्नंसि वा अणुपन्नंसि वा बहूइं भत्ताइं पच्चक्खंति**) अनेकानेक रोगों की अड़चनें उपस्थित पर होने या न होने पर वे चिरकाल तक आहार का त्याग कर देते हैं, यानी आमरण अनशन (संथारा) कर लेते हैं, (**पच्चक्खाइत्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदिंति**) वे अनेक दिनों तक आहार का प्रत्याख्यान करके यानी आमरण अनशनपूर्वक संथारा करके उसे पूर्ण करते हैं। (**अणसणाए छेदित्ता जस्सट्ठाए नग्गभावे मुंडभावे अण्हाणभावे अदंतवणगे अछत्तए अणोवाहणए**) अनशन के पूर्णतया सिद्ध (पालन) होने के पश्चात् उन महात्मा पुरुषों ने जिस प्रयोजन से नग्नभाव, मुण्डितभाव (सिर मुंडाना), स्नान न करना, दांत साफ करना, छाता न लगाना, पैर में जूते न पहनना आदि तथा (**भूमिसेज्ज, फलगसेज्जा कट्ठसेज्जा केसलोए बंभचेरवासे परघरवेसे कीरति**) भूमि पर सोना, पट्टे पर सोना या लकड़ी पर सोना, केशलोच करना, ब्रह्मचर्य पालन करना, भिक्षा के लिए दूसरों के घरों में जाना आदि कार्य किये जाते हैं। (**लद्धावलद्ध माणावमाणणाओ हीलणाओ निंदणाओ खिंसणाओ गरहणाओ तज्जणाओ तालणाओ उच्चावया गामकंटगा बावीसं परीसहोवसग्गा अहियासिज्जंति**) कभी आहार प्राप्त होता है, कभी नहीं होता, तथा जिसके लिए मान-अपमान, अवहेलना, निन्दा, फटकार, झिड़कियाँ, मार-पीट, धमकियाँ, ऊँची नीची बातें, कानों को अप्रिय लगने वाले अनेक कटुवचन एवं २२ प्रकार के परीषह और उपसर्ग समभाव से सहे जाते हैं। (**तमट्ठं आराहंति**) इस प्रकार वे महामुनि जिस उद्देश्य से साधु धर्म में दीक्षित हुए थे, उसकी आराधना करते हैं। (**तमट्ठं आराहित्ता चरिमेहिं उस्सासनिस्सासेहिं अणंतं अणुत्तरं निव्वाघायं निरावरणं कसिणं पडिपुण्णं केवलवरणाणदंसणं समुप्पाडेंति**) वे उस उद्देश्य को सिद्ध करके अन्तिम श्वास और उच्छवास में अन्तरहित, सर्वोत्तम, बाधारहित आवरण से सर्वथा रहित सम्पूर्ण और प्रतिपूर्ण केवलज्ञान —केवलदर्शन को प्राप्त करते हैं। (**समुप्पाडित्ता तओ पच्छा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणं अंतं करेंति**) उक्त केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त होने के बाद वे सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त करते हैं, वे समस्त कर्मों से मुक्त हो जाते हैं, शान्त हो जाते हैं, एवं समस्त दुखों का नाश कर देते हैं।

(**एगच्चाए पुण एगे भयंतारो भवंति**) कुछ महात्मा एक ही भव (जन्म) में मुक्ति पा लेते हैं। (**अवरे पुण पुव्वकम्मावसेसेणं कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति**) कुछ दूसरे महात्मा पूर्वकर्मों के शेष रह जाने पर आयुष्य पूर्ण होने पर मृत्यु को प्राप्त करके देवलोक में देवरूप में उत्पन्न होते हैं। (**तं जहा— महड्ढिएसु महज्जुतिएसु महापरक्कमेसु महाजसेसु महाबलेसु महाणुभावेसु महासुक्खेसु**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ते णं तत्थ देवा भवंति) जैसे कि महान् ऋद्धि वाले, महाद्युति वाले, महापराक्रमयुक्त, महायशस्वी, महाबल से युक्त, महान् प्रभावशाली और महासुखदायी जो देवलोक हैं, वे उनमें देवरूप में उत्पन्न होते हैं। (**महड्ढिया महज्जुइया जाव महासुक्खा**) वे देव महान् ऋद्धिशाली, महा कान्तिमान्, यहाँ तक कि महान् सुखों से सम्पन्न होते हैं। (**हारविराइयवच्छा**) उनके वक्षस्थल हारों से सुशोभित रहते हैं (**कडग तुडियथंभियभुया**) उनकी बाँहों में कड़े, केयूर (बाजूबंद) आदि आभूषण पड़े रहते हैं। (**अंगयकुंडलमट्ठगंडयलकन्नपीठधारी**) उनके गाल अंगद और कुंडल से सुशोभित रहते हैं, तथा कानों में वे कर्णफूल धारण करते हैं, (**विचित्त हत्थाभरणा**) हाथों में विविध आभूषण धारण किये रहते हैं, (**विचित्त मालामउलिमउडा**) उनके सिर पर विचित्र मालाओं से युक्त मुकुट होता है। (**कल्लाणगंधपवरवत्थपरिहिया**) वे कल्याणकारी सुगन्धित उत्तम वस्त्र पहनते है, (**कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणधरा**) कल्याणकारी उत्तम माला तथा अंगलेपन को धारण करते हैं। (**भासुरबोंदी**) उनका शरीर प्रकाश से जगमगाता रहता है, (**पलंबवणमालधरा**) वे लम्बी वनमालाओं को धारण करने वाले देव होते हैं। (**दिव्वेणं रूवेणं दिव्वेणं वन्नेणं दिव्वेणं गंधेणं दिव्वेणं फासेणं दिव्वेणं संघाएणं दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्ढीए दिव्वाए जुत्तीए दिव्वाए पभाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चाए दिव्वेणं तेएणं दिव्वाए लेसाए दस दिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा गइकल्लाणा ठिइकल्लाणा आगमेसिभद्दया यावि भवंति**) अपने दिव्य रूप, वर्ण, गन्ध, स्पर्श, दिव्य शरीर के संघयण, दिव्य स्थान, दिव्य ऋद्धि, द्युति, प्रभा, छाया (कान्ति), अर्चा (वृत्ति), तेज और लेश्याओं से दसों दिशाओं को प्रकाशित करते हुए चमचमाहट करते हुए कल्याणमयी गति और स्थिति वाले तथा भविष्य में भद्रक होने वाले देवता बनते हैं।

(**एस ठाणे आरिए जाव सव्वदुक्खपहीणमग्गे**) यह स्थान आर्य है यावत् समस्त दुःखों का क्षय करने वाला मार्ग है। (**एगंतसम्मे सुसाहू**) यह स्थान बिलकुल सम्यक् और उत्तम है। (**दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए**) इस प्रकार दूसरे स्थान धर्मपक्ष का विचार किया गया है।

व्याख्या

धर्मपक्षीय लोगों का आचार-विचार

अधर्मपक्षीय लोगों के आचार-विचार एवं व्यवहार का वर्णन करने के पश्चात् अब इस सूत्र में शास्त्रकार धर्मपक्षीय मनुष्यों के आचार-विचार, स्वभाव और व्यवहार आदि का वर्णन करते हैं।

जगत् में ऐसे कुछ उत्तम व्यक्ति होते हैं, जो आरम्भ और परिग्रह से सर्वथा दूर रहते हैं। वे धर्म के रंग में रंगे हुए होते हैं, धर्म के अनुसार ही चलते हैं, दूसरों को भी वे धर्म पर चलने की अनुज्ञा देते हैं, उन्हें इस संसार में धर्म के सिवाय और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोई चीज नहीं सुहाती, उनका सारा जीवन धर्म से ओत-प्रोत रहता है, यहाँ तक कि वे धर्मपूर्वक ही अपनी जीविका चलाते हैं, धर्ममय जीवन बिताते हैं। ऐसे लोग बड़े ही सुशील, सम्यक्व्रतनिष्ठ, शीघ्र प्रसन्न होने वाले और उत्तम कोटि के साधु होते हैं। वे जीवन भर समस्त प्रकार की हिंसाओं से लेकर झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह, यहाँ तक कि मिथ्यादर्शन-शल्य तक १८ ही प्रकार के पाप-स्थानों से विरत होते हैं। दूसरे अनाड़ी लोग, जहाँ पापयुक्त, अज्ञानपूर्ण एवं दूसरे प्राणियों को संतप्त करने वाले दुष्कर्म जिन्दगीभर करते रहते हैं, वहाँ ये साधुपुरुष जिन्दगीभर उन दुष्कर्मों से बचे रहते हैं।

वे धार्मिक पुरुष और कोई नहीं, घर-बार, जमीन-जायदाद, धन-सम्पत्ति और कुटुम्ब-कबीले का मोह छोड़कर पाँच महाव्रतधारी अनगार भगवन्त होते हैं, जो ईर्यासमिति आदि ५ समितियों, तीन गुप्तियों तथा मन-वचन-काय की समितियों से युक्त होते हैं। वे सदैव अपनी आत्मा को पाप से बचाते हैं, अपनी इन्द्रियों को विषय-भोगों से बचाते हैं, अपने जीवन में ब्रह्मचर्य को ९ गुप्तियोंपूर्वक सुरक्षित रखते हैं, वे क्रोध, मान, माया, लोभ से दूर रहते हैं, वे शान्त-प्रशान्त और उपशान्त रहते हैं। उनके बाहर और भीतर हमेशा शान्ति झलकती है। आस्रवों से कोसों दूर रहते हैं, बाह्याभ्यन्तर ग्रन्थ (परिग्रह) से भी दूर रहते हैं। संसार के स्रोत को वे महापुरुष बन्द कर देते हैं, कर्ममल से निर्लिप्त रहते हैं। कांसे के बर्तन के समान उन पर कर्मजल नहीं टिक सकता, वे शंख की तरह राग-द्वेषादि की कालिमा से रहित होते हैं, चेतनाशील प्राणी की तरह उनकी गति अबाध होती है। आकाशतत्त्व की तरह वे किसी भी प्रकार का आलम्बन नहीं लेते, वायु की तरह अप्रतिबद्ध-विहारी होते हैं, शरत्काल के स्वच्छ जल की तरह उनका हृदय स्वच्छ और निर्मल होता है, कछुए की तरह वे अपनी इन्द्रियों को विषयों से बचाते हैं, पक्षी की तरह वे उन्मुक्त—सर्व ममताओं से रहित होकर स्वतन्त्रविहारी होते हैं, जैसे गेंडे के एक ही सींग होता है, वैसे ही वे महात्मा भाव से राग-द्वेषरहित अकेले ही रहते हैं। भारण्ड पक्षी की तरह वे अप्रमत्त रहते हैं, जैसे हाथी पेड़ आदि को उखाड़ने में कुशल होता है, वैसे ये भी कषायों का दलन करने में कुशल होते हैं, जैसे बैल भार ढोने में समर्थ होता है, वैसे ही ये महात्मा भी संयम-भार को वहन करने में समर्थ होते हैं। जैसे सिंह दूसरे जीवों से दबता नहीं, पराजित नहीं होता, वैसे ही वे महात्मा किसी उपसर्ग या परीषह से दबते नहीं, पराजित नहीं होते। मन्दराचल की तरह ये महात्मा (परीषहों और उपसर्गों से) कम्पित नहीं होते। वे सूर्य के समान तेजस्वी, चन्द्रमा के समान सौम्य, पृथ्वी के समान सभी स्पर्शों को सहने वाले, समुद्र के समान गम्भीर, सोने के समान (कर्म) मल से रहित तथा प्रज्वलित अग्नि के समान तेज से देदीप्यमान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहते हैं। इन अनगार भगवन्तों के किसी भी प्रकार का (चार प्रकार के प्रतिबन्धों में से) प्रतिबन्ध नहीं होता। वे पवित्र, सात्त्विक, हलके-फुलके, निष्परिग्रह, निर्ग्रन्थ होते हैं और तप-संयम से अपनी आत्मा को विकसित करते रहते हैं।

वे भाग्यशाली निर्ग्रन्थ अपने जीवन निर्वाह के लिए विविध तपस्याओं (एक उपवास से लेकर छह महीने के तप तक) का अनुष्ठान करते रहते हैं। इसके अतिरिक्त वे विविध प्रकार के अभिग्रह भी धारण करते हैं। जैसे कि कोई उत्क्षिप्त-चारी होते हैं, कई निक्षिप्तचारी, कई अन्त-प्रान्त, रूक्ष, नीरस आहार को ही ग्रहण करते हैं। भिक्षा भी विविध प्रकार से लेते हैं। कई अज्ञात कुलों एवं व्यक्तियों से ही आहार लेते हैं। कई आयंबिल, निर्विकृतिक, ऊनोदरी आदि तप करते हैं। कई दण्डा-सन, लगुडासन आदि विविध आसनों से सोने, बैठने का अभिग्रह लेते हैं। कोई अपने शरीर को खुला रखते हैं, कोई आतापना लेते हैं, शरीर को नहीं खुजलाते, केश, नख, रोम आदि को सजाते-सँवारते नहीं, शरीर शृंगार बिलकुल नहीं करते हैं। इस प्रकार विविध तपस्याओं एवं संयम प्रक्रियाओं के साथ वे अनेक वर्षों तक अपने श्रमण-धर्म का पालन करते रहते हैं। जीवन के अन्तिम दिनों में वे आमरण अनशन करके संलेखना—संथारापूर्वक शरीर छोड़ते हैं। जिस प्रयोजन से वे साधुत्व ग्रहण करते हैं, उसके लिए हर प्रकार से सचेष्ट रहते हैं। भूमिशयन, केशलोच, ब्रह्मचर्य साधना, भिक्षावृत्ति आदि सब संयम-क्रियाएँ भी उसी दृष्टि से करते हैं।

औपपातिक सूत्र में अनगार भगवन्तों के जो गुण बताये गये हैं, वे सभी गुण इस दूसरे स्थान के धर्मपक्षीय अधिकारी में उपलब्ध होते हैं। यहाँ तक कि मान-अपमान, निन्दा-प्रशंसा, गाली-गलौज, डाँट-फटकार, प्रहार आदि तथा अन्य समस्त उपसर्गों और परीषहों के आने पर समभावपूर्वक सहते हैं।

इस प्रकार संयम की उत्तम आराधना करके वे अपने अन्तिम श्वास के साथ अनन्त, सर्वोत्तम, निराबाध, निरावरण, सम्पूर्ण, प्रतिपूर्ण केवलज्ञान, केवलदर्शन को प्राप्त कर लेते हैं। उसके पश्चात् तो उनका सिद्ध, बुद्ध, मुक्त तथा समस्त दुःखों से रहित हो जाना निश्चित होता है।

कई महात्मा, जो उसी भव से मुक्त नहीं होते, वे उच्च ऋद्धि, द्युति, पराक्रम यश, बल, प्रभाव और सुख वाले देवलोक में देवरूप से उत्पन्न होते हैं। उनकी गति, मति, स्थिति तथा भविष्य सभी उज्ज्वल तथा कल्याणकार होते हैं। उनका रूप, वर्ण, गन्ध, स्पर्श, संघात, संस्थान, ऋद्धि, द्युति, कान्ति, वृत्ति, लेश्या और तेज सभी दिव्य होते हैं। अधिक क्या कहें, वे उत्तम जाति के देव बनते हैं, वहाँ से च्यवन करके महा विदेह क्षेत्र में या अन्य कर्मभूमि में मानवभव में उत्पन्न होकर वे मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यही कारण है कि शास्त्रकार ने इस द्वितीय स्थान, धर्मपक्ष को आर्य कहा है। यहाँ तक कि सिद्धि, मुक्ति, निर्वाण और समस्त दुःखक्षीणता का मार्ग कहा है। यही स्थान एकान्त उत्तम और अच्छा है, यह बात निश्चित रूप से समझ लेनी चाहिए।

मूल पाठ

अहावरे तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एवमाहिज्जइ। इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइया मणुस्सा भवंति, तं जहा—अप्पिच्छा अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया जाव धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति, सुसीला, सुव्वया, सुप्पडियाणंदा साहू। एगच्चाओ पाणाइवायाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अप्पडिविरिया जाव जे यावण्णे तहप्पगारा सावज्जा अबोहिया कम्मंता परपाणपरितावणकरा कज्जंति, ततोवि एगच्चाओ अप्पडिविरिया।

से जहाणामए समणोवासगा भवंति अभिगयजीवाजीवा उवलद्धपुण्णपावा आसवसंवरवेयणाणिज्जराकिरियाहिगरणबंधमोक्खकुसला असहेज्जदेवासुरनागसुवण्णजक्खरक्खसकिन्नरकिंपुरिसगरुलगंधव्वमहोरगाइएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणइक्कमणिज्जा। इणमेव निग्गंथे पावयणे णिस्संकिया णिक्कंखिया निव्वितिगिच्छा लद्धट्ठा गहियट्ठा पुच्छियट्ठा विणिच्छियट्ठा अभिगयट्ठा अट्ठिमिज्जापेम्माणुरागरत्ता अयमाउसो! निग्गंथे पावयणे अट्ठे अयं परमट्ठे सेसे अणट्ठे उसियफलिहा अवंगुयदुवारा अचियत्तंतेउरपरघरप्पवेसा चउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुन्नं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणा, समणे निग्गंथे फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपरिग्गहकंबलपायपुंछणेणं ओसहभेसज्जेणं पीठफलगसेज्जासंथारएणं पडिलाभेमाणा बहूहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं अहापरिग्गहिएहिं तवोकम्मेएहिं अप्पाणं भावेमाणा विहरंति। ते णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं समणोवासगपरियागं पाउणंति पाउणित्ता आबाहंसि उप्पन्नंसि वा अणुप्पन्नंसि वा बहूइं भत्ताइं पच्चक्खायंति बहूइं भत्ताइं पच्चक्खाएत्ता, बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेंति बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेइत्ता अलोइयपडिक्कंता समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवन्ति, तं जहा—महड्ढिएसु महज्जुइएसु जाव महासुक्खेसु, सेसं तहेव जाव। एस ठाणे आरिए जाव एगंत साहू। तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एव-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माहिए। अविरइं पडुच्च बाले आहिज्जइ, विरइं पडुच्चपंडिए आहिज्जइ, विरयाविरइं पडुच्च बालपंडिए आहिज्जइ। तत्थ णं जा सा सव्वओ अविरई एस ठाणे आरम्भठाणे अणारिए जाव असव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू। तत्थ णं जा सा सव्वओ विरई एस ठाणे अणारम्भठाणे आरिए जाव सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू। तत्थ णं जा सा सव्वओ विरयाविरई, एस ठाणे आरम्भणोआरम्भट्ठाणे, एस ठाणे आरिए जाव सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू ॥ सू० ३९ ॥

संस्कृत छाया

अथाऽपरस्तृतीयस्स स्थानस्य मिश्रकस्य विभंग एवमाख्याते। इह खलु प्राच्यां वा ४ सन्त्येकतये मनुष्याः भवन्ति, तद्यथा –अल्पेच्छाः अल्पारम्भाः अल्पपरिग्रहाः धार्मिकाः धर्मानुगाः यावद् धर्मेण चैव वृत्तिं कल्पयन्तः विहरन्ति। सुशीलाः सुव्रताः सुप्रत्यानन्दाः साधवः। एकस्मात् प्राणातिपातात् प्रतिविरताः यावज्जीवनम्, एकस्मादप्रतिविरताः यावद् ये चाऽन्ये तथाप्रकाराः सावद्याः अबोधिकाः कर्मसमारम्भाः परप्राणपरितापनकराः क्रियन्ते, ततोऽप्येकस्मादप्रतिविरताः।

तद्यथा नाम श्रमणोपासकाः भवन्ति अभिगतजीवाजीवाः उपलब्धपुण्यपापाः आश्रवसंवरवेदनानिर्जराक्रियाधिकरणबन्धमोक्षकुशलाः। असहाया अपि देवासुरनागसुपर्णयक्षराक्षसकिन्नरकिम्पुरुषगरुड़गन्धर्वमहोरगादिभिः देवगणैः निर्ग्रन्थात् प्रवचनादनतिक्रमणीयाः अस्मिन् नैर्ग्रन्थे प्रवचने निःशंकिताः निष्कांक्षिताः निर्विचिकित्साः लब्धार्थाः गृहीतार्थाः पृष्टार्थाः निश्चितार्थाः अभिगतार्थाः अस्थिमज्जाप्रेमानुरागरक्ताः, इदमायुष्मन् नैर्ग्रन्थं प्रवचनम्, अयं परमार्थः शेषोऽनर्थः उच्छ्रितस्फटिकाः असंवृतद्वाराः असंमतान्तःपुरपरगृहप्रवेशाः चतुर्दश्यष्टम्युद्दिष्टपूर्णिमासु प्रतिपूर्णं पौषधं सम्यग् अनुपालयन्तः श्रमणान् निर्ग्रन्थान् प्रासुकैषणीयेन अशनपानखाद्यस्वाद्येन वस्त्रपरिग्रहकम्बलपादप्रोञ्छनेन औषधभैषज्येन पीठफलकशय्यासंस्तारकेण प्रतिलाभयन्तः बहुभिः शीलव्रतगुणविरमणप्रत्याख्यानपौषधोपवासैः यथापरिगृहीतैः तपःकर्मभिरात्मानं भावयन्तो विहरन्ति। ते एतद्रूपेण विहारेण विहरन्तः बहूनि वर्षाणि श्रमणोपासकपर्यायं पालयन्ति, पालयित्वा आबाधायामुत्पन्नायां वा अनुत्पन्नायां वा बहूनि भक्तानि प्रत्याख्यान्ति, बहूनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भक्तानि प्रत्याख्याय बहूनि भक्तानि अनशनया छेदयन्ति, बहूनि भक्तानि अनशनया छेदयित्वा आलोचितप्रतिक्रान्ताः समाधिप्राप्ताः कालमासे कालं कृत्वा अन्यतरेषु देवलोकेषु देवत्वाय उपपत्तारो भवन्ति। तद्यथा महर्द्धिकेषु महाद्युतिकेषु यावन्महासुखेषु शेषं तथैव यावदिदं स्थानमार्यम्, यावदेकान्तसम्यक् साधु, तृतीयस्य स्थानस्य मिश्रकस्य विभंगः एवमाख्यातः। अविरतिं प्रतीत्य बाल आख्यायते विरतिं प्रतीत्य पण्डित आख्यायते, विरत्यविरती प्रतीत्य बालपण्डित आख्यायते, तत्र या सा अविरतिः इदं स्थानमारम्भस्थानमनार्यं यावद् असर्वदुःखप्रहीणमार्गमेकान्तमिथ्या असाधु। तत्र या सा सर्वतो विरतिः इदं स्थानमनारम्भस्थानमार्यं यावत्सर्वदुःखप्रहीणमार्गमेकान्तसम्यक् साधु। तत्र ये ते सर्वतो विरताविरती इदं स्थानमारम्भ-नोऽआरम्भस्थानमिदं स्थानमार्यं यावत् सर्वदुःखप्रहीणमार्गमेकान्तसम्यक् साधु ॥ सू० ३९ ॥

अन्वयार्थ

(**अहावरे तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एवमाहिज्जइ**) इसके पश्चात् तीसरा स्थान जो मिश्र स्थान है, उसका भेद बताया जाता है, (**इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइया मणुस्सा भवंति तं जहा**) इस मनुष्यलोक में पूर्व आदि दिशाओं में कई मनुष्य ऐसे होते हैं, (**अप्पिच्छा अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा**) जो अल्प इच्छा वाले, अल्पारंभी, अल्पपरिग्रही होते हैं, (**धम्मिया धम्माणुया जाव धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति**) वे धर्माचरण करते हैं, धर्म के अनुसार ही प्रवृत्ति करते हैं या धर्म की ही अनुज्ञा देते हैं, धर्मपूर्वक अपनी आजीविका चलाते हुए अपना जीवन यापन करते हैं। (**सुसीला सुव्वया सुप्पडियाणंदा साहु**) वे सुशील, सुन्दर व्रतधारी तथा आसानी से प्रसन्न हो जाने वाले एवं साधनाशील सज्जन होते हैं। (**एगच्चाओ पाणाइवायाओ जावज्जीवाए पडिविरया, एगच्चाओ अप्पडिविरया जाव**) एक ओर वे किसी (स्थूल) प्राणातिपात से जीवनभर निवृत्त रहते हैं, और दूसरी ओर किसी (सूक्ष्म) प्राणातिपात से निवृत्त नहीं होते हैं, (**जे यावण्णे तहप्पगारा सावज्जा अबोहिया परपाणपरितावणकरा कम्मंता कज्जंति ततोवि एगच्चाओ अप्पडिविरया**) दूसरे जो कर्म सावद्य और अज्ञान को उत्पन्न करने वाले हैं, तथा अन्य प्राणियों को परिताप देने वाले किये जाते हैं, उनमें से कई कर्मों से वे निवृत्त नहीं होते।

(**से जहाणामए समणोवासगा भवंति अभिगयजीवाजीवा उवलद्धपुण्णपावा आसवसंवरवेयणाणिज्जराकिरियाहिगरणबंधमोक्खकुसला**) जैसे कि उनके नाम से विदित है, वे श्रमणों के उपासक (श्रावक) होते हैं, जो इस मिश्र स्थान के अधिकारी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं, तथा जीव-अजीव के ज्ञाता होते हैं, उन्हें पुण्य-पाप के रहस्य की उपलब्धि हो जाती है, वे आस्रव, संवर, वेदना, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण और मोक्ष के ज्ञान में दक्ष होते हैं । (**असहेज्जदेवासुरनागसुवण्णजक्खरक्खसकिन्नरकिंपुरिसगरुलगंधव महोरगाइएहिं देवगणेहिं**) वे श्रावक असहाय होने पर भी देव, असुर, नाग, सुपर्ण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, गरुड़, गन्धर्व और महोरग आदि देवों की सहायता नहीं लेते (**निग्गंथाओ पावयणाओ अणइक्कमणिज्जा**) और इनके द्वारा दबाव डाले जाने पर भी निर्ग्रन्थ प्रवचन का उल्लंघन नहीं करते । (**इणमेव निग्गंथे पावयणे णिस्संकिया णिक्कंखिया निव्वितिगिच्छा लद्धट्ठा गहियट्ठा पुच्छियट्ठा विणिच्छियट्ठा अभिगयट्ठा अट्ठिमिज्जापेम्माणुरागरत्ता**) इसी निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति वे श्रावक निःशंकित, निष्कांक्षित एवं फल के लिए सन्देह से रहित होते हैं, वे सूत्रार्थ के ज्ञाता होते हैं, तथा उसे ग्रहण किये हुए, गुरु से पूछे हुए और निश्चय किये हुए होते हैं । वे सूत्र और अर्थ को भली-भाँति समझे हुए होते हैं, उनकी हड्डियाँ और मज्जाएँ (रगों) भी उसके प्रति अनुराग से रंजित होती हैं । वे श्रावक कहते हैं—(**अयमाउसो ! निग्गंथे पावयणे अट्ठे अयं परमट्ठे सेसे अणट्ठे**) आयुष्मन् ! यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है—सार्थक है, परमार्थ (वास्तविक) है, शेष सब अनर्थक हैं । (**उस्सियफलिहा**) वे अपने घर में प्रवेश करने की टाटी (फलिया) खुले रखते हैं, (**अवंगुयदुवारा**) उनके घर के दरवाजे भी खुले रहते हैं । (**अचियत्तंतेउरपरघरप्पवेसा**) उन श्रावकों को राजा के अन्तःपुर के समान दूसरे के घर में प्रवेश करना अच्छा नहीं लगता । (**चउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणा**) वे चतुर्दशी, अष्टमी और पूर्णिमा आदि तिथियों में पूर्ण रूप से पौषधोपवास का पालन करते हुए, (**समणे निग्गंथे फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपरिग्गहकंबल पायपुंछणेणं ओसहभेसज्जेणं पीठफलगसेज्जासंथारएणं पडिलाभेमाणा बहूहिं**) वे श्रमणोपासक श्रमण निर्ग्रन्थों को प्रासुक (अचित्त) और एषणीय अशन, पान, खाद्य और स्वाद्यरूप चतुर्विध आहार, वस्त्र, पात्र, कंबल, पादप्रोंछन, औषध, भैषज्य, पीठ (चौकी), फलक (पट्टा), शय्या, संस्तारक (घास आदि) आदि का भिक्षारूप में दान देकर बहुत लाभ लेते हुए, (**अहापरिग्गहिएहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणा विहरंति**) एवं इच्छानुसार ग्रहण किये हुए शील, गुणव्रत, त्याग, प्रत्याख्यान, पौषध और उपवास तप-कर्मों के द्वारा अपनी आत्मा को पवित्र बनाते हुए जीवन व्यतीत करते हैं । (**ते णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं समणोवासगपरियायं पाउणंति**) वे इस प्रकार का आचरण करते हुए बहुत वर्षों तक श्रमणोपासक के व्रतों (श्रावक व्रतों) का पालन करते हैं । (**पाउणित्ता आबाहंसि उप्पन्नंसि वा अणुप्पन्नंसि वा बहूइं भत्ताइं पच्चक्खायंति**) श्रावकव्रतों का पालन करते हुए वे रोग आदि की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाधा उत्पन्न होने पर या न होने पर बहुत काल तक का अनशन यानी संथारा ग्रहण करते हैं। (**बहूइं भत्ताइं पच्चक्खाएत्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेंति**) वे बहुत काल तक का अनशन करके संथारे को पूर्ण करते हैं। (**बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेइत्ता आलोइयपडिक्कंता समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति**) वे संथारा पूर्ण करके अपने कृत पाप-दोषों की आलोचना तथा प्रतिक्रमण करके आत्म-समाधिस्थ हो जाते हैं, इस प्रकार वे काल के अवसर पर समाधिपूर्वक मृत्यु प्राप्त करके विशिष्ट देवलोकों में देवरूप में उत्पन्न होते हैं। (**तं जहा—महड्ढिएसु महज्जुइएसु जाव महासुक्खेसु सेसं तहेव जाव**) तदनुसार वे महान ऋद्धि वाले, महाद्युति वाले तथा महासुख वाले देवलोकों में देवता होते हैं। शेष बातें पूर्व पाठ के अनुसार जानना चाहिए। (**एस ठाणे आरिए जाव एगंतसम्मे साहू**) यह स्थान आर्य (आर्यों द्वारा सेवित), एकान्तसम्यक् और उत्तम है। (**तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एवमाहिए**) तृतीय जो मिश्रस्थान है, उसका विचार इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है। (**अविरइं पडुच्च बाले, विरइं पडुच्च पंडिए, विरयाविरइं पडुच्च बालपंडिए आहिज्जइ**) इस तृतीय स्थान का स्वामी अविरति की अपेक्षा से बाल, विरति की अपेक्षा से पण्डित और विरताविरति की अपेक्षा से बालपण्डित कहलाता है। (**तत्थ जा सा सव्वओ अविरई एस ठाणे आरंभठाणे अणारिए जाव असव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू**) इन तीनों स्थानों में से सभी पापों से अनिवृत्त होने का जो स्थान है, वह आरम्भ स्थान है, वह अनार्य है तथा समस्त दुःखों का नाश न करने वाला एकान्त मिथ्या और बुरा है। (**तत्थ णं जा सा सव्वओ विरई एस ठाणे अणारंभठाणे आरिए जाव सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू**) उनमें से दूसरा स्थान जिसमें व्यक्ति सब पापों से निवृत्त होता है, वह स्थान अनारम्भ एवं आर्य है, तथा समस्त दुःखों का नाश करने वाला, एकान्त सम्यक् और उत्तम है। (**तत्थ णं जा सा सव्वओ विरयाविरई एस ठाणे आरंभ-णोआरंभट्ठाणे, एस ठाणे आरिए जाव सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू**) और उनमें से तीसरा स्थान, जिसमें कुछ पापों से निवृत्ति और कुछ पापों से अनिवृत्ति होती है, वह आरम्भ-नोआरम्भयुक्त स्थान है, यह स्थान आर्य है, यहाँ तक कि समस्त दुःखों का नाशक, एकान्त सम्यक् और उत्तम है।

व्याख्या

तृतीय मिश्रस्थान : स्वरूप और विश्लेषण

तीसरा स्थान जो विरताविरती होने के कारण मिश्रस्थान कहलाता है, उसका इस सूत्र में सांगोपांग निरूपण किया गया है। वास्तव में इस तीसरे स्थान में धर्म और अधर्म दोनों ही मिश्रित हैं, मिले-जुले हैं, इसलिए इसे मिश्र कहते हैं। यद्यपि यह स्थान अधर्म से भी युक्त है, तथापि अधर्म की अपेक्षा इसमें धर्म का अंश इतना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिक है कि उसमें अधर्म बिलकुल छिपा हुआ या दबा हुआ-सा है। जैसे आटे में जरा से नमक का कोई पता नहीं लगता, चन्द्रमा की हजार किरणों में उसका कलंक छिप-सा जाता है, इसी तरह इस स्थान में धर्म से अधर्म छिपा हुआ या दबा-सा रहता है। इसलिए इस स्थान की धर्मपक्ष में गणना की जाती है।

इस मिश्रस्थान का अधिकारी कौन और कैसे मनुष्य होते हैं? इसके लिए शास्त्रकार कहते हैं—वे अल्प-इच्छा, अल्प-आरम्भ और अल्प-परिग्रह से युक्त होते हैं। वे धर्माचरण करते हैं, धर्म की मर्यादाओं के अनुसार चलते हैं, यहाँ तक कि धर्मपूर्वक आजीविका करते हुए वे जीवन यापन करते हैं। वे शील एवं व्रत में निष्ठावान होते हैं। उनकी अप्रसन्नता (नाराजी) अधिक देर नहीं टिकती, वे सज्जन पुरुष होते हैं। हाँ, वे गृहस्थ श्रमणोपासक होने के कारण प्राणातिपात से लेकर परिग्रह तक का पूर्णतया त्याग नहीं कर पाते। वे स्थूलरूप से हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का त्याग करते हैं, लेकिन सूक्ष्मरूप से इनका त्याग नहीं कर पाते। किन्तु जितने भी सावद्यकर्म, जो कि पर-प्राणीसंतापकर हैं, उनका वे अधिकांश रूप से त्याग करते हैं। १५ कर्मादान रूप व्यवसायों से वे निवृत्त होते हैं।

साथ ही वे श्रमणोपासक होते हैं। वे जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, वेदना, निर्जरा, अधिकरण, बन्ध, मोक्ष आदि के रहस्य के ज्ञाता और इनमें से हेय के त्याग और उपादेय के ग्रहण करने में कुशल होते हैं। वे संकट में पड़ जाने पर भी देवता, असुर, नाग, सुपर्ण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, गरुड़, गन्धर्व, महोरग आदि देवों सहायता नहीं चाहते, बल्कि ये और इस प्रकार के अन्य देवगण आकर निर्ग्रन्थ प्रवचन से उन्हें विचलित करना चाहें तो भी वे विचलित नहीं होते, न अपने सिद्धान्त का अतिक्रमण करते हैं। इस निर्ग्रन्थ प्रवचन के विषय में वे शंका, कांक्षा एवं विचिकित्सा (फल में संदेह) से सर्वथा रहित होते हैं। वे श्रावक होने के नाते सूत्रों के अर्थ और रहस्य को हस्तगत किये हुए होते हैं, वे गुरु से अर्थ की धारणा किये हुए और उनसे पूछे हुए तथा निश्चय किये हुए होते हैं। वे सूत्रार्थ को भलीभाँति समझे हुए होते हैं। उनकी हड्डियाँ और मज्जाएँ (रगों) निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति अनुराग से रंगी हुई होती हैं। वे सबसे छाती ठोककर आत्मविश्वासपूर्वक यही कहते हैं—यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य और सार्थक है, शेष सब अनर्थक हैं। वे इतने उदार होते हैं कि अपने मकान की बाहरी टाटी सदा खुली रखते हैं, घर के द्वार भी सबके लिए खुले रखते हैं। वे बिना प्रयोजन के राजा के अन्तःपुर की तरह दूसरों के घरों में प्रवेश करना पसंद नहीं करते, वे प्रति मास अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णमासी को पौषधोपवास व्रत करके साधु जैसी अपनी चर्या रखते हैं। उस दिन अपना आत्मनिरीक्षण, परीक्षण एवं आत्मचिन्तन करते हैं। वे श्रमणों के उपासक होने के नाते निर्ग्रन्थ श्रमणो को श्रद्धा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भक्तिपूर्वक प्रासुक और एषणीय, कल्पनीय अशन-पान-खाद्य-स्वाद्यरूप चतुर्विध आहार, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोञ्छन, औषध, भैषज्य, पीठ (चौकी), फलक (पट्टा), शय्या संस्तारक आदि देकर लाभ लेते हैं। बहुत-से अणुव्रत, गुणव्रत और शील (शिक्षा) व्रत, नियम, त्याग, प्रत्याख्यान, पौषध, उपवास आदि यथाशक्ति ग्रहण करके तपत्याग द्वारा अपनी आत्मा को भावित-सुवासित करते हुए जीवन बिताते हैं। अनेक वर्षों तक लगातार वह श्रमणोपासक के व्रतों का निष्ठापूर्वक पालन करता हुआ जीवन के अंतिम क्षणों में किसी रोग या संकट के उत्पन्न होने पर या न होने पर भी अनेक दिनों तक आहार-पानी का प्रत्याख्यान करके आमरण अनशन (संलेखना—संथारा) करता है और संलेखना संथारा करके अपने पाप-दोषों की आलोचना एवं प्रतिक्रमण करके वह समाधिपूर्वक शरीर को छोड़ देता है। वह न तो अधिक जीने की आकांक्षा करता है न ही शीघ्र मृत्यु की आकांक्षा करता है। इस प्रकार समाधिपूर्वक मरकर वह श्रावक किसी उत्तम देवलोक में उत्पन्न होता है, जो महान् ऋद्धि, द्युति, सुख-सम्पत्ति आदि से सम्पन्न होता है। बस, मिश्रस्थान के अधिकारी का यही स्वरूप है। मोटे तौर से देखें तो इस तीसरे स्थान की संक्षेप में पहिचान यह है—(१) पापों से अनिवृत्ति (अविरति) की अपेक्षा से इसे बाल कहते हैं, (२) पापों से निवृत्ति के कारण इसे पंडित कहते हैं और कुछ पापों से अनिवृत्ति और कई पापों से निवृत्ति (विरति) होने की अपेक्षा से इसे विरताविरति कहते हैं।

इन तीनों स्थानों में से जिस स्थान में समस्त पापों अनिवृत्ति होती है, वह प्रथम स्थान है, जो सर्वथा आरम्भयुक्त एवं अनार्य स्थान होता है। इस स्थान का स्वामी समस्त दुःखों का सर्वथा नाश नहीं कर पाता। अब सुनिये दूसरे स्थान के स्वामी का हाल ! वह आरम्भ-परिग्रह से सर्वथा विरत होता है, इसलिए अनारम्भी है, आर्य है, यहाँ तक कि इसमें समस्त दुःखों को मिटाने का उपाय है, यह सर्वथा सम्यक् एवं उत्तम होता है। किन्तु तीसरे स्थान का स्वामी कई पापों या सर्व पापों से कुछ अंशों में विरत नहीं होता, कुछ अंशों में विरत होता है। इसलिए इसका दूसरा नाम आरम्भ-नो-आरम्भस्थान है। शास्त्रकार ने इस स्थान को अनार्य और बुरा न कहकर एकान्त रूप से आर्य तथा समस्त दुःखों से मुक्त होने का मार्ग बताया है।

वास्तव में तीसरा स्थान विरताविरती, धर्माधर्मी, संयमासंयमी आदि नामों से आगमों में प्रसिद्ध है।

मूल पाठ

एवमेव समणुगम्ममाणा इमेहिं चेव दोहिं ठाणेहिं समोअरन्ति, तं जहा—धम्मे चेव अधम्मे चेव, उवसन्ते चेव अणुवसन्ते चेव। तत्थ णं जे से पढमस्स

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए। तत्थ णं इमाइं तिन्नि तेवट्ठाइं पावादुयसयाइं भवन्तीति मक्खायाइं; तं जहा—किरियावाईणं अकिरियावाईणं अन्नाणियवाईणं वेणइयवाईणं तेऽवि परिनिव्वाणमाहंसु तेऽवि मोक्खमाहंसु तेऽवि लवन्ति, सावगा ! तेऽवि लवन्ति सावइत्तारो ॥सू० ४०॥

संस्कृत छाया

एवमेव समनुगम्यमानाः अनयोरेव द्वयोः स्थानयोः सम्पतन्ति, तद्यथा —धर्मे चैव अधर्मे चैव, उपशान्ते चैव अनुपशान्ते चैव। तत्र योऽसौ प्रथमस्य स्थानस्याधर्मपक्षस्य विभंग एवमाख्यातः तत्रामूनि त्रीणि त्रिषष्ट्यधिकानि प्रावादुकशतानि भवन्तीत्याख्यातानि। तद्यथा—क्रियावादिनामक्रियावादिनामज्ञानवादिनां वैनयिकवादिनाम्। तेऽपि परिनिर्वाणमाहुः, तेऽपि मोक्षमाहुः, तेऽपि लपन्ति श्रावकान्, तेऽपि लपन्ति श्रावयितारः ॥ ४० ॥

अन्वयार्थ

(एवमेव समणुगम्ममाणा इमेहिं चेव दोहिं ठाणेहिं समोअरंति) संक्षेप में विचार करने पर ये तीनों पक्ष इन दो ही स्थानों में समाविष्ट हो जाते हैं, **(तं जहा—धम्मे चेव अधम्मे चेव, उवसंते चेव अणुवसन्ते चेव)** यथा धर्म और अधर्म में, तथा उपशान्त और अनुपशान्त में। (इन दोनों स्थानों में ही सबका समावेश हो सकता है) **(तत्थ णं जे से पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए, तत्थ णं इमाइं तिन्नि तेवट्ठाइं पावादुयसयाइं भवंतीति मक्खायाइं)** पहले जो अधर्मस्थान का विचार पूर्वोक्त प्रकार से किया गया है, उसमें ३६३ प्रावादुकों (मतवादियों) का समावेश हो जाता है, यह पूर्वाचार्यों ने कहा है। **(तं जहा—किरियावाईणं अकिरियावाईणं अन्नाणियवाईणं वेणइयवाईणं)** वे इस प्रकार हैं—क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी। **(तेऽवि परिनिव्वाणमाहंसु)** वे भी परिनिर्वाण का प्रतिपादन करते हैं, **(तेऽवि मोक्खमाहंसु)** वे भी मोक्ष की बात करते हैं। **(तेऽवि लवंति सावगा, तेऽवि लवंति सावइत्तारो)** वे भी अपने धर्म का उपदेश अपने श्रावकों को करते हैं, तथा वे भी अपने धर्म को सुनाते हैं।

व्याख्या

अधर्मपक्ष में ३६३ मतवादियों का समावेश

पूर्व सूत्रों में बताये हुए तीनों पक्षों में से धर्म और अधर्म इन दो पक्षों में तीनों का समावेश हो जाता है। इसलिए वस्तुतः धर्म और अधर्म दो ही पक्ष हैं; क्योंकि मिश्रपक्ष धर्म और अधर्म दोनों से मिश्रित होने के कारण इन्हीं दो के अन्तर्गत है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस दृष्टि से पहले जिन ३६३ मतवादियों का उल्लेख किया गया था, उनका समावेश अधर्मस्थान में ही हो जाता है, क्योंकि वे भी धर्मपक्ष से रहित और मिथ्या हैं। ये ३६३ मतमतान्तर चार कोटि में परिगणित हैं—(१) क्रियावादी (२) अक्रियावादी (३) अज्ञानवादी (४) विनयवादी। इन चारों कोटि के मतों का विवेचन पहले किया जा चुका है, अतः यहाँ उस सम्बन्ध में विस्तार नहीं दे रहे हैं। यद्यपि ये चारों मतवादी मोक्ष और निर्वाण को भी मानते हैं, उनके नाम से भोले-भाले अनुयायियों को वे उपदेश भी देते हैं, प्रवक्ता भी बनते हैं। परन्तु उनकी बातें थोथी हैं। जैसे बौद्धों की मान्यता है—"ज्ञानसन्तति का आधार कोई आत्मा नहीं है, बल्कि ज्ञानसन्तति ही आत्मा है। उस ज्ञानसन्तति का कर्मसन्तति के प्रभाव से अस्तित्व है, जो संसार कहलाता है। और उस कर्मसन्तति के नाश के साथ ही ज्ञानसन्तति का नाश हो जाता है। उसी को मोक्ष या निर्वाण कहते हैं।" इस प्रकार की मान्यता वाले बौद्ध यद्यपि मोक्ष या निर्वाण का नाम अवश्य लेते हैं, और उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न भी करते हैं, परन्तु वह सब अज्ञानजनित मान्यता के कारण बेकार है। कारण यह है कि ज्ञानसन्तति से कथंचित् भिन्न और उसका आधार एक आत्मा अवश्य है, अन्यथा जिसको मैंने देखा है उसी को स्पर्श करता हूँ, इत्यादि संकलनात्मक ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए ज्ञानसन्तति से भिन्न उसका आधार एक आत्मा अवश्य मानना चाहिए। वह आत्मा अविनाशी है, इसलिए मोक्षावस्था में उसके अस्तित्व का नाश मानना भी बौद्धों का अज्ञान है। यदि मोक्ष में आत्मा का अस्तिव ही न रहे तो फिर कौन ऐसा मूर्ख होगा जो ऐसे निःसार मोक्ष की चाह करेगा? अतः बौद्धमत मिथ्या और अधर्मपक्ष के अन्तर्गत मानने योग्य है।

अब रहा सांख्यमत, वह भी अधर्मपक्ष की कोटि में आता है, क्योंकि वह आत्मा को कूटस्थ नित्य मानता है और ऐसा मानने पर जीव के संसार और मोक्ष दोनों ही नहीं बन सकते। चतुर्विध गतियों में आत्मा का परिणमन—गमन होना ही संसार है। और अपने स्वाभाविक गुणों (आत्म-स्वभाव) में सदा परिणत होते रहना मोक्ष है। ये दोनों बातें कूटस्थ नित्य आत्मा में संभव नहीं होतीं, अतः सांख्यमत त्याज्य है। नैयायिक और वैशेषिक मत भी युक्तिरहित तथा आग्रही होने के कारण अधर्मपक्ष में ही समाविष्ट करने योग्य है।

मूल पाठ

ते सव्वे पावाउया आदिकरा धम्माणं णाणापन्ना णाणाछन्दा णाणासीला णाणादिट्ठी णाणारुई णाणारंभा णाणाज्झवसाणसंजुत्ता एगं महं मंडलिबंधं किच्चा सव्वे एगओ चिट्ठन्ति। पुरिसे य सागणियाणं इङ्गालाणं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाइं बहुपडिपुन्नं अओमएणं संडासएणं गहाय ते सव्वे पावाउए आइगरे धम्माणं णाणापन्ने जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ते एवं वयासी—हंभो पावाउया ! आइगरा धम्माणं णाणापन्ना जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ता ! इमं ताव तुब्भेसागणियाणं इङ्गालाणं पाइं बहुपडिपुन्नं गहाय मुहुत्तयं मुहुत्तगं पाणिणा धरेह, णो बहुसंडासग संसारियं कुज्जा, णो बहुअग्गिथंभणियं कुज्जा णो बहुसाहम्मियवेयावडियं कुज्जा णो बहु परधम्मियवेयावडियं कुज्जा उज्जुया णियागपडिवन्ना अमायं कुव्वमाणा पाणिं पसारेह, इति वुच्चा से पुरिसे तेसिं पावादुयाणं तं सागणियाणं इङ्गालाणं पाइं बहुपडिपुन्नं अओमएणं संडासएणं गहाय पाणिसु णिसिरति। तए णं ते पावादुया आइगरा धम्माणं णाणापन्ना जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ता पाणिं पडिसाहरंति, तए णं से पुरिसे ते सव्वे पावाउए आदिगरे धम्माणं जाव पाणाज्झवसाणसंजुत्ते एवं वयासी—हंभो पावादुआ ! आइगरा धम्माणं णाणापन्ना जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ता ! कम्हा णं तुब्भे पाणिं पडिसाहरह ? पाणिं नो डहिज्जा, दड्ढे किं भविस्सइ ? दुक्खं दुक्खंति मन्नमाणा पडिसाहरह, एस तुला एस पमाणे एस समोसरणे, पत्तेयं तुला पत्तेयं पमाणे पत्तेयं समोसरणे, तत्थ णं जे ते समणा माहणा एवमाइक्खंति जाव परूवंति सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता हन्तव्वा अज्जावेयव्वा परिघेतव्वा परितावेयव्वा किलामेयव्वा उद्दवेयव्वा, ते आगन्तुछेयाए ते आगन्तुभेयाए जाव ते आगन्तु जाइजरामरणजोणिजम्मणसंसारपुणब्भवगब्भवासभवपवंचकलंकलीभागिणो भविस्संति, ते बहूणं दंडणाणं बहूणं मुण्डणाणं तज्जणाणं तालणाणं अदुबन्धणाणं जाव घोलणाणं माइमरणाणं पिइमरणाणं भाइमरणाणं भगिणीमरणाणं भज्जापुत्तधूतसुण्हामरणाणं दारिद्दाणं दोहग्गाणं अप्पियसंवासाणं पियविप्पओगाणं बहूणं दुक्खदोम्मणस्साणं आभागिणो भविस्संति, अणादियं च णं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं भुज्जो भुज्जो अणुपरियट्टिस्संति, ते णो सिज्झिस्संति णो बुज्झिस्संति जाव णो सव्वदुक्खाणं अन्तं करिस्सन्ति एस तुला एस पमाणे एस समोसरणे पत्तेयं तुला पत्तेयं पमाणे पत्तेयं समोसरणे। तत्थ णं जे ते समणा माहणा एवमाइक्खन्ति जाव परूवेन्ति—सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हन्तव्वा ण अज्जावेयव्वा ण परिघेतव्वा ण उद्दवेयव्वा ते णो आगन्तुछेयाए ते णो आगन्तुभेयाए जाव जाइजरामरणजोणिजम्मणसंसारपुणब्भवगब्भवासभवपवंचकलंकलीभागिणो भवि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्सन्ति, ते णो बहूणं दंडणाणं जाव णो बहूणं मुंडणाणं जाव बहूणं दुक्ख-दोम्मणस्साणं णो भागिणो भविस्सन्ति, अणादियं च णं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं भुज्जो भुज्जो णो अणुपरियट्टिस्सन्ति, ते सिज्झिस्संति जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करिस्संति ॥सू० ४१॥

संस्कृत छाया

ते प्रावादुकाः आदिकराः धर्माणां नानाप्रज्ञाः नानाच्छन्दसो नाना-शीलाः नानादृष्टयो नानारुचयः नानारम्भाः नानाऽध्यवसानसंयुक्ताः एकं-महान्तं मण्डलिबन्धं कृत्वा सर्वे एकतस्तिष्ठन्ति। पुरुषश्चैकः साग्निकानाम-ङ्गाराणां पात्रीं बहुप्रतिपूर्णामयोमयेन सदंशकेन गृहीत्वा तान् सर्वान् प्रावादु-कान् आदिकरान् धर्माणां नानाप्रज्ञान् यावद् नानाऽध्यवसानसंयुक्तान् एव-मवादीत्—"हंहो प्रावादुकाः आदिकराः धर्माणां नानाप्रज्ञाः यावन्नानाऽध्य-वसानसंयुक्ताः ! इमां तावद् यूयं साग्निकानामंगाराणां पात्रीं बहुप्रतिपूर्णां गृहीत्वा मुहूर्तकं मुहूर्तकं पाणिना धरत, नो संदशकं सांसारिकं कुरुत, अग्निस्तम्भनं कुरुत, नो बहु साधर्मिकवैयावृत्यं कुरुत, नो बहुपर-धार्मिकवैयावृत्यं कुरुत, ऋजुकाः नियागप्रतिपन्नाः अमायां कुर्वाणाः पाणिं प्रसारयत। इत्युक्त्वा स पुरुषः तेषां प्रावादुकानां तां साग्निकानामंगा-राणां पात्रीं बहुप्रतिपूर्णामयोमयेन सन्दंशकेन गृहीत्वा पाणिषु निसृजति ततः खलु ते प्रावादुकाः आदिकराः धर्माणां नानाप्रज्ञाः यावन्नानाऽध्यवसान-संयुक्ताः पाणिं प्रतिसंहरन्ति। ततः खलु स पुरुषः तान् सर्वान् प्रावादुकान् आदिकरान् धर्माणं यावद् नानाऽध्यवसानसंयुक्तान् एवमवादीत्—हं हो प्रावादुकाः आदिकराः धर्माणां नानाप्रज्ञाः यावन्नानाऽध्यवसानसंयुक्ताः ! कस्माद् यूयं पाणिं प्रतिसंहरथ ? पाणिं नो दहेत् इति, दग्धे किं भविष्यति ? दुःखं दुःखमिति मन्यमानाः पाणिं प्रतिसंहरथ ! एषा तुला, एतत् प्रमाणं एतत् समवसरणम् प्रत्येकं तुला प्रत्येकं प्रमाणं प्रत्येकं समवसरणम्। तत्र ये ते श्रमणाः माहनाः एवमाख्यान्ति यावत्प्ररूपयन्ति—सर्वे प्राणाः यावत् सर्वे सत्त्वाः हन्तव्याः आज्ञापयितव्याः परिग्रहीतव्याः; परितापयितव्याः क्लेशयितव्याः उपद्रावयितव्याः ते आगामिनिछेदाय ते आगा-मिनिभेदाय यावद् आगामिनि जातिजरामरणयोनिजन्मसंसारपुनर्भव-गर्भवासभवप्रपंचकलंकलीभागिनो भविष्यन्ति। ते बहूनां दण्डनानां बहूनां

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुण्डनानां तर्जनानां ताडनानामन्दूबन्धनानां यावद् घोलनानां मातृमरणानां पितृमरणानां भ्रातृमरणानां भगिनीमरणानां भार्यापुत्रदुहितृस्नुषामरणानां दारिद्र्याणां दौर्भाग्यानामप्रियसहवासानां प्रियविगोनां बहूनां दुःखदौर्मनस्यानामाभागिनो भविष्यन्ति, अनादिकं चानवदग्रं दीर्घमध्यं चतुरन्तसंसारकान्तारं भूयोभूयोऽनुपर्यटिष्यन्ति, ते नो सेत्स्यन्ति, नो भोत्स्यन्ति यावन्नो सर्वदुःखानामन्तं करिष्यन्ति। एषा तुला, एतत्प्रमाणमेतत्समवसरणम्, प्रत्येकं तुला, प्रत्येकं प्रमाणं, प्रत्येकं समवसरणम्। तत्र ये ते श्रमणाः माहनाः एवमाख्यान्ति यावदेवं प्ररूपयन्ति—सर्वे प्राणाः सर्वाणि भूतानि, सर्वे जीवाः, सर्वे सत्त्वाः न हन्तव्याः नाज्ञापयितव्याः, न परिग्रहीतव्याः नोपद्रावयितव्याः ते नो आगामिनि छेदाय ते नो आगामिनि भेदाय यावज्जातिजरा-मरण-योनि-जन्म-संसार-पुनर्भव-गर्भवास-भवप्रपंचकलंकलीभागिनो भविष्यन्ति। ते नो बहूनां दण्डनानां यावन्नो बहूनां मुण्डनानां यावद् बहूनां दुःखदौर्मनस्यानां नो भागिनो भविष्यन्ति। अनादिकं च अनवदग्रं च दीर्घमध्यं चतुरन्तसंसारकान्तारं भूयो भूयो नो अनुपर्यटिष्यन्ति। ते सेत्स्यन्ति, ते भोत्स्यन्ति यावद् सर्वदुःखानामन्तं करिष्यन्ति ॥ सू० ४१ ॥

अन्वयार्थ

(**णाणापन्ना णाणाछंदा णाणासीला णाणादिट्ठी णाणरुइ णाणारंभा णाणाज्झवसाणसंजुत्ता धम्माणं आदिकरा सव्वे पावादुआ मंडलिबंधं किच्चा एगओ चिट्ठंति**) नाना प्रकार की बुद्धि, अभिप्राय, स्वभाव, दृष्टि, रुचि, आरम्भ और निश्चय रखने वाले धर्म के आदि प्रवर्तक सभी प्रावादुक किसी एक स्थान में मण्डल बाँधकर बैठे हों, (**पुरिसे य सागणियाणं इंगालाणं बहुपडिपुन्नं पाइं अओमएणं संडासएणं गहाय**) वहाँ कोई पुरुष आग के अंगारों से भरी हुई किसी पात्री (बर्तन) को लोहे की संडासी से पकड़कर लाए। (**णाणापन्ने जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ते धम्माणं आइगरे ते सव्वे पावाउए एवं वयासी**) वह नाना प्रकार की बुद्धि, अभिप्राय, स्वभाव, दृष्टि, रुचि, आरम्भ और निश्चय वाले धर्म के आदि-प्रवर्तक उन प्रावादुकों से कहे कि (**हं भो णाणापन्ना जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ता धम्माणं आइगरा पावाउया**) अजी, भिन्न-भिन्न प्रकार की बुद्धि आदि तथा निश्चय वाले धर्मों के आदि प्रवर्तक प्रावादुको ! (**तुब्भे इमं ताव सागणियाणं इंगालाणं बहुपडिपुन्नं पाइं गहाय मुहुत्तगं मुहुत्तयं पाणिणा धरेह**) आप लोग आग के अंगारों से भरी हुई पात्री थोड़ी-थोड़ी देर तक हाथ में थाम रखें। (**णो बहुसंडासगं संसारियं कुज्जा**) संडासी की सहायता न लें। (**णो बहुअग्गिथंभणियं कुज्जा**) आग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को न बुझायें या न कम करें। (**णो बहु साहम्मियवेयावडियं कुज्जा**) इस आग से अपने साधर्मिकों की वैयावृत्य (सेवा या उपकार) भी न कीजिए, (**णो बहु परधम्मियवेयावडियं कुज्जा**) तथा अन्य धर्म वालों की भी वैयावृत्य न कीजिए। (**उज्जुया णियागपडिवन्ना अमायं कुव्वमाणा पाणिं पसारेह**) किन्तु सरल एवं मोक्षाराधक बनकर कपट न करते हुए अपने हाथ फैलाइए। (**इति वुच्चा से पुरिसे तेसिं पावादुयाणं तं सागणियाणं इंगालाणं पाइं बहुपडिपुन्नं अओमएणं संडासएणं गहाय पणिंसु णिसिरति**) यों कहकर वह पुरुष आग के धधकते अंगारों से भरा हुआ वह बर्तन लोहे की संडासी से पकड़कर उन प्रावादुकों (विविध मतवादियों) के हाथों पर रखे, (**तए णं ते पावादुया णाणापन्ना जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ता धम्माणं आइगरा पाणिं पडिसाहरंति**) तब वे नाना बुद्धि, अभिप्राय और अध्यवसान (निश्चय) आदि वाले, धर्म के आदि-प्रवर्तक प्रावादुक अपने हाथ को अवश्य ही हटा लेंगे। (**तए णं से पुरिसे धम्माणं आदिगरे जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ते ते सव्वे पावादुए एवं वयासी**) यह देखकर वह पुरुष नाना प्रकार की प्रज्ञा और निश्चय वाले धर्म के आदिप्रवर्तक उन प्रावादुकों से इस प्रकार कहे—(**हं भो णाणापन्ना णाणाज्झवसाणसंजुत्ता धम्माणं आइगरा पावादुया कम्हा णं तुब्भे पाणिं पडिसाहरह ?**) अजी, नाना बुद्धि और निश्चय वाले धर्मों के आद्य प्रवर्तक प्रावादुको ! तुम अपने हाथ को क्यों हटा रहे हो ? (**पाणिं नो डहिज्जा**) इसलिए कि हाथ न जले ! (**दड्ढे किं भविस्सइ**) हाथ जल जाने से क्या होगा ? (**दुक्खं**) यदि दुःख होगा (**दुक्खंति मन्नमाणा पडिसाहरह**) दुःख के भय से यदि तुम हाथ हटा लेते हो तो (**एस तुला एस पमाणे एस समोसरणे**) यही बात आप सबके लिए समान समझिए, यही सबके लिए प्रमाण मानिए, यही धर्म का समुच्चय समझिए। यही बात प्रत्येक के लिए तुल्य समझिए, यही प्रत्येक के लिए प्रमाण मानिए, और प्रत्येक के लिए धर्म का समुच्चय समझिए। (**तत्थं णं जेते समणा माहणा एवमाइक्खंति जाव परूवंति सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता हंतव्वा अज्जावेयव्वा परिघेतव्वा परितावेयव्वा किलामेयव्वा उद्दवेयव्वा**) उन प्रावादुकों में से कई तथाकथित श्रमण और माहन धर्म के प्रसंग में ऐसा कहते हैं, ऐसी प्ररूपणा करते हैं कि "सब प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों का हनन करना चाहिए, उन पर आज्ञा चलाना चाहिए, उन्हें दासी-दास आदि के रूप में रखना चाहिए, उन्हें संताप देना चाहिए, उन्हें क्लेश और उपद्रव देना चाहिए।" (**ते आगंतुछेयाए ते आगंतुभेयाए जाव ते आगंतु जाइजरामरणजोणिजम्मणसंसारपुणब्भवासभवपवंचकलंकलीभागिणो भविस्संति**) वे भविष्य में उत्पत्ति, जरा, जन्म, मरण, बार-बार संसार में उत्पत्ति, गर्भवास और सांसारिक प्रपंच में पड़कर महाकष्ट के भागी होंगे। (**ते बहूणं दंडणाणं बहूणं मुंडणाणं तज्जणाणं ताडणाणं अदुबंधणाणं जाव घोलणाणं माइमरणाणं पिइमरणाणं भाइमरणाणं भगिणीमरणाणं भज्जापुत्तधूतसुण्हामरणाणं**)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वे बहुत दण्ड के भागी होंगे, वे बहुत मुण्डन, तर्जन, ताड़न, खोड़ीबन्धन, यहाँ तक कि घोले जाने के भागी होंगे, वे माता, पिता, भाई, बहन, भार्या, पुत्री, पुत्रवधू आदि के मरणदुःख के भागी होंगे, (**दारिद्दाणं दोहग्गाणं अप्पियसंवासाणं पियविप्पओगाणं बहूणं दुक्खदोम्मणस्साणं आभागिणो भविस्संति**) वे दरिद्रता, दुर्भाग्य, अप्रिय व्यक्ति के साथ निवास, प्रियवियोग तथा बहुत से दुःखों और वैमनस्य के भागी होंगे। (**अणादियं च णं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं भुज्जो भुज्जो अणुपरियट्टिस्संति**) वे आदि-अन्तरहित तथा दीर्घ मध्य वाले चार गतियों से युक्त संसाररूपी जंगल में बार-बार परिभ्रमण करते रहेंगे। (**ते णो सिज्झिस्संति णो बुज्झिस्संति जाव णो सव्वदुक्खाणं अंतं करिस्संति**) वे सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकेंगे, वे बोध को प्राप्त नहीं कर सकेंगे, यहाँ तक कि वे सब दुःखों का अन्त नहीं कर सकेंगे। (**एस तुला एस पमाणे एस समोसरणे पत्तेयं तुला पत्तेयं पमाणे पत्तेयं समोसरणे**) जैसे सावद्य अनुष्ठान करने वाले अन्ययूथिक सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकते हैं, वैसे ही सावद्य अनुष्ठान करने वाले स्वयूथिक भी सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकते और अनेक दुःखों के भागी होते हैं, यह सबके लिए तुल्य है, यह प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध हैं कि दूसरों को पीड़ा देने वाले चोर, जार आदि प्रत्यक्ष ही दण्ड भोगते नजर आते हैं, समस्त आगमों का यही सारभूत विचार है। यह (सिद्धान्त) प्रत्येक प्राणी के लिए तुल्य है, प्रत्येक के लिए यह प्रमाण सिद्ध है, और प्रत्येक के लिए आगमों का यही सारभूत विचार है। (**तत्थं णं जे ते समणा माहणा एवमाइक्खंति जाव परूवेंति— सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण उद्दवेयव्वा ते णो आगंतुछेयाए णो आगंतुभेयाए जाव जाइजरामरणजोणिजम्मणसंसारपुणब्भवगब्भवासभवपवंचकलंकलीभागिणो भविस्संति**) परन्तु जो सुविहित उत्तम श्रमण एवं माहन यह कहते हैं कि समस्त प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों को मारना नहीं चाहिए, उन्हें अपनी आज्ञा में नहीं चलाना चाहिए, एवं उन्हें बलात् दास-दासी आदि के रूप में गुलाम नहीं बनाना चाहिए, तथा उन्हें डराना-धमकाना या पीड़ित करना नहीं चाहिए, वे महात्मा भविष्य में अपने अंगों के छेदन-भेदन आदि कष्टों को प्राप्त नहीं करेंगे, वे जन्म, जरा, मरण, अनेक योनियों में जन्म धारण, संसार में पुनः-पुनः जन्म, गर्भवास तथा संसार के अनेकविध दुःखों के भाजन नहीं होंगे। (**ते णो बहूणं दंडणाणं जाव बहूणं मुंडणाणं जाव बहूणं दुक्ख दोम्मणस्साणं णो भागिणो भविस्संति**) वे बहुत दण्ड, बहुत मुण्डन, तथा बहुत दुःख और दौर्मनस्य के भाजन नहीं होंगे। (**अणादियं च णं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंत संसारकंतारं भुज्जो भुज्जो णो अणुपरियट्टिस्संति**) वे आदि अन्तरहित तथा दीर्घकालीन मध्यरूप चातुर्गतिक संसार रूपी घोर वन में बार-बार भ्रमण नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करेंगे। (ते **सिज्झिस्संति जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करिस्संति**) वे सिद्धि को प्राप्त करेंगे, बुद्ध और मुक्त हो जाएंगे तथा दुःखों का अन्त करेंगे।

व्याख्या

३६३ प्रावादुक, उनके विचार और दुष्परिणाम

इस सूत्र में ३६३ प्रावादुकों के विचार और तदनुरूप दुष्परिणाम का विस्तृत रूप से उल्लेख किया गया है और अन्त में श्रमण निर्ग्रन्थों के सुविचार और उनके सुपरिणाम का भी संक्षेप में जिक्र किया गया है।

पूर्व सूत्र में बौद्ध, सांख्य, नैयायिक, वैशेषिक आदि ३६३ प्रावादुकों का क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी और अज्ञानवादी इन ४ कोटि के मतवादियों के रूप में उल्लेख करके उन्हें अधर्मस्थान में परिगणित किया गया था। इस सूत्र में यह स्पष्ट किया गया है कि उन चारों कोटि के मतवादियों को अधर्मस्थान में क्यों परिगणित किया गया है।

जो व्यक्ति सर्वज्ञ के आगमों या सिद्धान्तों को न मानकर किसी दूसरे मत के प्रवर्तक होते हैं, वे अन्यतीर्थी या प्रावादुक कहलाते हैं। पूर्व सूत्र में ऐसे प्रावादुकों की संख्या ३६३ बताई गई है। ये प्रावादुकगण स्वरचित आगम से पहले किसी अन्य सर्वज्ञ-भाषित आगम का अस्तित्व नहीं मानते। इनमें से प्रत्येक प्रावादुक का दावे के साथ यह कथन है—मैं ही जगत को सर्वप्रथम कल्याण का मार्ग बताने वाला हूँ। मुझसे पहले कोई अन्य सत्पथ-प्रदर्शक पुरुष नहीं था। इसीलिए शास्त्रकार ने इन प्रावादुकों को '**आदिकरा**' कहा है, अर्थात् वे अपने-अपने मतों (धर्मों) के आदिकर्ता हैं। आर्हत मत (धर्म) के किसी भी धर्म-प्रवर्तक या धर्मोपदेशक को इनकी तरह धर्म का आदिकर नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उत्तरवर्ती केवलज्ञानी अपने पूर्ववर्ती केवलज्ञानियों द्वारा प्रतिपादित अर्थों की ही व्याख्या करते हैं, यह जैनदर्शन की मान्यता है। पूर्व केवली ने जिस अर्थ को जिस रूप में देखा है, उत्तरवर्ती या दूसरे केवली भी उस अर्थ को उसी रूप में देखते हैं। इसीलिए केवलज्ञानियों के आगमों या सिद्धान्तों में किसी प्रकार का मतभेद नहीं हैं। मगर अन्यतीर्थियों के आगमों यह बात नहीं है। वे एक ही पदार्थ को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखते हैं और भिन्न-भिन्न रूपों में उसकी व्याख्या करते हैं। उदाहरणार्थ—सांख्यदर्शन असत् की उत्पत्ति न मानकर सत् का ही आविर्भाव (उत्पत्ति) और तिरोभाव (विनाश) मानता है। किन्तु नैयायिक और वैशेषिक ऐसा नहीं मानते। वे असत् की उत्पत्ति और सत् का नाश मानकर घट, पट आदि कार्य समूह को एकान्त अनित्य और आकाश, काल, दिशा और आत्मा को एकान्त नित्य मानते हैं। बौद्धदर्शन निरन्वय क्षणभंगवाद को मानकर सभी पदर्थों को क्षणिक बत-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लाता है। बौद्ध मत के अनुसार पूर्वक्षण के घट के साथ उत्तरक्षण के घट की एकान्त भिन्नता है। और अन्वयी द्रव्य कोई नहीं है। इसी तरह मीमांसक और तापसों के शास्त्रों में भी पदार्थों का निरूपण भिन्न-भिन्न रीति से मिलता है। किसी के साथ किसी का मतैक्य नहीं है। यही कारण है कि शास्त्रकार ने इन प्रावादुकों के लिए कहा है—

णाणापन्ना णाणाछंदा णाणासीला णाणादिट्ठी णाणारुई णाणारंभा णाणाज्झवसाणसंजुत्ता।

अर्थात् वे प्रावादुक भिन्न-भिन्न प्रज्ञा, अभिप्राय, शील, दृष्टि, रुचि, आरम्भ और निश्चय वाले हैं।

इन प्रावादुकों को अधर्मस्थानीय सिद्ध करने के लिए शास्त्रकार एक दृष्टान्त देकर अहिंसा की प्रधानता सिद्ध करते हैं, लेकिन अन्यतीर्थी प्रावादुक उसे धर्म का प्रधान अंग और समस्त कल्याणों की जननी तथा स्वर्गापवर्गदात्री नहीं मानते। मान लीजिए, किसी स्थान पर सभी प्रावादुक (अन्यतीर्थी) एक जगह गोलाकार बैठे हों, वहाँ कोई सम्यग्दृष्टि पुरुष आग के अंगारों से भरा हुआ एक बर्तन संडासी से पकड़कर इनके समक्ष लाये और इनसे कहे—"अजी प्रावादुको! आप इस धधकते अंगारों से भरे हुए बर्तन को थोड़ी देर के लिए अपने हाथों में थामे रखें, आप न तो संडासी की सहायता लें, न ही एक दूसरे का सहयोग भी लें और दें।" हमारा विश्वास है कि पहले तो वे प्रावादुक उस बर्तन को हाथ में लेने के लिए हाथ फैलाएँगे लेकिन जब वे उसे अंगारों से भरा देखेंगे तो एकदम पीछे हट जायेंगे और अपने हाथ को जल जाने के भय से हटा लेंगे। उस समय सम्यग्दृष्टि इनसे पूछे कि आप लोग अपने हाथ को क्यों हटा रहे हैं? तब वे लोग यही उत्तर देंगे—"हाथ जल जाने के डर से हम लोग हटा रहे हैं।" उस पर सम्यग्दृष्टि उनसे फिर पूछे—"हाथ जल जाने से क्या होगा?" तो उनका उत्तर होगा—"हमें दुःख होगा।"

उस समय सम्यग्दृष्टि उनसे कहे कि "जैसे आप दुःख से डरते हैं, वैसे ही जगत् के सभी प्राणी दुःख से डरते हैं, फिर वह दुःख चाहे जन्म का हो, या जरा, मरण, रोग, शोक, पीड़ा, दारिद्र्य आदि का हो। जैसे आपको दुःख अप्रिय और सुख प्रिय है, वैसे ही सारे प्राणियों को है। कोई भी प्राणी दुःख नहीं चाहता, प्रत्येक प्राणी सुख का इच्छुक है। यही बात आप अन्य सबके लिए समझें, इसे प्रमाणसिद्ध सत्य मानें और इसी में सभी आगमों ने धर्म माना है, ऐसा स्वीकार करें। इस दृष्टि से प्राणियों पर दया करना, उन्हें कष्ट न देना, धर्म का मुख्य अंग है। जो सब प्राणियों को अपने समान देखता है, वही अहिंसा का पालन करता है। जहाँ अहिंसा है वहीं धर्म का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निवास है इत्यादि।" इस प्रकार अहिंसा धर्म का प्रधान अंग सिद्ध होने पर भी; परमार्थ को न जानने वाले कई अज्ञानी एवं अधर्मपक्षीय श्रमण-माहन हिंसा का समर्थन करते हैं। वे कहते हैं--"देव, यज्ञ आदि कार्यों में तथा धर्म के निमित्त प्राणियों का वध करना हिंसा या पाप नहीं है, अपितु वह धर्म है, अहिंसा है। श्राद्ध के समय रोहित मत्स्य का और देवयज्ञ में पशुओं का वध धर्म का अंग है। इसी तरह किसी खास समय में प्राणियों को दास-दासी बनाना, उन्हें डराना-धमकाना भी धर्म है।"

इस प्रकार के हिंसामय धर्म का समर्थन और उपदेश देने वाले तथाकथित अन्यतीर्थी प्रावादुक महामोह में फँसे हैं। वे अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण करते रहेंगे। वे जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक आदि दुःखों से कभी मुक्त नहीं होंगे, इसीलिए इन प्रावादुकों को प्रथम अधर्मस्थान में समाविष्ट किया गया है। विवेकी पुरुष को अहिंसा धर्म का आश्रय लेना चाहिए। समस्त सुविहित श्रमण एवं माहन अहिंसाधर्म के प्ररूपक हैं। वे प्राणियों को मारने, गुलाम बनाने, जबरन हुक्म में चलाने, डराने-धमकाने आदि के सख्त खिलाफ हैं। वे सभी प्रकार की हिंसाओं का सर्वथा निषेध करते हैं। वे अहिंसा का ही पालन और उपदेश देते हैं, वे किसी से वैर-विरोध, द्वेष, घृणा, मोह और कलह नहीं रखते, किन्तु सभी के प्रति मैत्री, क्षमा, दया, करुणा आदि का व्यवहार करते हैं। वे इस पवित्र अहिंसाधर्म के पालन के फलस्वरूप इस अनादि अनन्त संसार-चक्र में बार-बार पर्यटन नहीं करते, न किसी प्रकार का जन्म, जरा, मरणादि दुःख पाते हैं। वे समस्त दुःखों से मुक्त होकर केवलज्ञान, सिद्धि, मुक्ति आदि प्राप्त करते हैं।

निष्कर्ष यह है कि धर्म और अधर्म ये दो ही स्थान मुख्य हैं। इन दोनों ही स्थानों में सभी प्राणियों की वृत्ति-प्रवृत्तियों का समावेश हो जाता है। पूर्वोक्त ३६३ प्रावादुक अधर्मस्थान के अधिकारी होते हैं, जबकि सम्यग्दृष्टि साधक धर्मस्थान का; क्योंकि वह धर्म के सभी अंगों को वैचारिक एवं आचारिक दृष्टि से स्वीकार करता है।

मूल पाठ

इच्चेतेहिं बारसहिं किरियाठाणेहिं वट्टमाणा जीवा णो सिज्झिंसु णो बुज्झिंसु णो मुच्चिंसु णो परिणिव्वाइंसु जाव णो सव्वदुक्खाणं अंतं करेंसु वा णो करेंति वा णो करिस्संति वा। एयंसि चेव तेरसमे किरियाठाणे वट्टमाणा जीवा सिज्झिंसु बुज्झिंसु मुच्चिंसु परिणिव्वाइंसु जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करेंसु वा करेंति वा करिस्संति वा। एवं से भिक्खू आयट्ठी आयहिते आयगुत्ते आय-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जोगे आयपरक्कमे आयरक्खिए आयाणुकंपए आयनिप्फेडए आयाणमेव पडिसाहरेज्जासि त्ति बेमि ॥ सू० ४२ ॥

संस्कृत छाया

इत्येतेषु द्वादशसु क्रियास्थानेषु वर्तमाना जीवाः नो असिध्यन् नो अबुध्यन् नो अमुञ्चन् नो परिनिर्वृत्ताः यावन्नो सर्वदुःखानामन्तमकार्षुर्वा नो कुर्वन्ति वा करिष्यन्ति वा। एतस्मिन्नेव त्रयोदशे क्रियास्थाने वर्तमाना जीवाः असिध्यन् अबुध्यन् अमुञ्चन् परिनिर्वृत्ताः यावत् सर्वदुःखानामन्तमकार्षुर्वा कुर्वन्ति वा करिष्यन्ति वा। एवं स भिक्षुरात्मार्थी आत्महितः आत्मगुप्तः आत्मयोगः आत्मपराक्रमः आत्मरक्षितः आत्मानुकम्पकः आत्मनिस्सारकः आत्मानमेव प्रतिसंहरेदिति ब्रवीमि ॥ सू० ४२ ॥

अन्वयार्थ

(इच्चेतेहिं बारसहिं किरियाठाणेहिं वट्टमाणा जीवा णो सिज्झिसु णो बुज्झिसु णो मुच्चिसु णो परिणिव्वाइंसु जाव णो सव्वदुक्खाणं अंतं करेंसु वा णो करेंति वा णो करिस्संति वा) पूर्वोक्त १२ क्रियास्थानों में स्थित जीवों ने सिद्धि नहीं प्राप्त की, न बोध तथा मुक्ति प्राप्त की है, उन्होंने निर्वाण भी प्राप्त नहीं किया, यहाँ तक कि उन्होंने समस्त दुःखों का नाश नहीं किया। वर्तमान में भी वे सिद्धि, बोध, मुक्ति, निर्वाण की प्राप्ति या समस्त दुःखों का नाश नहीं करते और न भविष्य में ही वे ऐसा करेंगे। **(एयंसि चेव तेरसमे किरियाठाणे वट्टमाणा जीवा सिज्झिसु बुज्झिसु मुच्चिसु परिणिव्वाइंसु जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करेंसु वा करेंति वा करिस्संति वा)** परन्तु पूर्वोक्त तेरहवें क्रियास्थान में वर्तमान जो जीव हैं, उन्होंने सिद्धि, बोध, मुक्ति और निर्वाण को प्राप्त करके समस्त दुःखों का अन्त किया है, करते हैं तथा भविष्य में भी करेंगे। **(एवं से भिक्खू आयट्ठी आयहिते आयगुत्ते आयजोगे आयपरक्कमे आयरक्खिए आयाणुकंपए आयनिप्फेडए आयाणमेव पडिसाहरेज्जासि)** इस प्रकार १२ क्रियास्थानों को वर्जित करने वाला वह आत्मार्थी, आत्मकल्याण करने वाला, आत्मा को पापों से बचाने वाला, आत्मयोगी, आत्मभाव में पराक्रम करने वाला, आत्मरक्षक (आत्मा को संसाराग्नि से बचाने वाला), आत्मा पर अनुकम्पा करने वाला, आत्मा का जगत् से उद्धार करने वाला उत्तम साधक (भिक्षु) अपनी आत्मा को सभी पापों से निवृत्त करे, **(त्ति बेमि)** यह मैं (सुधर्मास्वामी) कहता हूँ।

व्याख्या

तेरह ही क्रियास्थानों का प्रतिफल

इस सूत्र में शास्त्रकार ने अध्ययन का उपसंहार करते हुए तेरह ही क्रिया-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थानों का संक्षेप में प्रतिफल दे दिया है, ताकि साधक विवेक करके हेय को छोड़ सके, ज्ञेय को जान सके और कथंचित् उपादेय को अमुक सीमा तक ग्रहण कर सके।

तेरह क्रियास्थानों का विस्तृत रूप से वर्णन करने के पश्चात् शास्त्रकार कहते हैं—१२ क्रियास्थान संसार के और तेरहवाँ क्रियास्थान कल्याण का कारण है। वैसे १२ क्रियास्थान तो आत्मार्थी मुमुक्षु साधक के लिए त्याज्य हैं ही, १३वाँ क्रियास्थान भी योग युक्त होने के कारण कथंचित् ग्राह्य भले ही हो, अन्त में वह भी त्याज्य है। यहाँ जो १३वें क्रियास्थान के लिए यह बताया गया है कि "१३वें क्रियास्थान में वर्तमान यानी उसका सेवन करने वाला जीव सिद्धि, बोध, मुक्ति, निर्वाण या सर्व दुःख-मुक्ति पाता है।" यह औपचारिक रूप से बताया गया है क्योंकि जब तक क्रिया (भले ही वह ईर्यापथ क्रिया हो) रहती है, जब तक योग रहते हैं और योगों के रहते मोक्ष, निर्वाण या सिद्धि-मुक्ति नहीं मिल सकती। इसलिए यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि १३वाँ क्रियास्थान प्राप्त होने पर मोक्ष या निर्वाण अवश्य प्राप्त हो जाता है, मोक्ष-प्राप्ति में १३वाँ क्रियास्थान उपकारक है। इसलिए यह स्पष्ट कहा गया है कि पूर्वोक्त बारह क्रियास्थानों के अधिकारी जीव सिद्धि, बोध, मुक्ति, परिनिर्वाण की प्राप्ति या सर्व दुःखों की समाप्ति तीनों काल में नहीं कर पाते, जबकि १३वें क्रियास्थान के अधिकारी जीव सिद्धि, बोध, मुक्ति या निर्वाण की प्राप्ति या सर्वदुःख समाप्ति तीनों काल में कर लेते हैं। अतः १२ क्रियास्थानों को छोड़कर १३वें क्रियास्थानवर्ती मनुष्य सब प्रकार के दुःखों को नष्ट करके परमानन्दरूप मोक्षसुख को प्राप्त करते हैं। परन्तु जो अज्ञानी जीव महामोह के उदय से १२ क्रियास्थानों का सेवन नहीं छोड़ते, वे सदा जन्म-मरण के प्रवाहरूप संसार में पड़े हुए अनन्तकाल तक दुःख के भाजन होते हैं। अतीत में भी जिन्होंने १३वें क्रियास्थान का आश्रय लिया था, वे ही एक दिन अयोगी बनकर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बने हैं, बनेंगे, बनते हैं, मगर बारह क्रियास्थानों का आश्रय लेने वाले नहीं। अतः मुमुक्षु साधक १३वें क्रियास्थान का आश्रय लेकर संसार-सागर से आत्मा का उद्धार करने का प्रयत्न करें।

इस प्रकार सूत्रकृतांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध का क्रियास्थान नामक द्वितीय अध्ययन अमरसुखबोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण हुआ।

।। क्रियास्थान नामक द्वितीय अध्ययन समाप्त ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तृतीय अध्ययन : आहार-परिज्ञा

दूसरे अध्ययन की व्याख्या की जा चुकी है। अब यहाँ से तीसरे अध्ययन की व्याख्या प्रारम्भ की जा रही है। दूसरे अध्ययन में बताया गया था कि जो साधक बारह क्रियास्थानों को छोड़कर तेरहवें क्रियास्थान की आराधना करता हुआ समस्त सावद्यकर्मों से निवृत्त हो जाता है, वह अपने कर्म क्षय करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है। परन्तु आहार की शुद्धि रखे बिना समस्त सावद्य (पापयुक्त) कर्मों से निवृत्ति होनी दुष्कर है, इसलिए निर्दोष आहार के सम्बन्ध में विचार करने हेतु तीसरे अध्ययन का प्रारम्भ किया जाता है।

अध्ययन का संक्षिप्त परिचय

इस अध्ययन का नाम **'आहार-परिज्ञा'** है। इस अध्ययन में यह बताया गया है कि शरीरधारी जीव को प्रायः प्रतिदिन आहार ग्रहण करने की आवश्यकता होती है, क्योंकि इसके बिना शरीर की स्थिति सम्भव नहीं है। साधुओं को भी आहार ग्रहण करना अनिवार्य होता है, परन्तु वे दोषरहित शुद्ध आहार से ही अपने शरीर की रक्षा करें, अशुद्ध से नहीं; यह प्रेरणा देना ही इस अध्ययन का उद्देश्य है। यह अध्ययन जीवों के आहार के सम्बन्ध में विविध परिज्ञान कराता है, इसलिए इसे आहार-परिज्ञा अध्ययन कहते हैं। इसके अतिरिक्त इस अध्ययन में समस्त स्थावर एवं त्रस प्राणियों के आहार के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा है।

इस अध्ययन का प्रारम्भ बीजकायों (अग्रबीज, पर्वबीज, मूलबीज एवं स्कन्ध-बीज) के आहार की चर्चा से होता है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये स्थावर प्राणी हैं, तथा द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव त्रस हैं। इस दृष्टि से देवता, नारक, मनुष्य आदि की गणना भी त्रसकोटि में हो जाती है। मनुष्य के आहार की चर्चा करते हुए इस अध्ययन में मनुष्य की उत्पत्ति, पोषण, संवर्द्धन आदि कैसे होते हैं? इसका निरूपण भी किया गया है। वहाँ बताया गया है कि "मनुष्य का आहार ओदन, कुल्माष एवं त्रस-स्थावर प्राणी हैं।"[1] इस समग्र अध्ययन में देवों और नारकों के आहार की कोई चर्चा नहीं की है। हाँ, निर्युक्ति एवं वृत्ति में इस विषय की चर्चा अवश्य की गई है।

---

१ "ओयणं कुम्मासं तस-थावरे य पाणे....।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निक्षेपदृष्टि से आहार पर विचार

निक्षेप की दृष्टि से विचार करने पर आहार के ६ निक्षेप बनते हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। नाम और स्थापना सुगम हैं। **द्रव्याहार** का मतलब है—किसी द्रव्य का आहार करना, वह द्रव्य सचित्त, अचित्त और मिश्र तीनों प्रकार का हो सकता है। त्रस एवं स्थावर प्राणी सचित्त द्रव्य हैं, जीवरहित द्रव्य अचित्त द्रव्य हैं, और सजीव-निर्जीव मिश्रित द्रव्य मिश्र द्रव्य हैं। जैसे नमक आदि पृथ्वीकाय का आहार करना सचित्त द्रव्याहार है, दूध-घृत आदि जो अचित्त पदार्थ हैं, उनका आहार करना अचित्त द्रव्याहार है।

क्षेत्राहार—जिस क्षेत्र में आहार ग्रहण किया जाता है, या बनाया जाता है, अथवा उसकी व्याख्या की जाती है, उसे क्षेत्राहार कहते हैं।

कालाहार—जिस काल में आहार लिया या बनाया जाता है, अथवा आहार की व्याख्या की जाती है, उसे कालाहार कहते हैं।

भावाहार—प्राणिवर्ग क्षुधा वेदनीय के उदय से जिस वस्तु का आहार ग्रहण करता है, वह 'भावाहार' है। भावाहार प्रायः सभी जिह्वा के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, वे वर्ण गन्ध रस और स्पर्श रूप है।

यह हुई वस्तुओं की दृष्टि से भावाहार की व्याख्या। किन्तु आहार ग्रहण करने वाले प्राणियों की दृष्टि से जब हम भावाहार पर विचार करते हैं और निर्युक्तिकार तथा वृत्तिकार के विचारों को पढ़ते हैं तो स्पष्ट परिलक्षित होता है कि समस्त प्राणी तीन प्रकार से भावाहार को ग्रहण करते हैं— **ओज-आहार, रोम-आहार** और **प्रक्षेप-आहार**। इस दृष्टि से भावाहार तीन प्रकार का होता है। जब तक औदारिक रूप में दृश्यमान शरीर उत्पन्न नहीं होता, तब तक तैजस और कार्मण शरीर और मिश्र शरीरों द्वारा जो आहार ग्रहण किया जाता है, उसे ओज आहार कहते हैं।[1] सभी अपर्याप्त जीव ओज आहार को ही ग्रहण करते हैं।[2] शरीर की रचना पूर्ण होने के बाद जो प्राणी बाहर की त्वचा से या रोम-कूप से आहार ग्रहण करते हैं, उनका वह आहार रोमाहार या लोमाहार कहलाता है। देवों और नारकों का आहार रोमाहार या लोमाहार है। यह निरन्तर चालू रहता है। मुँह में ग्रास (कौर) डालकर जो आहार ग्रहण किया जाता है, उसे प्रक्षेपाहार कहते हैं। ये आहार आहारसंज्ञा की उत्पत्ति होने पर ग्रहण

---

१ **'तेएणं कम्मएणं आहारेइ, अणंतरं जीवे तेणं परं मिस्सेणं जाव सरीरस्स निप्पत्ति।'** —आगम

२ जैसा कि आगम में कहा है—"**ओज आहारा सव्वे जीवा आहारगा अपज्जत्ता।**"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किये जाते हैं। आहारसंज्ञा चार कारणों से होती है—(१) जठराग्नि प्रदीप्त होने से। (२) क्षुधावेदनीय के उदय से। (३) आहार के ज्ञान से और (४) आहार की चिन्ता करने से।

किसी आचार्य का मत है कि औदारिक शरीर की उत्पत्ति होने के बाद भी जब तक इन्द्रिय, प्राण, भाषा और मन की उत्पत्ति नहीं होती, तब तक प्राणी **ओज आहार** को ही ग्रहण करते हैं। इन्द्रिय, प्राण, भाषा और मन की पर्याप्ति होने के बाद प्राणी स्पर्शेन्द्रिय द्वारा जो आहार ग्रहण करते हैं, वह **रोमाहार** कहलाता है। अन्य आचार्यों का मत है कि जो आहार नाक, आँख, कान द्वारा ग्रहण किया जाता है, धातुरूप में परिणत होता है, वह **ओज आहार** है,[1] जो केवल चमड़ी से ग्रहण किया जाता है, वह **रोमाहार** है और जो स्थूल पदार्थ जिह्वा द्वारा इस शरीर में पहुँचाया जाता है, वह **प्रक्षेपाहार** है।

गर्भ में स्थित बालक गर्मी, शीतल वायु और जल से प्रसन्नता का अनुभव करता है, इसका कारण यही है कि वह स्पर्शेन्द्रिय द्वारा रोमाहार ग्रहण करता है। वायु आदि के स्पर्शमात्र से रोमाहार सदा होता रहता है, परन्तु प्रक्षेपाहार सतत् नहीं होता, वह उसी समय होता है, जब प्राणी अपने मुख में कौर डालते हैं, अतः यह प्रक्षेपाहार सबके समक्ष प्रत्यक्ष है, किन्तु रोमाहार सर्वप्रत्यक्ष नहीं है, क्योंकि वह अल्पदृष्टि जीवों को प्रत्यक्ष नहीं होता। रोमाहार सतत् ग्रहण किया जाता है, जबकि प्रक्षेपाहार (**कवलाहार**) नियत समय पर ही लिया जाता है। देवकुरु और उत्तरकुरु में उत्पन्न जीव प्रायः तीन दिनों के अनन्तर आहार ग्रहण करते हैं, जबकि संख्येय वर्ष की आयु वाले जीवों के आहार ग्रहण करने का कोई काल-नियम नहीं होता। जिन प्राणियों के केवल स्पर्शेन्द्रिय होती है, वे पृथ्वीकाय आदि के एकेन्द्रिय स्थावर जीव, देवता और नारकी, कवलाहार (**प्रक्षेपाहार**) नहीं करते। इनके अतिरिक्त शेष द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय तिर्यंच और संसारी मनुष्य, सभी प्रक्षेपाहार (कवलाहार) करते हैं। कवलाहार के बिना इनका शरीर टिक नहीं सकता। इसी प्रकार पूर्व शरीर को छोड़कर प्राणी पुनर्जन्म धारण करने के लिए जिस प्रदेश (गति या योनि) में जाता है, वहाँ वह उसके आहाररूप पुद्गलों को खौलते हुए तेल में डाले हुए पूए या घेवर की तरह ग्रहण करता है। यानी पर्याप्त अवस्था को

---

१ वास्तव में आँख, कान, नाक आदि में तेल, घृत आदि रूप में जो आहार डाला जाता है, उसे ओज आहार में परिगणित न करके प्रक्षेपाहार में परिगणित किया जाना चाहिए।—सं०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाने से पूर्व प्राणी तैजस और कार्मण शरीर तथा मिश्र शरीर के द्वारा ओज-आहार लेता रहता है। देवताओं और नारकियों के मानसिक संकल्प से क्रमशः शुभ या अशुभ पुद्गल आहार के रूप में परिणत होते हैं।

निम्नोक्त चार अवस्थाओं में स्थित जीव किसी प्रकार का आहार ग्रहण नहीं करता—(१) जन्मान्तर ग्रहण करने के समय वक्रगति (विग्रहगति) में रहा हुआ जीव आहार ग्रहण नहीं करता। तत्त्वार्थसूत्र में कहा है—**'एकं द्वौ वाऽनाहारकाः'** अर्थात्—संसारी जीव विग्रह (वक्र) गति के समय एक, दो या तीन समय तक अनाहारक रहते हैं। शेष समयों में वे आहार करते हैं। (२) केवलीसमुद्घात के तीसरे, चौथे और पाँचवे समय में केवली भगवान आहार ग्रहण नहीं करते। (३) शैलेशी अवस्था को प्राप्त अयोगी पुरुष आहार ग्रहण नहीं करते। (४) सिद्धि को प्राप्त जीव आहार ग्रहण नहीं करते। इन चार अवस्थाओं को छोड़कर शेष सभी अवस्थाओं में जीव आहार ग्रहण करता है, यह समझ लेना चाहिए।

कुछ विद्वानों का मत है कि केवली कवलाहार ग्रहण नहीं करते, क्योंकि वे अनन्तवीर्य होते हैं। अल्पवीर्य प्राणी को ही आहार ग्रहण करने की आवश्यकता होती है। तथा वेदना, वैयावृत्य, प्राणरक्षा, ईर्यापथ शोधन, संयम पालन, धर्म चिन्तन, ये ६ कारण जो आहार करने के हैं, वे केवली में नहीं हैं इसलिए केवली भगवान के लिए कवलाहार ग्रहण करना सम्भव नहीं है। परन्तु तात्त्विक दृष्टि से यह कथन युक्ति-संगत नहीं है, क्योंकि वेदनीय कर्म के उदय से आहार ग्रहण किया जाता है, यह सर्व-सम्मत सिद्धान्त है। वह वेदनीय कर्म जैसे केवलज्ञान की प्राप्ति से पूर्व केवली में विद्यमान था, वैसे ही केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् भी शैलेशी अवस्था से पूर्व तक विद्यमान रहता है तथा केवली में कवलाहार ग्रहण करने के निम्नोक्त कारण भी विद्यमान हैं—(१) पर्याप्तित्व, (२) वेदनीय-उदय, (३) आहार को पचाने वाला तैजस शरीर और (४) दीर्घायुष्कता। ये चारों ही कारण केवलज्ञान होने के पश्चात् भी केवली भगवान में रहते हैं। अतः इन कारणों के मौजूद रहते भी केवली कवलाहार ग्रहण न करें इसमें कोई भी कारण या युक्ति नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि संसारी जीव पहले तैजस एवं कार्मण शरीर द्वारा आहार ग्रहण करते हैं, तत्पश्चात् शरीर निष्पत्ति के पूर्व जीव औदारिकमिश्र या वैक्रियमिश्र के द्वारा आहार ग्रहण करते हैं और जब औदारिक या वैक्रिय शरीर की रचना पूर्ण हो जाती है, तब वे औदारिक या वैक्रिय शरीर के द्वारा आहार ग्रहण करते हैं।[1]

---

१ बौद्ध परम्परा में आहार का मुख्यतया एक प्रकार कवलीकार आहार माना गया हैं, जो गन्ध, रस और स्पर्शरूप है। कवलीकार आहार दो प्रकार का है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आहार-परिज्ञा नामक प्रस्तुत अध्ययन में यह स्पष्ट बताया गया है कि जीव-हिंसा के बिना आहार की प्राप्ति दुष्कर है। समस्त प्राणियों की उत्पत्ति एवं आहार को दृष्टिगत रखते हुए यह बात आसानी से फलित की जा सकती है। इसीलिए इस अध्ययन के उपसंहार में शास्त्रकार ने साधुओं के लिए संयम-नियमपूर्वक निर्दोष शुद्ध आहार ग्रहण करने पर जोर दिया है, ताकि कम से कम जीवहिंसा हो और पाप-कर्म का बन्ध न हो।

इस विश्लेषण के प्रकाश में क्रमप्राप्त इस अध्ययन का प्रथम सूत्र इस प्रकार है—

मूल पाठ

सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं – इह खलु आहारपरिण्णा-णामज्झयणे, तस्स णं अयमट्ठे—इह खलु पाईणं वा ४ सव्वतो सव्वावंति च णं लोगंसि चत्तारि बीयकाया एवमाहिज्जंति, तं जहा—अग्गबीया, मूलबीया, पोरबीया, खंधबीया। तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इहेगतिया सत्ता पुढवीजोणिया पुढवीसंभवा पुढवीवुक्कमा, तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थुवुक्कमा णाणाविहजोणियासु पुढवीसु रुक्ख-त्ताए विउट्टन्ति। ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइ-सरीरं। णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति, परि-विद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूवियकडं संतं। अवरेऽवि य णं तेसिं पुढविजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपुग्गलविउव्वित्ता ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतित्तिमक्खायं ॥ सू० ४३ ॥

संस्कृत छाया

श्रुतं मयाऽऽयुष्मन् तेन भगवता एवमाख्यातम्—इह खलु आहार-परिज्ञा नामाध्ययनं, तस्य चायमर्थः। इह खलु प्राच्यां वा ४ सर्वतः सर्व-

---

औदारिक (स्थूल) आहार और सूक्ष्म आहार। जन्मान्तर प्राप्त करते समय गति में रहते हुए जीवों का आहार सूक्ष्म होता है। सूक्ष्म प्राणियों का आहार भी सूक्ष्म हो जाता है। इसके अतिरिक्त स्पर्श-आहार, मनः-संचेतना और विज्ञानरूप तीन प्रकार के आहार और माने गये हैं जो कामादि तीन धातुओं में होते हैं।

—अभिधर्मकोश, तृतीय कोशस्थान, श्लो० ३८-४४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्मिन्नपि लोके चत्वारो बीजकायाः एवमाख्यायन्ते, तद्यथा—अग्रबीजाः, मूलबीजाः, पर्वबीजाः, स्कन्धबीजाः । तेषां च यथाबीजेन यथाऽवकाशेन इहैकतये सत्त्वाः पृथिवीयोनिकाः पृथिवीसम्भवाः, पृथिवीव्युत्क्रमाः कर्मोपगाः कर्मनिदानेन तत्र व्युत्क्रान्ताः नानाविधयोनिकासु पृथिवीष वृक्षतया विवर्तन्ते । ते जीवाः नानाविधयोनिकानां तासां पृथिवीनां स्नेहमाहारयन्ति । ते जीवाः आहारयन्ति पृथिवीशरीरं अप्शरीरं तेजःशरीरं वायुशरीरं वनस्पतिशरीरम् । नानाविधानां त्रसस्थावराणां प्राणानां शरीरमचित्तं कुर्वन्ति परिविध्वस्तं तच्छरीरं पूर्वाहारितं त्वचाहारितं विपरिणतं स्वरूपतः कृतं स्यात् । अपराण्यपि च खलु तेषां पृथिवीयोनिकानां वृक्षाणां शरीराणि नानावर्णानि नानागन्धानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासंस्थानसंस्थितानि नानाविधशरीरपुद्गलविकारितानि । ते जीवाः कर्मोपपन्नाः भवन्तीत्याख्यातम् ॥ सू० ४३ ॥

अन्वयार्थ

(**आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं मे सुयं**) आयुष्मन् ! उन भगवान् श्री महावीर स्वामी ने कहा था, मैंने सुना है । (**इह खलु आहारपरिण्णाणामज्झयणे, तस्स णं अयमट्ठे**) इस सर्वज्ञ तीर्थंकर देव के शासन (प्रवचन) में आहारपरिज्ञा नामक एक अध्ययन है, जिसका अर्थ (भाव) यह है—(**इह खलु पाईणं वा ४ सव्वतो सव्वावंति च णं लोगंसि चत्तारि बीयकाया एवमाहिज्जंति**) इस लोक में पूर्व आदि दिशाओं तथा विदिशाओं में एवं चारों और समस्त लोक में चार प्रकार के बीजकाय वाले जीव होते हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—(**अग्गबीया मूलबीया पोरबीया खंधबीया**) अग्रबीज, मूलबीज, पर्वबीज एवं स्कन्धबीज । (**तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इहेगतिया सत्ता पुढवीजोणिया पुढवीसंभवा पुढवीवुक्कमा**) उन बीजकाय वाले जीवों में जो जिस प्रकार के बीज से और जिस प्रदेश में उत्पन्न होने की योग्यता रखते हैं, वे उस-उस बीज और उस-उस प्रदेश में पृथ्वी पर उत्पन्न होते हैं, और उसी पर स्थित रहते हैं, तथा पृथ्वी पर ही उनका संवर्द्धन-विकास होता है । (**तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा**) पृथ्वी पर उत्पन्न होने, उसी पर स्थित होने और उसी पर बढ़ने वाले वे जीव (**कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहजोणियासु पुढवीसु रुक्खत्ताए विउट्टंति**) कर्म के वशीभूत होकर तथा कर्म से आकर्षित होकर नाना प्रकार की योनि वाली पृथ्वी में वृक्षरूप में उत्पन्न होते हैं । (**ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेंति**) वे जीव नाना जाति वाली पृथ्वी के स्नेह (स्निग्धता) का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आहार करते हैं। (**ते जीवा पुढवीसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वणस्सइसरीरं आहारेंति**) वे जीव पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय का आहार करते हैं। (**णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति**) वे जीव नाना प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियों के शरीर को अचित्त कर देते हैं, (**परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूवियकडं संतं**) वे पृथ्वी आदि के अत्यन्त विध्वस्त उस शरीर को कुछ प्रासुक करते हैं, पहले आहार किए हुए और उत्पत्ति के बाद त्वचा द्वारा आहार किये हुए पृथ्वीकाय आदि शरीरों को वे अपने शरीर के रूप में परिणत कर लेते हैं। (**पुढवीजोणियाणं तेसिं रुक्खाणं अवरेऽवि य सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपुग्गलविउव्वित्ता**) उन पृथ्वीयौनिक (पृथ्वीकाय में उत्पन्न हुए) वृक्षों के दूसरे शरीर भी नाना प्रकार के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और नानाविध अवयव रचनाओं से युक्त तथा अनेकविध पुद्गलों से बने होते हैं। (**ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतित्तिमक्खायं**) वे जीव कर्म के वशीभूत होकर स्थावरयोनि में उत्पन्न होते हैं, यह तीर्थंकरों ने कहा है।

व्याख्या

बीजकायिक जीवों की उत्पत्ति एवं आहार क्या व कैसे ?

इस सूत्र में अध्ययन का प्रारम्भ करते हुए शास्त्रकार ने बीजकाय जीवों के आहार के सम्बन्ध में निरूपण किया है। श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं, कि श्रमण भगवान महावीर ने आहार-परिज्ञा नामक एक अध्ययन का निरूपण किया है, जिसका अभिप्राय यह है कि इस जगत् में एक बीजकाय नामक जीव होते हैं, उनका शरीर ही बीज है, इसलिए वे बीजकाय कहलाते हैं। वे बीजकायिक जीव चार प्रकार के होते हैं—अग्रबीज, मूलबीज, पर्वबीज और स्कन्धबीज। जिनके बीज अग्रभाग में उत्पन्न होते हैं, वे बीज अग्रबीज हैं, जैसे तिल, ताल, आम और शालि आदि। जो मूल से उत्पन्न होते हैं, वे मूलबीज कहलाते हैं, जैसे अदरक आदि। जो पर्व से उत्पन्न होते हैं, वे पर्व बीज कहलाते हैं, जैसे इक्षु आदि। जो स्कन्ध से उत्पन्न होते हैं, वे स्कन्धबीज कहलाते हैं, जैसे सल्लकी आदि।

ये चारों प्रकार के जीव वनस्पतिकायिक जीव हैं। वे अपने-अपने बीजों से उत्पन्न होते हैं, दूसरे के बीज से नहीं। जिस वृक्ष की उत्पत्ति के लिए जो प्रदेश होता है, उसी प्रदेश में वह वृक्ष उत्पन्न होता है, अन्यत्र नहीं होता। तथा जिनकी उत्पत्ति के लिए जो काल, भूमि, जल, आकाश प्रदेश और बीज अपेक्षित हैं, उनमें से एक के न होने पर भी वे उत्पन्न नहीं होते। इस प्रकार वनस्पतिकाय के जीवों की उत्पत्ति में भिन्न-भिन्न काल, भूमि, जल और बीज आदि तो कारण हैं ही, साथ ही कर्म भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारण है। कर्म से प्रेरित होकर ही जीव नाना-विध योनियों में पैदा होता है। इसी-लिए शास्त्रकार कहते हैं—"**कम्मोवगा**।" अर्थात् कर्म से प्रेरित होकर प्राणी वनस्पति-काय में उत्पन्न होते हैं। यद्यपि वे वनस्पतिकायिक जीव अपने-अपने बीज और अपने-अपने सहकारी कारण—काल आदि से ही उत्पन्न होते हैं, तथापि वे पृथ्वीयोनिक कहलाते हैं, क्योंकि उनकी उत्पत्ति के कारण जैसे बीज आदि हैं, वैसे पृथ्वी भी है। पृथ्वी के बिना उनकी उत्पत्ति हो नहीं सकती। पृथ्वी ही उनका आधार है। अतः ये वृक्ष पृथ्वीयोनिक हैं। ये जीव पृथ्वी पर उत्पन्न होते हैं, पृथ्वी पर ही स्थित (टिके) रहते हैं और पृथ्वी पर ही बढ़ते हैं। वे अपने कर्म से प्रेरित होकर उसी वनस्पतिकाय से आकर फिर उसी में उत्पन्न होते हैं। वे जिस पृथ्वी में उत्पन्न होते हैं, उसी पृथ्वी के स्नेह (स्निग्धता) का आहार करते ही हैं, इसके अतिरिक्त जल, तेज, वायु और वनस्पति का भी आहार करते हैं। जैसे माता के उदर में रहने वाला बालक माता के उदर में स्थित पदार्थों का आहार करता हुआ भी माता को पीड़ा नहीं पहुँचाता, वैसे ही वे वृक्ष पृथ्वी के स्नेह का आहार करते हुए भी पृथ्वी को पीड़ा नहीं पहुँचाते। उत्पत्ति के बाद पृथ्वी से भिन्न वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि से युक्त होने के कारण चाहे वे कष्ट भी देते हों, मगर उत्पत्ति के समय वे कष्ट नहीं देते। वे वनस्पतिकायिक जीव जब त्रस-स्थावर प्राणियों का आहार करते हैं तब वे उन्हें पहले अपने शरीर से विध्वस्त करके अचित्त कर देते हैं, फिर पहले आहार किये हुए पृथ्वी आदि के शरीर को अपने रूप में परिणत कर डालते हैं। इनके पत्र, पुष्प, फल, मूल, शाखा और प्रशाखा आदि नाना वर्ण वाले, नाना रस वाले और नाना रचना तथा भिन्न-भिन्न गुण वाले होते हैं।

यद्यपि शाक्य मत वाले इन स्थावरों को जीव का शरीर नहीं मानते, तथापि जीव का लक्षण जो उपयोग है, वह वृक्षों में भी परिलक्षित होता है। अतः इनके जीवत्व की सिद्धि होती है। यह प्रत्यक्ष मालूम होता है कि जिधर आश्रय मिलता है, लता उसी ओर जाती है। तथा विशिष्ट आहार मिलने पर वनस्पति की वृद्धि; और आहार न मिलने पर उसकी कृशता देखी जाती है। इन सब कार्यों को देखते हुए वनस्पति जीव है, यह स्पष्ट सिद्ध होता है। अतः वनस्पति को जीव न मानना भूल है।

जीव अपने पूर्वकृत कर्मों से प्रेरित होकर वनस्पतिकाय में उत्पन्न होते हैं, किसी काल, ईश्वर आदि से प्रेरित होकर नहीं, यह तीर्थंकरों और गणधरों का सिद्धान्त है।

सारांश

इस सूत्र में आहार-परिज्ञा के सन्दर्भ में बीजकायिक जीवों की उत्पत्ति तथा उनके द्वारा आहार ग्रहण करने का ढङ्ग बताया गया है। वास्तव में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वनस्पतिकाय में भी जीवन है और अपने अनुकूल आहार से उत्पत्ति, स्थिति और संवृद्धि होती रहती है।

मूल पाठ

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कम्मा पुढवीजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं पुढवीजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं आउतेउवाउवणस्सइसरीरं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विप्परिणामियं सारूविकडं संतं अवरेऽवि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया, णाणाविहसरीरपुग्गलविउव्विया ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतीतिमक्खायं ॥सू० ४४॥

संस्कृत छाया

अथाऽपरं पुराऽऽख्यातम् इहैकतये सत्त्वाः वृक्षयोनिकाः वृक्षसम्भवाः वृक्षव्युत्क्रमाः तद्योनिकाः तत्सम्भवाः तदुपक्रमाः कर्मोपगाः कर्मनिदानेन तत्र व्युत्क्रमाः पृथिवीयोनिकेषु वृक्षेषु वृक्षतया विवर्त्तन्ते। ते जीवाः तेषां पृथिवीयोनिकानां वृक्षाणां स्नेहमाहारयन्ति, ते जीवाः आहारयन्ति पृथिवीशरीरमप्तेजोवायुवनस्पतिशरीरम्। नानाविधानां त्रसस्थावराणां प्राणानां शरीरमचित्तं कुर्वन्ति। परिविध्वस्तं तत्छरीरं पूर्वाहारितं त्वचाहारितं विपरिणामितं सरूपीकृतं स्यात्। अपराण्यपि च खलु तेषां वृक्षयोनिकानां वृक्षाणां शरीराणि नानावर्णानि नानागन्धानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासंस्थानसंस्थितानि नानाविधशरीरपुद्गलविकारितानि। ते जीवाः कर्मोपपन्नकाः भवन्तीत्याख्यातम् ॥सू० ४४॥

अन्वयार्थ

(**अहावरं पुरक्खायं**) इसके पश्चात् श्री तीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकाय का दूसरा भेद बताया है। (**इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया**) कोई वनस्पति वृक्ष में ही उत्पन्न होती है, इसलिए उसे वृक्षयोनिक कहते हैं, (**रुक्खसंभवा**) वह वृक्ष में ही स्थित रहती है, (**रुक्खवुक्कमा**) और वृक्ष में ही वृद्धि को प्राप्त होती है, (**तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोववन्नगा कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा पुढवीजोणिएहिं रुक्खेहिं रु**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रुक्खत्ताए विउट्टंति) पूर्वोक्त प्रकार से वृक्ष में उत्पन्न और उसी में स्थिति और वृद्धि को प्राप्त करने वाले कर्म के वशीभूत वे वनस्पतिकाय के जीव कर्म से आकर्षित होकर पृथ्वीयोनिक वृक्षों में वृक्ष रूप से उत्पन्न होते हैं। (**ते जीवा तेसिं पुढवीजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति**) वे जीव उन पृथ्वीयोनिक वृक्षों से स्नेह का आहार करते हैं, (**ते जीवा पुढवीसरीरं आउतेउवाउवणस्सइसरीरं आहारेंति**) वे जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के शरीर का आहार करते हैं। (**णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति**) वे नाना प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियों के शरीर को अचित्त कर डालते हैं। (**परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणामियं सारूविकडं संतं**) वे परिविध्वस्त (प्रासुक) किये हुए एवं पहले आहार किये हुए तथा त्वचा द्वारा आहार किये हुए पृथ्वी आदि शरीरों को पचाकर अपने रूप में परिणत कर लेते हैं। (**तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं अवरेऽवि य सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपुग्गलविउव्विया**) उन वृक्ष-योनिक वृक्षों के नाना वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और अवयव रचना से युक्त दूसरे शरीर भी होते हैं, जो नाना प्रकार के शरीर वाले पुद्गलों से बने हुए होते हैं। (**ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतीतिमक्खायं**) वे जीव कर्म के वशीभूत होकर पृथ्वीयोनिक वृक्षों में वृक्ष रूप से उत्पन्न होते हैं, यह श्री तीर्थंकरदेव ने कहा है।

व्याख्या

वृक्षयोनिक वृक्षों की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और आहार

पूर्व सूत्र में पृथ्वीयोनिक वृक्षों की उत्पत्ति, आहार आदि का वर्णन किया गया था, अब इस सूत्र में शास्त्रकार उन वृक्षों का वर्णन करते हैं, जो वृक्षयोनिक होते हैं। तीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकाय का दूसरा भेद बताया है, वह है—वृक्षयोनिक वृक्ष; जो वृक्ष वृक्ष में ही उत्पन्न होते हैं, वृक्ष से ही जिनकी उत्पत्ति होती है, वृक्ष में ही वे टिके रहते हैं और वृक्ष में ही बढ़ते हैं, विकसित होते हैं। ये वृक्षयोनिक एवं वृक्ष में ही उत्पत्ति, स्थिति एवं वृद्धि वाले वृक्षगत जीव भी अपने कर्मों के वश ही होते हैं। कर्मों के निमित्त से ही वृक्ष में बढ़ते हुए वे जीव पृथ्वीयोनिक वृक्षों में वृक्ष रूप में उत्पन्न होकर वृक्षयोनिक वृक्षों के स्नेह का आहार करते हैं। वे पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीर का भी आहार करते हैं। वे अनेक प्रकार के त्रस और स्थावर जीवों के सचित्त शरीर का रस खींचकर उन्हें अचित्त कर देते हैं, फिर अचित्त किये हुए तथा पहले आहार किये हुए एवं त्वचा के द्वारा आहार किये हुए पृथ्वी आदि के शरीरों को पचाकर अपने रूप में परिणत कर लेते हैं। उन वृक्षयोनिक वृक्षों के अन्य शरीर भी होते हैं, जो अनेक वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से युक्त होते हैं, अनेक प्रकार के आकार-प्रकार, डीलडौल और ढाँचे वाले होते हैं तथा अनेक प्रकार के शारीरिक पुद्गलों से बने हुए होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ये वृक्षयोनिक वृक्ष के जीव भी अपने कर्मों से प्रेरित होकर ही इस शरीर को पाते हैं, किसी ईश्वर, काल आदि से प्रेरित होकर नहीं। इन वृक्षों का वर्णन भी पूर्व सूत्र में वर्णित पृथ्वीयोनिक वृक्षों के समान ही समझ लेना चाहिए।

मूल पाठ

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा रुक्खजोणिसु रुक्खत्ताए विउट्टंति। ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं आउतेउवाउवणस्सइसरीरं, तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति, परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणामियं सारूविकडं संतं। अवरेऽवि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावन्ना जाव ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतीतिमक्खायं॥ सू० ४५॥

संस्कृत छाया

अथाऽपरं पुराऽऽख्यातम् इहैकतये सत्त्वाः वृक्षयोनिकाः वृक्षसम्भवाः वृक्षव्युत्क्रमाः तद्योनिकाः तत्सम्भवाः तदुपक्रमा कर्मोपगाः कर्मनिदानेन तत्र व्युत्क्रमाः वृक्षयोनिकेषु वृक्षेषु वृक्षतया विवर्त्तन्ते। ते जीवाः तेष वृक्षयोनिकानाम् वृक्षाणां स्नेहमाहारयंति ते जीवाः आहारयन्ति पृथिवीशरीरमप्तेजोवायुवनस्पतिशरीरं त्रसस्थावराणां प्राणानां शरीरमचित्तं कुर्वन्ति, परिविध्वस्तं तच्छरीरं पूर्वाहारितं त्वचाहारितं विपरिणामितं सरूपीकृतं स्यात्। अपराण्यपि च खलु तेषां वृक्षयोनिकानां वृक्षाणां शरीराणि नानावर्णानि यावत् ते जीवाः कर्मोपपन्नकाः भवन्तीत्याख्यातम्॥ सू० ४५॥

अन्वयार्थ

(**अहावरं पुरक्खायं**) श्री तीर्थंकरदेव ने इसके पश्चात् वनस्पतिकाय के जीवों का अन्य भेद भी बताया है। (**इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवुक्कमा**) कई जीव वृक्ष में उत्पन्न होते हैं, उसी में रहते हैं और उसी में बढ़ते हैं। (**तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा**) वे जीव वृक्ष से उत्पन्न होने वाले, वृक्ष में ही स्थित रहने वाले और वृक्ष में ही संवृद्धि पाने वाले होते हैं। (**कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा रुक्खजोणिएसु**) वे जीव कर्म के वशीभूत होकर तथा कर्म के कारण ही उन वृक्षों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में आकर (**रुक्खत्ताए विउट्टंति**) वृक्ष रूप में उत्पन्न होते हैं। (**ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति**) वे जीव उन वृक्षों से उत्पन्न वृक्षों के स्नेह का आहार करते हैं। (**ते जीवा पुढवीसरीरं आउतेउवाउवणस्सइसरीरं आहारेंति**) इसके अतिरिक्त वे जीव पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीर का आहार करते हैं। (**तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति**) वे त्रस और स्थावर प्राणियों के शरीर को अचित्त कर डालते हैं। (**परिविद्धत्थं पुव्वाहारियं तयाहारियं तं सरीरं विपरिणामियं सारूविकडं संतं**) वे प्रासुक किये हुए तथा पहले खाये हुए और बाद में त्वचा द्वारा खाये हुए पृथ्वी आदि के शरीरों को पचाकर अपने रूप में मिला लेते हैं। (**तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं अवरेऽवि य सरीरा णाणावण्णा जाव**) उन वृक्षयोनिक वृक्षों के अनेक वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले दूसरे शरीर भी होते हैं, (**ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतीतिमक्खायं**) वे जीव कर्म के वशीभूत होकर वृक्षयोनिक वृक्षों में उत्पन्न होते हैं, यह श्री तीर्थंकरदेव ने कहा है।

व्याख्या

वृक्षयोनिक वृक्षों में उत्पन्न होने वाले वृक्षयोनिक वृक्ष

पूर्व सूत्र में पृथ्वीयोनिक वृक्षों में वृक्ष रूप से उत्पन्न होने वाले वनस्पतिकायिक जीवों की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि एवं आहार के सम्बन्ध में वर्णन किया गया था, जबकि इस सूत्र में उन वृक्षयोनिक वृक्षों में ही वृक्षरूप से उत्पन्न होने वाले विशिष्ट वृक्षयोनिक वृक्षों का वर्णन किया गया है। दोनों की व्याख्या प्रायः समान है। सभी वर्णन पूर्व सूत्र की व्याख्या के अनुसार जान लेना चाहिए।

मूल पाठ

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा रुक्खजोणिएसु रुक्खेसु मूलत्ताए कंदत्ताए खंधत्ताए तयत्ताए सालत्ताए पवालत्ताए पत्तत्ताए पुप्फत्ताए फलत्ताए बीयत्ताए विउट्टंति। ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं आउतेउवाउवणस्सइसरीरं, णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति, परिविद्धत्थं तं सरीरगं जाव सारूविकंड संतं। अवरेऽवि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं मूलाणं कंदाणं खंधाणं तयाणं सालाणं पवालाणं जाव बीयाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा जाव णाणाविहसरीरपुग्गलविउव्विया। ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतीतिमक्खायं ॥ सू० ४६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

अथाऽपरं पुराऽऽख्यातम् इहैकतये सत्त्वाः वृक्षयोनिकाः, वृक्षसम्भवाः, वृक्षव्युत्क्रमा तद्योनिकाः सत्सम्भवाः तदुपक्रमाः वृक्षयोनिकेषु वृक्षेष मूलतया कन्दतया स्कन्धतया त्वक्तया सालतया प्रवालतया पत्रतया पुष्पतया फलतया बीजतया विवर्तन्ते । ते जीवास्तेषां वृक्षयोनिकानां वृक्षाणां स्नेहमाहारयन्ति, ते जीवाः आहारयन्ति पृथिवीशरीरमप्तेजोवायुवनस्पतिशरीरम्, नानाविधानां त्रसस्थावराणां प्राणानां शरीरमचित्तं कुर्वन्ति, परिविध्वस्तं तत् शरीरं यावत् सरूपीकृतं स्यात् । अपराण्यपि च खलु तेषां वृक्षयोनिकानां मूलानां कन्दानां स्कन्धानां त्वचां शालानां प्रवालानां यावत् बीजानां शरीराणि नानावर्णानि नानागन्धानि यावन्नानाविधशरीरपुद्गलविकारितानि भवन्ति । ते जीवाः कर्मोपपन्नकाः भवन्तीत्याख्यातम् ॥ सू० ४६ ॥

अन्वयार्थ

(**अहावरं पुरक्खायं**) श्री तीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकायिक जीवों के और भेद-प्रभेद भी बताये हैं। (**इहेगइया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवुक्कमा**) इस जगत् में कई जीव वृक्ष से उत्पन्न होते हैं, वृक्ष में ही स्थित रहते हैं, वृक्ष में ही वृद्धि को प्राप्त होते हैं। (**तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा रुक्खजोणिएसु रुक्खेसु**) वे वृक्ष से उत्पन्न, वृक्ष में ही स्थिति एवं वृद्धि को प्राप्त होने वाले जीव कर्मवश तथा कर्म से प्रेरित होकर वृक्षों में आते हैं और वृक्षयोनिक वृक्षों में (**मूलत्ताए कंदत्ताए खंधत्ताए तयत्ताए सालत्ताए पवालत्ताए पत्तत्ताए पुप्फत्ताए फलत्ताए बीयत्ताए विउट्टंति**) मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा (छाल), शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल एवं बीज रूप में उत्पन्न होते हैं। (**ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति**) वे जीव उन वृक्षयोनिक वृक्षों के स्नेह का आहार करते हैं। (**ते जीवा पुढवीसरीरं आउ-तेउ-वाउ-वणस्सइसरीरं आहारेंति**) वे जीव पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीर का भी आहार करते हैं। (**णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति**) वे जीव नाना प्रकार के त्रसों और स्थावर प्राणियों के सचित्त शरीर से रस खींचकर उसे अचित्त कर डालते हैं। (**परिविद्धत्थं तं सरीरगं जाव सारूविकडं संतं**) वे उनके शरीरों को प्रासुक (क्षत-विक्षत) करके अपने रूप में परिणत कर लेते हैं। (**अवरेऽवि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं मूलाणं कंदाणं खंधाणं तयाणं सालाणं पवालाणं जाव बीयाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा जाव णाणाविहसरीरपुग्गल विउव्विया**) उन वृक्षयोनिक (वृक्ष से उत्पन्न) मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल और बीज रूप जीवों के और भी शरीर होते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं, जो अनेक वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से युक्त तथा नाना प्रकार के पुद्गलों से बनते हैं, **(ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतीतिमक्खायं)** वे जीव कर्मवश होकर ही वहाँ उत्पन्न होते हैं, ऐसा श्री तीर्थंकर देव ने कहा है।

व्याख्या

वृक्ष के मूल आदि अवयवों की उत्पत्ति एवं आहार आदि का निरूपण

इस सूत्र में वृक्ष के अंगोपांगों के रूप में उत्पन्न मूल, कन्द आदि दस वनस्पतिकायिक जीवों की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि एवं आहार के सम्बन्ध में पूर्व सूत्रवत् वर्णन किया गया है। वास्तव में मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वक् (छाल), शाखा, प्रवाल (कोंपल), पत्र (पत्ते), फल, फूल एवं बीज—वृक्ष के इन अवयवरूप दस वस्तुओं के जीव पृथक-पृथक हैं, और वृक्ष का सर्वांग व्यापक जो जीव है, वह इनसे भिन्न है। ये सब अवयव वृक्षयोनिक वृक्षों में मूल, कन्द, स्कन्ध, छाल, शाखा, कोंपल, पत्ते, फूल, फल एवं बीज के रूप में अलग-अलग उत्पन्न होते हैं। तथा पृथ्वीयोनिक वृक्ष जैसे पृथ्वी से उत्पन्न होकर पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीरों का आहार करते हैं; तथा विभिन्न त्रस-स्थावर प्राणियों के शरीर का रस चूसकर ये उन्हें अचित्त कर डालते हैं, और फिर अचित्त किये हुए तथा आहार किये हुए उन-उन जीवों के अचित्त शरीर को अपने रूप में परिणत कर लेते हैं। और जैसे पृथ्वीयोनिक वृक्षों के विभिन्न वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले शरीर होते हैं, इसी तरह इन मूल, कन्द आदि दस अवयव रूप वनस्पतिकायिक जीवों के भी होते हैं। तथा ये जीव अपने पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मानुसार कर्म से प्रेरित होकर ही इन विभिन्न योनियों में उत्पन्न होते हैं। किसी काल या ईश्वर आदि के प्रभाव से नहीं। शेष बातें पूर्ववत् जान लेनी चाहिए।

मूल पाठ

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोववन्नगा कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं अज्झारोहत्ताए विउट्टंति। ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव सारूविकडं संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं अज्झारोहाणं सरीरा णाणावन्ना जाव भवंतीतिमक्खायं॥ सू० ४७॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता अज्झारोहजोणिया अज्झारोहसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा रुक्खजोणिएसु अज्झारोहेसु अज्झारोहत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं अज्झारोहाणं सिणेहमा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव सारूविकडं संतं। अवरेऽवि य णं तेसिं अज्झारोहजोणियाणं अज्झारोहाणं सरीरा णाणावन्ना जावमक्खायं ॥ सू० ४८ ॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता अज्झारोहजोणिया अज्झारोहसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा अज्झारोहजोणिएसु अज्झारोहत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं अज्झारोहजोणियाणं अज्झारोहाणं सिणेहमाहारेंति। ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं आउसरीरं जाव सारूविकडं संतं अवरेऽवि य णं तेसिं अज्झारोहजोणियाणं अज्झारोहाणं सरीरा णाणावन्ना जावमक्खायं ॥ सू० ४९ ॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता अज्झारोहजोणिया अज्झारोहसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा अज्झारोहजोणिएसु अज्झारोहेसु मूलत्ताए जाव बीयत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं अज्झारोहजोणियाणं अज्झारोहाणं सिणेहमाहारेंति जाव अवरेऽवि य णं तेसिं अज्झारोहजोणियाणं मूलाणं जाव बीयाणं सरीरा णाणावन्ना जावमक्खायं ॥ सू० ५० ॥

संस्कृत छाया

अथाऽपरं पुराऽऽख्यातम् इहैकतये सत्त्वाः वृक्षयोनिकाः वृक्षसम्भवाः वृक्षव्युत्क्रमाः तद्योनिकाः तत्संभवाः, तदुपक्रमाः, कर्मोपपन्नकाः कर्मनिदानेन तत्र व्युत्क्रमाः वृक्षयोनिकेषु वृक्षेषु अध्यारुहतया विवर्तन्ते। ते जीवास्तेषां वृक्षयोनिकानां वृक्षाणां स्नेहमाहारयन्ति। ते जीवाः आहारयन्ति पृथिवीशरीरं यावत् सरूपीकृतं स्यात्। अपराण्यपि तेषां वृक्षयोनिकामध्यारुहाणां शरीराणि नानावर्णानि यावद् भवन्तीत्याख्यातम् ॥ सू० ४७ ॥

अथाऽपरं पुराऽऽख्यातम् इहैकतये सत्त्वाः अध्यारुहयोनिकाः अध्यारुहसम्भवाः यावत् कर्मनिदानेन तत्रोपक्रमाः वृक्षयोनिकेषु अध्यारुहेषु अध्यारुहतया विवर्तन्ते। ते जीवास्तेषां वृक्षयोनिकानामध्यारुहाणां स्नेहमाहारयन्ति। ते जीवाः आहारयन्ति पृथिवीशरीरं यावत् सरूपीकृतम् - अपराण्यपि तेषामध्यारुहयोनिकानामध्यारुहाणां शरीराणि नानावर्णानि यावदाख्यातानि ॥ सू० ४८ ॥

अथाऽपरं पुराऽऽख्यातम् इहैकतये सत्त्वाः अध्यारुहयोनिकाः अध्या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रुहसम्भवाः, यावत् कर्मनिदानेन तत्र व्युत्क्रमाः अध्यारुहयोनिकेषु अध्यारुहतया विवर्त्तन्ते। ते जीवास्तेषाम् अध्यारुहयोनिकानामध्यारुहाणां स्नेहमाहारयन्ति। ते जीवा आहारयन्ति पृथिवीशरीरं यावत् सरूपी कृतम् स्यात्। अपराण्यपि च खलु तेषामध्यारुहयोनिकानां अध्यारुहाणां शरीराणि नानावर्णानि यावदाख्यातानि ॥ सू० ४९ ॥

अथाऽपरं पुराऽऽख्यातम् इहैकतये सत्त्वाः अध्यारुहयोनिकाः अध्यारुहसम्भवाः यावत् कर्मनिदानेन तत्र व्युत्क्रमाः अध्यारुहयोनिकेषु अध्यारुहेषु मूलतया यावत् बीजतया विवर्तन्ते। ते जीवास्तेषामध्यारुहयोनिकानामध्यारुहाणां स्नेहमाहारयन्ति यावदपराण्यपि च खलु तेषामध्यारुहयोनिकानां मूलानां यावद् बीजानां शरीराणि नानावर्णानि यावदाख्यातानि ॥ सू० ५० ॥

अन्वयार्थ

(**अहावरं पुरक्खायं**) श्री तीर्थंकरदेव ने और भी भेद वनस्पतिकाय के जीवों के बताये हैं। (**इहेगइया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवुक्कमा**) इस जगत् में कई जीव वृक्ष से उत्पन्न होते हैं, वृक्ष में ही स्थित रहते हैं और वृक्ष में ही बढ़ते हैं, (**तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोववन्नगा कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं अज्झारोहत्ताए विउट्टंति**) इस प्रकार वृक्ष से उत्पन्न और उसी में स्थिति और वृद्धि को पाने वाले जीव कर्माधीन एवं कर्म से प्रेरित होकर वनस्पतिकाय में आकर वृक्षयोनिक वृक्षों में अध्यारुह नामक वनस्पति के रूप में उत्पन्न होते हैं, (**ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति**) वे जीव वृक्षयोनिक वृक्षों के स्नेह का आहार करते हैं, (**ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव सारूविकडं संतं**) वे जीव पृथ्वीशरीर से लेकर वनस्पति के शरीरपर्यन्त पूर्वोक्त सभी शरीरों का आहार करते हैं, यहाँ तक कि उन्हें अपने रूप में मिला लेते हैं (**तेसिं रुक्खजोणियाणं अज्झारोहाणं अवरेऽवि य सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं**) उन वृक्षयोनिक अध्यारुह वृक्षों के नाना प्रकार के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श तथा अनेकविध रचना वाले दूसरे शरीर भी होते हैं। इन शरीरों को अपने पूर्वकृत कर्मों के प्रभाव से जीव प्राप्त करता है, यह श्री तीर्थंकरदेव ने कहा है ॥ सू० ४७ ॥

(**अहावरं पुरक्खायं**) श्री तीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकाय के और भी भेद बताये हैं। (**इहेगइया सत्ता अज्झारोहजोणिया अज्झारोहसंभवा जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा**) कई प्राणी पूर्वोक्त अध्यारुह वृक्षों में उत्पन्न होते हैं और उन्हीं में स्थिति और वृद्धि को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त करते हैं, वे जीव कर्म से प्रेरित होकर वहाँ आकर (**रुक्खजोणिएसु अज्झारोहेसु अज्झारोहत्ताए विउट्टंति**) वृक्षयोनिक अध्यारुह नामक वृक्षों में अध्यारुह रूप से उत्पन्न होते हैं। (**ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं अज्झारोहाणं सिणेहमाहारेंति**) वे जीव वृक्षयोनिक अध्यारुहों के स्नेह का आहार करते हैं। (**ते जीवा पुढवीसरीरं जाव सारूविकडं संतं**) वे जीव पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीरों का भी आहार करते हैं और आहार करके उन्हें अपने शरीररूप में परिणत कर लेते हैं। (**तेसिं अज्झारोहजोणियाणं अज्झारोहाणं अवरेऽवि य णाणावण्णा सरीरा जावमक्खायं**) उन अध्यारुह-योनिक अध्यारुह वृक्षों के अनेक वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श और आकार वाले अनेक विध शरीर होते हैं, यह श्री तीर्थंकरदेव ने कहा है ॥ सू० ४८ ॥

(**अहावरं पुरक्खायं**) श्री तीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकाय के और भी भेद बताये हैं। (**इहेगइया सत्ता अज्झारोहजोणिया अज्झारोहसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा अज्झारोहजोणिएसु अज्झारोहत्ताए विउट्टंति**) इस जगत् में कई जीव अध्यारुह वृक्षों से उत्पन्न होते हैं, तथा उन्हीं में उनकी स्थिति और वृद्धि होती है। वे प्राणी कर्म से प्रेरित होकर वहाँ आते हैं और अध्यारुहयोनिक अध्यारुह रूप में उत्पन्न होते हैं। (**ते जीवा तेसिं अज्झारोहजोणियाणं अज्झारोहाणं सिणेहमाहारेंति**) वे जीव अध्यारुहयोनिक अध्यारुह वृक्षों के स्नेह का आहार करते हैं। (**ते जीवा पुढवीसरीरं आउसरीरं जाव आहारेंति सारूविकडं संतं**) वे जीव पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति शरीरों का भी आहार करते हैं और आहार करके उन्हें अपने रूप में परिणत कर लेते हैं। (**तेसिं अज्झारोहजोणियाणं अज्झारोहाणं सरीरा णाणादण्णा जावमक्खायं**) उन अध्यारोहयोनिक अध्यारोह वृक्षों के दूसरे भी नाना वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान आदि से युक्त शरीर होते हैं, यह तीर्थंकरदेव ने कहा है ॥ सू० ४९ ॥

(**अहावरं पुरक्खायं**) श्री तीर्थंकरदेव ने अध्यारुह वृक्षों के और भी भेद बताये हैं। (**इहेगइया सत्ता अज्झारोहजोणिया अज्झारोहसम्भवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा अज्झारोहजोणिएसु अज्झारोहेसु मूलत्ताए जाव बीयत्ताए विउट्टंति**) जगत् में कई जीव अध्यारुहयोनिक वृक्षों से अध्यारुहरूप में उत्पन्न होकर उन्हीं में स्थिति और वृद्धि को प्राप्त होते हैं। वे अपने पूर्वकृत कर्मों से प्रेरित होकर वहाँ आते हैं और अध्यारुह-योनिक अध्यारुह वृक्षों के मूल, कन्द, स्कन्ध, प्रवाल, शाखा, त्वचा, शाल आदि से लेकर बीज तक के रूपों में उत्पन्न होते हैं। (**ते जीवा अज्झारोहजोणियाणं तेसिं अज्झारोहाणं सिणेहमाहारेन्ति**) वे जीव उन अध्यारुहयोनिक अध्यारुह वृक्षों के स्नेह का आहार करते हैं, (**अज्झारोहजोणियाणं तेसिं मूलाणं जाव बीयाणं सरीरा अवरेऽवि य णं णाणावण्णा जावमक्खायं**) उन अध्यारुहयोनिक वृक्षों के मूल से लेकर बीज तक में नानावर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और रचना वाले दूसरे शरीर भी हैं, ऐसा तीर्थंकरदेव ने कहा है ॥ सू० ५० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

अध्यारुह की उत्पत्ति और आहार

पूर्व सूत्रों में कई वनस्पतिकायिक जीव वृक्ष से उत्पन्न होकर वृक्ष में ही स्थिति और वृद्धि को प्राप्त करने वाले वृक्षों का वर्णन किया गया था। इस सूत्र में एक विशिष्ट वृक्ष का निरूपण है, अर्थात् उन वृक्षयोनिक वृक्षों में अध्यारुह नामक एक वनस्पति-विशेष उत्पन्न होती है, जो वृक्ष के ही ऊपर उसी के आश्रय से ही उत्पन्न होती है, इसीलिए उसे अध्यारुह कहते हैं। वह वनस्पति जिस वृक्ष में उत्पन्न होती है, उसी के स्नेह का आहार करती है, इसके अतिरिक्त वह पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीरों का भी आहार करती है। वह उक्त शरीरों का आहार करके अपने रूप में परिणत कर लेती है। वह अध्यारुह वनस्पति विभिन्न प्रकार के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाली तथा विभिन्न आकृति वाली होती है। इस वनस्पति में अपने किये हुए कर्मों से प्रेरित होकर जीव उत्पन्न होते हैं। यह भगवान के कथन का आशय है।

वृक्ष से उत्पन्न होने वाले वृक्षयोनिक वृक्षों में अध्यारुह नामक वृक्ष उत्पन्न होता है। उनके प्रदेशों की वृद्धि करने वाले दूसरे अध्यारुह वृक्ष भी उनमें पैदा होते हैं। इस प्रकार अध्यारुह वृक्षों में ही अध्यारुह रूप से उत्पन्न होने वाले वे वृक्ष अध्यारुहयोनिक अध्यारुह वृक्ष कहलाते हैं। वे अध्यारुहयोनिक अध्यारुह वृक्ष जिस अध्यारुह में पैदा होते हैं, उसी के स्नेह का आहार करते हैं, तथा पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीर का भी आहार करते हैं। वे उनके प्रासुक शरीर को अपने रूप में परिणत कर लेते हैं। उन अध्यारुहों के शरीर भी नाना वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और आकार-प्रकार के होते हैं। यह भी समझ लेना चाहिए।

४९वें सूत्र में उन्हीं अध्यारुहयोनिक अध्यारुह वृक्ष में उत्पन्न हुए अध्यारुह वृक्ष में उत्पन्न होने वाले अन्य अध्यारुह वृक्ष का वर्णन किया गया है। जिसका सारा वर्णन पूर्व सूत्रवत् समझ लेना चाहिए।

इसके अनन्तर ५०वें सूत्र में उन अध्यारुहयोनिक अध्यारुह नामक वृक्षों के अवयवों के रूप में उत्पन्न मूल, कन्द, स्कन्ध, प्रवाल, साल, त्वचा से लेकर बीज तक की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि एवं रचना तथा आहार के सम्बन्ध में निरूपण किया गया है। वे मूल आदि से लेकर बीज तक के अध्यारुह-अंगभूत वृक्ष अपने-अपने कर्मानुसार उन-उन योनियों में पैदा होते हैं, वे भी भिन्न-भिन्न रंग-रूप, गन्ध, रस, स्पर्श एवं आकार प्रकार के होते हैं। वे या तो अध्यारुहयोनिक वृक्षों के स्नेह का आहार ग्रहण कर लेते हैं, या फिर वे पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीरों से पूर्वोक्त रीति से आहार ले लेते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ तक वनस्पतिकायिक जीवों की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि एवं आहार आदि का निरूपण किया गया है।

सारांश

इस अध्ययन के प्रारम्भ के ४३वें सूत्र से लेकर ५०वें सूत्र तक शास्त्रकार ने निम्नोक्त वनस्पतिकायिक जीवों की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और रचना तथा उनके आहार-ग्रहण का वर्णन किया है—

(१) बीजकाय नामक वनस्पतिकाय पृथ्वी से उत्पन्न होने वाले वृक्षों के आहारादि का निरूपण।

(२) वृक्ष में उत्पन्न होने वाले वृक्षयोनिक वृक्षों के आहारादि का निरूपण।

(३) वृक्षयोनिक वृक्ष में ही उत्पन्न होने वाले वृक्षों के आहार आदि का विश्लेषण।

(४) वृक्षयोनिक वृक्षों के मूल से लेकर बीज तक के आहार आदि का विश्लेषण।

(५) वृक्षयोनिक वृक्षों में उत्पन्न होने वाले अध्यारुह नामक वृक्ष के आहारादि के सम्बन्ध में विवेचन।

(६) अध्यारुह वृक्षों में उत्पन्न होने वाले अध्यारुह नामक वृक्षों के आहारादि का वर्णन।

(७) उन अध्यारुह वृक्षों में उत्पन्न होने वाले अध्यारुह वृक्षों में भी उत्पन्न अध्यारुह वृक्षों के आहारादिक का निरूपण।

(८) उन अध्यारुह वृक्षों में ही उनके अवयव रूप में उत्पन्न होने वाले मूल, कन्द, स्कन्ध, पत्र, शाखा, प्रवाल, साल, पुष्प, फल, बीज-रूप अवयवों के आहार आदि का निरूपण।

इसी प्रकार समस्त वनस्पतिकायिक जीवों के सम्बन्ध में विश्लेषण समझ लेना चाहिए।

मूल पाठ

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता पुढविजोणिया पुढविसंभवा जाव णाणाविहजोणियासु पुढवीसु तणत्ताए विउट्टंति। ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेंति जाव ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतीतिमक्खायं॥ सू० ५१॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं पुढविजोणिएसु तणेसु तणत्ताए विउट्टंति जावमक्खायं ॥सू०५२॥

एवं तणजोणिएसु तणेसु तणत्ताए विउट्टंति, तणजोणियं तणसरीरं च आहारेंति जावमक्खायं। एवं तणजोणिएसु तणेसु मूलत्ताए जाव बीयत्ताए विउट्टंति, ते जीवा जाव एवमक्खायं ॥

एवं ओसहीणवि चत्तारि आलावगा। एवं हरियाणवि चत्तारि आलावगा ॥ सू० ५३ ॥

संस्कृत छाया

अथाऽपरं पुराऽऽख्यातमिहैकतये सत्त्वाः पृथिवीयोनिकाः पृथिवीसम्भवाः यावन्नानाविधयोनिकासु पृथिवीषु तृणतया विवर्तन्ते। ते जीवास्तासां नानाविधयोनिकानां पृथिवीनां स्नेहमाहारयन्ति यावत्ते जीवाः कर्मोपपन्नकाः भवन्तीत्याख्यातम् ॥ सू० ५१ ॥

एवं पृथिवीयोनिकेषु तृणेषु तृणतया विवर्तन्ते यावदाख्यातम् ॥ सू० ५२ ॥

एवं तृणयोनिकेषु तृणेषु तृणतया विवर्तन्ते तृणयोनिकं तृणशरीरं च आहारयन्ति यावदाख्यातम्। एवं तृणयोनिकेषु तृणेष मूलतया यावद् बीजतया विवर्तन्ते। ते जीवाः यावदाख्यातम्।

एवमौषधीष्वपि चत्वारः आलापकाः एवं हरितेष्वपि चत्वारः आलापकाः ॥ सू० ५३ ॥

अन्वयार्थ

(**अहावरं पुरक्खायं**) श्री तीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकाय के जीवों के और भी भेद बताये हैं। (**इहेगइया सत्ता पुढविजोणिया पुढविसम्भवा जाव णाणाविहजोणियासु पुढवीसु तणत्ताए विउट्टंति**) कई प्राणी पृथ्वी पर उत्पन्न होते हैं, पृथ्वी पर ही स्थिति और वृद्धि को प्राप्त करते हैं। यहाँ तक कि वे जीव नाना प्रकार की जाति वाली पृथ्वी पर तृण रूप में उत्पन्न होते हैं। (**ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेन्ति**) वे जीव नाना प्रकार की जाति वाली पृथ्वी के स्नेह का आहार करते हैं। (**जाव ते जीवा कम्मोववन्नगा भवन्तीतिमक्खायं**) वे जीव कर्म से प्रेरित होकर तृणयोनि में उत्पन्न होते हैं, इत्यादि सब वर्णन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए, यह श्री तीर्थंकरदेव ने कहा है ॥ सू० ५१ ॥

(**एवं पुढवीजोणिएसु तणेसु तणत्ताए विउट्टंति जावमक्खायं**) इसी प्रकार कई जीव पृथ्वीयोनिक तृणों में तृणरूप से उत्पन्न होते हैं, वहीं स्थित रहते हैं, वहीं बढ़ते हैं, इत्यादि सब वर्णन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए ॥ सू० ५२ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(**एवं तणजोणिएसु तणेसु तणत्ताए विउट्टंति तणजोणियं तणसरीरं च आहारेन्ति जावमक्खायं**) इसी तरह कई जीव तृणों में तृणरूप से उत्पन्न होते हैं, और वे तृणयोनिक तृणों के शरीर का ही आहार ग्रहण करते हैं, इत्यादि सारा वर्णन पहले की तरह यहाँ भी समझ लेना चाहिए। (**एवं तणजोणिएसु तणेसु मूलत्ताए जाव बीयत्ताए विउट्टंति**) इसी तरह कई जीव तृणयोनिक तृणों में मूल से लेकर बीजरूप तक में उत्पन्न होते हैं। (**ते जीवा जावमक्खायं**) इन जीवों का समस्त वर्णन भी पूर्ववत् ही समझना चाहिए।

(**एवं ओसहीणवि चत्तारि आलावगा एवं हरियाणवि चत्तारि आलावगा**) इसी प्रकार औषधि के भी चार आलापकों एवं हरितकायों के भी चार आलापकों का विवरण पूर्ववत् कर लेना चाहिए ॥ सू० ५३ ॥

व्याख्या

तृणरूप, औषधिरूप एवं हरितरूप के आहार वगैरह का निरूपण

इन तीन सूत्रों में तृणरूप, औषधिरूप एवं हरितरूप वनस्पतियों की उत्पत्ति-स्थिति, वृद्धि, रचना, एवं आहार आदि के सम्बन्ध में पहले की ही तरह सांगोपांग वर्णन किया गया है।

वास्तव में वनस्पतिकाय के जीव प्रत्येक और साधारण के भेद से २४ लाख योनि के रूप में नाना किस्म के होते हैं। यहाँ तो उनका दिग्दर्शन मात्र किया गया है। कई वनस्पतिकायिक जीवों की उत्पत्ति, स्थिति और वृद्धि पृथ्वी से ही होती है। वे पृथ्वी पर तृणरूप में उत्पन्न होते हैं। छोटे-बड़े नाना प्रकार के शरीरों से युक्त वे उस नाना प्रकार की जाति वाली पृथ्वी के स्नेह का आहार करते हैं। यहाँ तक कि वे तृणादि पर्याय में उत्पन्न जीव अपने कर्मों के अनुसार तृण शरीर वाले होते हैं। तात्पर्य यह है कि वे नाना जाति की पृथ्वी पर तृणरूप में उत्पन्न होकर पृथ्वी के रस को आहार के रूप में खींचते हैं। वे अपने कर्मों के अधीन होने के कारण इससे अपना उद्धार करने में समर्थ नहीं होते। कृतकर्मों का फलभोग करते हैं।

जिस प्रकार पृथ्वीयोनिक तृण जीव कहे गये हैं, उसी प्रकार पृथ्वीयोनिक तृणों में तृणरूप से उत्पन्न होने वाले जीव भी होते हैं। पृथ्वीयोनिक तृणों में ही उन तृणकाय के जीवों की उत्पत्ति, स्थिति एवं वृद्धि होती है। वे उन्हीं के रस का आस्वादन करते हैं। यों वे पृथ्वी, जल आदि पाँच स्थावरों के शरीर का भी आहार करते हैं। इत्यादि सब वर्णन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

इसके पश्चात् तृणयोनिक तृणों में तृणरूप से उत्पन्न होने वाले जीवों का वर्णन भी पहले की तरह समझ लेना चाहिए। इसी प्रकार तृणयोनिक तृणों में मूल,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कन्द आदि से लेकर बीज तक के रूप में स्वस्वकर्मानुसार उत्पन्न होने वाले जीवों का वर्णन भी पहले की तरह जान लेना चाहिए।

इसी प्रकार औषधि वनस्पति के भी चार आलाप के होते हैं। जैसे—(१) पृथ्वीयोनिक औषधि, (२) औषधियोनिक औषधि, (३) औषधियोनिक अध्यारुह और (४) अध्यारुहयोनिक अध्यारुह।

इसी प्रकार हरितकाय आदि के भी चार-चार आलापक होते हैं, जिन्हें जान लेना जरूरी है, जैसे कि—(१) पृथ्वीयोनिक हरित, (२) हरितयोनिक हरित, (३) हरितयोनिक अध्यारुह एवं (४) अध्यारुहयोनिक अध्यारुह।

यह सब वर्णन भी पूर्ववत् ही है और इतना स्पष्ट है कि उसे यहाँ और अधिक स्पष्ट करने की जरूरत नहीं है।

मूल पाठ

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता पुढविजोणिया पुढविसंभवा जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहजोणियासु पुढवीसु आयत्ताए वायत्ताए कायत्ताए कूहणत्ताए कंदुकत्ताए उव्वेहणियत्ताए निव्वेहणियत्ताए सछत्ताए छत्तगत्ताए वासाणियत्ताए कूरत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेंति, तेवि जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं। अवरेऽवि य णं तेसिं पुढवीजोणियाणं आयत्ताणं जाव कराणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं एगो चेव आलावगो, सेसा तिण्णि णत्थि॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहजोणिएसु उदएसु रुक्खत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं णाणा विहजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं। अवरेऽवि य णं तेसिं उदगजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं। जहा पुढविजोणियाणं रुक्खाणं चत्तारि गमा, अज्झारुहाणवि तहेव, तणाणं ओसहीणं हरियाणं चत्तारि आलावगा भाणियव्वा एक्केक्के॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहजोणिएसु उदएसु उदगत्ताए अवगत्ताए पणगत्ताए सेवालत्ताए कलंबुगत्ताए हडत्ताए कसेरुगत्ताए कच्छभाणियत्ताए उप्पलत्ताए पउमत्ताए कुमुयत्ताए नलिणत्ताए सुभगत्ताए सोगंधियत्ताए पोंडरियमहापोंडरियत्ताए सयपत्तत्ताए सहस्सपत्तत्ताए एवं कल्हार-कोंकणयत्ताए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अरविंदत्ताए तामरसत्ताए भिसभिसमुणाल-पुक्खलत्ताए पुक्खलच्छिभगत्ताए विउट्टंति। ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव संतं अवरेऽवि य णं तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं जाव पुक्खलच्छिभगाणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं। एगो चेव आलावगो ॥ सू० ५४ ॥

संस्कृत छाया

अथाऽपरं पुराऽऽख्यातम्—इहैकतये सत्त्वाः पृथिवीयोनिकाः पृथिवी-सम्भवाः यावत् कर्मनिदानेन तत्र व्युत्क्रमाः नानाविधयोनिकासु पृथिवीषु आर्यतया, वायतया, कायतया, कूहणतया कन्दुकतया उपनिहिकतया निर्वे-हणिकतया सच्छत्रतया छत्रकतया वासानिकतया क्रूरतया विवर्तन्ते। ते जीवास्तासां नानाविधयोनिकानां पृथिवीनां स्नेहमाहारयन्ति तेऽपि जीवाः आहारयन्ति पृथिवीशरीरं यावत्। अपराण्यपि च तेषां पृथिवीयोनिकाना-मार्याणां यावत् कूराणं शरीराणि नानावर्णानि यावदाख्यातानि एकश्चैवालापकः शेषास्त्रयो न सन्ति।

अथाऽपरं पुराऽऽख्यातम्--इहैकतये सत्त्वाः उदकयोनिकाः उदकसम्भवाः यावत् कर्मनिदानेन तत्र व्युत्क्रमाः नानाविधयोनिकेषु उदकेषु वृक्षतया विव-र्तन्ते। ते जीवास्तेषां नानायोनिकानामुदकानां स्नेहमाहारयन्ति, ते जीवाः आहारयन्ति पृथिवीशरीरं यावत्। अपराण्यपि तेषामुदकयोनिकानां वृक्षाणां शरीराणि नानावर्णानि यावदाख्यातानि। यथा पृथिवीयोनिकानां चत्वारो गमाः। अध्यारुहाणामपि तथैव तृणानामोषधीनां हरितानां चत्वार आलापकाः भणितव्या एकैकम्।

अथाऽपरं पुराऽऽख्यातम्--इहैकतये सत्त्वाः उदकयोनिकाः उदकसम्भवाः यावत् कर्मनिदानेन तत्र व्युत्क्रमाः नानाविधयोनिकेषु उदकेषु उदकतया अव-कतया पनकतया शैवालतया कलम्बुकतया हडतया कसेरुकतया कच्छभाणि-यतया उत्पलतया पद्मतया कुमुदतया नलिनतया सुभगतया सुगन्धिकतया पुण्डरीक-महापुण्डरीकतया शतपत्रतया सहस्रपत्रतया एवं कल्हार कोकनद-तया अरविन्दतया तामरसतया विसविसमृणालतया पुष्करतया पुष्कराक्षतया विवर्तन्ते। ते जीवास्तेषां नानाविधयोनिकानामुदकानां स्नेहमाहारयन्ति। ते जीवाः आहारयन्ति पृथिवीशरीरं यावत् अपराण्यपि च तेषामुदकयोनिकाना-मुदकानां यावत् पुष्कराक्षकाणां शरीराणि नानावर्णानि यावदाख्यातानि ॥ सू० ५४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**अहावरं पुरक्खायं**) श्री तीर्थंकर प्रभु ने वनस्पतिकाय का और भी भेद बताया है। (**इहेगइया सत्ता पुढवीजोणिया पुढवीसम्भवा जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा**) इस जगत् में कई जीव पृथ्वी से उत्पन्न होते हैं, उनकी स्थिति और वृद्धि भी पृथ्वी से होती है। वे कर्म से प्रेरित होकर वहाँ उत्पन्न होते हैं। (**णाणाविहजोणियासु पुढवीसु आयत्ताए वायत्ताए कायत्ताए कूहणत्ताए कंदुकत्ताए उव्वेहणियत्ताए, निव्वेहणियत्ताए, सछत्ताए, छत्तगत्ताए, वासाणियत्ताए कूरत्ताए विउट्टंति**) वे नाना प्रकार की योनिवाली पृथ्वी में आर्य, वाय, काय, कूहण, कन्दुक, उपेहणी, निर्वेहणी, सछत्र, छत्रक, वासणी और कूर नामक वनस्पति के रूप में उत्पन्न होते हैं। (**ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेन्ति**) वे जीव विभिन्न योनियों वाली पृथ्वीकायों के स्नेह का आहार करते हैं। (**ते जीवा आहारेन्ति पुढवीसरीरं जाव संतं**) वे जीव पृथ्वीकाय आदि छहों काय के जीवों के शरीर का आहार करते हैं। पहले उनसे रस खींचकर उन्हें वे प्रासुक कर देते हैं, फिर उन्हें अपने रूप में परिणत कर लेते हैं। (**तेसिं पुढवीजोणियाणं आयत्ताणं जाव कूराणं अवरेऽवि य णाणावण्णा सरीरा जावमक्खायं**) उन पृथ्वी से उत्पन्न आर्य वनस्पति से लेकर कूर वनस्पति तक के विभिन्न वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, आकार-प्रकार और ढाँचे वाले दूसरे शरीर भी होते हैं। (**एगो चेव आलावगो सेसा तिण्णि णत्थि**) इनमें एक ही आलाप होता है, शेष तीन आलाप नहीं होते।

(**अहावरं पुरक्खायं**) श्री तीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकाय के और भेद भी बताये हैं। (**इहेगइया सत्ता उदगजोणिया उदगसम्भवा जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहजोणिएसु उदगेसु रुक्खत्ताए विउट्टंति**) इस जगत् में कई जीव ऐसे हैं, जो जल में उत्पन्न होते हैं और उसी में स्थिति और वृद्धि को प्राप्त होते हैं, वे जीव अपने पूर्वकृत कर्म से प्रेरित होकर वहाँ उत्पन्न होते हैं अनेक प्रकार की जाति वाले पानी में आकर वे वृक्षरूप से उत्पन्न होते हैं। (**ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेन्ति**) वे जीव नाना प्रकार की जातिवाले जलों के स्नेह का आहार करते हैं। (**ते जीवा पुढवीसरीरं आहारेंति जाव संतं**) वे जीव पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति काय के शरीरों का भी आहार करते हैं। (**तेसिं उदगजोणियाणं रुक्खाणं अवरेऽवि य णं णाणावण्णा जावमक्खायं**) उन जलयोनिक वृक्षों के दूसरे शरीर भी होते हैं, जो विभिन्न वर्ण (रंग-रूप), गन्ध, रस और स्पर्श तथा आकार-प्रकार के होते हैं। (**जहा पुढवीजोणियाणं रुक्खाणं चत्तारि गमा, अज्झारुहाणवि तहेव, तणाणं ओसहीणं हरियाणं चत्तारि आलावगा भाणियव्वा एक्केक्के**) जैसे पृथ्वीयोनिक वृक्ष के चार भेद बताये गये थे, उसी प्रकार अध्यारुह वृक्ष, तृण और हरित के विषय में चार आलाप कहे गये हैं।

(**अहावरं पुरक्खायं**) श्री तीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकाय के और भेद भी बताये हैं। (**इहेगइया उदगजोणिया उदगसंभवा जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविह-**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जोणिएसु उदएसु) इस विश्व में कई जीव जल में ही उत्पन्न होते हैं, जल में ही उनकी स्थिति होती है, जल में ही वे बढ़ते हैं। वे अपने पूर्वकृत कर्म से प्रेरित होकर वनस्पतिकाय में आते हैं और वहाँ वे अनेक प्रकार की जाति वाले जल में (**उदगत्ताए अवगत्ताए पणगत्ताए सेवालत्ताए कलंबुगत्ताए हडत्ताए कसेरुगत्ताए कच्छभाणियत्ताए उप्पलत्ताए पउमत्ताए कुमुयत्ताए नलिणत्ताए सुभगत्ताए**) उदक, अवक, पनक, शैवाल, कलम्बुक, हड, कसेरुक, कच्छभाणितक, उत्पल, पद्म, कुमुद, नलिन और सुभग (**सोगंधियत्ताए पोंडरीय-महापोंडरीयत्ताए सयपत्तत्ताए सहस्सपत्तत्ताए एवं कल्हार-कोंकणयत्ताए अरविंदत्ताए तामरसत्ताए भिसभिसमुणालपुक्खलत्ताए पुक्खलच्छिभगत्ताए विउट्टंति**) तथा सौगन्धिक, पुण्डरीक, महापुण्डरीक, शतपत्र, सहस्रपत्र एवं कल्हार, कोकनद, अरविन्द, तामरस, विस, मृणाल, पुष्कर और पुष्करांक्ष रूप से उत्पन्न होते हैं। (**ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा पुढवीसरीरं जाव आहारेंति**) वे जीव नाना प्रकार की जाति वाले जलों के स्नेह का आहार करते हैं, तथा वे पृथ्वी आदि शरीरों का भी आहार करते हैं। (**तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं जाव पुक्खलच्छिभगाणं अवरेऽवि य णाणावण्णा सरीरा जावमक्खायं एगो चेव आलावगो**) उन जलयोनिक उदक से लेकर पुष्करांक्षभाग तक, जो वनस्पतिकाय के जीव कहे गए हैं। उनके विभिन्न वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, रचना से युक्त दूसरे शरीर भी होते हैं। किन्तु इनमें एक ही आलापक है।

व्याख्या

उदकयोनिक वृक्षों के आहारादि का वर्णन

इस सूत्र में जलयोनिक वृक्षों के विभिन्न प्रकारों का वर्णन किया गया है। सर्वप्रथम मूलपाठ में आर्य, वाय, काय, ऊहण आदि वनस्पतियों की उत्पत्ति, स्थिति और विकास के विषय में बताया गया है। इनकी आकृति, रंगरूप आदि कैसे होते हैं? लोक व्यवहार में इन्हें किस नाम से पुकारते हैं? इस सम्बन्ध में वृत्तिकार ने यहाँ कोई स्पष्टीकरण नहीं किया है, तथापि कुछ नाम ऐसे हैं, जो वर्तमान में प्रचलित हैं, जैसे छत्रक नामक वनस्पति छत्ते के आकार की होती है, जिसे वर्तमान में कुकुरमुत्ता कहते हैं। किन्तु एक बात निश्चित है कि ये सभी वनस्पतिकायिक जीव अपने-अपने कर्मों के वश निश्चित योनि में उत्पन्न होते है। कई प्राणी जल में वृक्ष रूप से उत्पन्न होते हैं, वे जलयोनिक वृक्ष कहलाते हैं। वे जल में ही उत्पन्न होते हैं और जल में ही स्थित रहते हुए जल में ही विकसित होते हैं। वे जल के स्नेह (रस) का तथा पृथ्वी आदि के शरीरों का आहार करते हैं। शेष सब वर्णन पृथ्वीयोनिक वृक्षों की तरह समझ लेना चाहिए। जैसे पृथ्वीयोनिक वृक्षों (पौधों) के चार आलापक कहे गये वैसे ही जलयोनिक वृक्षों के भी चार आलापक कहने चाहिए। परन्तु जलयोनिक वृक्षों से जो वृक्ष उत्पन्न होते हैं, उनमें सिर्फ एक ही विकल्प होता है, शेष तीन विकल्प नहीं होते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके पश्चात् जल में उत्पन्न होने वाली वनस्पतियों का वर्णन किया गया है। जिनमें कमल, तामरस, शतपत्र, सहस्रपत्र आदि कमल के ही जाति विशेष हैं। परन्तु अवक, पनक (काई), शैवाल आदि अन्य जाति की वनस्पतियाँ हैं। इनका रूप-रंग, आकार-प्रकार आदि एवं व्यावहारिक नाम लोक व्यवहार से जान लेने चाहिए। बाकी का सब वर्णन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

मूल पाठ

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता तेसिं चेव पुढवीजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं रुक्खजोणिएहिं अज्झारोहेहिं, अज्झारोहजोणिएहिं अज्झारुहेहिं अज्झारोहजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं पुढविजोणिएहिं तणेहिं तणजोणिएहिं तणेहिं तणजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं एवं ओसहीहिवि तिन्नि आलावगा एवं हरिएहिवि तिन्नि आलावगा, पुढविजोणिएहिवि आएहिं काएहिं जाव कूरेहिं उदगजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं एवं अज्झारुहेहिवि तिण्णि तणेहिंपि तिण्णि आलावगा, ओसहीहिंपि तिण्णि हरिएहिंपि तिण्णि, उदगजोणिएहिं उदएहिं अवएहिं जाव पुक्खलच्छिभएहिं तसपाणत्ताए विउट्टंति। ते जीवा तेसिं पुढवीजोणियाणं उदगजोणियाणं रूक्खजोणियाणं अज्झारोहजोणियाणं तणजोणियाणं ओसहीजोणियाणं हरियजोणियाणं रुक्खाणं अज्झारुहाणं तणाणं ओसहीणं हरियाणं मूलाणं जाव बीयाणं आयाणं कायाणं जाव कुरवा(कूरा)णं उदगाणं अवगाणं जाव पुक्खलच्छिभगाणं सिणेहमाहारेंति। ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं अज्झारोहजोणियाणं तणजोणियाणं ओसहिजोणियाणं हरियजोणियाणं मूलजोणियाणं कंदजोणियाणं जाव बीयजोणियाणं आयजोणियाणं कायजोणियाणं जाव कूरजोणियाणं उदगजोणियाणं अवगजोणियाणं जाव पुक्खलच्छिभगजोणियाणं तसपाणाणं सरीराणावण्णा जावमक्खायं ॥ सू० ५५ ॥

संस्कृत छाया

अथाऽपरं पुराख्यातम्—इहैकतये सत्त्वाः तेष्वेव पृथिवीयोनिकेषु वृक्षेषु वृक्षयोनिकेषु वृक्षेषु वृक्षयोनिकेषु मूलेषु यावद् बीजेषु वृक्षयोनिकेष्वाध्यरुहेषु अध्यारुहयोनिकेषु अध्यारुहेषु अध्यारुहयोनिकेषु मूलेषु यावद् बीजेषु पृथिवीयोनिकेष तृणेषु तृणयोनिकेषु तृणेष् तृणयोनिकेषु मूलेषु यावद् बीजेषु,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवमोषधीष्वपि त्रयः आलापकाः, एवं हरितेष्वपि त्रयः आलापकाः पृथिवीयोनिकेषु आर्येषु यावत् कूरेषु उदकयोनिकेषु वृक्षेषु वृक्षयोनिकेषु वृक्षेषु वृक्षयोनिकेषु मूलेषु यावद् बीजेषु, एवमध्यारुहेष्वपि त्रयः आलापकाः तृणेष्वपि त्रयः। हरितेष्वपि त्रयः, उदकयोनिकेषु उदकेषु अवकेषु यावद् पुष्कराक्षभगेषु त्रसप्राणतया विवर्तन्ते। ते जीवास्तेषां पृथिवीयोनिकानामुदकयोनिकानां वृक्षयोनिकानामध्यारुहयोनिकानां तृणयोनिकानामोषधियोनिकानां हरितयोनिकानां वृक्षाणामध्यारुहाणां तृणानामोषधीनां हरितानां मूलानां यावद् बीजानां आर्याणां कायानां यावद् कूराणामुदकानामवकानां यावद पुष्कराक्षभगानां स्नेहमाहारयन्ति। ते जीवाः आहारयन्ति पृथिवीशरीरं यावत् स्यात्। अपरेऽपि च खलु तेषां वृक्षयोनिकानां अध्यारुहयोनिकानां तृणयोनिकानां ओषधियोनिकानां हरितयोनिकानां मूलयोनिकानां कन्दयोनिकानां यावद् बीजयोनिकानां आययोनिकानां काययोनिकानां यावत् कूरयोनिकानामुदकयोनिकानामवकयोनिकानां यावद् पुष्कराक्षभगयोनिकानां त्रसप्राणानां शरीराणि नानावर्णानि यावदाख्यातानि ॥ सू० ५५ ॥

अन्वयार्थ

(**अहावरं पुरक्खायं**) श्री तीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकाय के और भी भेद बताये हैं। (**इहेगइया सत्ता तेसिं चेव पुढवीजोणिएहिं रुक्खेहिं**) इस जगत् में कोई जीव उन पृथ्वीयोनिक वृक्षों में (**रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं**) वृक्षयोनिक वृक्षों में (**रुक्खजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं**) वृक्षयोनिक मूल से लेकर बीजपर्यन्त अवयवों में (**रुक्खजोणिएहिं अज्झारोहेहिं**) वृक्षयोनिक अध्यारुह वृक्षों में (**अज्झारोहजोणिएहिं अज्झारोहेहिं**) अध्यारोहयोनिक अध्यारोहों में (**अज्झारोहजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं**) अध्यारुहयोनिक मूल से लेकर बीज तक अवयवों में (**पुढवीजोणिएहिं तणेहिं**) पृथ्वीयोनिक तृणों में (**तणजोणिएहिं तणेहिं**) तृणयोनिक तृणों में (**तणजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं**) तृणयोनिक मूल से लेकर बीजपर्यन्त अवयवों में (**एवं ओसाहीहिवि तिन्नि आलावगा एवं हरिएहिवि तिन्नि आलावगा**) इसी तरह औषधि तथा हरितों के विषय में भी तीन बोल कहने चाहिए (**पुढवीजोणिएहिवि आएहिं काएहिं जाव कूरेहिं**) पृथ्वीयोनिक आर्य, काय से लेकर कूर वृक्षों में, (**उदगजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं**) उदयोनिक वृक्षों में, वृक्षयोनिक वृक्षों में, वृक्षयोनिक मूल से लेकर बीजपर्यन्त में (**एवं अज्झारोहेहिवि तिण्णि तणेहिंपि तिण्णि आलावगा ओसहीहिंपि तिण्णि हरिएहिंवि तिण्णि**) इसी तरह अध्यारुहों में, तृणों में, औषधि में तथा हरितों में तीन-तीन बोल कहने चाहिए। (**उदगजोणिएहिं उदएहिं अवएहिं जाव पुक्खलच्छिभएहिं तसपाणत्ताए विउट्टंति**) उदकयोनिक उदक, अवक और पुष्कराक्ष भागों में त्रसप्राणी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के रूप में उत्पन्न होते हैं। (**ते जीवा तेसिं पुढवीजोणियाणं उदगजोणियाणं रुक्खजोणियाणं अज्झारोहजोणियाणं तणजोणियाणं ओसहीजोणियाणं हरियजोणियाणं रुक्खाणं अज्झारोहाणं तणाणं ओसहीणं हरियाणं मूलाणं जाव बीयाणं आयाणं कायाणं जाव कूराणं उदगाणं अवगाणं जाव पुक्खलच्छिभगाणं सिणेहमाहारेंति**) वे जीव उन पृथ्वीयोनिक वृक्षों के, जलयोनिक वृक्षों के, वृक्षयोनिक वृक्षों के, अध्यारुहयोनिक वृक्षों के, एवं तृणयोनिक, औषधियोनिक, हरितयोनिक वृक्षों के तथा वृक्ष, अध्यारुह, तृण, औषधि, हरित, मूल से लेकर बीज तक तथा आय वृक्ष, कायवृक्ष से लेकर कूर-वृक्ष एवं उदक, अवक से लेकर पुष्कराक्ष वृक्षों तक के स्नेह का आहार करते हैं। (**ते जीवा पुढवीसरीरं जाव आहारेंति संतं**) वे जीव पृथ्वी आदि के शरीरों का भी आहार करते हैं। (**तेसिं रुक्खजोणियाणं अज्झारोहजोणियाणं तणजोणियाणं ओसहिजोणियाणं हरियजोणियाणं मूलजोणियाणं कंदजोणियाणं जाव बीयजोणियाणं आयजोणियाणं कायजोणियाणं जाव कूरजोणियाणं उदगजोणियाणं अवगजोणियाणं जाव पुक्खलच्छि-भगजोणियाणं तसपाणाणं अवरेऽवि सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं**)उन वृक्षों से उत्पन्न तथा अध्यारुहों से उत्पन्न, तृणों से उत्पन्न, औषधियों से उत्पन्न, हरितों से उत्पन्न, मूलों, कन्दों, यावत् बीजों से उत्पन्न, आर्यवृक्षों से उत्पन्न, काय वृक्षों से लेकर कूर वृक्षों से उत्पन्न, उदक से उत्पन्न, अवक से उत्पन्न, और पुष्कराक्ष से उत्पन्न त्रसप्राणियों के नाना वर्ण, गन्ध, रस, और स्पर्श तथा आकार-प्रकार वाले दूसरे शरीर भी होते हैं। ऐसा तीर्थंकरदेवों ने कहा है।

व्याख्या

विभिन्न योनिक वनस्पतियों की उत्पत्ति एवं आहारादि का विश्लेषण

इस सूत्र में विभिन्न कोटि के वनस्पतिकायिक जीवों के विभिन्न आलापकों तथा आहार आदि के विषय में शास्त्रकार ने निरूपण किया है।

निम्नलिखित वनस्पतियों के तीन-तीन आलापक होते हैं—(१) पृथ्वीयोनिक वृक्षों में, (२) वृक्षियोनिक वृक्षों में, (३) वृक्षयोनिक वृक्षों के मूल से लेकर बीज तक के अवयवों में, (४) वृक्षयोनिक अध्यारुहों में (५) अध्यारुहयोनिक अध्यारुहों में तथा (६) अध्यारुहयोनिक मूल से लेकर बीज तक के अवयवों में, (७) पृथ्वीयोनिक तृणों में, (८) तृणयोनिक तृणों में, (९) तृणयोनिक मूल से लेकर बीज तक के अवयवों में, (१०) इसी प्रकार औषधि तथा हरित में भी तीन-तीन आलापक होते हैं।

इसी प्रकार पृथ्वीयोनिक आय, काय से लेकर कूर नामक वृक्षों में, जल-योनिक वृक्षों में, वृक्षयोनिक वृक्षों में, वृक्षयोनिक मूल से लेकर बीजों में इसी प्रकार अध्यारुहों, तृणों, ओषधियों और हरितों में तीन-तीन आलापक होते हैं।

तथा ये सब वनस्पतिकायिक जीव पूर्वोक्त वृक्षों के स्नेह का आहार करते हैं तथा पृथ्वी आदि के शरीरों का भी आहार करते हैं। इन जीवों के विभिन्न रंग-रूप, आकार-प्रकार, गन्ध, रस और स्पर्श वाले शरीर भी होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐसा तीर्थंकर भगवान ने कहा है।

मूल पाठ

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं मणुस्साणं, तं जहा—कम्मभूमगाणं अकम्मभूमगाणं अंतरद्दीवगाणं आरियाणं मिलक्खुयाणं, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य कम्मकडाए जोणिए एत्थ णं मेहुणवत्तियाए णामं संजोगे समुप्पज्जइ, ते दुहओ वि सिणेहं संचिण्णंति। तत्थ णं जीवा इत्थित्ताए पुरिसत्ताए णपुंसगत्ताए विउट्टंति। ते जीवा माओउयं पिउसुक्कं तं तदुभयं संसट्ठं कलुसं किव्विसं तं पढमत्ताए आहारमाहारेंति। तओ पच्छा जं से माया णाणाविहाओ रसविहीओ आहारमाहारेइ, तओ एगदेसेणं ओयमाहारेंति, आणुपुव्वेण वुड्ढा पलिपागमणुपवन्ना तओ कायाओ अभिनिवट्टमाणा इत्थिं वेगया जणयंति पुरिसं वेगया जणयंति णपुंसगं वेगया जणयंति, ते जीवा डहरा समाणा माउक्खीरं सप्पिं आहारेंति आणुपुव्वेणं वुड्ढा ओयणं कुम्मासं तसथावरे य पाणे ते जीवा आहारेंति, पुढवीसरीरं जाव सारूविकडं संतं। अवरेऽवि य णं तेसिं णाणाविहाणं मणुस्सगाणं कम्मभूमगाणं अकम्मभूमगाणं अंतरद्दीवगाणं आरियाणं मिलक्खूणं सरीरा णाणावण्णा भवंतीतिमक्खायं॥ सू० ५६॥

संस्कृत छाया

अथाऽपरं पुराख्यातं नानाविधानां मनुष्याणां तद्यथा—कर्मभूमिगनाम-कर्मभूमिगानामन्तर्द्वीपगानाम् आर्याणां म्लेच्छानां तेषां च खलु यथाबीजेन यथाऽवकाशेन स्त्रियाः पुरुषस्य च कर्मकृतयोनौ अत्र खलु मैथुनप्रत्ययिको नाम संयोगः समुत्पद्यते। ते द्वयोरपि स्नेहं संचिन्वन्ति तत्र जीवाः स्त्रीतया पुंस्तया नपुंसकतया विवर्तन्ते। ते जीवाः मातुरार्तवं पितुः शुक्रं तत् तदुभयं संसृष्टं कलुषं किल्विषं तत् प्रथमतया आहारमाहारयन्ति। तत्पश्चात् या सा माता नानाविधान् रसान्वितान् आहारान् आहारयति तत् एकदेशेन ओज-माहारयन्ति। आनुपूर्व्येण वृद्धाः परिपाकमनुप्राप्तास्ततः कायतोऽभिनिवर्त्त-मानाः स्त्रीभावमेके जनयन्ति, पुरुषभावमेके जनयन्ति नपुंसकभावमेके जन-यन्ति। ते जीवाः बालाः सन्तः मातुः क्षीरं सर्पिराहारयन्ति, आनुपूर्व्येण वृद्धाः ओदनं कुल्माषं त्रसस्थावरांश्च प्राणान् ते आहारयन्ति। पृथिवीशरीरं यावत् सरूपीकृतं कुर्वन्ति। अपराण्यपि च खलु तेषां नानाविधानां मनुष्याणां कर्मभूमिगानामकर्मभूमिगानामन्तर्द्वीपगानामार्याणां म्लेच्छानां शरीराणि नानावर्णानि भवन्तीत्याख्यातम्॥ सू० ५६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**अह णाणाविहाणं मणुस्साणं अवरं पुरक्खायं**) इसके पश्चात् श्री तीर्थंकरदेव ने अनेक प्रकार के मनुष्यों का स्वरूप बतलाया है (**तं जहा—कम्मभूमगाणं अकम्मभूमगाणं अंतरद्दीवगाणं आरियाणं मिलक्खुयाणं**) जैसे कि कई मनुष्य कर्मभूमि में उत्पन्न हुए हैं, कई अकर्मभूमि में, कई अन्तर्द्वीप में पैदा हुए हैं, कई आर्य होते हैं, कई म्लेच्छ होते हैं। (**तेसिं च णं अहाबीएण अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य कम्मकडाए जोणिए एत्थ णं मेहुणवत्तियाए णामं संजोगे समुपज्जइ**) उन जीवों की अपने-अपने बीज तथा अपने-अपने अवकाश के अनुसार उत्पत्ति होती है। इस उत्पत्ति के कारणरूप स्त्री और पुरुष का पूर्वकर्मनिर्मित योनि में यहाँ मैथुनहेतुक संयोग उत्पन्न होता है। (**ते दुहओ वि सिणेहं संचिण्णंति**) उस संयोग के होने पर उत्पन्न होने वाले जीव (तैजस और कार्मण शरीर द्वारा) दोनों के स्नेह का आहार करते हैं। (**तत्थ णं जीवा इत्थित्ताए, पुरिसत्ताए णपुंसगत्ताए विउट्टंति**) वे जीव वहाँ स्त्रीरूप में, पुरुषरूप में और नपुंसकरूप में उत्पन्न होते हैं। (**ते जीवा माओउयं पिउसुक्कं तं तदुभयं संसट्ठं कलुसं किव्विसं तं पढमत्ताए आहारमाहारेंति**) माता का रज और पिता का वीर्य, जो परस्पर मिले हुए मलिन और घृणित होते हैं, सर्वप्रथम वे जीव उन्हीं का आहार करते हैं। (**तओ पच्छा माया जं से णाणाविहाओ रसविहीओ आहारमाहारेंति**) इसके पश्चात् माता जिन अनेक प्रकार की सरस वस्तुओं का आहार करती है, वे जीव (**तओ एगदेसेणं ओयमाहारेंति**) उसके एकदेश (अंश) का ओज आहार करते हैं। (**आणुपुव्वेणं वुड्ढा पलिपागमणुपवन्ना तओ कायाओ अभिनिवट्टमाणा इत्थिं वेगया जणयंति, पुरिसं वेगया जणयंति णपुंसगं वेगया जणयंति**) क्रमशः वृद्धि को प्राप्त तथा परिपाक को प्राप्त वे जीव माता के शरीर से निकलते हुए कोई स्त्रीरूप में, कोई पुरुषरूप में और कोई नपुंसक रूप में उत्पन्न होते हैं। (**ते जीवा डहरा समाणा माउक्खीरं सप्पिं आहारेंति**) वे जीव बालक होकर माता के दूध और घृत का आहार करते हैं। (**आणुपुव्वेणं वुड्ढा ते जीवा ओयणं कुम्मासं तसथावरे य पाणे आहारेंति**) क्रमशः बढ़ते हुए वे जीव चावल, कुल्माष तथा त्रस-स्थावर प्राणियों का आहार करते हैं। (**ते जीवा आहारेंति पुढवी सरीरं जाव सारूविकडं संतं**) वे जीव पृथ्वी आदि कायों का आहार करके उन्हें अपने रूप में परिणत कर लेते हैं। (**तेसिं णाणाविहाणं मणुस्साणं कम्मभूमगाणं अकम्मभूमगाणं अंतरद्दीवगाणं आरियाणं मिलक्खूणं सरीरा णाणावण्णा भवंतीतिमक्खायं**) उन कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज, अन्तर्द्वीपज, आर्य और म्लेच्छ मनुष्यों के शरीर नाना वर्ण वाले होते हैं, यह श्री तीर्थंकर देव ने कहा है।

व्याख्या

मनुष्यों की उत्पत्ति और आहार का निरूपण

इस सूत्र में मनुष्यों के आहार आदि का निरूपण किया गया है। अब तक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के सूत्रों में वनस्पतिकाय आदि स्थावर जीवों के आहारादि का निरूपण किया गया था। इस सूत्र से त्रसकाय के जीवों के आहारादि का निरूपण प्रारम्भ करते हैं। त्रसकाय के ४ भेद हैं—देव, नारक, तिर्यञ्च और मनुष्य। देव और नारक प्रत्यक्ष नहीं दिखायी देते। वे प्रायः अनुमान से जाने जाते हैं। नारकी जीव अपने पापकर्मों का फल भोगने वाले जीवविशेष हैं, जबकि देवता प्रायः अपने शुभकर्मों का फल भोगने वाले जीवविशेष होते हैं। नारक जीवों का आहार एकान्त अशुभ पुद्गलों का बना हुआ होता है, जबकि देवों का आहार एकान्त शुभ पुद्गलों का बना हुआ होता है। नारक और देव दोनों ही ओज-आहार को ग्रहण करते हैं, कवलाहार को नहीं। ओज-आहार दो प्रकार का है—एक अनाभोगकृत, दूसरा आभोगकृत। अनाभोगकृत आहार तो प्रति समय होता रहता है, जबकि आभोगकृत आहार जघन्य चतुर्थभक्त और उत्कृष्ट ३३ हजार वर्षकृत होता है।

नारक और देव से भिन्न त्रसजीव तिर्यंच और मनुष्य हैं। मनुष्य सर्वश्रेष्ठ प्राणी होता है, इसलिए सर्वप्रथम उसी के आहारादि का वर्णन किया गया है। मनुष्य जाति के जीव कर्मभूमि, अकर्मभूमि और अन्तर्द्वीप में निवास करते हैं। इनमें से कई वीतराग धर्म पर श्रद्धा रखने वाले आर्य होते हैं, जबकि कई पापकर्म में आसक्त अनार्य होते हैं।

इनकी उत्पत्ति संक्षेप में इस प्रकार है—स्त्री, पुरुष या नपुंसक की उत्पत्ति के बीज भिन्न-भिन्न होते हैं, एक नहीं। स्त्री का शोणित (रज) और पुरुष का वीर्य (शुक्र) दोनों ही दोषरहित हों और शोणित की अपेक्षा शुक्र की मात्रा अधिक हो तो पुरुष की उत्पत्ति होती है, परन्तु यदि शोणित की मात्रा अधिक और शुक्र की मात्रा कम हो तो स्त्री की उत्पत्ति होती है, तथा यदि स्त्री का शोणित और पुरुष का शुक्र दोनों समान मात्रा में हों तो नपुंसक की उत्पत्ति होती है। इस तरह माता की दाहिनी कुक्षि से पुरुष की, और बांई कुक्षि से स्त्री की तथा दोनों ही कुक्षि से नपुंसक की उत्पत्ति होती है।

जब किसी जीव की अपने कर्मानुसार मनुष्ययोनि में उत्पत्ति होने वाली होती है तो उसके कर्मानुरूप स्त्री-पुरुष का सूरतसुख की इच्छा से सहवास होता है। वह संयोग उस जीव की उत्पत्ति का उसी तरह कारण होता है, जैसे दो अरणि की लकड़ियों का संयोग (घर्षण) अग्नि की उत्पत्ति का कारण होता है। इस प्रकार स्त्री और पुरुष के परस्पर संयोग होने पर उत्पन्न होने वाला जीव कर्म से प्रेरित होकर तैजस और कार्मण शरीर के द्वारा शुक्र और शोणित का आश्रय लेकर वहाँ उत्पन्न होता है। अर्थात् वह जीव सर्वप्रथम माता के रज और पिता के वीर्य के सम्मिश्रण रस-स्नेह का (जो कि अत्यन्त मलिन और अपवित्र होता है) आहार करता है, जिससे उस जीव के शरीर आदि का निर्माण होता है। तत्पश्चात् माता की कुक्षि में प्रविष्ट वह जीव, उसके द्वारा आहार किये हुए रसयुक्त नाना पदार्थों के स्नेह का आहार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता है। इस प्रकार वह जीव माता के आहारांश को ओज, मिश्र और लोम के द्वारा क्रमशः आहार करता हुआ धीरे-धीरे वृद्धि पाता है, गर्भावस्था पूर्ण होने पर वह जीव पुष्ट होकर माता के शरीर से बाहर आता है। वास्तव में वे जीव अपने-अपने कर्मानुसार कोई स्त्री रूप में, कोई पुरुष रूप में और कोई नपुंसक रूप में जन्म ग्रहण करते हैं, किसी अन्य कारण से नहीं।

कुछ लोगों की मान्यता है कि जो जीव पूर्वभव में स्त्री होता है, वह अगले भव में भी स्त्री ही होता है, तथा जो पूर्वभव में पुरुष या नपुंसक होते हैं, वे आगामी जन्म में भी पुरुष और नपुंसक ही होते हैं, इनके वेद (लिंग) का परिवर्तन कदापि नहीं होता। परन्तु यह मान्यता अज्ञानमूलक है। क्योंकि कर्म की विचित्रता के कारण वेद (लिंग) का परिवर्तन होना स्वाभाविक है। अतः जीव अपने कर्म के प्रभाव से कभी स्त्री, कभी पुरुष और कभी नपुंसक वेद को प्राप्त करता है, यही यथार्थ है।

गर्भ से निकलकर बालक पूर्वजन्म के अभ्यास के अनुसार आहार लेने की इच्छा करता है। पहले-पहल वह माता का स्तनपान करके पोषण पाता है। फिर ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता है, स्तनपान छोड़कर दूध, दही, घी, चावल, दाल, रोटी, मिठाई आदि विभिन्न पदार्थों को खाता है। इसके पश्चात् वह त्रस और स्थावर प्राणियों का आहार करता है। आहार किये हुए पदार्थों को पचाकर वह अपने रूप में मिला लेता है। पृथ्वी आदि के शरीरों का भी वह आहार करता है। मनुष्यों के शरीर में जो रस, रक्त, मांस, मेद, हड्डी, मज्जा और शुक्र आदि सात धातु पाए जाते हैं, उनकी उत्पत्ति भी उनके द्वारा किये हुए आहारों से ही होती है। कर्मभूमि, अकर्मभूमि एवं अन्तर्द्वीप में जो आर्य या म्लेच्छ मानव होते हैं, वे भी अनेक रंगरूप, डीलडौल, ढाँचे तथा विभिन्न गन्ध, रस एवं स्पर्श से युक्त होते हैं। यह सब तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित है।

मूल पाठ

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं जलचराणं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं, तं जहा--मच्छाणं जाव सुंसुमाराणं। तेसिं च णं अहाबीएणं अहागासेणं इत्थीए पुरिसस्स य कम्मकडा तहेव जाव ततो एगदेसेणं ओयमाहारेंति, आणुपुव्वेणं वुड्ढा पलिपागमणुपवन्ना ततो कायाओ अभिनिवट्टमाणा अंडं वेगया जणयंति, पोयं वेगया जणयंति, ते से अंडे उब्भिज्जमाणे इत्थिं वेगया जणयंति पुरिसं वेगया जणयंति नपुंसगं वेगया जणयंति ते जीवा डहरा समाणा आउसिणेहमाहारेंति, आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सइकायं तसथावरे य पाणे। ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं। अवरेऽवि य णं तेसिं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णाणाविहाणं जलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं मच्छाणं जाव सुंसुमाराणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं।

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं, तं जहा—एगखुराणं दुखुराणं गंडीपयाणं सणप्फयाणं, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थिए पुरिसस्स य कम्म जाव मेहुणवत्तिए णामं संजोगे समुप्पजइ ते दुहओ सिणेहं संचिण्णंति। तत्थ णं जीवा इत्थित्ताए पुरिसत्ताए जाव विउट्टंति। ते जीवा माओउयं पिउसुक्कं एवं जहा मणुस्साणं इत्थिपि वेगया जणयंति, पुरिसंपि नपुंसगंपि, ते जीवा डहरा समाणा माउक्खीरं सप्पि आहारेंति, आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सइकायं तसथावरे य पाणे, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं। अवरेऽवि य णं तेसिं णाणाविहाणं चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं एगखुराणं जाव सणप्फयाणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं।

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं, तं जहा—अहीणं अयगराणं आसालियाणं महोरगाणं। तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स जाव एत्थ णं मेहुणे एवं तं चेव नाणत्तं अंडं वेगया जणयंति, पोयं वेगया जणयंति, से अंडे उब्भिज्जमाणे इत्थिं वेगया जणयंति, पुरिसंपि णपुंसगंपि। ते जीवा डहरा समाणा वायुकायमाहारेंति, आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सइकायं तसथावरे पाणे, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं। अवरेऽवि य णं तेसिं णाणाविहाणं उरपरिसप्प-थलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं अहीणं जाव महोरगाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा जावमक्खायं।

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं भुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं, तं जहा—गोहाणं नउलाणं सिहाणं सरडाणं सल्लाणं सरवाणं खराणं घरकोइलियाणं विस्संभराणं मुसगाणं मंगुसाणं पइलाइयाणं बिरालियाणं जोहाणं चउप्पाइयाणं। तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य जहा उरपरिसप्पाणं तहा भाणियव्वं जाव सारूविकडं संतं। अवरेऽवि य णं तेसिं णाणाविहाणं भुयपरिसप्पपंचिंदियथलयरतिरिक्खाणं तं० गोहाणं जावमक्खायं।

अहावर पुरक्खायं णाणाविहाणं खचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं, तं जहा--चम्मपक्खीणं लोमपक्खीणं समुग्गपक्खीणं विततपक्खीणं तेसिं च णं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए जहा उरपरिसप्पाणं नाणत्तं ते जीवा डहरा-समाणा माउगात्तसिणेहमाहारेंति, आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सइकायं तस थावरे य पाणे ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं। अवरेऽवि य णं तेसिं णाणाविहाणं खचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं चम्मपक्खीणं जाव-मक्खायं ॥ सू० ५७ ॥

संस्कृत छाया

अथाऽपरं पुराख्यातम् नानाविधानां जलचराणां पंचेन्द्रियतिर्यग्यो-निकानाम्। तद्यथा—मत्स्यानां यावत् सुंसुमाराणां, तेषां च खलु यथाबीजेन यथाऽवकाशेन स्त्रियाः पुरुषस्य च कर्मकृतस्तथैव यावत् ततः एकदेशेन ओज-माहारयन्ति। आनुपूर्व्या वृद्धाः परिपाकमनुप्रपन्नास्ततः कायादभिनिवर्तमानाः अण्डमेके जनयन्ति पोतमेके जनयन्ति, तस्मिन् अण्डे उद्भिद्यमाने स्त्रियमेके जनयन्ति, पुरुषमेके जनयन्ति, नपुंसकमेके जनयन्ति। ते जीवाः दहराः सन्तः अपां स्नेहमाहारयन्ति आनुपूर्व्या वृद्धाः वनस्पतिकायं त्रसस्थावरांश्च प्राणान् ते जीवाः आहारयन्ति पृथिवीशरीरं यावत्। अपराण्यपि च खलु तेषां नानाविधानां जलचरपंचेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां मत्स्यानां यावत् सुंसुमाराणां शरीराणि नानावर्णानि यावदाख्यातानि।

अथाऽपरं पुराख्यातम् नानाविधानां चतुष्पदस्थलचरपंचेन्द्रिय-तिर्यग्योनिकानां, तद्यथा—एकखुराणां द्विखुराणां गण्डीपदानां सनखपदानां, तेषाञ्च यथाबीजेन यथाऽवकाशेन स्त्रियाः पुरुषस्य च कर्मकृतः यावन्मैथुन-प्रत्ययिकः संयोगः समुत्पद्यते। ते द्वयोरपि स्नेहं संचिन्वन्ति, तत्र जीवाः स्त्री-तया पुरुषतया यावत् विवर्तन्ते। ते जीवाः मातुरार्त्तवं पितुः शुक्रमेवं यथा मनुष्याणां स्त्रियमप्येके जनयन्ति, पुरुषमपि नपुंसकमपि। ते जीवाः दहराः सन्तः क्षीरं सर्पिराहारयन्ति। आनुपूर्व्या वृद्धाः वनस्पतिकायं त्रसस्थावरांश्च प्राणान्। ते जीवा आहारयन्ति पृथिवीशरीरं यावत्। अपराण्यपि च खलु तेषां नानाविधानां चतुष्पद-स्थलचर-पंचेन्द्रियतिर्यग्योनिकानाम् एकखुराणां यावत् सनखपदानां शरीराणि नानावर्णानि यावदाख्यातानि।

अथाऽपरं पुराख्यातम् –नानाविधानामुरःपरिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रिय तिर्यग्योनिकानाम् तद्यथा—अहीनामजगराणामाशालिकानां महोरगाणाम्। तेषां च यथाबीजेन यथाऽवकाशेन च स्त्रियाः पुरुषस्य यावद् अत्र मैथुनमेवं तच्चैवाज्ञप्तम्। अण्डमेके जनयन्ति, पोतमेके जनयन्ति। तस्मिन् अण्डे उद्-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भिद्यमाने स्त्रियमेके जनयन्ति, पुरुषमपि नपुंसकमपि । ते जीवाः दहराः सन्तः वायुकायमाहारयन्ति, आनुपूर्व्या वृद्धाः वनस्पतिकायं त्रस-स्थावर-प्राणान् । ते जीवा आहारयन्ति पृथिवीशरीरं यावत् । अपराण्यपि च तेषां नानाविधानामुरःपरिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां यावन्महोरगाणां शरीराणि नानावर्णानि नानागन्धानि यावदाख्यातानि ।

अथाऽपरं पुराख्यातम् नानाविधानां भुजपरिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रिय-तिर्यग्योनिकानां, तद्यथा—गोधानां नकुलानां सिंहानां सरटानां सल्लकानां सरघानां खराणां गृहकोकिलानां विश्वम्भराणां मूषकानां मंगुसानां पदल-लितानां बिडालानां योधानां चतुष्पदानां तेषां च यथाबीजेन यथाऽवकाशेन स्त्रियाः पुरुषस्य च यथा उरःपरिसर्पाणां तथा भणितव्यं यावत् सरूपीकृतं स्यात् । अपराण्यपि च तेषां नानाविधानांभुजपरिसर्पपञ्चेन्द्रियस्थल-चरतिरश्चां गोधानां यावदाख्यातानि ।

अथाऽपरं पुराख्यातं नानाविधानां खचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानाम्, तद्यथा—चर्मपक्षिणां रोमपक्षिणां समुद्रपक्षिणां विततपक्षिणां तेषां च यथाबी-जेन यथाऽवकाशेन स्त्रियाः यथा उरःपरिसर्पाणामाज्ञप्तम् । ते जीवाः दहराः सन्तः मातृगात्रस्नेहमाहारयन्ति, आनुपूर्व्या वृद्धाः वनस्पतिकायं त्रसस्थाव-रांश्च प्राणान् । ते जीवा आहारयन्ति पृथिवीशरीरं यावद् अपराण्यपि च तेषां नानाविधानां खचरपञ्चेन्द्रियतिरश्चां चर्मपक्षिणां यावदाख्यातानि ॥सू०५७॥

अन्वयार्थ

(**अहावरं णाणाविहाणं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं जलचराणं पुरक्खायं**) इसके अनन्तर श्री तीर्थंकरदेव ने अनेक प्रकार के जो पांच इन्द्रिय वाले जलचर तिर्यंच होते हैं, जिनका वर्णन पहले इस प्रकार किया है—(**तं जहा-मच्छाणं जाव सुंसुमाराणं**) मत्स्यों से लेकर सुंसुमार तक के जीव पाँच इन्द्रिय वाले जलचर तिर्यंच हैं । (**तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य कम्मकडा तहेव जाव**) वे जीव अपने-अपने बीज और अवकाश के अनुसार स्त्री-पुरुष के संयोग (सहवास) होने पर अपने-अपने कर्मानुसार पूर्वोक्त प्रकार से गर्भ में उत्पन्न होते हैं (**ततो एगदेसेणं ओयमाहारेंति**) फिर वे जीव गर्भ में आकर माता के आहार के एकदेश (अंश) रूप में ओज-आहार ग्रहण करते हैं । (**आणुपुव्वेणं वुड्ढा पलिपागमणुपवन्ना ततो कायाओ अभिनिवट्टमाणा अंडं वेगया जणयंति पोयं वेगया जणयंति**) इस प्रकार क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होकर गर्भ के परिपक्व होने पर (गर्भावस्था पूर्ण होने पर) बाहर होकर कोई अंडे के रूप में, एवं कोई पोत के रूप में उत्पन्न होते हैं (**से अंडे उब्भिज्जमाणे इत्थि वेगया जणयंति पुरिसं**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वेगया जणयंति नपुंसगं वेगया जणयंति) जब यह अंडा फूट जाता है तो कोई स्त्री (मादा) कोई नर और कोई नपुंसक के रूप में उत्पन्न होते हैं (**ते जीवा डहरा समाणा आउसिणेहमाहारेंति**) वे जलचर जीव बाल्यावस्था में जल के स्नेह (रस) का आहार करते हैं। (**आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सइकायं तसथावरे य पाणे**) क्रमशः बड़े होकर वे जीव वनस्पतिकाय का तथा त्रस-स्थावर प्राणियों का आहार करते हैं। (**ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव संतं**) वे जीव पृथ्वी आदि शरीरों का भी आहार करते हैं और उन्हें पचाकर अपने रूप में मिला लेते हैं। (**तेसिं णाणाविहाणं जलचर पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं मच्छाणं जाव सुंसुमाराणं अवरेऽवि य णं सरीरा णाणावण्णा जाव-मक्खायं**) उन नाना प्रकार के जलचर पंचेन्द्रिय तिर्यंच मछली, मगरमच्छ, कछुआ, ग्राह, घड़ियाल आदि सुंसुमार तक के जीवों के दूसरे भी अनेक शरीर होते हैं, जो विभिन्न वर्णादि के होते हैं। यह श्री तीर्थंकरदेव ने कहा है।

(**अह णाणाविहाणं चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं अवरं पुरक्खायं**) इसके पश्चात् श्री तीर्थंकरदेव ने अनेक जाति वाले स्थलचर चौपाये जानवरों के सम्बन्ध में पहले बताया था। (**तं जहा—एगखुराणं दुखुराणं गंडीपयाणं सणप्फयाणं**) स्थलचर चौपाये पशु कई एक खुर वाले, कई दो खुर वाले, कई गण्डीपद (हाथी आदि) और कई नखयुक्त पैर वाले होते हैं। (**तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थिए पुरिसस्स य कम्म जाव मेहुणवत्तिए णामं संजोगे समुपज्जइ**) वे जीव अपने-अपने बीज और अवकाश के अनुसार उत्पन्न होते हैं तथा इनमें भी स्त्री पुरुष का परस्पर सूरत-संयोग कर्मानुसार है, उस संयोग के होने पर वे जीव चतुष्पद जाति के गर्भ में आते हैं। (**ते दुहओ सिणेहं संचिण्णंति**) वे माता और पिता दोनों के स्नेह का पहले आहार करते हैं। (**तत्थ णं जीवा इत्थित्ताए पुरिसत्ताए जाव विउट्टंति**) उस गर्भ में वे जीव स्त्री, पुरुष या नपुंसक रूप से उत्पन्न होते हैं। (**ते जीवा माओउयं पिउसुक्कं एवं जहा मणुस्साणं**) वे जीव गर्भ में माता के आर्तव (रज) और पिता के शुक्र का आहार करते हैं। शेष सब बातें पूर्ववत् मनुष्य के समान समझ लेनी चाहिए। (**इत्थिंपि वेगया जणयंति पुरिसंपि नपुंसगंपि**) इनमें कोई स्त्री रूप से, कोई पुरुष रूप से और कोई नपुंसकरूप से उत्पन्न होते हैं। (**ते जीवा डहरा समाणा माउक्खीरं सप्पिं आहारेंति**) वे जीव बाल्यावस्था में माता के स्तन का दूध और घृत का आहार करते हैं। (**आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सइकायं तसथावरे य पाणे**) क्रमशः बड़े होने पर वे वनस्पतिकाय का तथा दूसरे त्रस और स्थावर प्राणियों का आहार करते हैं। (**ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव संतं**) वे प्राणी पृथ्वी आदि कायों का भी आहार करते हैं और आहार किये हुए पदार्थों को पचाकर अपने शरीर के रूप में परिणत कर लेते हैं। (**तेसिं णाणाविहाणं चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं एगखुराणं जाव सणप्फयाणं अवरेऽवि य सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं**) उन अनेकविध जाति वाले चौपाये स्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीवों के विभिन्न वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आकार-प्रकार एवं रचना वाले दूसरे अनेक शरीर भी होते हैं, यह श्री तीर्थंकरदेव ने कहा है।

(**अह णाणाविहाणं उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं अवरं पुरक्खायं**) इसके पश्चात् श्री तीर्थंकरदेव ने अनेक प्रकार की जाति (किस्म) वाले पंचेन्द्रिय तिर्यंच प्राणी, जो छाती के बल सरककर चलते हैं, उनका वृत्तान्त बताया है। (**तं जहा—अहीणं अयगराणं आसालियाणं महोरगाणं**) जैसे कि सर्प, अजगर, आशालिक और महोरग (बड़े साँप) आदि जमीन पर छाती के बल सरककर चलने वाले—उरः-परिसर्प स्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीव हैं। (**तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं**) वे प्राणी भी अपने-अपने उत्पत्तियोग्य बीज और अवकाश के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। (**इत्थीए पुरिसस्स जाव एत्थ णं मेहुणे एवं तं चेव नाणत्तं**) इन प्राणियों में भी स्त्री और पुरुष का परस्पर मैथुन नामक संयोग होता है, उस संयोग के होने पर कर्मप्रेरित प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार अपनी-अपनी नियत योनि में उत्पन्न होते हैं। शेष बातें पूर्ववत् कही गई हैं। (**अंडं वेगया जणयंति पोयं वेगया जणयंति**) इनमें से कई अंडा देते हैं, कई बच्चा उत्पन्न करते हैं। (**से अंडे उब्भिज्जमाणे इत्थिं वेगया जणयंति पुरिसमपि णपुंसगमपि**) उस अण्डे के फूट जाने पर कोई स्त्री को उत्पन्न करते हैं, कोई पुरुष को और कोई नपुंसक को पैदा करते हैं। (**ते जीवा डहरा समाणा वाउकायमाहारेंति**) वे जीव बाल्यावस्था में वायुकाय (हवा) का आहार करते हैं, (**आणपुव्वेणं वुड्ढा समाणा वणस्सइकायं तसथावरे पाणे**) क्रमशः बड़े होने पर वे वनस्पति तथा अन्य त्रस एवं स्थावर प्राणियों का आहार करते हैं। (**ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव संतं**) वे जीव पृथ्वी आदि के कायों का भी आहार करते हैं और उन्हें पचाकर अपने शरीर के रूप में परिणत कर लेते हैं। (**तेसिं णाणाविहाणं उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं अहीणं जाव महोरगाणं अवरेऽवि य सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा जावमक्खायं**) उन उरःपरिसर्प स्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों (जो कि सर्प से लेकर महोरग तक कहे गये हैं) के अनेक वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, आकार-प्रकार एवं ढाँचे वाले अन्य शरीर भी होते हैं, ऐसा श्री तीर्थंकरदेव ने कहा है।

(**अह णाणाविहाणं भुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं अवरं पुरक्खायं**) इसके पश्चात् अनेक प्रकार के भुजा के सहारे से पृथ्वी पर चलने वाले (भुजपरिसर्प) पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च हैं, उनके विषय में श्री तीर्थंकरदेव ने पहले कहा है। (**तं जहा—गोहाणं नउलाणं सिहाणं सरडाणं सल्लाणं सरवाणं खराणं घरकोइलाणं विस्संभराणं मुसगाणं मंगुसाणं पइलाइयाणं बिरालियाणं जोहाणं चउप्पाइयाणं**) भुजा के बल से पृथ्वी पर चलने वाले कुछ पंचेन्द्रिय तिर्यंच ये हैं—गोह, नेवला, सिंह, सरट, सल्लक, सरघ, खर, गृहकोकिल, विश्वंभर, मूषक, मंगुस, पदलालित, बिडाल, जोध, और चतुष्पद, (**तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

य जहा उरपरिसप्पाणं तहा भाणियव्वं) वे जीव भी अपने-अपने बीज और अवकाश के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं और उरपरिसर्प जीवों के समान ये जीव भी स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न होते हैं, ये सब बातें पूर्ववत् जान लेनी चाहिए। (**जाव सारूविकडं संतं**) ये जीव भी अपने किये हुए आहार को पचाकर अपने शरीर में परिणत कर लेते हैं। (**तेसिं णाणाविहाणं भुयपरिसप्पपंचिंदियथलयरतिरिक्खाणं तं० गोहाणं जावमक्खायं**) उन अनेक जाति वाले भुजपरिसर्प स्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के दूसरे भी नाना वर्ण वाले शरीर होते हैं, यह भी तीर्थंकरदेव ने कहा है।

(**अह णाणाविहाणं खचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं अवरं पुरक्खायं**) इसके पश्चात् श्री तीर्थंकरदेव ने अनेक प्रकार की जाति वाले आकाशचारी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के विषय में कहा है। (**तं जहा—चम्मपक्खीणं लोमपक्खीणं समुग्गपक्खीणं विततपक्खीणं**) जैसे कि—चर्मपक्षी, रोमपक्षी, समुद्रपक्षी और विततपक्षी (इनकी उत्पत्ति और आहार के विषय में भगवान् ने यह कहा है) (**तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए जहा उरपरिसप्पाणं नाणत्तं**) ये प्राणी अपनी उत्पत्ति के योग्य बीज और अवकाश के द्वारा उत्पन्न होते हैं और स्त्री-पुरुष के संयोग से ही इनकी भी उत्पत्ति होती है, शेष बातें उरपरिसर्प जाति के पाठ के समान ही जान लेनी चाहिए।(**ते जीवा डहरा समाणा माउगात्तसिणेहमाहारेंति**) ये प्राणी गर्भ से निकलकर बाल्यावस्था में माता के स्नेह का आहार करते हैं। (**आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सइकायं तसथावरे य पाणे**) और वे क्रमशः बड़े होकर वनस्पतिकाय और त्रसस्थावर प्राणियों का आहार करते हैं। (**ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव संतं**) ये प्राणी पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय तक के जीवों के शरीरों का भी आहार करते हैं। (**तेसिं णाणाविहाणं खचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं चम्मपक्खीणं जाव अवरेऽवि अक्खायं**) इन अनेक प्रकार की जाति वाले चर्मपक्षी आदि आकाशचारी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के और भी अनेक प्रकार के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श एवं आकार-प्रकार के शरीर होते हैं, ऐसा श्री तीर्थंकर देव ने कहा है।

व्याख्या

तिर्यञ्च जीवों की उत्पत्ति और आहार के सम्बन्ध में

इस सूत्र में तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों के उत्पन्न होने की प्रक्रिया और आहार के सम्बन्ध में निरूपण किया गया है। सर्वप्रथम पंचेन्द्रिय जलचर प्राणियों के सम्बन्ध में बताया गया है। यों तो जलचर प्राणियों (जो कि पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च हैं) की अनेक योनियाँ हैं। यहाँ मत्स्य, कच्छप, मगरमच्छ और घड़ियाल (ग्राह) आदि कुछ जलचर तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय के नाम गिनाये गये हैं। ये जीव अपने पूर्वकृत कर्मफल भोगने के लिए जलचर तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय योनि में जन्म धारण करते हैं। जैसे मनुष्य अपने बीज और अवकाश के अनुसार जन्म धारण करते हैं; इसी तरह जलचर प्राणी भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने-अपने उपयुक्त बीज और अवकाश के अनुसार ही जन्म ग्रहण करते हैं। वे प्राणी गर्भ में आकर अपनी माता के आहारांश का आहार करते हैं। वे प्राणी गर्भ से निकलकर पहले जल से स्नेह का आहार करते हैं। फिर बड़े होने पर वनस्पतिकाय का तथा अन्य त्रस और स्थावर प्राणियों का आहार करते हैं। ये जलचर जीव पंचेन्द्रिय जीवों का भी आहार करते हैं। वाल्मीकि रामायण में वर्णन मिलता है—

"अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम शतयोजनविस्तरः।
तिमिंगिलगिलोऽप्यस्ति, तद्गिलोऽप्यस्ति राघव !"

"हे राम ! सौ योजन लम्बा एक 'तिमि' नामक मत्स्य होता है। उसे निगल जाने वाला एक मत्स्य होता है, उसे तिमिंगिल कहते हैं और उस तिमिंगिल को भी निगल जाने वाला एक और मत्स्य होता है, जिसे 'तिमिंगिलगिल' कहते हैं। तथा उसे भी निगल जाने वाला एक सबसे बड़ा मत्स्य होता है।"

जैसे मनुष्य योनि में स्त्री, पुरुष और नपुंसक ये तीन भेद होते हैं, इसी तरह जलचरों में भी तीन भेद होते हैं। जलचर जीव कीचड़ का भी आहार करते हैं और उसे पचाकर अपने शरीर में परिणत कर लेते हैं। ये जीव अपने पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने के लिए जलचरयोनि में उत्पन्न होते हैं, यह जानना चाहिए।

इससे आगे इसी सूत्र में पृथ्वी पर विचरण करने वाले (स्थलचारी) पाँचों इन्द्रियों से युक्त चौपाये जानवरों की उत्पत्ति, आहार आदि का वर्णन है। वे चौपाये पशु कोई एक खुर वाले होते हैं, जैसे घोड़े, गधे आदि जानवर, तथा कोई दो खुर वाले होते हैं, जैसे गाय, भैंस आदि, कोई गण्डीपद यानी फलक के समान पैर वाले होते हैं, जैसे हाथी, गेंडा आदि, कोई नखयुक्त पंजे वाले होते हैं, जैसे बाघ, सिंह आदि। वे जीव अपने बीज और अवकाश के अनुसार ही जन्म धारण करते हैं, अन्य प्रकार से नहीं। उनका गर्भ में आने से लेकर गर्भ से बाहर आने (जन्म लेने) तक का सारा वर्णन मनुष्य के वर्णन के समान ही जानना चाहिए। समस्त पर्याप्तियों से पूर्ण होकर जब ये प्राणी माता के गर्भ से बाहर आते हैं, तब माता के दूध को पीकर अपना जीवन धारण करते हैं। जब ये बड़े हो जाते हैं, तब वनस्पति और त्रस-स्थावर प्राणियों का आहार करते हैं। शेष बातें पूर्व पाठ के समान ही जानना चाहिए। वे प्राणी अपने किये हुए कर्मों का फल भोगने के लिए इन योनियों में जन्म धारण करते हैं। यह सब प्ररूपणा तीर्थंकरदेव ने की है।

इसके अनन्तर सर्प, अजगर आदि प्राणियों के आहारादि का वर्णन है। ये जमीन पर छाती के बल रेंगकर या सरककर चलते हैं, इसलिए ये उरःपरिसर्प कहलाते हैं। ये प्राणी भी अपने बीज और अवकाश को पाकर ही उत्पन्न होते हैं; दूसरी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तरह से नहीं। इनमें से कई प्राणी तो अण्डा देते हैं, और कई बच्चा पैदा करते हैं। ये प्राणी माता के गर्भ से निकलकर वायुकाय का आहार करते हैं। जैसे मनुष्य आदि के बच्चे माँ का दूध पीकर पुष्ट होते हैं, वैसे ही ये प्राणी भी अपनी जाति के स्वभावानुसार वायु पीकर पुष्ट होते हैं। पर ज्यों-ज्यों ये बड़े होते जाते हैं, पृथ्वी से लेकर वनस्पतिकाय तक के स्थावरजीवों एवं द्वीन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक त्रस-जीवों का आहार करते हैं, उनके रस और स्नेह को पचाकर अपने शरीर के रूप में परिणत कर लेते हैं। इनके शरीर के ढाँचे, आकार-प्रकार, रंग-रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि भी नाना प्रकार के होते हैं। यह सब प्ररूपणा श्री तीर्थंकरदेव ने की है।

इसके पश्चात् भुजपरिसर्प स्थलचर तिर्यंच पञ्चेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति और आहार आदि का वर्णन है। भुजपरिसर्प उन्हें कहते हैं, जो प्राणी भुजा के बल से पृथ्वी पर चलते हैं। इन प्राणियों के कुछ नामों का यहाँ शास्त्रकार ने उल्लेख किया हैं। इनमें चूहा, नेवला, गोह आदि जानवर प्रसिद्ध हैं। ये जीव अपने कर्म से प्रेरित होकर इन योनियों में जन्म धारण करते हैं। इन प्राणियों की उत्पत्ति की प्रक्रिया और आहार आदि का सब वर्णन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए। ये प्राणी भी अनेक रंग-रूप, आकार-प्रकार, गन्ध, रस, स्पर्श से युक्त शरीर वाले होते हैं।

इससे आगे के इसी सूत्रान्तर्गत पाठ में आकाशचारी पक्षियों की उत्पत्ति और आहार आदि का वर्णन है। वैसे तो आकाशचारी पक्षी अनेक किस्म के होते हैं, परन्तु यहाँ शास्त्रकार ने उन्हें चार कोटियों में विभक्त किया है—(१) चर्मपक्षी, (२) रोम-पक्षी, (३) समुद्गपक्षी और (४) विततपक्षी।

चर्मकीट और वल्गुली आदि पक्षी चर्मपक्षी कहलाते है, राजहंस, सारस, बगुला, कौआ आदि रोमपक्षी कहलाते हैं। ढाई द्वीप से बाहर के पक्षी समुद्गपक्षी और विवत-पक्षी कहलाते हैं। ये प्राणी अपनी उत्पत्ति के योग्य बीज और अवकाश के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं, अन्य रूप से नहीं। पक्षी जाति की मादा अपने अंडे को अपने पंखों से ढककर बैठती है, उसे सेती है, ऐसा करके वह अपने शरीर की गर्मी को अंडे में प्रवेश कराती है। उस गर्मी का आहार (सेवन) करके वह पक्षी का बच्चा अंडे के अन्दर ही अन्दर बड़ा होता जाता है। जब वह कलल-अवस्था को छोड़कर चोंच आदि अवयवों के रूप में परिणत हो जाता है और उसके सभी अंग पूर्ण (पर्याप्त) हो जाते हैं, तब वह अंडा फूटकर दो भागों में बँट जाता है। अंडे में से निकला हुआ बच्चा माता के द्वारा दिये हुए आहार को खाकर वृद्धि पाता है। शेष सब बातें पूर्ववत् समझ लेनी चाहिए।

यहाँ तक मनुष्यों और पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के आहार की व्याख्या की गई है। विशेष बात यह है कि इनका आहार दो प्रकार का होता है—एक आभोग से और दूसरा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनाभोग से । अनाभोग से होने वाला आहार क्षुधावेदनीय के उदय होने पर ही होता है, अन्य समय में नहीं ।

पंचेन्द्रिय मनुष्यों और तिर्यंचों की उत्पत्ति, आदि का सभी वर्णन प्रायः एक सरीखा है ।

मूल पाठ

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता णाणाविहजोणिया णाणाविहसंभवा, णाणाविहवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पोग्गलाणं सरीरेसु वा सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा अणुसूयत्ताए विउट्टति । ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव संतं । अवरेऽवि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं अणुसूयगाणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं । एवं दुरूवसंभवत्ताए । एवं चुरदुगत्ताए ॥ सू० ५८ ॥

संस्कृत छाया

अथाऽपरं पुराख्यातमिहैकतये सत्त्वाः नानाविधयोनिकाः नानाविधसम्भवाः, नानाविधव्युत्क्रमाः । तद्योनिकास्तत्सम्भवास्तदुपक्रमाःकर्मोपगाः, कर्मनिदानेन तत्र व्युत्क्रमाः नानाविधानां त्रसस्थावरणां पुद्गलानां शरीरेषु सचित्तेषु अचित्तेषु वा अनुस्यूततया विवर्तन्ते । ते जीवास्तेषां नानाविधानां त्रसस्थावरणां प्राणानां स्नेहमाहारयन्ति । ते जीवा आहारयन्ति पृथिवी शरीरं यावदपराण्यपि च तेषां त्रसस्थावर योनिकानामनुस्यूतकानां शरीराणि नानावर्णानि यावदाख्यातानि । एवं दुरुपसम्भवतया एवं चर्मकीटतया ॥ सू० ५८ ॥

अन्वयार्थ

(**अहावरं पुरक्खायं**) इसके अनन्तर श्री तीर्थंकरदेव ने अन्य जीवों की उत्पत्ति और आहार के विषय में पहले वर्णन किया है । (**इहेगइया सत्ता णाणाविहजोणिया**) इस जगत् में कई प्राणी विभिन्न योनियों में पैदा होते हैं । (**णाणाविहसंभवा**) वे अनेक प्रकार की योनियों में स्थित रहते हैं, (**णाणाविहवुक्कमा**) तथा वे अनेक प्रकार की योनियों में वृद्धि पाते हैं । (**तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा**) नाना प्रकार की उन-उन यौनियों में उत्पन्न, उन्हीं में स्थित और उन्हीं योनियों में बढ़े हुए वे जीव (**कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा**) अपने पूर्वकृत् कर्मों का अनुसरण करते हुए उन कर्मों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के ही प्रभाव से विभिन्न प्रकार की योनियों में उत्पन्न होते हैं। (**णाणाविहाणं तसथावराणं पोग्गलाणं सरीरेसु वा सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा अणुसूयत्ताए विउट्टंति**) वे प्राणी नाना प्रकार के त्रस और स्थावर पुद्गलों के सचित्त और अचित्त शरीर में उनके आश्रित होकर रहते हैं। (**ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति**) वे जीव अनेकविध त्रस और स्थावर प्राणियों के स्नेह का आहार करते हैं। (**ते जीवा पुढवीसरीरं जाव आहारेंति संतं**) वे जीव पृथ्वी आदि के शरीरों का भी आहार करते हैं। (**तेसिं तसथावरजोणियाणं अणुसूयगाणं सरीरा अवरेऽवि य णाणावण्णा जावमक्खायं**) उन त्रस-स्थावर योनियों से उत्पन्न, और उन्हीं के आश्रय से रहने वाले प्राणियों के विभिन्न वर्ण वाले दूसरे शरीर भी होते हैं, यह श्री तीर्थंकरदेव ने कहा है। (**एवं दुरूवसंभवत्ताए एवं खुरदुगत्ताए**) इसी प्रकार विष्ठा और मूत्र आदि से विकलेन्द्रिय प्राणी पैदा होते हैं, और गाय-भैंस आदि के शरीर में चर्म-कीट उत्पन्न होते हैं।

व्याख्या

विकलेन्द्रिय प्राणियों की उत्पत्ति और आहार

पञ्चेन्द्रिय प्राणियों के आहार के सम्बन्ध में बताकर अब इस सूत्र में विकलेन्द्रिय प्राणियों की उत्पत्ति और आहार आदि के सम्बन्ध में निरूपण करते हैं। जो प्राणी त्रस और स्थावर प्राणियों के सचित्त तथा अचित्त शरीर में उत्पन्न होते हैं; और उन्हीं के आश्रय से उनकी स्थिति और वृद्धि होती है, उन (विकलेन्द्रिय जीवों) का वर्णन इस सूत्र में किया गया है। मनुष्य के शरीर में जूँ, लीख आदि तथा खाट में खटमल आदि उत्पन्न होते हैं तथा मनुष्य के अचित्त शरीर में तथा विकलेन्द्रिय प्राणियों के शरीर में कृमि आदि उत्पन्न होते हैं। ये प्राणी दूसरे प्राणियों की तरह अन्यत्र जाने-आने में स्वतन्त्र नहीं हैं, किन्तु वे जिस शरीर में पैदा होते हैं, उसी के आश्रय से रहते हैं। सचित्त तेजस्काय (अग्नि) तथा वायुकाय (हवा) से भी विकलेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति होती है। वर्षा ऋतु में गर्मी के कारण जमीन से कुन्थुआ आदि संस्वेदज प्राणियों को उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार जल से भी अनेक विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय) प्राणियों की उत्पत्ति होती है। वनस्पतिकाय से पनक, भ्रमर आदि विकलेन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं। ये प्राणी जिस शरीर से उत्पन्न होते हैं, उसी का आहार करके जीते हैं। जैसे सचित्त और अचित्त शरीर से विकलेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति होती है, वैसे ही पंचेन्द्रिय प्राणियों के मल-मूत्र से भी दूसरे विकलेन्द्रियों की उत्पत्ति होती हैं। वे जीव शरीर से बाहर निकले हुए और नहीं निकले हुए दोनों ही प्रकार के मल-मूत्रों से उत्पन्न होते हैं। इन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राणियों का आकार बहुत ही भौंड़ा भद्दा (कुत्सित) होता है, और ये अपने उत्पत्ति-स्थान में स्थित मल-मूत्र का ही आहार करते हैं। जैसे पंचेन्द्रिय प्राणियों के मल-मूत्र से विकलेन्द्रिय प्राणी उत्पन्न होते हैं, वैसे ही वे तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय प्राणियों के शरीर में चर्मकीटरूप से उत्पन्न होते हैं। जिन्दा गाय और भैंस के शरीर में बहुत-से चर्मकीट पैदा हो जाते हैं, वे गाय-भैंस की चमड़ी खाकर वहाँ गड्ढा कर देते हैं। उस गड्ढे में से जब खून निकलने लगता है, तब वे उसी गड्ढे में जम (स्थित हो) कर उसके रक्त का आहार करते हैं। गाय-भैंस के अचित्त शरीर में भी विकलेन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं। सचित्त और अचित्त दोनों प्रकार की वनस्पतियों में भी घुण और कीट आदि विकलेन्द्रिय प्राणी पैदा हो जाते हैं और अपनी आश्रयदात्री उसी वनस्पति का ही आहार करके जीते हैं।

मूल पाठ

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता णाणाविहजोणिया जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा तं सरीरगं वायसं सिद्धं वा वायसंगहियं वा वायपरिग्गहियं उड्ढवाएसु उड्ढभागी भवति, अहेवाएसु अहेभागी भवति, तिरियवाएसु तिरियभागी भवति, तं जहा—ओसा हिमए महिया करए हरतणुए सुद्धोदए। ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति। ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं। अवरेऽवि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं ओसाणं जाव सुद्धोदगाणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं।

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा तसथावरजोणिएसु उदएसु उदगत्ताए विउट्टंति। ते जीवा तेसिं तसथावरजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति। ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं। अवरेऽवि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं उदगाणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं।

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता उदगजोणियाणं जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा उदगजोणिएसु उदएसु उदगत्ताए विउट्टंति। ते जीवा तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति। ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव संतं। अवरेऽवि य णं तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं।

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता उदगजोणियाणं जाव कम्मणिया-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णेणं तत्थवुक्कमा उदगजोणिएसु उदएसु तसपाणत्ताए विउट्टंति। ते जीवा तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव संतं। अवरेऽवि य णं तेसिं उदगजोणियाणं तसपाणाणं सरीराणाणावण्णा जावमक्खायं ॥ सू० ५९ ॥

संस्कृत छाया

अथाऽपरं पुराख्यातमिहैकतये सत्त्वाः नानाविधयोनिकाः यावत् कर्मनिदानेन तत्र व्युत्क्रमाः नानाविधानां त्रसस्थावराणां प्राणानां शरीरेषु सचित्तेषु वा अचित्तेषु वा तच्छरीरं वायुसंसिद्धं वा वायुसंगृहीतं वा वायुपरिगृहीतं वा उर्ध्ववातेषु ऊर्ध्वभागी भवति, अधोवातेषु अधोभागी भवति, तिर्यग्वातेषु तिर्यग्भागी भवति। तद्यथा—अवश्यायः। हिमकः मिहिका करकः हरतनुकाः शुद्धोदकम्। ते जीवास्तेषां नानाविधानां त्रसस्थावराणां प्राणानां स्नेहमाहारयन्ति। ते जीवा आहारयन्ति पृथिवीशरीरं यावत् स्यात्। अपराण्यपि च खलु तेषां त्रसस्थावरयोनिकानां अवश्यायानां यावच्छुद्धोदकानां शरीराणि नानावर्णानि यावदाख्यातानि।

अथाऽपरं पुराख्यातम्--इहैकतये सत्त्वाः उदकयोनिकाः उदकसम्भवाः, यावत् कर्मनिदानेन तत्र व्युत्क्रमाः त्रसस्थावरयोनिकेषु उदकेषु उदकतया विवर्तन्ते। ते जीवास्तेषां त्रसस्थावरयोनिकामुदकानां स्नेहमाहारयन्ति। ते जीवा आहारयन्ति पृथिवीशरीरं यावदपराण्यपि च तेषां त्रसस्थावरयोनिकानामुदकानां शरीराणि नानावर्णानि यावदाख्यातानि।

अथाऽपरं पुराख्यातमिहैकतये सत्त्वाः उदकयोनिकानां यावद् कर्मनिदानेन तत्र व्युत्क्रमाः उदकयोनिकेषु उदकेषु उदकतया विवर्तन्ते। ते जीवास्तेषामुदकयोनिकानामुदकानां स्नेहमाहारयन्ति। ते जीवा आहारयन्ति पृथिवीशरीरं यावत्। अपराण्यपि च तेषामुदकयोनिकानामुदकानां शरीराणि नानावर्णानि यावदाख्यातानि।

अथाऽपरं पुराख्यातमिहैकतये सत्त्वाः उदकयोनिकानां यावत् कर्मनिदानेन तत्र व्युत्क्रमाः उदकयोनिकेषूदकेषु त्रसप्राणतया विवर्तन्ते। ते जीवास्तेषामुदकयोनिकानामुदकानां स्नेहमाहारयन्ति। ते जीवा आहारयन्ति पृथिवीशरीरं यावदपराण्यपि च खलु तेषामुदकयोनिकानां त्रसप्राणानां शरीराणि नानावर्णानि यावदाख्यातानि ॥ सू० ५९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**अह अवरं पुरक्खायं**) इसके पश्चात् श्री तीर्थंकरदेव ने और प्राणियों का वर्णन भी किया है। (**इहेगइया सत्ता णाणाविहजोणिया जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा**) इस जगत् में कई जीव नानाविध योनियों में उत्पन्न होकर कर्म की प्रेरणा से वायुयोनिक अप्काय में आते हैं। (**णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सचित्तेसु वा अचित्तेसुवा सरीरेसु तं सरीरगं वायसंसिद्धं वायसंगहियं वायपरिग्गहियं**) वे प्राणी अप्काय में आकर अनेक प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियों के सचित्त तथा अचित्त शरीर में अप्काय रूप से उत्पन्न होते हैं। वह अप्काय वायु से बना हुआ और वायु के द्वारा संग्रह किया हुआ तथा वायु के द्वारा धारण किया हुआ होता है। (**उड्ढवाएसु उड्ढभागी अहेवाएसु अहेभागी तिरियवाएसु तिरियभागी भवति**) अतः वह ऊपर का वायु हो तो ऊपर, नीचे का वायु हो तो नीचे तथा तिरछा वायु हो तो तिरछा जाता है। (**तं जहा—ओसा हिमए महिया करए हरतणुए सुद्धोदए**) उस अप्काय (जलकाय) के कुछ नाम ये हैं—अवश्याय (ओस), हिम (बर्फ), मिहिका (कोहरा), करए (ओला), हरतनु और शुद्धजल। (**ते जीवा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति**) वे जीव अनेक प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियों के स्नेह का आहार करते हैं। (**पुढवीसरीरं जाव संतं**) वे पृथ्वी आदि के शरीरों का भी आहार करते हैं और उन्हें पचाकर अपने शरीर में परिणत कर लेते हैं। (**तेसिं तसथावरजोणियाणं ओसाणं जाव सुद्धोदगाणं अवरेऽवि य णाणावण्णा सरीरा जावमक्खायं**) उन त्रस-स्थावर-योनि से उत्पन्न अवश्याय से लेकर शुद्धोदक पर्यन्त जीवों के और भी अनेक रंग-रूप, गन्ध, रस और स्पर्श वाले तथा विभिन्न आकार-प्रकार के शरीर होते हैं। ऐसा श्री तीर्थंकरदेव ने कहा है।

(**अह अवरं पुरक्खायं**) इसके पश्चात् श्री तीर्थंकरदेव ने अप्काय (जल) से उत्पन्न होने वाले विभिन्न जलकायिक जीवों का स्वरूप पहले बताया था। (**इहेगइया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा तसथावरजोणिएसु उदएसु उदगत्ताए विउट्टंति**) इस जगत् में कितने ही प्राणी जल से उत्पन्न होते हैं, जल में ही स्थित रहते हैं और जल में ही बढ़ते हैं। वे अपने पूर्वकृत कर्म के प्रभाव से जल में आते हैं और त्रस-स्थावरयोनिक जल में जल रूप से उत्पन्न होते हैं। (**ते जीवा तेसिं तसथावरजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति**) वे जीव उन त्रस-स्थावरयोनिक जलों के स्नेह का आहार करते हैं, (**पुढवीसरीरं जाव संतं**) वे पृथ्वी आदि के शरीरों का भी आहार करते हैं तथा उन्हें पचाकर अपने शरीर में परिणत कर लेते हैं। (**तेसिं तसथावरजोणियाणं उदगाणं अवरेऽवि य णाणावण्णा सरीरा जाव-**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मक्खायं) उन त्रस और स्थावरयोनिक उदकों के अनेक वर्ण आदि वाले दूसरे शरीर भी कहे गये हैं।

(**अह अवरं पुरक्खायं**) इसके पश्चात् श्री तीर्थंकरदेव ने जलयोनिक जलकाय के स्वरूप का पहले निरूपण किया था। (**इहेगइया सत्ता उदगजोणियाणं जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा उदगजोणिएसु उदएसु उदगत्ताए विउट्टंति**) इस जगत् में कितने ही जीव उदकयोनिक उदकों में अपने पूर्वकृत कर्म के वशीभूत होकर आते हैं, वे उदकयोनिक उदकों में जन्म लेते हैं। (**ते जीवा तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति**) वे जीव उन उदकयोनिक उदकों के स्नेह का आहार करते हैं, (**ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव संतं**) वे जीव पृथ्वीकाय आदि का भी आहार करते हैं और उन्हें धीरे-धीरे अपने रूप में परिणत कर लेते हैं। (**तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं अवरेऽवि य सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं**) उन उदकयोनि वाले उदकों के दूसरे भी अनेक रंग-रूप, गन्ध, रस, स्पर्श और आकार-प्रकार के शरीर होते हैं, ऐसा कहा गया है।

(**अह अवरं पुरक्खायं**) इसके पश्चात् श्री तीर्थंकरदेव ने उदकयोनिक त्रसकाय का निरूपण पहले किया था। (**इहेगइया सत्ता उदगजोणियाणं जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कम्मा उदगजाणिएसु उदएसु तसपाणत्ताए विउट्टंति**) इस जगत् में कितने ही प्राणी अपने पूर्वकृत कर्म से प्रेरित होकर उदकयोनिक उदक में आते हैं और वे उदकयोनिक उदक में त्रस प्राणी के रूप में उत्पन्न होते हैं। (**ते जीवा तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति**) वे जीव उन उदकयोनि वाले उदकों के स्नेह का आहार करते हैं। (**ते जीवा पुढवीसरीरं जाव आहारेंति**) वे जीव पृथ्वीकाय आदि के शरीरों का भी आहार करते हैं (**तेसिं उदगजोणियाणं तसपाणाणं अवरेऽवि य सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं**) उन उदकयोनिक त्रस प्राणियों के दूसरे भी अनेक वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श तथा आकार-प्रकार के अनेक शरीर बताये गये हैं।

व्याख्या

त्रस-स्थावरयोनिक जीवों के आहारादि का वर्णन

वायुयोनिक अप्काय—इस सूत्र में सर्वप्रथम वायुयोनिक अप्काय के जीवों की उत्पत्ति एवं आहारादि का निरूपण किया गया है। इस जगत् में कतिपय प्राणी ऐसे हैं, जो अपने पूर्वकृत कर्म के अधीन होकर वायुयोनिक अप्काय में उत्पन्न होते हैं। वे मेंढक आदि त्रस तथा नमक और हरित आदि स्थावर प्राणियों के सचित्त और अचित्त नानाविध शरीरों में वायुकायिक अप्काय के रूप में जन्म धारण करते हैं। वह अप्काय वायुजनित है, इसलिए उसका उपादान कारण वायु ही है, तथा उस जल को धारण और संग्रह करने वाली भी वायु ही है। बादलों में जो जल होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, उसे परस्पर मिलाकर चारों ओर से धारण किये रहने वाली वायु ही है। हवा जब ऊपर की होती है तो वह जल (अप्काय) ऊपर जाता है तथा हवा नीचे की होती है तो नीचे जाता है, तथा वायु तिरछी हो तो जल तिरछा जाता है। आशय यह है कि यह अप्काय वायुयोनिक है, इसलिए हवा जैसी होती है, वैसा ही अप्काय होता है। उसके कुछ भेद नीचे लिखे अनुसार हैं - अवश्याय यानी ओस, सर्दी के दिनों में जो तुषारपात होता है, उसे ओस या पाला कहते हैं। वह जल का ही भेद है। हिम यानी बर्फ। जाड़े के दिनों में कभी-कभी हिमपात होता है, अर्थात् बर्फ गिरता है, उसे हिम या हिमबिन्दु कहते हैं। मिहिका अर्थात् कोहरा या धुन्ध। कभी-कभी सर्दी के दिनों में धुँए के समान सूक्ष्म जलकण इतने गिरते हैं कि पृथ्वी को अंधेरे से ढक देते हैं, उसे मिहिका कहते हैं। यह भी जल का ही भेद हैं। करका यानी ओला (गड़ा) पत्थर के समान जमा हुआ पानी जो आकाश से गिरता है, उसे करका कहते हैं, इसे ओला या गड़ा भी कहते हैं। यह भी जल का भेद है। और शुद्ध जल तो जल है ही। ये पूर्वोक्त अप्काय के जीव अपनी उत्पत्ति के स्थान पर अनेक विध स्थावर एवं त्रस जीवों के स्नेह का आहार करते है। ये आहारक हैं, अनाहारक नहीं।

अप्योनिक अप्काय—वायु से उत्पन्न होने वाले अप्काय का वर्णन करने के पश्चात् अप्काय से ही उत्पन्न होने वाले अप्काय का वर्णन किया जाता है। इस जगत् में कई जीव अपने पूर्वकृत कर्म के प्रभाव से अप्काय में ही दूसरे अप्काय के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे प्राणी जिन स्थावर और त्रसयोनिक उदकों से उत्पन्न होते हैं, उन्हीं के स्नेह का आहार करते हैं तथा वे पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय तक का भी आहार करते हैं। इनके अनेक वर्ण, गन्ध आदि वाले दूसरे शरीर भी कहे गये हैं।

इसके पश्चात् शास्त्रकार ने उन जीवों का वर्णन किया है, जो उदकयोनिक उदक तो होते हैं, लेकिन वे पूर्ववत् कर्मवश त्रसस्थावर योनिक जल के रूप में उत्पन्न न होकर तथा त्रसस्थावरयोनिक उदक के स्नेह का आहार न करके उदकयोनिक उदक में उत्पन्न होते हैं और उदकयोनिक उदकजीवों के स्नेह का आहार करते हैं। अर्थात् वे जल में ही उत्पन्न होते हैं, जल में ही रहते हैं और जल में ही बढ़ते हैं, उसी जल के रस का उपभोग करते हैं। उन उदकजीवों के सम्बन्ध में सभी बातें पूर्ववत् समझ लेनी चाहिए।

इसके आगे के सूत्रपाठ में जलयोनिक जल के सम्बन्ध में निरूपण किया गया है। पहले में और इसमें इतना अन्तर है कि पहले के पाठ में उदकयोनिक उदक में उदकरूप से उत्पन्न होने वाले जीवों का वर्णन है, जबकि इस में उदकयोनिक उदक में उदकयोनिक त्रस के रूप में उत्पन्न होने वाले जीवों का वर्णन है।

शेष सब वर्णन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता णाणाविहजोणिया जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा अगणिकायत्ताए विउट्टंति। ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति। ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव संतं। अवरेऽवि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं अगणीणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं। सेसा तिन्नि आलावगा जहा उदगाणं।

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता णाणाविहजोणियाणं जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा वाउक्कायत्ताए विउट्टंति। जहा अगणीणं तहा भाणियव्वा, चत्तारि गमा॥ सू० ६०॥

संस्कृत छाया

अथाऽपरं पुराख्यातमिहैकतये सत्त्वाः नानाविधियोनिकाः यावत् कर्मनिदानेन तत्र व्युत्क्रमाः नानाविधानां त्रसस्थावराणां प्राणानां शरीरेषु सचित्तेषु वाऽचित्तेषु वा अग्निकायतया विवर्तन्ते। ते जीवास्तेषां नानाविधानां त्रसस्थावराणां प्राणानां स्नेहमाहारयन्ति। ते जीवाः आहारयन्ति पृथिवीशरीरं यावत्। अपराण्यपि च खलु तेषां त्रसस्थावरयोनिकानामग्नीनां शरीराणि नानावर्णानि यावदाख्यातानि। शेषास्त्रयः आलापकाः यथोदकानाम्।

अथाऽपरं पुराख्यातमिहैकतये सत्त्वाः नानाविधयोनिकानां यावत कर्मनिदानेन तत्र व्युत्क्रमाः नानाविधानां त्रसास्थावराणां प्राणानां शरीरेषु सचित्तेषु वाऽचित्तेषु वा वायुकायतया विवर्तन्ते। यथाऽग्नीनां तथा भणितव्याश्चत्वारो गमाः॥ सू० ६०॥

अन्वयार्थ

(**अह अवरं पुरक्खायं**) इसके पश्चात् श्री तीर्थंकर भगवान् ने दूसरी बातें बताई थीं। (**इहेगइया सत्ता णाणाविहजोणिया जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा अगणिकायत्ताए विउट्टंति**) इस जगत् में कितने ही जीव पूर्वजन्म में नानाविध योनियों में उत्पन्न होकर वहाँ किये हुए कर्मवशात् नाना प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियों के सचित्त तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अचित्त शरीर में अग्निकाय के रूप में उत्पन्न होते हैं। (**ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं सिणेहमाहारेंति**) वे जीव उन विभिन्न प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियों के स्नेह का आहार करते हैं। (**ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव**) वे जीव पृथ्वीकाय आदि का भी आहार करते हैं। (**तेसिं तसथावरजोणियाणं अगणीणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं**) उन त्रसस्थावरयोनिक अग्निकायों के दूसरे और भी शरीर बताये गये हैं जो नाना वर्ण, गन्ध आदि के होते हैं। (**सेसा तिन्नि आलावगा जहा उदगाणं**) शेष तीन आलापक (बोल) उदक के समान समझ लेना चाहिए।

(**अह अवरं पुरक्खायं**) इसके पश्चात् श्री तीर्थंकरदेव ने दूसरी बात बताई है। (**इहेगइया सत्ता णाणाविहजोणियाणं जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा वाउकायत्ताए विउट्टंति**) इस जगत् में कितने ही जीव पूर्वजन्म में नाना प्रकार की योनियों में उत्पन्न होकर वहाँ किये हुए अपने कर्म के प्रभाव से त्रस और स्थावर प्राणियों में सचित्त और अचित्त शरीर में वायुकाय के रूप में उत्पन्न होते हैं। (**जहा अगणीणं तहा चत्तारि गमा भाणियव्वा**) यहाँ भी चार आलापक अग्नि के समान ही कहने चाहिए।

व्याख्या

अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों के आहारादि का निरूपण

इस सूत्र में शास्त्रकार ने अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवों के सचित्त-अचित शरीरों में अग्निकाय एवं वायुकाय के रूप में उत्पत्ति का वर्णन किया है।

विभिन्न प्रकार के त्रसस्थावर प्राणियों के सचित्त या अचित्त शरीरों में अग्निकाय के रूप में उत्पन्न होते हैं। त्रस और स्थावर प्राणियों के सचित्त शरीरों में जो अग्नि होती है, उसमें प्रत्यक्ष प्रमाण यह है—हाथी, घोड़ा, भैंस आदि जब परस्पर लड़ते हैं, तब अनेक सींगों में से आग निकलती देखी जाती है। तथा अचित्त हड्डियों के परस्पर रगड़ने से चिनगारियाँ निकलती हैं। इसी तरह द्वीन्द्रिय आदि के शरीरों में अग्नि की लपटें देखी जाती हैं। सचित्त-अचित्त वनस्पतिकाय एवं पत्थर आदि के संघर्ष में भी आग निकलती है। वे अग्निकाय के जीव उन शरीरों में उत्पन्न होकर उनके स्नेह का आहार करते हैं। शेष तीन आलापक पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

इसके पश्चात् वर्णन है—कई जीव अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियों के सजीव-निर्जीव शरीर में अपने पूर्वकर्मवश वायुकाय के रूप में उत्पन्न होते हैं। इनके भी अग्निकाय के समान चार आलापक होते हैं। शेष बातें पूर्ववत् जान लेनी चाहिए।

मूल पाठ

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता णाणाविहजोणिया जाव कम्म-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा पुढवित्ताए सक्करत्ताए वालुयत्ताए इमाओ गाहाओ अणुगंतव्वाओ—

पुढवी या सक्करा वालुया य उवले सिला य लोणूसे।
अय तउय तंब सीसग रुप्प सुवण्णे य वइरे य ॥१॥
हरियाले हिंगुलए मणोसिला सासगंजणपवाले।
अब्भपडलब्भवालुय बायरकाए मणिविहाणा ॥२॥
गोमेज्जए य रुयए अंके फलिहे य लोहियक्खे य।
मरगयमसारगल्ले भुयमोयगइंदणीले य ॥३॥
चंदणगेरुय हंसगब्भपुलएसोगंधिए य बोधव्वे।
चंदप्पभवेरुलिए जलकंते सूरकंते य ॥४॥

एयाओ एएसु भाणियव्वाओ गाहाओ जाव सूरकंतत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति। ते जीवा पुढवीसरीरं जाव संतं, अवरेऽवि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं पुढवीणं जाव सूरकंताणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं। सेसा तिण्णि आलावगा जहा उदगाणं ॥ सू० ६१ ॥

संस्कृत छाया

अथाऽपरं पुराख्यातम्—इहैकतये सत्त्वाः नानाविधयोनिकाः यावत् कर्मनिदानेन तत्र व्युत्क्रमाः नानाविधानां त्रसस्थावराणां प्राणानां शरीरेषु सचित्तेषु वा अचित्तेषु वा शरीरेषु पृथिवीतया शर्करतया वालुकतया इमाः गाथाः अनुगन्तव्या—

पृथिवी च शर्करा वालुका च: उपलः शिला च लवणम्।
अयस्त्रपुताम्रशीशकरुप्य सुवर्णानि च वज्राणि ॥१॥
हरितालं हिंगुलकं मनःशिला शशकाञ्जनप्रवालाः।
अभ्रपटलाभ्रवालुका बादरकाये मणिविधानाः ॥२॥
गोमेद्यकं च रजतमंकं स्फटिकं च लोहिताख्यं च।
मरकतमसारगल्लं भुजमोचकमिन्द्रनीलं च ॥३॥
चन्दनगेरुकहंसगर्भपुलाकं सौगन्धिकं च बोद्धव्यम्।
चन्द्रप्रभवैडूर्य्यं जलकान्तं सूर्यकान्तश्च ॥४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एता एतेषु भणितव्याः गाथा यावत् सूर्यकान्ततया विवर्तन्ते। ते जीवास्तेषां नानाविधानां त्रसस्थावराणां प्राणानां स्नेहमाहारयन्ति, ते जीवाः आहारयन्ति पृथिवीशरीरं यावत् स्यात्। अपराण्यपि च खलु तासां त्रसस्थावरयोनिकानां पृथिवीनां यावत् सूर्यकान्तानां शरीराणि नानावर्णानि यावदाख्यातानि, शेषास्त्रयः आलापकाः यथोदकानाम् ॥ सू० ६१ ॥

अन्वयार्थ

(**अह अवरं पुरक्खायं**) इसके पश्चात् श्री तीर्थंकर भगवान् ने दूसरी बात बताई थी। (**इहेगइया सत्ता णाणाविहजोणिया जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा सरीरेसु पुढवीत्ताए सक्करत्ताए वालुयत्ताए**) इस जगत् में कितने ही जीव नाना प्रकार की योनियों में उत्पन्न होकर उनमें अपने किये हुए कर्म के प्रभाव से पृथ्वीकाय में आकर अनेक प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियों के सचित्त और अचित्त शरीर में पृथ्वी, शर्करा तथा वालुका के रूप में उत्पन्न होते हैं, (**इमाओ गाहाओ अणुगंतव्वाओ**) इस विषय में इन गाथाओं के अनुसार इनका भेद जानना चाहिए—(**पुढवी य सक्करा वालुया उवले सिला य लोणु से। अय तउय तंब सीसग रुप्प सुवण्णे य वइरे य**) पृथ्वी, शर्करा (ककड़) वालुका (रेत), पत्थर, शिला (चट्टान) नमक, और लोहा, ताँबा, चांदी तथा सोना और वज्र (हीरा), (**हरियाले हिंगुलए मणोसिला सासगंजणप्पवाले अब्भ पडलब्भ वालुय-बायरकाए मणिविहाणा**) हड़ताल, हींगलू, मनसिल, सासक, अंजन, प्रवाल (मूँगा) अभ्रपटल (अभ्रक-भोडल) अभ्रवालुका, ये सब पृथ्वीकाय के भेद बताये जाते हैं। (**गोमेज्जए य रुयए अंके फलिहे य लोहियक्खे य मरगयमसारगल्ले य भुयमोयग इंदणीले य**) गोमेद्यक रत्न, रुचकरत्न, अंकरत्न, स्फटिकरत्न, लोहिताक्षरत्न, मरकतरत्न एवं मसारगल्ल, भुजपरिमोचक तथा इन्द्रनील-मणि (**चंदणगेरुय हंसगब्भपुलिए सोगंधिए य बोधव्वे**) चन्दन, गेरुक, हंसगर्भ, पुलक, सौगन्धिक, (**चंदप्पभवेरुलिए जलकंते य सूरकंते य**) चन्द्रप्रभ, वैडूर्य, जलकान्त एवं सूर्यकान्त, ये मणियों के भेद हैं। (**एयाओ गाहाओ एएसु भाणियव्वाओ जाव सूरकंताए विउट्टंति**) इन उपर्युक्त गाथाओं में कही हुई जो मणि रत्न आदि हैं, उन पृथ्वी से लेकर सूर्यकान्त तक की योनियों में वे जीव उत्पन्न होते हैं (**ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति**) वे जीव अनेक प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियों के स्नेह का आहार करते हैं। (**ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव**) वे जीव पृथ्वी आदि शरीरों का भी आहार करते हैं (**तेसिं तसथावरजोणियाणं पुढवीणं जाव सूरकंताणं अवरेऽवि य णाणावण्णा**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सरीरा जावमक्खायं सेसं तिन्नि आलावगा जहा उदगाणं) उन त्रस और स्थावरों से उत्पन्न पृथ्वी से लेकर सूर्यकान्त मणि पर्यन्त प्राणियों के दूसरे भी नानावर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, आकार-प्रकार के शरीर बताये गये हैं। शेष तीन आलापक जल के समान ही समझ लेना चाहिए।

व्याख्या

पृथ्वीकायिक जीवों के प्रकार एवं आहारादि का विवरण

इस सूत्र में पृथ्वीकायिक जीवों की उत्पत्ति, प्रकार एवं आहारादि का निरूपण किया गया है। बात यह है कि कई जीव ऐसे होते हैं, जो त्रस एवं स्थावर प्राणियों के सजीव या निर्जीव शरीरों में विविध प्रकार के पृथ्वीकाय के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे पृथ्वीकायिक जीव अनेक प्रकार के होते हैं। कई मिट्टी के रूप में, कई कंकड़ों के रूप में एवं कई रेत (बालु) के रूप में, कई पत्थर के टुकड़ों के रूप में, कई शिला (चट्टान) के रूप में स्वकर्मोदयवश उत्पन्न होते हैं। कई हाथी के दाँतों में मुक्तारूप में, कई स्थावर जीव बांस आदि में मुक्ताफल के रूप में, कई नमक के रूप में उत्पन्न होते हैं। कई गोमेद्यक, रुचक, अंक, स्फटिक, लोहिताक्ष, मरकत, मसारगल्ल, भुजमोचक, इन्द्रनील, चन्दनक, गेरुक, हंसगर्भ, पुलक, सौगन्धिक, चन्द्रप्रभ, वैडूर्य, जलकान्त, सूर्यकान्त आदि मणियों और रत्नों के रूप में उत्पन्न होते हैं। ये सब पृथ्वीकायिक जीव होते हैं। ये सब जीव उन विभिन्न त्रस और स्थावर प्राणियों के स्नेह का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त ये पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीरों का भी आहार करते हैं। उनके शरीर अलग-अलग आकार-प्रकार, रंग-रूप आदि के होते हैं। शेष सब बातें पूर्ववत् समझ लेनी चाहिए। इनके भी जलकायिक जीवों की तरह चार आलापक होते हैं।

मूल पाठ

अहावरं पुरक्खायं सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता णाणाविहजोणिया णाणाविहसंभवा णाणाविहवुक्कमा सरीरजोणिया सरीरसंभवा सरीरवुक्कमा सरीराहारा कम्मोवगा कम्मनियाणा कम्मगइया कम्मठिइया कम्मणा चेव विप्परियासमुवेंति। से एवमायाणह से एवमायाणित्ता आहारगुत्ते सहिए सया जए त्तिबेमि ॥ सू० ६२ ॥

संस्कृत छाया

अथाऽपरं पुराख्यातम्--सर्वे प्राणाः सर्वे भूताः सर्वे जीवाः, सर्वे सत्त्वाः नानाविधयोनिकाः नानाविधव्युत्क्रमाः शरीरयोनिकाः शरीरसम्भवाः,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीरव्युत्क्रमाः शरीराहाराः कर्मोपगाः कर्मनिदानाः कर्मगतिकाः कर्म-स्थितिकाः कर्मणा चैव विपर्यासमुपयन्ति तदेवं जानीत एवं ज्ञात्वा आहार-गुप्तः सहितः समितः सदा यत इति ब्रवीमि ॥ सू० ६२ ॥

अन्वयार्थ

(**अहावरं पुरक्खायं**) इसके बाद श्री तीर्थंकरदेव ने जीवों के आहारादि के सम्बन्ध में और बातें भी कहीं थीं, (**सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता णाणाविहजोणिया णाणाविहसंभवा णाणाविहवुक्कमा**)समस्त प्राणी, सर्व भूत, सर्व जीव एवं सब सत्त्व नाना प्रकार की योनियों में उत्पन्न होते हैं और वहीं वे स्थित रहते तथा वृद्धि पाते हैं। (**सरीरजोणिया सरीरसंभवा सरीरबुक्कमा सरीराहारा**) वे शरीर से ही उत्पन्न होते हैं, शरीर में ही रहते हैं, तथा शरीर में ही बढ़ते हैं, एवं वे शरीर का ही आहार करते हैं, (**कम्मोवगा कम्मनियाणा कम्मगइया कम्मठिइया**) वे अपने-अपने कर्म का ही अनुसरण करते हैं, कर्म ही उस-उस योनि में उनकी उत्पत्ति का कारण है, तथा उनकी गति और स्थिति भी कर्म के अनुसार ही होती हैं। (**कम्माणा चेव विप्परियासमुवेंति**) वे कर्म के ही प्रभाव से सदैव भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करते हुए दुःख के भागी होते हैं। (**एवमायाणह एवमायाणित्ता आहारगुत्ते सहिए समिए सया जए**) हे शिष्यो ! ऐसा ही जानो। और इस प्रकार जानकर सदा आहार गुप्त ज्ञानदर्शनचारित्रसहित, समितियुक्त और संयमपालन में सदा यत्नशील बनो। (**त्ति बेमि**) ऐसा मैं कहता हूँ।

व्याख्या

समस्त प्राणियों की अवस्था, आहारादि तथा साधक के लिए प्रेरणा

इस अन्तिम सूत्र द्वारा शास्त्रकार इस अध्ययन का उपसंहार करते हुए सामान्य रूप से समस्त प्राणियों की अवस्था बताकर साधुओं को संयमपालन में सदा जागरूक और प्रयत्नशील रहने का उपदेश देते हैं।

इस विश्व में जितने भी प्राणी हैं, वे सब अपने-अपने कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेते हैं। कोई देवता बनता है, कोई नारकी, कोई मनुष्य बनता है तो कोई तिर्यञ्चयोनि में एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक अपने-अपने कर्म से प्रेरित होकर उत्पन्न होते हैं, किसी काल, ईश्वर आदि की प्रेरणा से नहीं। वे जिस योनि में उत्पन्न होते हैं; उसी में आयु पूर्ण होने तक टिके रहते हैं और उसी में उनके शरीरादि का विकास होता है।

कई मतवादी यह कहते हैं—जो जीव इस जन्म में जैसा होता है, वह वैसा ही अगले जन्म में भी होता है, परन्तु यह बात वीतराग तीर्थंकरदेव के सिद्धांत और प्रत्यक्ष अनुभव से विरुद्ध होने से यथार्थ नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसलिए यहाँ स्पष्ट कहा है—**"कम्मोवगा कम्मनियाणा कम्मगइया कम्मठिइया"** अर्थात् प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार ही विभिन्न योनि, गति, स्थिति आदि को प्राप्त करते हैं, कर्म ही उनकी उत्पत्ति का मूल कारण है। कर्म के प्रभाव से सुखी-दुःखी, धनी-निर्धन, बुद्धिमान-मन्दबुद्धि, रोगी-निरोगी, सुडौल-बेडौल आदि विभिन्न अवस्थाएँ पाते हैं। अतः जो जैसा है, वह सदा वैसा ही रहता है, यह मान्यता मिथ्या समझनी चाहिए। ऐसा मानने पर तो देव सदा देव ही बना रहेगा, नारकी सदा नारकी ही बना रहेगा, फिर तो कर्म सिद्धान्त ही व्यर्थ और नष्ट हो जाएगा। उसकी कोई उपयोगिता नहीं रह जाएगी। इसलिए प्राणी अपने-अपने कर्म के अनुसार ही गति, योनि, स्थिति और अवस्था को प्राप्त करते हैं, यह सिद्धान्त ही ध्रुव सत्य और संगत है। इस सिद्धान्त के अनुसार सभी प्राणी अपनी-अपनी योनि के अनुरूप शरीर में पैदा होते हैं, उसी शरीर में रहते हैं और विकसित होते हैं, शरीर का ही आहार करते हैं।

यद्यपि सभी प्राणियों को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय होता है, तथापि न चाहते हुए भी उन्हें पूर्वकृत कर्म के प्रभाव से दुःख, संकट आदि सहने पड़ते हैं। उन्हें भोगे बिना वे मुक्त नहीं हो सकते। जो प्राणी जहाँ उत्पन्न होते हैं, वहीं वे आहार करते हैं। वे अपने अज्ञान और अविवेक के कारण आहार के सम्बन्ध में सावद्य-निरवद्य का कोई विचार नहीं करते। अतः सावद्य आहार करके वे अज्ञानी प्राणी दुष्कर्मों के फल भोगने के लिए अनन्तकाल तक संचारचक्र में परिभ्रमण करते रहते हैं। इसलिए विवेकी साधकों को सदा शुद्ध आहार का ग्रहण एवं सेवन करने के नियमों का पूर्णतया पालन करना चाहिए। साथ ही इन्द्रियों और मन को वश में करके सांसारिक विषयों का चिन्तन छोड़कर ज्ञान, दर्शन, चारित्र और संयम की आराधना-साधना में प्रयत्नशील होना चाहिए।

जो साधक अपने आहार के सम्बन्ध में ज्ञपरिज्ञा से हेय-उपादेय का विवेक करके प्रत्याख्यान परिज्ञा से हेय (सावद्य) का त्याग करता है और निरवद्य आहार को अपनाता है, वही साधक संसार-सागर को पार करके जन्म-मरण के चक्र से रहित होकर मोक्ष के अक्षय सुख को प्राप्त करता है; क्योंकि अक्षयसुख को प्राप्त करने के लिए शुद्ध संयम पालन एवं आहारशुद्धि के सिवाय जगत् में और कोई सुमार्ग नहीं है।

"इस प्रकार मैं कहता हूँ," ऐसा श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी आदि साधकों से कहते हैं।

इस प्रकार सूत्रकृतांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध का आहारपरिज्ञा नामक तृतीय अध्ययन अमरसुखबोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण हुआ।

॥ आहार-परिज्ञा नामक तृतीय अध्ययन समाप्त ॥ □□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्थ अध्ययन : प्रत्याख्यान-क्रिया

इससे पहले तृतीय अध्ययन की व्याख्या की जा चुकी है। तीसरे अध्ययन के अन्त में आहारगुप्ति (आहारशुद्धि)रखने की शिक्षा दी गई है। आहारशुद्धि से कल्याण की प्राप्ति और आहार की अशुद्धि से अनर्थ-प्राप्ति बताई गई है। इसलिए विवेकी और श्रेयोऽभिलाषी साधकों को आहारगुप्ति का पालन करना चाहिए। परन्तु आहार की गुप्ति (शुद्धि की रक्षा) प्रत्याख्यान के बिना सम्भव नहीं है। इसलिए आहारशुद्धि के कारणभूत प्रत्याख्यान की क्रिया का उपदेश देने के लिए चतुर्थ अध्ययन का प्रारम्भ किया जाता है।

अध्ययन का संक्षिप्त परिचय

चतुर्थ अध्ययन का नाम प्रत्याख्यान क्रिया है। प्रत्याख्यान का अर्थ है—अहिंसादि मूलगुणों एवं सामायिक आदि उत्तरगुणों के आचरण में बाधक प्रवृत्तियों का यथाशक्ति त्याग करना। प्रस्तुत अध्ययन में इस प्रकार की प्रत्याख्यान क्रिया के सम्बन्ध में निरूपण है।

प्रत्याख्यान क्रिया निरवद्य-अनुष्ठानरूप होने के कारण आत्मशुद्धि के लिए साधक है। इसके विपरीत अप्रत्याख्यान क्रिया सावद्यानुष्ठानरूप होने के कारण आत्मशुद्धि के लिए बाधक है। प्रत्याख्यान न करने वाले को तीर्थंकरप्रभु ने असंयत, अविरत, असंवृत, बाल, सुप्त एवं पापक्रिय कहा है। ऐसा पुरुष विवेकहीन होने से सतत कर्मबन्ध करता रहता है। इस अध्ययन का निष्कर्ष यह है कि जो आत्मा षट्काय जीवों के वध-त्याग (हिंसा प्रत्याख्यान) की वृत्ति वाला नहीं है, तथा जिसने उन जीवों को किसी भी समय मारने की छूट ले रखी है, वह आत्मा उक्त षट्जीवनिकाय के जीवों के साथ अनिवार्यतया मित्रवत् व्यवहार करने की वृत्ति से बँधा हुआ नहीं है। वह जब चाहे, जिस किसी प्राणी का वध कर सकता है। उसके लिए पाप-कर्म के बन्धन की सतत सम्भावना रहती है और किसी सीमा तक वह नित्य पाप-कर्म बाँधता भी रहता है, क्योंकि प्रत्याख्यान के अभाव में उसकी वृत्ति सदा सावद्यानुष्ठानरूप रहती है। इसे स्पष्ट करने हेतु शास्त्रकार ने एक सुन्दर उदाहरण दिया है।

एक व्यक्ति हत्यारा है। उसने यह सोचा कि अमुक गृहस्थ, गृहस्थपुत्र या राजपुरुष की हत्या करनी है। अभी थोड़ी देर सो जाऊँ, फिर उसके घर में घुसकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मौका पाते ही उसका काम तमाम कर दूँगा। ऐसा सोचने वाला व्यक्ति चाहे सोया हो, चाहे जागता, चल रहा हो या बैठा, उसके मन में तो निरन्तर हत्या की दुर्भावना बनी रहती है। वह किसी भी समय अपनी इस दुर्भावना को कार्यरूप में परिणत कर सकता है। अपनी इस दुष्ट मनोवृत्ति के कारण वह प्रतिपल कर्मबन्ध करता रहता है। इसलिए जो जीव प्रत्याख्यानरहित हैं, सर्वथा संयमहीन हैं, वे समस्त षड्जीवनिकाय के प्रति हिंसकभावना रखने के कारण निरन्तर कर्मबन्ध करते रहते हैं। अतएव संयमी साधक के लिए सावद्ययोग का प्रत्याख्यान आवश्यक है। जितने अंश में सावद्य-वृत्ति का त्याग होगा, उतने ही अंश में पापकर्म का बन्धन रुकेगा। यही प्रत्याख्यान की उपयोगिता है।

असंयत एवं अविरत के लिए अमर्यादित मनोवृत्ति के कारण पाप के समस्त द्वार खुले रहते हैं, अतः उसके पाप कर्मबन्धन की सम्भावना भी सब प्रकार से रहती है। इस सम्भावना को अल्प या मर्यादित करने के लिए प्रत्याख्यानरूप क्रिया की आवश्यकता रहती है।

यह अध्ययन पूरा का पूरा गद्यमय है, चार सूत्रों में इसका पाठ है और पिछले अध्ययनों की भाँति संवादरूप है; क्योंकि इसका प्रारम्भही **'सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं'** से किया गया है। इसमें एक पूर्वपक्षी अथवा प्रेरक शिष्य है तथा दूसरा उत्तरपक्षी या समाधानकर्ता आचार्य हैं।

प्रत्याख्यान की उपयोगिता बताने के लिए इस अध्ययन का क्रमप्राप्त प्रथम सूत्र निम्न है—

मूल पाठ

सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं—'इह खलु पच्चक्खाण-किरियाणामज्झणे, तस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते—आया अपच्चक्खाणीयावि भवइ, आया अकिरियाकुसले यावि भवइ आया मिच्छासंठिए यावि भवइ, आया एगंतदंडे यावि भवइ, आया एगंतबाले यावि भवइ, आया एगंतसुत्ते यावि भवइ, आया अवियारमण-वयण-कायवक्के यावि भवइ, आया अप्पडिहय-अपच्चक्खायपावकम्मे यावि भवइ, एस खलु भगवया अक्खाए असंजए अविरए अप्पडिहय-अपच्चक्खाय पावकम्मे सकिरिए असंवुडे, एगंतदंडे, एगंतबाले एगंतसुत्ते से बाले अवियारमणवयणकायवक्के सुविणमवि ण पस्सइ पावे य से कम्मे कज्जई ।। सू० ६३ ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

श्रुतं मया आयुष्मन् तेन भगवता एवमाख्यातम् । इह खलु प्रत्याख्यान-क्रियानामाध्ययनम्, तस्य चायमर्थः प्रज्ञप्तः । आत्मा अप्रत्याख्यानी अपि भवति, आत्माऽक्रियाकुशलश्चाऽपि भवति, आत्मा मिथ्यासंस्थितश्चाऽपि भवति, आत्मा एकान्तदण्डश्चाऽपि भवति, आत्मा एकान्तबालश्चाऽपि भवति, आत्मा एकान्तसुप्तश्चाऽपि भवति, आत्माऽविचारमनोवचनकायवाक्यश्चाऽपि भवति, आत्माऽप्रतिहताऽप्रत्याख्यातपापकर्माऽपि भवति । एष खलु भगवताऽऽख्यातोऽसंयतोऽविरतोऽप्रतिहताऽप्रत्याख्यातपापकर्मा सक्रियोऽसंवृतः एकान्तदण्डः एकान्तबालः एकान्तसुप्तः । स बालोऽविचारमनोवचनकाय-वाक्यः स्वप्नमपि न पश्यति, पापं च कर्म करोति ॥ सू० ६३ ॥

अन्वयार्थ

(**आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं मे सुयं**) आयुष्मन् ! भगवान् महावीर स्वामी ने ऐसा कहा था और मैंने सुना है । (**इह खलु पच्चक्खाणकिरियाणामज्झयणे तस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते**) इस निर्ग्रन्थ प्रवचन में प्रत्याख्यानक्रिया नाम का अध्ययन है, उसका अर्थ यह बताया है कि (**आया अपच्चक्खाणी यावि भवइ**) आत्मा यानी जीव अप्रत्याख्यानी - सावद्यकर्मों का त्याग न करने वाला होता है । (**आया अकिरिया-कुसले यावि भवइ**) आत्मा अक्रिया (शुभक्रिया न करने) निपुण भी होता है, (**आया मिच्छासंठिए यावि भवइ**) आत्मा मिथ्यात्व के उदय में स्थित भी होता है, (**आया एगंतदण्डे यावि भवइ**) आत्मा दूसरे प्राणियों को एकान्त रूप से दण्ड देने वाला होता है, (**आया एगंतबाले यावि भवइ**) आत्मा एकान्त बाल यानी अज्ञानी भी होता है, (**आया एगंतसुत्ते यावि भवइ**) आत्मा एकान्तरूप से सुषुप्त भी होता है । (**आया अवियारमणवयणकायवक्के यावि भवइ**) आत्मा अपने मन, वचन, काया और वाक्य का विचार न करने वाला भी होता है (**आया अप्पडिहय-अपच्चक्खायपावकम्मे यावि भवइ**) आत्मा अपने पापकर्मों का प्रतिहत – घात और प्रत्याख्यान नहीं करता है । (**एस खलु भगवया असंजए अविरए अप्पडिहय-अपच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते अक्खाए**) इस जीव को भगवान् ने असंयत (संयमहीन), अविरत (विरतिरहित), पापकर्म का विघात और प्रत्याख्यान न किया हुआ, क्रियारहित, संवररहित, प्राणियों को एकान्त दण्ड देने वाला, एकान्त बाल एवं एकान्त सुप्त कहा है । (**से बाले अवियारमणवयणकायवक्के सुविणमवि ण पस्सइ से य पावे कम्मे कज्जई**) वह अज्ञानी, जो मन, वचन, काया और वाक्य के विचार से रहित हो, वह चाहे स्वप्न भी न देखता हो, यानी अत्यन्त अव्यक्त विज्ञान से युक्त हो, तो भी वह पापकर्म करता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

अप्रत्याख्यानी आत्मा के प्रकार

इस सूत्र में शास्त्रकार ने अप्रत्याख्यानी आत्मा के विविध प्रकारों का निरूपण किया है। श्रीसुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी आदि शिष्यों को अप्रत्याख्यानी आत्मा के सम्बन्ध में भगवान् महावीर का दृष्टिकोण बताया था, उसी को शास्त्रकार ने यहाँ अंकित किया है।

यहाँ मूल पाठ में 'जीव' के बदले 'आत्मा' शब्द का प्रयोग किया गया है, उसका आशय यह है कि यह जीव सदा से ही नानाविध योनियों में भ्रमण करता चला आ रहा है, जो एक भव से दूसरे भव में लगातार भ्रमण करता रहता है, उसे आत्मा कहते हैं, क्योंकि आत्मा शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—**'अतति सततं गच्छतीति आत्मा'**—जो विभिन्न गतियों में सतत गमन करता है वह आत्मा है। इस जीव के साथ अनादिकाल से मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगों का सम्बन्ध लगा हुआ है, इसलिए यह अनादिकाल से अप्रत्याख्यानी रहता चला आ रहा है। यद्यपि कर्मों के क्षयोपशम से बाद में वह प्रत्याख्यानी भी हो जाता है। इसी भाव को प्रदर्शित करने के लिए यहाँ **'अवि'** (अपि) शब्द का प्रयोग किया गया है।

यहाँ 'जीव' के बदले 'आत्मा' शब्द का प्रयोग करने के पीछे एक अभिप्राय सांख्यदर्शन और बौद्धदर्शन के आत्मा-सम्बन्धी मत का निराकरण करना भी है। सांख्यदर्शन आत्मा को उत्पत्ति-विनाश से वर्जित, स्थिर (कूटस्थ), एक स्वभाव वाला मानता है। किन्तु ऐसा मानने पर जीव (आत्मा) का अनेक योनियों में जाना सम्भव नहीं है, तथा यह आत्मा स्थिर माना जाये तो वह एक तिनके को भी मोड़ नहीं सकता, तब वह प्रत्याख्यान कैसे कर सकता है? बल्कि वह सदा अप्रत्याख्यानी ही बना रहेगा। सांख्यदर्शन की यह मान्यता युक्तिसंगत नहीं है, इसे सूचित करने के लिए आत्मा शब्द का प्रयोग किया हुआ है।

बौद्धदर्शनसम्मत आत्मा में प्रत्याख्यान सम्भव नहीं है, क्योंकि वह आत्मा को एकान्त क्षणिक मानते हैं। अतः बौद्धमतानुसार स्थितिहीन होने से आत्मा का प्रत्याख्यानी होना सम्भव नहीं है।

शुभ अनुष्ठान को क्रिया कहते हैं। क्रिया में कुशल को क्रियाकुशल कहते हैं, एवं जो शुभक्रिया में कुशल नहीं है, वह अक्रियाकुशल है। आत्मा को यहाँ अक्रियाकुशल इसलिए कहा गया है कि आत्मा अनादिकाल से अप्रत्याख्यानी और शुभक्रिया करने में अकुशल रहता चला आ रहा है। बाद में कदाचित् पुण्य प्रबल हो तो प्रत्याख्यानी और क्रियाकुशल भी हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अक्रियाकुशल आत्मा मिथ्यात्व के उदय में स्थित रहता है, प्राणियों को एकान्तरूप से दण्ड देने वाला, राग-द्वेष से पूर्ण, बालक के समान अविवेकी, और सोया हुआ (प्रमादी) भी होता है। जैसे द्रव्यनिद्रा में सोया हुआ पुरुष शब्दादि विषयों को जान नहीं पाता, वैसे ही भावनिद्रा में सोया हुआ आत्मा हित की प्राप्ति और अहित के परिहार को नहीं जानता। साथ ही ऐसा आत्मा प्राणियों की विराधना का विचार न करता हुआ भी अपने मन, वचन, शरीर और वाक्य का प्रयोग करता है। मन का अर्थ है—मनन करने वाला अन्तःकरण, वचन का अर्थ वाणी और काय का अर्थ शरीर है। किसी अर्थ का प्रतिपादन करने वाला पदों का समूह वाक्य कहलाता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्याख्यानहीन आत्मा विचार-हीन होता है, वह सावद्य-निरवद्य का विचार न करके अपने मन आदि साधनों का प्रयोग करता है। तथा प्रत्याख्यानहीन आत्मा अपने पूर्वकृत पाप का तप के द्वारा नाश तथा भावी पाप का प्रत्याख्यान नहीं कर पाता। वर्तमान काल में कर्मों की स्थिति और अनुभाग को तप आदि द्वारा कम करके नष्ट कर देना प्रतिहत करना कहलाता है। पूर्वकृत दोषों (अतिचारों) की निन्दा (पश्चात्ताप) और गर्हा करके भविष्य में उस पापकर्म को न करने का संकल्प करना प्रत्याख्यान करना कहलाता है।

इस प्रकार जो आत्मा प्रत्याख्यानी नहीं है, उसे भगवान् तीर्थंकरदेव ने असंयत (संयमरहित), विरतिरहित, पापनाश और प्रत्याख्यान न करने वाला, सावद्य-अनुष्ठानरत, संवरहीन, मन-वचन-काया की गुप्ति से रहित, अपने व दूसरे को एकान्त दण्ड देने (हिंसा करने) वाला, बालकवत् हिताहित-भानरहित एवं एकान्त प्रमादी कहा है। ऐसा व्यक्ति अपने मन-वचन-काया की प्रवृत्ति करते समय कदापि नहीं सोचता कि मेरी इस प्रवृत्ति से दूसरे प्राणियों की क्या दशा होगी ? ऐसे जीवों का विज्ञान इतना अव्यक्त हो कि वे पाप का स्वप्न न भी देखें तो भी वे पापकर्म ही करते रहते हैं।

असंयत—जो वर्तमानकाल में सावद्यकृत्यों में प्रवृत्ति कर रहा हो।

अविरत—अतीत एवं अनागतकालीन पाप से जो निवृत्त न हो।

अप्रत्याख्यातपापकर्मा—जो सतत पापकर्म में रत रहता है।

सक्रिय—जो सतत सावद्यक्रिया से युक्त रहता हो।

असंवृत्त—जो आते हुए कर्मों को रोकने वाले व्यापार से रहित हो।

एकान्तदण्ड का अर्थ हिंसक और एकान्तबाल का अर्थ अज्ञानी है। ऐसा प्रत्याख्यान-रहित पुरुष स्वप्न में भी श्रुत-चारित्र धर्म को नहीं देखता। वह अज्ञानी सतत पाप-कर्मों का संचय करता रहता है, तथा प्राणातिपात (हिंसा) आदि पापकृत्य करता रहता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

तत्थ चोयए पन्नवगं एवं वयासी—असंतएणं मणेणं, पावएणं असंतियाए वतीए पावियाए असंतएणं काएणं पावएणं अहणंतस्स अमणक्खस्स, अवियारमणवयणकायवक्कस्स सुविणमवि अपस्सओ पावेकम्मे णो कज्जइ, कस्स णं तं हेउं ? चोयए एवं ववीति—अन्नयरेणं मणेणं, पावएणं मणवत्तिए पावे कम्मे कज्जइ, अन्नयरीए वतीए पावियाए वतिवत्तिए पावे कम्मे कज्जइ, अन्नयरेणं काएणं पावएणं कायवत्तिए पावे कम्मे कज्जइ, हणंतस्स समणक्खस्स सवियारमणवयणकायवक्कस्स सुविणमवि पासओ एवं गुणजातीयस्स पावे कम्मे कज्जइ । पुणरवि चोयए एवं ववीति तत्थ णं जे ते एवमाहंसु असंतएणं मणेणं पावएणं असंतीयाए वतिए पावियाए असंतएणं काएणं पावएणं अहणंतस्स अमणक्खस्स अवियारमणवयणकायवक्कस्स सुविणमवि अपस्सओ पावे कम्मे कज्जइ । तत्थ णं जे ते एवमाहंसु, मिच्छा ते एवमाहंसु ।

तत्थ पन्नवए चोयगं एवं वयासी—तं सम्मं जं मए पुव्वं वुत्तं, असंतएणं मणेणं पावएणं, असंतियाए वतिए पावियाए असंतएण काएणं पावएणं अहणंतस्स अमणक्खस्स अवियारमणवयणकायवक्कस्स सुविणमवि अपस्सओ पावे कम्मे कज्जइ तं सम्मं, कस्सं णं तं हेउं ? आयरिए आह—तत्थ खलु भगवया छज्जीवनिकायहेऊ पण्णत्ता, तं जहा—पुढवीकाइया जाव तसकाइया। इच्चेएहिं छहिं जीवनिकाएहिं आया अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे, तं जहा—पाणाइवाए जाव परिग्गहे, कोहे जाव मिच्छादंसणसल्ले ।

आयरिए आह—तत्थ खलु भगवया वहए दिट्ठंते पण्णत्ते, से जहाणामए वहए सिया, गाहावइस्स वा गाहावइपुत्तस्स वा रण्णो वा रायपुरिसस्स वा खणं लद्धूणं पविसिस्सामि, खणं लद्धूणं वहिस्सामि संपहारेमाणे से किं नु हु नाम से वहए तस्स गाहावइपुत्तस्स वा रण्णो वा रायपुरिसस्स वा खणं लद्धूणं पविसिस्सामि, खणं लद्धूणं वहिस्सामि पहारेमाणे दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिए निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे भवइ ? एवं वियागरेमाणे समियाए वियागरे चोयए—हंता भवइ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आयरिए आह—जहा से वहए तस्स गाहावइस्स वा तस्स गाहावइपुत्तस्स वा रण्णो वा रायपुरिसस्स वा खणं लद्धूणं पविसिस्सामि, खणं लद्धूणं वहिस्सामित्ति पहारेमाणे दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिए निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे, एवमेव बालेवि सव्वेसिं पाणाणं जाव सव्वेसिं सत्ताणं दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिए निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे, तं जहा—पाणाइवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले। एवं खलु भगवया अक्खाए असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते यावि भवइ। से बाले अवियारमणवयणकायवक्के सुविणमवि ण पस्सइ पावे य से कम्मे कज्जइ। जहा से वहए तस्स वा गाहावइस्स जाव तस्स वा रायपुरिसस्स पत्तेयं पत्तेयं चित्तसमादाए दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिए निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे भवइ, एवमेव बाले सव्वेसिं पाणाणं जाव सव्वेसिं सत्ताणं पत्तेयं पत्तेयं चित्तसमादाए दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिए निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे भवइ॥ सू० ६४॥

संस्कृत छाया

तत्र चोदकः प्रज्ञापकमेवमवादीत्—असता मनसा पापकेन, असत्या वाचा पापिकया, असत्या कायेन पापकेन, अघ्नतोऽमनस्कस्य अविचारमनोवचनकायवाक्यस्य स्वप्नमप्यपश्यतः पापं कर्म न क्रियते। कस्य खलु हेतोः? चोदकः एवं ब्रवीति—अन्यतरेण मनसा पापकेन मनःप्रत्ययिकं पापं कर्म क्रियते, अन्यतरया वाचा पापिकया वाक्प्रत्ययिकं पापं कर्म क्रियते, अन्यतरेण कायेन पापकेन काय-प्रत्ययिकं पापं कर्म क्रियते, घ्नतः समनस्कस्य सविचारमनोवचनकायवाक्यस्य स्वप्नमपि पश्यतः एवं गुण जातीयस्य पापं कर्म क्रियते। पुनरपि चोदकः एवं ब्रवीति, तत्र ये ते एवमाहुः असता मनसा पापकेन, असत्या वाचा पापिकया, असता कायेन पापकेन, अघ्नतोऽमनस्कस्य अविचारमनोवचनकायवाक्यस्य स्वप्नमप्यपश्यतः पापं कर्म क्रियते। तत्र ये ते एवमाहुः मिथ्या ते एव माहुः।

तत्र प्रज्ञापकश्चोदकमेवमवादीत्—तत्सम्यक् यन्मया पूर्वमुक्तम्—असता मनसा पापकेन असत्या वाचा पापिकया, असता कायेन पापकेन, अघ्नतोऽमन-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्कस्य अविचारमनोवचनकायवाक्यस्य स्वप्नमप्यपश्यतः पापं कर्म क्रियते। तत् कस्य हेतोः ? आचार्य आह—तत्र खलु भगवता षड्जीवनिकायहेतवः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—पृथिवीकायिकाः यावत् त्रसकायिकाः इत्येतैः षडभिर्जीवनिकायैः आत्मा अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा नित्यं प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डः तद्यथाप्राणातिपाते यावत् परिग्रहे, क्रोधे यावत् मिथ्यादर्शनशल्ये।

आचार्य आह—तत्र खलु भगवता वधकदृष्टान्तः प्रज्ञप्तः, तद्यथानाम वधकः स्याद् गाथापतेर्वा गाथापतिपुत्रस्य वा राज्ञो वा राजपुरुषस्य वा क्षणं लब्ध्वा प्रवेक्ष्यामि क्षणं लब्ध्वा हनिष्यामि इति सम्प्रधारयन् स किंनु खलु नाम वधकः तस्या गाथापतेर्वा गाथापतिपुत्रस्य वा राज्ञो वा राजपुरुषस्य वा क्षणं लब्ध्वा प्रवेक्ष्यामि, क्षणं लब्ध्वा हनिष्यामीति सम्प्रधारयन् दिवा वा रात्रौ वा सुप्तो वा जाग्रद् वा अमित्रभूतः मिथ्यासंस्थितः नित्यं प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डो भवति ? एवं व्यागीर्यमाणः समेत्य व्यागृणीयाच्चोदकः, हन्त ! भवति।

आचार्य आह—यथा स वधकः तस्य गाथापतेर्वा गाथापतिपुत्रस्य वा राज्ञो वा राजपुरुषस्य वा क्षणं लब्ध्वा प्रवेक्ष्यामि, क्षणं लब्ध्वा हनिष्यामि इति सम्प्रधारयन् दिवा वा रात्रौ वा सुप्तो वा जाग्रद् वा अमित्रभूतः मिथ्यासंस्थितः नित्यं प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डः एवमेव बालोऽपि सर्वेषां प्राणानां यावत् सर्वेषां सत्त्वानां दिवा वा रात्रौ वा सुप्तो वा जाग्रद वा अमित्रभूतः मिथ्यासंस्थितः नित्यं प्रशठव्यतिपातचित्तदंडः, तद्यथा—प्राणातिपाते यावन्मिथ्यादर्शनशल्ये, एवं खलु भगवता आख्यातः असंयतः अविरतः अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा सक्रियः असवृतः एकान्तदंडः एकान्तबालः अविचारमनोवचनकायवाक्यः स्वप्नमपि न पश्यति पापं च कर्म क्रियते। यथा स वधकः तस्य गाथापतेर्यावत् तस्य राजपुरुषस्य वा प्रत्येकं प्रत्येकं चित्तं समादाय दिवा वा रात्रौ वा सुप्तो वा जाग्रद वा अमित्रभूतः मिथ्यासंस्थितः नित्यं प्रशठव्यतिपातचित्तदंडः भवति, एवमेव बालः सर्वेषां प्राणानां यावत् सर्वेषां सत्त्वानाम् प्रत्येकं चित्तसमादाय दिवा वा रात्रौ वा सुप्तो वा जाग्रद् वा अमित्रभूतः मिथ्यासंस्थितः नित्यं प्रशठव्यतिपातचित्तदंडः भवति ॥ सू० ६४ ॥

अन्वयार्थ

(**तत्थ चोयए पन्नवगं एवं वयासी**) इस विषय में प्रश्नकर्ता (प्रेरक) ने प्ररूपक (उपदेशक) से इस प्रकार कहा—(**असंतएणं पावएणं मणेणं असंतियाए पावियाए**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वतीए, असंतएणं पावएणं काएणं) पापयुक्त मन, पापयुक्त वचन एवं पापयुक्त काय न होने पर (**अहणंतस्स अमणक्खस्स अवियारमणवयणकायवक्कस्स सुविणमवि अपस्सओ पावेकम्मे णो कज्जइ**) जो प्राणी का घात नहीं करता, जिसका मन, वचन, शरीर और वाक्य हिंसा के विचार से रहित है, जो पाप करने का स्वप्न भी नहीं देखता, अर्थात् जिसमें ज्ञान की थोड़ी-सी अव्यक्त मात्रा है, ऐसा प्राणी पापकर्म का बन्ध नहीं करता। (**कस्स णं तं हेउं** ?) किस कारण से उसे पापकर्म का बन्ध नहीं होता ? (**चोयए एवं बवीति**) प्रश्नकर्ता इस प्रकार कहता है—(**अन्नयरेणं मणेणं पावएणं मणवत्तिए पावे कम्मे कज्जइ**) पापयुक्त मन होने पर ही मानसिक (मन सम्बन्धी) पापकर्म किया जाता है। (**अन्नयरीए वतीए वतिवत्तिए पावेकम्मे कज्जइ**) तथा पापयुक्त वचन होने पर ही वचन द्वारा पापकर्म किया जाता है, (**अन्नयरेणं पावएणं काएणं कायवत्तिए पावे कम्मे कज्जइ**) एवं पापयुक्त शरीर होने पर ही शरीर द्वारा पापकर्म किया जाता है। (**हणंतस्स समणक्खस्स सवियारमणवयणकायवक्कस्स सुविणमवि पस्सओ एवं गुणजातीयस्स पावे कम्मे कज्जइ**) जो प्राणी हिंसा करता है, हिंसायुक्त मनोव्यापार से युक्त है, जो समझ-बूझकर (विचारपूर्वक) मन, वचन, काया और वाक्य का प्रयोग करता है, और जो स्पष्ट विज्ञानयुक्त (स्वप्नदर्शी) भी है, ऐसे गुणों (विशेषताओं) वाला जीव ही पापकर्म करता है, (**पुणरवि चोयए एवं बवीति**) पुनः प्रश्नकर्ता इस प्रकार कहता है — (**तत्थ णं जे ते एवमाहंसु असंतएणं पावएणं मणेणं असंतियाए पावियाए वतीए असंतएणं पावएणं काएणं अवियारमणवयणकायवक्कस्स सुविणमवि अपस्सओ पावे कम्मे कज्जइ**) इस विषय में जो लोग ऐसा कहते हैं कि मन पापयुक्त हो, वचन पापयुक्त हो एवं काया पापयुक्त हो तथा पापयुक्त मन, वचन, काया और वाक्य के विचार से रहित हो, स्वप्न में भी (पाप) न देखता हो यानी अव्यक्त विज्ञान वाला पापकर्म करता है, (**तत्थ णं जे ते एवमाहंसु मिच्छा ते एवमाहंसु**) इस विषय में जो ऐसा कहते हैं, वे मिथ्या कहते हैं।

(**तत्थ पन्नवए चोयगं एवं वयासी**) इस सम्बन्ध में उत्तरदाता (प्ररूपक) ने प्रश्नकर्ता (प्रेरक) से इस प्रकार कहा—(**तं सम्मं जं मए पुव्वं वुत्तं**) वही यथार्थ है, जो मैंने पहले कहा है। (**पावएणं मणेण असंतएणं पावियाए वतीए असंतियाए पावएणं काएणं असंतएणं**) पापयुक्त मन चाहे न हो, तथा पापयुक्त वचन एवं पापयुक्त शरीर न भी हों, (**अहणंतस्स**) वह किसी प्राणी की हिंसा भी न करता हो, (**अमणक्खस्स**) वह मनोविकल हो, (**अवियारमणवयणकायवक्कस्स**) वह चाहे मन, वचन, काया और वाक्य का समझबूझकर (विचार-सहित) प्रयोग न करता हो, (**सुविणमवि अपस्सओ**) और स्वप्न भी न देखता हो, यानी भले ही वह अव्यक्त चेतनाशील हो, (**पावे कम्मे कज्जइ तं सम्मं**) ऐसा जीव भी पापकर्म करता है, यह सत्य है। (**कस्स णं तं हेउं** ?) आपके इस कथन के पीछे क्या कारण है ? प्रश्नकर्ता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने पुनः पूछा। (**आयरिए आह**) इसके उत्तर में आचार्य ने कहा--(**तत्थ खलु भगवया छज्जीवनिकायहेऊ पण्णत्ता**) इस विषय में तीर्थंकरदेव ने छह जीवनिकायों को कर्म-बन्ध के कारण बताये हैं (**तं जहा—पुढवीकाइया जाव तसकाइया**) वे पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय-पर्यन्त हैं। (**इच्चेएहिं छहिं जीवनिकाएहिं आया अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे पाणाइवाए जाव परिग्गहे, कोहे जाव मिच्छादंसणसल्ले**) इन छह प्रकार के जीवनिकाय के जीवों की हिंसा से उत्पन्न पाप को जिसने तपस्या आदि की आराधना करके नाश नहीं किया है, तथा भावी पाप को प्रत्याख्यान के द्वारा रोक नहीं दिया है, अपितु सदा निष्ठुरतापूर्वक प्राणियों के घात में चित्त लगाए रखता है, और उनको दण्ड देता है, तथा प्राणातिपात से लेकर परिग्रहपर्यन्त के पापों से तथा क्रोध से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक के पापस्थानों से निवृत्त नहीं होता है, वह चाहे किसी भी अवस्था में हो, अवश्यमेव पापकर्म का बन्ध करता है, यह सत्य है।

(**आयरिए आह**) इस सम्बन्ध में आचार्यश्री (प्ररूपक) पुनः कहते हैं—(**तत्थ खलु भगवया वहए दिट्ठंते पण्णत्ते**) इस सम्बन्ध में तीर्थंकर भगवान ने वधक (वध-कर्ता—हत्यारे) का दृष्टान्त बताया है। (**से जहाणामए वहए सिया**) जैसे कोई एक वधक (हत्यारा) होता है, (**गाहावइस्स वा गाहावइपुत्तस्स वा रण्णो वा रायपुरिसस्स वा**) वह (हत्यारा) गृहपति, या गृहपति के पुत्र की, अथवा राजा की या राजपुरुष की हत्या करना चाहता है, (**खणं लद्धूणं पविसिस्सामि, खणं लद्धूणं वहिस्सामि संपहारेमाणे**) वह इसी ताक में रहता है कि अवसर पाकर मैं घर में घुसूँगा और मौका पाते ही हत्या कर दूँगा, (**से किं नु हु नाम वहए तस्स गाहावइस्स वा गाहावइपुत्तस्स वा रण्णो वा रायपुरिसस्स वा खणं लद्धूणं पविसिस्सामि खणं लद्धूणं वहिस्सामि पहारेमाणे**) उस गृहपति की या गृहपतिपुत्र की अथवा राजा की या राजपुरुष की हत्या करने हेतु अवसर पाकर घर में प्रवेश करूँगा और मौका पाते ही काम तमाम कर दूँगा, इस प्रकार निरन्तर संकल्प-विकल्प करने और मन में निश्चय करने वाला वह हत्यारा (**दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिए निच्चं पसढविउवाय-चित्तदंडे भवइ ?**) दिन में या रात में, सोता हो या जागता प्रतिक्षण इसी उधेड़बुन में रहने वाला वह उन सब का सदा अमित्र (शत्रु) एवं उनसे सदा गलत (प्रतिकूल) व्यवहार करने वाला चित्तरूपी दंड में सदा हत्या का दुष्ट विचार रखने वाला व्यक्ति उनका हत्यारा कहा जा सकता है या नहीं ? (**एवं वियागरेमाणे समियाए वियागरे चोयए – हंता भवइ**) आचार्यश्री (प्ररूपक) द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर प्रेरक (प्रश्नकर्ता शिष्य) समभाव से कहता है—हाँ, पूज्यवर ! ऐसा पुरुष हत्यारा (हिंसक) ही है।

(**आयरिए आह**) आचार्यश्री इस दृष्टान्त के पूर्वोक्त कथन को स्पष्ट करने हेतु कहते हैं—(**जहा से वहए तस्स गाहावइस्स वा तस्स गाहावइपुत्तस्स वा रण्णो वा**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रायपुरिसस्स वा खणं लद्धूणं पविसिस्सामि खणं लद्धूणं वहिस्सामित्ति पहारेमाणे दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिए, निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे) जैसे उस गृहपति या गृहपति के पुत्र अथवा राजा या राजपुरुष को मारने की इच्छा करने वाला वह वधक पुरुष सोचता है कि मैं मौका पाते ही इसके मकान में घुसूँगा और अवसर मिलते ही इसको खत्म कर दूँगा ऐसे कुविचार से वह दिन-रात, सोते-जागते हरदम घात लगाये रहता है, सदा उनका शत्रु बना रहता है, तथा धोखा देना चाहता है, उनके नाश के लिए निरन्तर शठतापूर्वक दुष्टचित्त लगाये रखता है, (वह चाहे घात न कर सके, परन्तु है घातक ही) (**एवमेव बालेवि सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं सत्ताणं दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिए निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे तं जहा—पाणाइवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले**) इसी तरह बाल—अज्ञानी जीव भी समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों का दिन-रात सोते-जागते सदा वैरी बना रहता है, वह असत्य बुद्धि से युक्त रहता है, रात-दिन गलत विचारों से घिरा रहता है, उनके प्रति निरन्तर शठतापूर्वक हिंसा में चित्त जमाए रखता है, क्योंकि वह बाल (अज्ञानी) प्राणी प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक अठारह ही पापों में रचा-पचा रहता है। (**भगवया खलु एवं अक्खाए**) भगवान ने इसीलिए ऐसे जीवों के लिए कहा है कि (**असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते यावि भवइ**) वे संयमहीन, अविरत, पापकर्मों का नाश व प्रत्याख्यान न करने वाले, पापक्रिया से युक्त, संवररहित, एकान्तरूप से प्राणियों को दण्ड देने वाले, अर्थात अज्ञानी (बाल) एवं बिलकुल सुषुप्त भी होते हैं। (**से बाले अवियारमणवयणवायवक्के सुविणमवि ण पस्सइ, से य पावे कम्मे कज्जइ**) वह अज्ञानी जीव चाहे मन, वचन, काया और वाक्य का समझ-बूझकर (विचारपूर्वक) प्रयोग न करता हो, चाहे वह स्वप्न भी न देखता हो यानी उसका ज्ञान बिलकुल अस्पष्ट ही क्यों न हो, तो भी वह (अप्रत्याख्यानी होने के कारण) पापकर्म करता है। (**जहा से वहए तस्स वा गाहावइस्स वा जाव तस्स वा रायपुरिसस्स पत्तेयं पत्तेयं चित्तसमादाए दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिए निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे भवइ**) जैसे वध की इच्छा रखने वाला घातक पुरुष उस गाथापति, गाथापतिपुत्र, राजा एवं राजपुरुष के प्रति सदा हिंसामय चित्त रखता है, तथा अहर्निश, सोते-जागते वह उनकी घात लगाये रहता है, इसलिए वह उनका वैरी बना रहता है, उसके दिमाग में धोखा देने के दुष्ट विचार जमे रहते हैं, और वह सदा ही उनके घात की उधेड़बुन में रहता है, और शठतापूर्वक दुष्ट विचार ही किया करता है। (**एवमेव बाले सव्वेसिं पाणाणं जाव सव्वेसिं जीवाणं पत्तेयं पत्तेयं चित्तसमादाए दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिए निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे भवइ**) इसी तरह समस्त प्राणियों के प्रति निरन्तर हिंसामयभाव रखनेवाला एवं प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तक के १८ ही पापों से अविरत अज्ञानी जीव दिन-रात सोते-जागते सदैव उन प्राणियों का शत्रु बना रहता है, उन्हें धोखा देने का दुष्ट विचार रखता है एवं निरन्तर उनके प्रति शठतापूर्ण हिंसामय नीच चित्त लगाये रखता है। स्पष्ट है कि ऐसे अज्ञानी जीव जब तक प्रत्याख्यान नहीं करते, तब तक वे पापकर्म से जरा भी विरत नहीं होते। वे पापकर्म से सदैव लिप्त रहते हैं।

व्याख्या

पापकर्म से सदा लिप्त कौन है, कौन नहीं?

प्रत्याख्यानक्रियारहित प्राणी के सन्दर्भ में पापकर्म के बन्धन से युक्त कौन है, कौन नहीं, इस विषय में प्रेरक (प्रश्नकर्ता—जिज्ञासु) द्वारा पूर्वपक्ष प्रस्तुत किये जाने पर आचार्य (प्ररूपक या प्रज्ञापक) सिद्धान्तसम्मत समाधान करते हैं, दृष्टान्त द्वारा सैद्धान्तिक बात को सिद्ध करते हैं, यह सूत्र में शास्त्रकार ने अंकित किया है।

प्रेरक (प्रश्नकर्ता) आचार्य (प्रज्ञापक) के पूर्वसूत्रोक्त अभिप्राय को जानकर उस सम्बन्ध में विशिष्ट स्पष्टीकरण हेतु आचार्य से निषेधात्मक रूप से कहता है—पूज्यवर! जिस प्राणी के मन, वचन और काया पापकर्म में लगे हुए नहीं हैं, पाप-लिप्त नहीं हैं, तथा जो प्राणियों का घात नहीं करता, जो अमनस्क है, मन से हीन है तथा जिसका मन, वचन, काया और वाक्य पाप के विचार से रहित है तथा जो पाप करने का स्वप्न भी नहीं देखता, यानी अत्यन्त अव्यक्त चेतना वाला है, ऐसा प्राणी पापकर्म करने वाला नहीं माना जा सकता, अर्थात् जिसका मन, वचन, काय पाप से रहित है और जो जीवहिंसा नहीं करता ऐसे पुरुष को पापकर्म का बन्ध किसी भी प्रकार से नहीं होता। किस कारण से उस जीव को पापकर्मबन्ध नहीं होता? इस सम्बन्ध में प्रश्नकर्ता अपनी बात को स्पष्ट करता हुआ कहता है—जब मन पापयुक्त होता है, तभी प्राणी के द्वारा मानसिक पाप किया जाता है, जब वचन पापयुक्त होता है, तभी उसके द्वारा वाचिक पाप किया जाता है, और जब काया पापयुक्त होती है, तभी उसके द्वारा कायिक पापजनित बन्ध हो सकता है। परन्तु जिन प्राणियों का विज्ञान अव्यक्त है, अतएव जो पापकर्म के साधनों से हीन हैं, उनके द्वारा पापकर्म किया जाना कैसे सम्भव है? अलबत्ता, जो प्राणी समनस्क हैं, प्राणियों की हिंसा करते हैं, जिनके मन, वचन, काया और वाक्य पाप के विचार से युक्त हैं तथा जो स्वप्न भी देखते हैं, यानी जो स्पष्ट विज्ञान वाले प्राणी हैं इस प्रकार की विशेषताओं से युक्त प्राणी तो पापकर्म करते हैं, यह प्रत्यक्षसिद्ध है। परन्तु जिन प्राणियों में प्राणिघात करने योग्य मन, वचन, काया के व्यापार नहीं होते, वे पापकर्म करते हैं, यह कैसे हो सकता है? जिनमें पाप के पूर्वोक्त कारण नहीं हैं, उन्हें पापकर्म का बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि न्यायशास्त्र का सिद्धान्त है कि कारण के अभाव में कार्य नहीं होता। यदि मन, वचन, काया के व्यापार के बिना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी पापकर्म का बन्ध होता है, तब तो सिद्ध (मुक्त) आत्माओं को भी पापकर्म का बन्ध होना चाहिए।

प्रश्नकर्त्ता अपनी बात को परिपुष्ट करने की दृष्टि से कहता है—जो ऐसा कहते हैं कि पापरहित मन-वचन-काया वाले हिंसा न करते हुए को, मनोविकल तथा विचारहीन मन-वचन-काया एवं वाक्य वाले को तथा अस्पष्ट ज्ञान (चेतना) वाले को भी पापकर्म होता है, यह ठीक नहीं है।

प्रश्नकर्ता का आशय यह है कि जो समनस्क है, सोच-समझकर मन-वचन-काया एवं वाक्य में प्रवृत्ति करता है, हिंसा करता है, उसी को पापकर्म का बन्ध होता है, इसके विपरीत जो अमनस्क है, तथा समझ-बूझकर मन, वचन, शरीर एवं वाक्य में प्रवृत्त नहीं होता, वह पापकर्म का बन्ध नहीं करता।

प्रश्नकर्ता के युक्तिपूर्वक स्वमन्तव्य-प्रतिपादन में यह भी गर्भित है कि वह आचार्य से अपनी बात स्वीकृत कराना चाहता है, और अपनी बात पर सत्यता की मुहर-छाप लगवाना चाहता है कि मेरी बात ठीक है न ?

आचार्य (प्रज्ञापक) प्रश्नकर्ता के विवादास्पद मन्तव्य का उसकी बात से असहमत होते हुए युक्तिपूर्वक समाधान करते हैं—**'तं सम्मं जं मए पुव्वं वुत्तं'** हे जिज्ञासु प्रश्नकर्ता ! मैंने पहले जो कहा था कि पूर्वोक्त प्रकार के जीवों को भी कर्मबन्ध है, वही सत्य है, असत्य नहीं। अर्थात् पापमय मन-वचन-काया के न होने पर भी तथा मन-वचन-काया सम्बन्धी विकार न होने पर भी ऐसे अमनस्क जीवों द्वारा भी पापकर्म होता है।

प्रश्नकर्ता के पूर्वोक्त मन्तव्य का सहसा खण्डन होते ही, अप्रत्याशित रूप से विस्मित होकर वह प्रश्नकर्ता प्रतिप्रश्न करता है—आपने जो कहा है, उसके पीछे हेतु क्या है ?

आचार्य सैद्धान्तिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं—आयुष्मन् ! भगवान ने छहों जीवनिकायों को कर्मबन्ध का कारण कहा है। छह जीवनिकाय तो तुम जानते ही हो, वे पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक के जीव हैं। षड्जीवनिकायों में समनस्क एवं अमनस्क दोनों प्रकार के जीव आ जाते हैं। जो जीव इन छह जीवनिकायों के जीवों की हिंसा से विरत नहीं है, जिसने किसी भी प्रकार से पापकर्म से विरत होने का प्रत्याख्यान नहीं किया है, अर्थात् जिस प्राणी ने वर्तमान काल में षट्काय के जीवों की हिंसा से उत्पन्न पापकर्म को उसकी स्थिति एवं अनुभाग को ह्रास करके नष्ट नहीं किया, तथा पूर्वकृत पाप की निन्दा (पश्चात्ताप) करके भविष्य में पुनः न करने का संकल्प—प्रत्याख्यान करके उक्त पापों से विरत नहीं हुआ है, भले ही उसके मन-वचन-काया पापयुक्त न हों, वह प्रत्यक्ष हिंसा करता न दीखता हो, मन वचन-काया का विचारपूर्वक प्रयोग न करता हो, जिसकी चेतना अव्यक्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं सुषुप्त ही क्यों न हो, फिर भी उसके द्वारा पापकर्म किया जाता है। भले ही वह जीव अवसर, साधन और शक्ति आदि कारणों के अभाव में उन षट्कायिक जीवों की प्रत्यक्ष हिंसा न कर सकता हो, फिर भी वह प्राणी अहिंसक या पापकर्मरहित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह प्राणातिपात से लेकर परिग्रह तक के, तथा क्रोध से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक के पापों से निवृत्त नहीं होता। बल्कि वह (ओघसंज्ञा से) सदा निष्ठुरतापूर्वक प्राणिघात में लगा रहता है, चाहे वह उन प्राणियों की हिंसा कर सके या नहीं, परन्तु है वह हिंसक ही। निष्कर्ष यह है कि जो १८ पापों से विरत नहीं है, जिसने पापों का प्रत्याख्यान (त्याग) नहीं किया है, वह जीव चाहे कैसी भी अवस्था में क्यों न हो, वह एकेन्द्रिय हो या विकलेन्द्रिय, परन्तु मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग से युक्त होने के कारण वह अवश्य ही पापकर्म करता है, उससे रहित नहीं रहता। जहाँ पापकर्मबन्ध के कारण (१८ पापस्थान) मौजूद हैं, पापकर्मबन्ध कैसे नहीं होगा ? अवश्य होगा। सिद्धों में कर्मबन्ध के कारण ही नहीं हैं इसलिए कर्मबन्धरूप कार्य नहीं होता।

इस सिद्धान्त को स्पष्टतया समझाने के लिए आचार्य भगवान् द्वारा प्ररूपित एक दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं—मान लो, एक व्यक्ति हत्यारा है, वह किसी कारणवश किसी गृहस्थ या उसके पुत्र अथवा राजा या राजपुरुष की हत्या करना चाहता है। वह उन पर क्रुद्ध होकर सदा इसी ताक में रहता है कि कब मौका मिले और कब मैं उनके मकान में घुसकर उनका काम तमाम करूँ। वह हत्यारा जब तक मनोरथ को सफल करने का अवसर नहीं पाता, तब तक वह दूसरे कार्यों में लगा हुआ उदासीन-सा बना रहता है। यद्यपि मौका न मिलने से वह उपर्युक्त चारों में से किसी की भी हत्या नहीं कर पाता, तथापि उसके हृदय में हरदम उनकी हिंसा की होली जलती रहती है। भावों से तो वह सदैव उनके घात के लिए तत्पर रहता है, किन्तु अवसर न मिलने से वह घात नहीं कर पाता। अतः घात न करने पर भी वह (वधक पुरुष) सदा उनका घातक ही है। इसी तरह अप्रत्याख्यानी, अविरत, १८ प्रकार के पापकर्मों से अनिवृत्त, एकेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रिय प्राणी भी मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगों से अनुगत (युक्त) होने के कारण प्राणातिपात आदि पापों से दूषित ही हैं। वे उनसे निवृत्त नहीं है।

जैसे अवसर न मिलने से गृहपति आदि का घात न करने वाला पूर्वोक्त हत्यारा उनका अवैरी नहीं, अपितु वैरी ही है, उसी तरह प्राणियों का घात न करने वाले अप्रत्याख्यानी, अविरत, पापकर्मों से अनिवृत्त जीव भी प्राणियों के शत्रु हैं, मित्र नहीं। यहाँ वध्य और वधक के सम्बन्ध में यहाँ चार भंग निष्पन्न होते हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) वधक (घातक) को घात करने का अवसर है, वध्य को नहीं।

(२) वधक को घात करने का अवसर नहीं है, वध्य को है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(३) दोनों को अवसर नहीं है।

(४) दोनों को है।

उक्त दृष्टात को और अधिक स्पष्ट करने हेतु आचार्य फिर प्रश्नकर्ता को समझाते हैं—गृहपति, उसके पुत्र, राजा और राजपुरुष की हत्या का इच्छुक हत्यारा पुरुष यद्यपि अवसर न मिलने के कारण उनकी हत्या नहीं करता तथापि वह दिन-रात सोते-जागते हर समय उनके वध की ताक में रहता है, वह रात-दिन इस उधेड़बुन में लगा रहता है, अतः वह जैसे गृहपति आदि का मित्र नहीं, शत्रु है, वैसे ही अप्रत्याख्यानी पापों से अविरत, असंयती जीव भी समस्त प्राणियों के प्रति पूर्वोक्त प्रकार से शठता (दुष्टता) पूर्ण हिंसादि पाप का मनोरथ मन में हरदम संजोये रखते हैं। इसलिए वे अहिंसक या पाप न करने वाले नहीं कहे जा सकते।

बात यह है कि जिन प्राणियों का मन राग-द्वेष से पूर्ण और अज्ञान से आवृत्त है वे सभी अन्य समस्त प्राणियों के प्रति दूषित भाव रखते हैं। इन दूषित भावों से विरति जब तक नहीं होती, तब तक वे पापकर्मबन्ध से जरा भी छुटकारा नहीं पा सकते। एक मात्र विरति (प्रत्याख्यानक्रिया) ही भावों को शुद्ध करने वाली है। यह जिनपे नहीं है, वे प्राणी सभी प्राणियों के भाव से वैरी हैं चाहे वे स्थूलरूप से उनका घात करते दिखाई न देते हों। जिनके घात का अवसर उन्हें नहीं मिलता, उनका घात उनसे न होने पर भी वे उनके अघातक नहीं कहे जा सकते। अतः उपर्युक्त साधनों के अभाव से ही अप्रत्याख्यानी, अविरत एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के सभी जीव चाहे दूसरे प्राणियों का घात न करते हों, परन्तु उनमें घात करने का भाव तो बना ही रहता है। अतः पहले जो कहा गया था कि जिस प्राणी ने पाप का प्रतिघात और प्रत्याख्यान नहीं किया है, वह चाहे स्पष्ट चेतना विज्ञान से हीन ही क्यों न हो, पापकर्म करता ही है, यही सर्वथा सत्य एवं सिद्धान्त-सम्मत है।

आचार्यश्री द्वारा युक्तिसंगत एवं सिद्धान्तसम्मत बात सुनकर प्रेरक (प्रश्नकर्ता शिष्य) ने विनीत भाव से स्वीकार कर लिया कि "पूज्यवर! आप कहते हैं, वही सत्य है, यही मन्तव्य मुझे स्वीकृत है।"

फिर भी प्रेरक अभी उक्त मन्तव्य को विशेषरूप से समझने हेतु दूसरे पहलू को लेकर आचार्यश्री के समक्ष प्रतिप्रश्न प्रस्तुत करता है—

मूल पाठ

णो इणट्ठे समट्ठे (चोयए) इह खलु बहवे पाणा भूया जीवा सत्ता संति, जे इमेणं सरीरसमुस्सएणं णो दिट्ठा वा सुया वा, नाभिमया वा विन्नाया वा, जेसिं णो पत्तेयं पत्तेयं चित्तसमादाए दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिए निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे, तं जहा—पाणाइवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले ॥ सू० ६५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

नायमर्थः समर्थः (चोदकः) इह खलु बहवेः प्राणाः भूता जीवाः सत्त्वाः सन्ति, येऽनेन शरीरसमुच्छ्रयेण न दृष्टाः वा न श्रुताः वा नाभिमताः वा न विज्ञाताः वा, येषां प्रत्येकं प्रत्येकं चित्तं समादाय दिवा वा रात्रौ वा सुप्तो वा जाग्रद् वा अमित्रभूतः मिथ्यासंस्थितः नित्यं प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डः तद्यथा प्राणातिपाते यावन्मिथ्यादर्शनशल्ये ।। सू० ६५ ।।

अन्वयार्थ

प्रश्नकर्त्ता कहता है—(**णो इणट्ठे समट्ठे**) पूर्वोक्त बात यथार्थ नहीं है (**इह खलु बहवे पाणा भूया जीवा सत्ता संतिजे इमेणं सरीरसमुस्सएणं णो दिट्ठा वा सुया वा नाभिमया वा विन्नाया वा**) इस जगत् में बहुत-से ऐसे प्राणी हैं जिनके शरीर का प्रमाण कभी देखा नहीं गया, न सुना ही गया है, वे प्राणी न तो अपने अभिमत (इष्ट) ही हैं और न वे ज्ञात ही हैं। (**जेसिणो पत्तेयं पत्तेयं चित्तसमादाए दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिए निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे तं जहा—पाणाइवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले**) अतः समस्त (हर एक) प्राणियों के प्रति हिंसामय चित्त रखते हुए दिन-रात, सोते-जागते उनका अमित्र (शत्रु) बना रहना तथा उनको धोखा देने के लिए तत्पर रहना एवं सदा उनके प्रति शठतापूर्ण हिंसामय चित्त रखना ऐसे (पूर्वोक्त अज्ञात) प्राणियों के लिए सम्भव नहीं है। इसी तरह प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शन शल्य तक के पापों में उन प्राणियों का लिपटे रहना भी सम्भव नहीं है।

व्याख्या

अव्यक्त अज्ञात प्राणियों का पापकर्म करना : सम्भव या असम्भव ?

इस सूत्र में शास्त्रकार ने प्रश्नकर्ता के द्वारा अज्ञात, अदृष्ट, अव्यक्त एवं अश्रुत प्राणियों के विषय में पापकर्मबन्धन मानने से इन्कार की प्रतिध्वनि अभिव्यक्त की है।

प्रश्नकर्ता का कहना है—आपश्री के कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि सभी प्राणी सभी के शत्रु हैं। परन्तु यह बात युक्तिसंगत नहीं है कि अज्ञानी, अविरत एवं अप्रत्याख्यानी जीव सब प्राणियों के शत्रु हैं, हिंसक हैं; क्योंकि हिंसा का भाव परिचित प्राणियों पर ही होता है, अपरिचित प्राणियों पर नहीं। संसार में बहुत से सूक्ष्म और बादर, त्रस और स्थावर, पर्याप्त और अपर्याप्त प्राणी हैं, जिनके शरीर का परिमाण (कद) इतना छोटा है कि वह न कभी देखा जाता है, और न सुना जाता है।

अनन्त-अनन्त प्राणी ऐसे हैं जो देश काल, एवं स्वभाव से अत्यन्त दूरवर्ती हैं, वे इतने सूक्ष्म और दूर हैं कि हमारे जैसे अदूरदर्शी पुरुषों ने न तो उन्हें कभी देखा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है और न ही सुना है। हम यह भी नहीं जानते कि वे हमारे शत्रु हैं, या मित्र हैं। अर्थात् हम उन्हें देखते भी नहीं हैं, सुनते भी नहीं है। वे न तो किसी के शत्रु हैं और न ही किसी के मित्र, फिर उनके प्रति किसी का हिंसामय भाव होना कैसे सम्भव है? एक-एक प्राणी को लेकर घातक मनोवृत्ति धारण करना दिन-रात, सोते-जागते उन प्राणियों के प्रति शत्रुता धारण करना, और असत्यबुद्धि रखना, अत्यन्त शठतापूर्वक हिंसा में चित्त लगाना, तथा प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक के पापों में प्रवृत्ति करना, आदि अनहोनी बातें ऐसे अज्ञात, अदृष्ट, अश्रुत प्राणियों के विषय में कैसे सम्भव हो सकती हैं? अतः समस्त अप्रत्याख्यानी अविरत प्राणी समस्त प्राणियों के प्रति हिंसा-भाव रखते हैं, यह कथन युक्तिसंगत नहीं है।

सारांश

प्रश्नकर्ता एक तर्क प्रस्तुत करता है कि इस जगत् में बहुत-से ऐसे सूक्ष्म जीव हैं, जो हमारे देखने-सुनने में भी नहीं आते, उनके प्रति हिंसा का पाप कैसे लग सकता है? अथवा उन अज्ञात सूक्ष्म प्राणियों में अन्य प्राणियों के प्रति रात-दिन सोते-जागते शत्रुता या हिंसा की भावना कैसे हो या रह सकती है, जबकि वे अन्य प्राणियों से परिचित भी नहीं है।

मूल पाठ

आयरिए आह—तत्थ खलु भगवया दुवे दिट्ठंता पण्णत्ता, तं जहा—संन्निदिट्ठंते य असन्निदिट्ठंते य। से किं तं सन्निदिट्ठंते? जे इमे सन्निपंचिंदिया पज्जत्तगा एतेसिं णं छज्जीवनिकाए पडुच्च, तं जहा—पुढवीकायं जाव तसकायं। से एगइओ पुढवीकाएणं किच्चं करेइ वि कारवेइ वि तस्स णं एवं भवइ—एवं खलु अहं पुढवीकाएणं किच्चं करेमि वि कारवेमि वि। णो चेव णं से एवं भवइ—इमेण वा इमेण वा, से एतेणं पुढवीकाएणं किच्चं करेइ वि कारवेइ वि से णं तओ पुढवीकायाओ असंजय-अविरय-अप्पडिहय-पच्चक्खाय पावकम्मे यावि भवइ। एवं जाव तसकाएत्ति भाणियव्वं। से एगइओ छज्जीवनिकाएहिं किच्चं करेइ वि कारवेइ वि, तस्स णं एवं भवइ—एवं खलु छज्जीवनिकाएहिं किच्चं करेमि वि कारवेमि वि, णो चेव णं से एवं भवइ—इमेहिं वा इमेहिं वा। से य तेहिं छहिं जीवनिकाएहिं जाव कारवेइ वि, से य तेहिं छहिं जीवनिकाएहिं असंजय-अविरय-अप्पडिहय-पच्चक्खाय पावकम्मे, तं जहा—पाणाइवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले। एस खलु भगवया अक्खाए असंजएअविरए अप्पडिहय-पच्चक्खायपावकम्मे सुविणमवि अपस्सओ पावे य से कम्मे कज्जइ, से तं सन्निदिट्ठंते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से किं तं असन्निदिट्ठंते? जे इमे असन्निणो पाणा, तं जहा—पुढवीकाइया जाव वणस्सइकाइया छट्ठा वेगइया तसा पाणा, जेसिं नो तक्काइ वा सन्नाइ वा पन्नाइ वा मणाइ वा वई वा सयं वा कारणाए अन्नेहिं वा कारावेत्तए, करंतं वा समणुजाणित्तए तेऽवि णं बाले सव्वेसिं पाणाणं जाव सव्वेसिं सत्ताणं दिया वा राओ वा, सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूया मिच्छासंठिया निच्चं पसढविउवायचित्तदंडा, तं जहा—पाणाइवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले। इच्चेव जाव णो चेव मणो णो चेव वई पाणाणं जाव सत्ताणं दुक्खणयाए सोयणयाए जूरणयाए तिप्पणयाए पिट्टणयाए परितप्पणयाए ते दुक्खणसोयण जाव परितप्पणवहबंधणपरिकिलेसाओ अप्पडिविरया भवंति। इइ खलु से असन्निणोऽवि सत्ता अहोनिसिं पाणाइवाए उवक्खाइज्जंति जाव अहोनिसिं परिग्गहे उवक्खाइज्जंति जाव मिच्छादंसणसल्ले उवक्खाइज्जंति, (एवं भूयवाई) सव्वजोणियावि खलु सत्ता सन्निणो हुच्चा असन्निणो होंति, असन्निणो हुच्चा सन्निणो होंति, होच्चा सन्नी अदुवा असन्नी, तत्थ से अविविचित्ता अविधुणित्ता असंमुच्छित्ता अणणुतावित्ता असन्निकायाओ वा सन्निकाए संकमंति सन्निकायाओ वा असन्निकायं संकमंति सन्निकायाओ वा सन्निकायं संकमंति, असन्निकायाओ वा असन्निकायं संकमंति, जे एए सन्नि वा असन्नि वा सव्वे ते मिच्छायारा निच्चं पसढविउवायचित्तदंडा तं जहा—पाणाइवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले। एवं खलु भगवया अक्खाए असंजए अविरए अप्पडिहयअपच्चक्खाय पावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते से बाले अवियारमणवयणकायवक्के सुविणमवि ण पासइ, पावे य से कम्मे कज्जइ ॥सू० ६६॥

संस्कृत छाया

आचार्य आह—तत्र खलु भगवता द्वौ दृष्टान्तौ प्रज्ञप्तौ तद्यथा—संज्ञिदृष्टान्तश्चासंज्ञिदृष्टान्तश्च। स कः संज्ञिदृष्टान्तः? ये इमे संज्ञिपंचेन्द्रियाः पर्याप्तकाः, एतेषां खलु षड्जीवनिकायं प्रतीत्य, तद् यथा पृथिवीकायं यावत् त्रसकायम्। स एकतयः पृथिवीकायेन कृत्यं करोति अपि कारयत्यपि, तस्य खल्वेवम् भवति—एवं खल्वहं पृथिवीकायेन कृत्यं करोम्यपि, कारयाम्यपि, नो चैव खलु तस्यैवं भवति—अनेन वाऽनेन वा, स एतेन पृथिवीकायेन कृत्यं करोत्यपि कारयत्यपि—स खलु ततः पृथिवीकायादसंयताऽविरताऽप्रतिहता-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऽप्रत्याख्यातपापकर्मा चाऽपि भवति एवं यावत् त्रसकायेष्वपि भणितव्यम्। स एकतयः षड्जीवनिकायैः कृत्यं करोत्यपि, कारयत्यपि, तस्य खल्वेवं भवति—एवं खलु षड्जीवनिकायैः कृत्यं करोम्यपि कारयाम्यपि, नो चैव खलु तस्यैवं भवति—एभिर्वा एभिर्वा, स च तैः षड्भिर्जीवनिकायैः यावत् कृत्यं करोत्यपि कारयत्यपि। स च तेभ्यः षड्जीनिकायेभ्यः असंयताविरताप्रतिहताप्रत्याख्यातपापकर्मा तद्यथा—प्राणातिपाते यावद् मिथ्यादर्शनशल्ये। एष खलु भगवता आख्यातोऽसंयतोऽविरतोऽप्रतिहताऽप्रत्याख्यातपापकर्मा स्वप्नमपि अपश्यन् पापं च स करोति। स संज्ञिदृष्टान्तः।

स कः असंज्ञिदृष्टान्तः? ये इमे असंज्ञिनः प्राणाः तद्यथा—पृथिवीकायिकाः यावद् वनस्पतिकायिकाः षष्ठा एकतये त्रसाः प्राणाः येषां न तर्क इति वा, संज्ञा इति वा, प्रज्ञा इति वा, मन इति वा, वाग्वा, स्वयं वा कर्तुमन्यैर्वाकारयितुं, कुर्वन्तं वा समनुज्ञातुं, तेऽपि बालाः सर्वेषां प्राणानां यावत् सर्वेषां सत्त्वानां दिवा वा रात्रौ वा सुप्ताः वा जाग्रतो वा अमित्रभूताः मिथ्यासंस्थिताः नित्यं प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डाः, तद्यथा—प्राणातिपाते यावन्मिथ्यादर्शनशल्ये, इत्येवं यावन् नो चैव मनो, नो चैव वाक् प्राणानां यावत् सर्वेषां सत्त्वानां दुःखनतया, शोचनतया, जूरणतया, तेपनतया, पिट्टनतया, परितापनतया, ते दुःखन-शोचन यावत् परितापन-वध-बन्धन-परिक्लेशेभ्योऽप्रतिविरताः भवन्ति। इति खलु तेऽसंज्ञिनोऽपि सत्त्वाः अहर्निशं प्राणातिपाते उपाख्यायन्ते यावदहर्निशं परिग्रहे उपाख्यायन्ते यावन्मिथ्यादर्शनशल्ये उपाख्यायन्ते, (एवं भूतवादी) सर्वयोनिकाः अपि खलु सत्त्वाः संज्ञिनो भूत्वा असंज्ञिनो भवन्ति, असंज्ञिनो भूत्वा संज्ञिनो भवन्ति। भूत्वा संज्ञिनोऽथवाऽसंज्ञिनस्तत्र तेऽविविच्य अविधूय असमुच्छिद्य, अननुताप्य, असंज्ञिकायाद् वा संज्ञिकायं संक्रामन्ति, संज्ञिकायाद् वा असंज्ञिकायं संक्रामन्ति, संज्ञिकायाद् वा संज्ञिकायं संक्रामन्ति, असंज्ञिकायाद् वा असंज्ञिकायं संक्रामन्ति। ये एते संज्ञिनो वा असंज्ञिनो वा सर्वे ते मिथ्याचाराः नित्यं प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डाः तद्यथा प्राणातिपाते यावन् मिथ्यार्शनशल्ये। एवं खलु भगवताऽऽख्यातोऽसंयतोऽविरतोऽप्रतिहताऽप्रत्याख्यातपापकर्मा सक्रियोऽसंवृतः एकान्तदण्डः, एकान्तबालः, एकान्तसुप्तः। स बालः अविचारमनोवचनकायवाक्यः स्वप्नमपि न पश्यति, पापं च स कर्म करोति॥ सू० ६६॥

अन्वयार्थ

(**आयरिए आह**) आचार्यश्री पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं—(**तत्थ खलु भगवया दुवे दिट्ठंते पण्णत्ते, तं जहा—सन्निदिट्ठंते य असन्निदिट्ठंते य**) इस विषय में तीर्थंकरदेव ने दो दृष्टान्त कहे हैं। वे इस प्रकार हैं—एक तो संज्ञिदृष्टान्त है और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरा है—असंज्ञिदृष्टान्त। (**से किं तं सन्निदिट्ठंते ?**) वह संज्ञी का दृष्टान्त क्या है ? (**जे इमे सन्निपंचिंदिया पज्जत्तगा, एतेसिं णं छज्जीवनिकाए पडुच्च, तं जहा—पुढवीकायं जाव तसकायं**) जो ये प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव हैं, इनमें पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक षड्जीवनिकाय के जीवों के विषय में से (**से एगइओ पुढवीकाएणं किच्चं करेइ वि कारवेइ वि**) कोई पुरुष यदि पृथ्वीकाय से ही अपना आहारादि कृत्य करता भी है, कराता भी है। (**तस्स णं एवं भवइ अहं पुढवीकाएण किच्चं करोमि वि कारवेमि वि**) उसके मन में ऐसा विचार होता है कि मैं पृथ्वीकाय से अपना कार्य करता भी हूँ और कराता भी हूँ (या अनुमोदन करता हूँ) (**णो चेव णं से एवं भवइ**) उसे उस समय ऐसा विचार नहीं होता या नहीं कहा जा सकता है कि (**इमेण वा इमेण वा से एतेणं पुढवीकाएणं किच्चं करेइ वि कारवेइ वि**) वह इस या इस (अमुक) पृथ्वी से ही कार्य करता भी है, कराता भी है। सम्पूर्ण पृथ्वी से नहीं (**से एतेणं पुढवीकाएणं किच्चं करेइ वि कारवेइ वि**) उस सम्बन्ध में यही कहा जाता है कि वह पृथ्वीकाय से ही कार्य करता है, और कराता है। (**से णं तओ पुढवीकायाओ असंजय-अविरय-अप्पडिहय-अपच्चक्खाय-पावकम्मे यावि भवइ**) अतः वह पुरुष पृथ्वीकाय का असंयमी, उससे अविरत और उसकी हिंसा का प्रतिघात (नाश) और प्रत्याख्यान किया हुआ नहीं है, (**एवं जाव तसकाएत्ति भाणियव्वं**) इसी तरह त्रसकाय तक के प्राणियों के विषय में भी कहना चाहिए। (**से एगइओ छज्जीवनिकाएहिं किच्चं करेइ वि कारवेइ वि तस्स णं एवं भवइ—एवं खलु छज्जीवनिकाएहिं किच्चं करेमि वि कारवेमि वि**) जैसे कोई पुरुष छह काया के जीवों से कार्य करता है और कराता है तो वह यही कह सकता है, कि मैं छह काया के जीवों से कार्य करता हूँ और कराता हूँ। (**णो चेव णं से एवं भवइ—इमेहिं वा इमेहिं वा**) उस व्यक्ति को ऐसा विचार नहीं होता या उसके विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वह अमुक-अमुक जीवनिकाय से ही कार्य करता है और कराता है (सबसे नहीं)। (**से य तेहिं छहिं जीवनिकाएहिं जाव कारवेइ वि**) क्योंकि वह सामान्य रूप से उन छहों जीवनिकायों से कार्य करता है और कराता है, (**से य तेहिं छहिं जीवनिकाएहिं असंजय-अविरय-अप्पडिहय-अपच्चक्खाय पावकम्मे तं जहा—पाणाइवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले**) इस कारण वह पुरुष उन छहों काय के जीवों की हिंसा से असंयत, अविरत है, और उनकी हिंसा आदि पापकर्मों का प्रतिघात और प्रत्याख्यान किया हुआ नहीं है, अतः वह प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक सभी पापों का सेवन करने वाला है (**एस खलु भगवया असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खाय पावकम्मे अक्खाए**) तीर्थंकर भगवान् ने ऐसे व्यक्ति को असंयत, अविरत, अप्रतिहतपाप एवं अप्रत्याख्यातपापकर्म वाला कहा है। (**सुविणमवि अपस्सओ से य पावे कम्मे कज्जइ**) चाहे वह पुरुष स्वप्न भी न देखता हो यानी अव्यक्त—अस्पष्ट चेतना (विज्ञान) से युक्त हो, तो भी वह पापकर्म करता है, (**से तं सन्निदिट्ठंते**) यह संज्ञि का दृष्टान्त है।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

(**से किं तं असन्निदिट्ठंते** ?) प्रश्नकर्ता पूछता है कि वह असंज्ञिदृष्टान्त क्या है ? (**जे इमे असन्निणो पाणा, तं जहा—पुढवीकाइया जाव वणस्सइकाइया छट्ठा वेगइया तसा पाणा**) पृथ्वीकायिक जीवों से लेकर वनस्पतिकायिक जीवों तक पाँच स्थावर एवं छठे जो त्रससंज्ञक जो असंज्ञीजीव हैं, वे असंज्ञी हैं। (**जे सिं नो तक्काइ वा सन्नाइ वा पन्नाइ वा मणाइ वा वई वा सयं वा कारणाए अन्नेहिं वा कारावेत्तए, करंतं वा समणुजाणित्तए**) जिनमें न तर्क है, न संज्ञा है, न प्रज्ञा (बुद्धि) है, न मनन करने की शक्ति है, न वाणी है और जो न तो स्वयं कर सकते हैं, और न ही दूसरे से करा सकते हैं और न करते हुए को अच्छा समझ सकते हैं, (**तेवि णं बाले सव्वेसिं पाणाणं जाव सव्वेसिं सत्ताणं दिया वा राओ वा, सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूया मिच्छासंठिया निच्चं पसढविउवायचित्तदंडा**) वे अज्ञानी प्राणी भी समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों एवं समस्त सत्त्वों के दिन-रात, सोते-जागते हर समय शत्रु-से बने रहते हैं, उन्हें धोखा देना चाहते हैं एवं उनके प्रति सदैव हिंसात्मक चित्तवृत्ति रखते हैं। (**तं जहा—पाणाइवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले**) अतः वे प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक अठारह ही पापों से सदा लिप्त रहते हैं। (**इच्चेवं जाव णो चेव मणो, णो चेव वई**) इस प्रकार यद्यपि उनके मन नहीं होता और वाणी भी नहीं होती (**पाणाणं जाव सत्ताणं दुक्खणयाए सोयणयाए जूरणयाए तिप्पणयाए पिट्टणयाए परितप्पणयाए ते दुक्खण सोयण जाव परितप्पण वहबंधणपरिकिलेसाओ अप्पडिविरया भवंति**) तथापि द्रव्य मन के अतिरिक्त उनके भावमन भी न होने के कारण वे समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों एवं सत्त्वों को दुःख देने, शोक उत्पन्न करने, विलाप करने, रुलाने, वध करने, परिताप देने, या उन्हें एक ही साथ दुःख, शोक, विलाप, संताप, रुदन, पीड़न, वध-बंधन, परिक्लेश आदि करने से विरत नहीं होते अपितु पापकर्म में सदा रत रहते हैं। (**इइ खलु से असन्निणोऽवि सत्ता अहोनिसं पाणाइवाए उवक्खाइज्जंति जाव अहोनिसं परिग्गहे उवक्खाइज्जंति जाव मिच्छादंसणसल्ले उवक्खाइज्जंति**) इस प्रकार वे प्राणी असंज्ञी होते हुए भी अहनिश प्राणातिपात (हिंसा) में तथा मृषावाद आदि से लेकर परिग्रह में तथा वहाँ से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक के समस्त पापस्थानों में रातदिन प्रवर्तमान कहे जाते हैं। (**सव्वजोणियावि खलु सत्ता सन्निणो हुच्चा असन्निणो होंति, असन्निणो हुच्चा सन्निणो होंति**) सभी योनियों के प्राणी निश्चित रूप से संज्ञी होकर असंज्ञी हो जाते हैं, तथा असंज्ञी होकर संज्ञी हो जाते हैं। (**होच्चा सन्नी अदुवा असन्नी, तत्थ से अविविचित्ता अविधूणित्ता असंमुच्छित्ता अणणुतावित्ता**) वे संज्ञी या असंज्ञी होकर यहाँ पापकर्मों को अपने से अलग न करके, तथा उन्हें न झाड़कर, एवं उनका उच्छेद न करके तथा उनके लिए पश्चात्ताप न करके (**असन्निकायाओ सन्निकाए संकमंति**) वे असंज्ञी के शरीर से संज्ञी के शरीर में आते हैं, (**सन्निकायाओ वा असन्निकायं संकमंति**) तथा संज्ञी के शरीर से असंज्ञी के शरीर में आते हैं। (**सन्निकायाओ वा सन्निकायं संकमंति**)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथवा कभी संज्ञी के शरीर से संज्ञी के शरीर में भी पुनः आ जाते हैं। (**असन्निकायाओ वा असन्निकायं संकमंति**) अथवा कदाचित् असंज्ञीकाय से भी पुनः असंज्ञीकाय में ही आ जाते हैं। (**जे एए सन्नि वा असन्नि वा सव्वे ते मिच्छायारा निच्चं पसढविउवाय-चित्तदंडा**) ये जो संज्ञी अथवा असंज्ञी प्राणी होते हैं, वे सभी मिथ्याचारी होते हैं और सदैव शठतापूर्वक हिंसात्मक चित्तवृत्ति धारण करते हैं। (**तं जहा—पाणाइवाए जाव मिच्छादंसण सल्ले**) अतएव वे इस प्रकार प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक अठारह ही प्रकार के पापों का सेवन करते हैं। (**एवं खलु भगवया अक्खाए असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते**) इसी कारण से ही तो भगवान् महावीर ने इन्हें असंयत, अविरत, क्रियायुक्त, पापों का प्रतिघात (नाश) और प्रत्याख्यान न करने वाले, संवररहित, एकान्त हिंसापरायण, एकान्त (सर्वथा) बाल—अज्ञानी, एवं बिलकुल सुप्त कहा है। (**से बाले अवियारमण-वयणकायवक्के सुविणमवि ण पासइ, से य पावे कम्मे कज्जइ**) वह अज्ञानी जीव चाहे मन, वचन, काया, एवं वाक्य के प्रयोग में विचार (सूझबूझ) से रहित हो, तथा स्वप्न भी न देखता हो, यानी बिलकुल अव्यक्त चेतना (विज्ञान) से युक्त हो, फिर भी वह पापकर्म करता है।

व्याख्या

संज्ञी एवं असंज्ञी दोनों प्रकार के अप्रत्याख्यानी प्राणी सदैव सर्वपापरत

पूर्वसूत्र में प्रश्नकर्त्ता ने अव्यक्त चेतनाशील, अस्पष्टविज्ञानयुक्त एवं अज्ञात, अपरिचित प्राणी कैसे सब प्राणियों के शत्रु हो सकते हैं, इत्यादि जो तर्क प्रस्तुत किया था, उसका प्रतिवाद करने एवं प्रत्युत्तर देने हेतु आचार्यश्री कहते हैं—मूल बात यह है कि जिस जीव ने प्राणियों की हिंसा आदि पापों का प्रत्याख्यान (त्याग) नहीं किया है, जो हिंसा आदि पापों से विरत नहीं है, वह चाहे किसी भी गति, योनि एवं शरीर में हो, सदैव प्राणिहिंसा आदि पापों का कर्त्ता ही कहलाएगा क्योंकि उसकी चित्तवृत्ति में सदैव हिंसा आदि पापों की वृत्ति बनी रहती है। उसने अपने मन से समझ-बूझकर हिंसा आदि पापों का प्रत्याख्यान (त्याग) नहीं किया। मतलब यह है कि जिसने हिंसा आदि आस्रवों के द्वार खुले रखे हैं, बन्द नहीं किये हैं, उसे हिंसा आदि का पाप लगता रहता है, पापकर्मों का बन्ध होता रहता है। इस प्रकार जो मैंने पहले कहा था, वही सत्य है। किन्तु प्रश्नकर्त्ता द्वारा पूर्वसूत्र में तर्क प्रस्तुत किया गया था कि जगत् में बहुत-से प्राणी ऐसे हैं, जो देश और काल से अत्यन्त दूर हैं, इस कारण उनका न तो रूप ही देखने में आता है और न नाम ही सुनने में आता है, अतः उनके साथ पारस्परिक व्यवहार न रहने से किसी भी प्राणी की चित्त-वृत्ति उन प्राणियों के प्रति हिंसात्मक कैसे बनी रह सकती है? अतः अप्रत्याख्यानी प्राणी समस्त प्राणियों का घातक-हिंसक कैसे माना जा सकता है? यह युक्तिसंगत नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। आचार्यश्री इस शंका का समाधान करने के लिए कहते हैं—जो प्राणी जिस प्राणी की हिंसा आदि पापों से निवृत्त नहीं है, वह उन पापों में प्रवृत्त ही कहा जाएगा। क्योंकि उसकी चित्तवृत्ति उस प्राणी के प्रति सदा हिंसक ही बनी रहती है, अथवा उसकी वृत्ति उन पापों के प्रति रत रहती है, इसलिए वह हिंसक या पापकर्मा ही है, अहिंसक या पापकर्मरहित नहीं है। जैसे कोई ग्राम का घात करने वाला पुरुष जिस समय ग्राम का घात करने में प्रवृत्त होता है, उस समय जो प्राणी उस ग्राम को छोड़कर किसी दूसरी जगह चले गये हैं, उनका घात उसके द्वारा नहीं होता, तो भी वह घातक पुरुष उन प्राणियों का अघातक या उनके प्रति हिंसात्मक चित्तवृत्ति न रखने वाला नहीं है, क्योंकि उसकी इच्छा उन प्राणियों के घात की ही है, अर्थात् वह उन्हें भी मारना ही चाहता है, परन्तु वे उस समय वहाँ उपस्थित नहीं हैं, इसलिए नहीं मारे जाते। इसी तरह जो प्राणी देश-काल से दूर के प्राणियों के घात का त्यागी नहीं है, वह उनका भी हिंसक ही है और उसकी चित्तवृत्ति उनके प्रति भी हिंसात्मक ही है। इसलिए पहले जो कहा गया था कि अप्रत्याख्यानी प्राणी समस्त प्राणियों के हिंसक हैं, या सर्वपापों में लिप्त हैं, वह युक्तिसंगत एवं यथार्थ ही है। इस सम्बन्ध में शास्त्रकार ने भगवान् द्वारा प्रतिपादित दो दृष्टान्त प्रस्तुत किये है—एक संज्ञी का, दूसरा असंज्ञी का। उनका आशय यह है कि जिस पुरुष ने एकमात्र पृथ्वीकाय से अपना कार्य करने का निश्चित करके, शेष अन्य प्रकार के प्राणियों के आरम्भ का त्याग कर दिया है, वह पुरुष देशकाल से दूरवर्ती समग्र पृथ्वीकाय का हिंसक ही है, अहिंसक नहीं। उसे पूछने पर वह यही कहता है कि मैं पृथ्वीकाय का आरम्भ करता हूँ और कराता हूँ तथा करने वाले का अनुमोदन करता हूँ, परन्तु वह यह नहीं कह सकता कि मैं पीले, लाल या सफेद पृथ्वीकाय का आरम्भ करता हूँ, शेष पृथ्वीकाय का नहीं; क्योंकि उसने किसी भी पृथ्वीविशेष (नीली, काली आदि) का त्याग (प्रत्याख्यान) नहीं किया है। इसलिए आवश्यकता न होने से या दूरता आदि के कारण वह जिस पृथ्वी का आरम्भ नहीं करता, उसका भी अनारम्भक या अघातक नहीं कहा जा सकता; तथा उस (अवशिष्ट) पृथ्वीकाय के प्रति उसकी चित्तवृत्ति अहिंसात्मक नहीं कही जा सकती, क्योंकि वह हिंसा से निवृत्त नहीं हुआ है। इसी तरह अन्य समस्त काय (जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय एवं त्रसकाय) के प्राणियों की हिंसा का जिसने प्रत्याख्यान (त्याग) नहीं किया है, उसे भी देश-काल से दूरवर्ती प्राणियों की हिंसा करने का अवसर किसी कारणवश नहीं मिला, एतावता उसे उन-उन प्राणियों के प्रति अहिंसक या अघातक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसकी चित्तवृत्ति उनके प्रति हिंसात्मक ही है, मौका मिलने पर उनकी हिंसा कर भी सकता है। इसी प्रकार हिंसा की तरह अन्य पापों के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए, जिसने १८ ही पापों का त्याग नहीं किया है, वह १८ ही पापों का कर्ता समझा जाएगा, चाहे वह उन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पापों को मन, वचन, काया से समझ-बूझकर करे चाहे नासमझी से, अनजाने में करे। यह संज्ञी का दृष्टान्त है।

अब लीजिए असंज्ञी का हाल ! असंज्ञी उन्हें कहते हैं जो जीव सम्यग्ज्ञान, विशिष्ट चेतना तथा द्रव्य मन से रहित हैं। वे जीव सोये हुए, मतवाले या मूर्च्छित आदि के समान होते हैं। पृथ्वी से लेकर वनस्पतिकाय तक के तो समस्त एकेन्द्रिय जीव असंज्ञी कहलाते ही हैं और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय भी असंज्ञी होते हैं परन्तु पंचेन्द्रिय त्रस जीवों में कई असंज्ञी होते हैं, कई नहीं। यद्यपि इन असंज्ञी प्राणियों में तर्क, संज्ञा, बुद्धि, वस्तु की आलोचना करने, पहिचान करने, मनन करने, शब्द का उच्चारण करने, स्वयं करने, कराने या अनुमोदन करने की शक्ति नहीं होती, तथापि ये प्राणी दूसरे प्राणियों के घात करने की योग्यता रखते हैं क्योंकि इन्होंने किसी भी प्राणी का घात न करने का नियम नहीं लिया है, प्रत्याख्यान या त्याग नहीं किया है। यद्यपि इनमें मन-वचन-काय का विशिष्ट व्यापार नहीं होता, तथापि ये प्राणी प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शन शल्य तक १८ ही पापों से युक्त हैं। इस कारण ये प्राणियों को दुःख, शोक, संताप, पीड़ा आदि उत्पन्न करने से विरत नहीं हैं, और प्राणियों को दुःख शोक, संताप आदि उत्पन्न करने से विरत न होने के कारण इन असंज्ञी जीवों को भी पापकर्म का बन्ध होता ही है। इसी तरह जो मनुष्य प्रत्याख्यानी नहीं है, वह चाहे किसी भी अवस्था में हो, सबके प्रति दुष्ट आशय होने के कारण उसे पापकर्म का बन्ध होता ही है। पूर्वोक्त दृष्टान्त के अनुसार जैसे संज्ञी और असंज्ञी दोनों प्रकार के जीवों के देशकाल से दूरवर्ती प्राणियों के प्रति भी दुष्ट आशय होने से कर्मबन्ध होता है, उसी प्रकार प्रत्याख्यानरहित प्राणी को दूरवर्ती प्राणियों के प्रति भी दुष्ट आशय होने से कर्मबन्ध होता ही है।

यहाँ शास्त्रकार ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि संज्ञी मरकर असंज्ञी भी हो जाते हैं और कभी असंज्ञी मरकर संज्ञी भी हो जाते हैं। कभी संज्ञी संज्ञी ही बनते हैं, इसी तरह असंज्ञी भी कभी मरकर पुनः असंज्ञी बन जाते हैं। इसलिए इस सम्बन्ध में जिन लोगों की यह मान्यता है कि "संज्ञी संज्ञी ही होता है, और असंज्ञी असंज्ञी ही होता है" यह युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि ऐसा होने से तो किसी भी जीव को अपने शुभाशुभ कर्म का कोई फल नहीं मिलेगा। नारकी सदा नारकी ही बना रहेगा और देवता सदा देवता ही बने रहेंगे। मगर यह अभीष्ट नहीं है। इसीलिए यहाँ शास्त्रकार स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं—कर्मों की विचित्रता के कारण कभी संज्ञी असंज्ञी और कभी असंज्ञी संज्ञी हो जाते हैं। क्योंकि जीवों की गति कर्माधीन होती है। अतः ऐसा कोई नियम नहीं है कि जो इस जन्म में जैसा है, वह अगले जन्मों में भी वैसा ही रहेगा।

अतः संज्ञी हों या असंज्ञी जिन्होंने पापों का त्याग-प्रत्याख्यान नहीं किया है, वे अशुद्ध आचार वाले हैं, दुष्ट आशय से युक्त हैं और सदा हिंसात्मक चित्तवृत्ति को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धारण करते हैं। प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक के १८ ही प्रकार के पापों के भागी होते हैं। यही कारण है कि तीर्थंकर प्रभु ने ऐसे जीवों को (संज्ञी हों या असंज्ञी) असंयत, अविरत, अप्रत्याख्यानी, पापकर्म से अप्रतिहत, पापक्रियातत्पर, एवं असंवृत कहा हैं। ऐसे जीव एकान्त हिंसावृत्ति वाले, सर्वथा अज्ञानी और सर्वथा सुषुप्त हैं। उनको मन-वचन-काया के प्रयोग करने की कोई सूझ-बूझ नहीं होती, कर्तव्याकर्तव्य का कोई भान नहीं होता, स्वप्न में भी वह जिस पाप को नहीं जानता, अविरतिमान् होने के कारण उस पाप का कर्ता होता है। तात्पर्य यह है कि असंयत एवं अविरत जीव, चाहे संज्ञी हो या असंज्ञी, अवश्य ही पापकर्म करता है, पापकर्म का भाजन होता रहता है, यह जो कहा गया है, वही सत्य है, वही युक्तियुक्त है।

मूल पाठ

चोदए आह—'से किं कुव्वं, किं कारवं, कहं संजयविरयप्पडिहय पच्चक्खायपावकम्मे भवइ ?' आयरिए आह—तत्थ खलु भगवया छज्जीवनिकायहेऊ पण्णत्ता, तं जहा—पुढवीकाइया जाव तसकाइया। से जहाणामए मम अस्सातं दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलूण वा कवालेण वा आतोडिज्जमाणस्स वा जाव उवद्दविज्जमाणस्स वा जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकरं दुक्खं भयं पडिसंवेदेमि, इच्चेवं जाण सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता दंडेण वा जाव कवालेण वा आतोडिज्जमाणे वा हम्ममाणे वा तज्जिज्जमाणे वा तालिज्जमाणे वा जाव उवद्दविज्जमाणे वा जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकरं दुक्खं भयं पडिसंवेदेंति। एवं णच्चा सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता न हंतव्वा जाव ण उद्दवेयव्वा। एस धम्मे धुवे णिइए सासए समिच्च लोगं खेयन्नेहिं पवेदिए। एवं से भिक्खू विरए पाणाइवायाओ जाव मिच्छादंसणसल्लाओ। से भिक्खू णो दंतपक्खालणेणं दंते पक्खालेज्जा, णो अंजणं, णो वमणं, णो धूवणित्तं वि आइत्ते, से भिक्खू अकिरिए अलूसए अकोहे जाव अलोभे उवसंते परिनिव्वुडे। एस खलु भगवया अक्खाए संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे अकिरिए संवुडे एगंतपंडिए भवइ, त्ति बेमि ॥सू० ६७॥

संस्कृत छाया

चोदकः आह—स किं कुर्वन् किं कारयन्, कथं संयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा भवति ? आचार्य आह—तत्र खलु भगवता षड्जीवनिकायहेतवः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा—पृथ्वीकायिकाः यावत् त्रसकायिकाः। तद् यथानम मम असातं दण्डेन वा अस्थ्ना वा मुष्टिना वा लाष्टेन वा कपालेन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वा आतोद्यमानस्य वा यावत् उपद्राव्यमाणस्य वा यावद् रोमोत्खननमात्रमपि हिंसाकृतं दुःखं भयं प्रतिसंवेदयामि, इत्येवं जानीहि सर्वे प्राणाः यावत् सर्वे सत्त्वाः दण्डेन वा यावत् कपालेन वा आतोद्यमानाः वा हन्यमानाः वा तर्ज्यमानाः वा ताड्यमानाः वा यावद् उपद्राव्यमाणाः वा यावद् रोमोत्खननमात्रमपि हिंसाकरं दुःखं भयं प्रतिसंवेदयन्ति । एवं ज्ञात्वा सर्वे प्राणाः यावत् सर्वे सत्त्वाः न हन्तव्याः यावन्नोपद्रावयितव्याः । एष धर्मः ध्रुवः नित्यः शाश्वतः समित्य लोकं खेदज्ञैः प्रवेदितः । एवं स भिक्षुर्विरतः प्राणातिपाततः यावन् मिथ्यादर्शनशल्यतः । स भिक्षुर्नो दन्तप्रक्षालनेन दन्तान् प्रक्षालयेत्, नो अञ्जनं नो वमनं नो धूपनमप्याददीत । स भिक्षुरक्रियः अलूषकः अक्रोधः यावद् अलोभः उपशान्तः परिनिर्वृत्तः । एष खलु भगवता आख्यातः संयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा अक्रियः संवृतः एकान्तपंडितः भवतीति ब्रवीमि ॥ सू० ६७ ॥

अन्वयार्थ

(**चोदए आह**) फिर प्रेरक (प्रश्नकर्ता) प्रश्न करता है—(**से किं कुव्वं किं कारवं कहं संजयविरयप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे भवइ**) मनुष्य क्या करता हुआ, क्या कराता हुआ तथा किस तरह संयत, विरत, तथा पापकर्म का प्रतिघात और प्रत्याख्यान करने वाला होता है ? (**आयरिए आह**) आचार्यश्री कहते हैं—(**तत्थ खलु भगवया छज्जीनिकायहेऊ पण्णत्ता तं जहा—पुढवीइकाइया जाव तसकाइया**) इस विषय में तीर्थंकर भगवान् ने छह प्रकार के प्राणियों के समूह को कारण बताया है । जैसे कि पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक के प्राणियों को कारण कहा है । (**से जहाणामए दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलूण वा कवालेण वा आतोडिज्जमाणस्स वा जाव उवद्दविज्जमाणस्स वा मम जाव लोमोक्खणणमायमवि हिंसाकरं दुक्खं भयं अस्सातं पडिसंवेदेमि**) जैसे डंडा, हड्डी, ढेले अथवा मुक्के या ठीकरे से ताड़न किये जाने पर एवं उपद्रव (हैरान) किये जाने पर, यहाँ तक कि एक रोम उखाड़ने पर मैं हिंसाजनित दुःख और भय तथा असाता का अनुभव करता हूँ । (**इच्चेवं जाण सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता दंडेण वा जाव कवालेण वा आतोडिज्जमाणे वा हम्ममाणे वा तज्जिज्जमाणे वा तालिज्जमाणे वा जाव उवद्दविज्जमाणे वा जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकरं दुक्खं भयं पडिसंवेदेंति**) इसी तरह जानना चाहिए कि सभी प्राणी यावत् सभी सत्त्व, डण्डे आदि से लेकर ठीकरे तक के द्वारा मारने पर एवं उपद्रव करने पर तथा रोम मात्र के उखाड़ने पर हिंसाजनित दुःख और भय का अनुभव करते हैं । (**एवं णच्चा सव्वे पाणा जाव सत्ता ण हंतव्वा जाव ण उद्दवेयव्वा**) ऐसा जानकर सभी प्राणी यावत् सभी सत्त्वों को नहीं मारना चाहिए और न उन पर उपद्रव करना चाहिए । (**एस धम्मे धुवे णिइए सासए समिच्च लोगं खेयन्नेहिं**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पवेदिए) यह (अहिंसा) धर्म ही ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है तथा लोक के स्वभाव को जानकर श्री तीर्थंकरों द्वारा कहा हुआ है। (**एवं से भिक्खू विरए पाणाइवाओ जाव मिच्छादंसणसल्लाओ**) यह जानकर साधु प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शन-शल्य तक अठारह ही पापों से विरत होता है। (**से भिक्खू णो दंतपक्खालणेणं दंते पक्खालेज्जा**) वह साधु दाँतों को साफ करने वाले काष्ठ, दतौन या दन्तमंजन आदि अन्य साधनों से दाँतों को साफ न करे। (**णो अंजणं णो वमणं णो धूवणित्तं वि आइत्ते**) नेत्रों में अंजन (काजल) न लगावे, न ही दवा लेकर वमन करे, और न ही धूप के द्वारा अपने वस्त्रों और केशों को सुगन्धित करे। (**से भिक्खू अकिरिए अलूसए अकोहे जाव अलोभे उवसंते परिनिव्वुडे**) वह साधु सावद्यक्रियारहित, हिंसारहित, कोध, मान, माया और लोभ से रहित, उपशान्त एवं पाप से दूर होकर रहे। (**एस खलु भगवया संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे अकिरिए संवुडे एगंतपंडिए भवइ, त्ति बेमि**) ऐसे त्यागी प्रत्याख्यानी साधक को भगवान् तीर्थंकरदेव ने संयत, विरतियुक्त, पाप-कर्मों का प्रतिघातक एवं प्रत्याख्यान (त्याग) करने वाला, अक्रिय (सावद्यक्रियारहित), संवरयुक्त और एकान्त (सर्वथा) पण्डित (होता है) कहा है, यह मैं कहता हूँ।

व्याख्या

संयत, विरत, पापकर्मप्रत्याख्यानी, कौन और कैसे ?

चतुर्थ अध्ययन के इस अन्तिम सूत्र में शास्त्रकार ने प्रश्नकर्ता (प्रेरक) की वह जिज्ञासा अंकित की है, जो उसने आचार्य के सामने प्रस्तुत की है कि भंते ! मनुष्य क्या करता—कराता हुआ और किस उपाय से संयत, विरत एवं पापकर्म का प्रतिघाती तथा प्रत्याख्यानी होता है ? आशय यह है कि हम उसे कैसे पहिचान सकते हैं, कि यह साधु संयत है, विरत है, प्रत्याख्यानी, पाप-प्रतिघाती है ? तथा वह किन कारणों से ऐसा बन पाता है ?

इसके उत्तर में आचार्यश्री कहते हैं—आयुष्मन् ! तीर्थंकरदेव ने संयम के अनुष्ठान के कारण पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक के प्राणियों को बताया है। जैसे प्रत्याख्यानरहित प्राणियों के लिए उक्त छहों काय के जीव संसार-परिभ्रमणरूपगति के कारण होते हैं, वैसे ही प्रत्याख्यान करने वाले प्राणियों के लिए वे मोक्षगति के कारण होते हैं। प्रत्याख्यानी संयत-विरत साधक का चिन्तन इस प्रकार का होता है—जिस प्रकार कोई व्यक्ति मुझे डण्डों से, हड्डियों से, मुक्कों से, लातों से, ढेलों से, या ठोकरें आदि किसी साधन से मारे-पीटे, सताए, डराए-धमकाए, यहाँ तक कि मेरा एक रोम भी उखाड़े तो उस समय मुझे अत्यन्त कष्ट, भय एवं संताप महसूस होता है, उसी तरह मैं भी अगर उक्त षड्कायिक प्राणियों में से किसी भी प्राणी को उपर्युक्त किसी भी साधन से मारूँगा, पीटूँगा, सताऊँगा, डराऊँ-धमकाऊँगा तो उसे भी दुःख, भय और संताप महसूस होगा। मतलब यह है कि सभी प्राणी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेरी तरह ही उस समय दुःख, भय एवं परिताप का अनुभव करते हैं, यह जानकर मुझे किसी भी प्राणी को न मारना-पीटना चाहिए, न सताना चाहिए, न डराना-धमकाना चाहिए, न उन पर जबर्दस्ती शासन करना चाहिए, न उन्हें गुलाम बनाकर रखना चाहिए, न उनके अन्न-पानी आदि में अन्तराय डालना चाहिए तथा न विष शस्त्र आदि द्वारा मारना चाहिए, यहाँ तक कि किसी प्राणी के प्राणों को मेरे निमित्त से जरा भी कष्ट पहुँचे, ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए।

यह अहिंसाधर्म ही ध्रुव (अटल) है, अपरिवर्तनीय है, नित्य है, शाश्वत है, सदा के लिए है। लोक के स्वभाव एवं स्वरूप को जानकर प्राणियों की पीड़ा को जानने वाले तीर्थंकरों ने यह धर्म बताया है।

इस प्रकार का चिन्तनशील व्यक्ति किसी प्राणी को कष्ट नहीं देता, समस्त जीवों को दुःख देने का वह त्याग करता है, वही पुरुष अहिंसक तथा संयमी होता है।

ऐसा भिक्षु प्राणातिपात (हिंसा) से लेकर मिथ्यादर्शनशल्यपर्यन्त समस्त पापों से विरत होता है। वही संयत, विरत, पापकर्म-प्रतिघाती एवं पापप्रत्याख्यानी कहलाता है।

ऐसे साधु की प्रत्येक चर्या अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, क्षमा, दया, शील, सेवा, सन्तोष आदि से अनुप्राणित होती है। वह शोभा के लिए शरीर के किसी भी अंग का प्रसाधन नहीं करता। उसकी दृष्टि शरीराभिमुखी न होकर आत्माभिमुखी होती है।

उक्त गुणों से सम्पन्न भिक्षु सावद्यक्रियाओं से सदैव दूर रहता है, वह हिंसा, असत्य आदि कुत्सित प्रवृत्तियों से निवृत्त होता है, क्रोधादि कषायों पर विजय पा लेता है, वह उपशान्त एवं परिनिवृत्त (सब पापों से रहित) होता है। ऐसे ही उत्तम साधक को भगवान ने संयत, विरत, पापप्रतिघाती पापप्रत्याख्यानी, अक्रिय, संवृत एवं एकान्त-पण्डित कहा है। श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य से कहते हैं—जो भगवान् ने कहा है, वही मैं कहता हूँ।

इस प्रकार श्री सूत्रकृतांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध का प्रत्याख्यानक्रिया नामक चतुर्थ अध्ययन अमरसुखबोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण हुआ।

॥ प्रत्याख्यान-क्रिया नामक चतुर्थ अध्ययन समाप्त ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पंचम अध्ययन : अनगारश्रुत-आचारश्रुत

अध्ययन का संक्षिप्त परिचय

चतुर्थ अध्ययन की व्याख्या की जा चुकी है। चौथे अध्ययन में संसार-सागर को पार करने के इच्छुक साधक के लिए प्रत्याख्यान करना अनिवार्य बताया है। परन्तु जब तक साधक अनाचार का पूर्णतया त्याग करके सम्यक् आचार में स्थित नहीं होता, तब तक वह पूर्णरूप से प्रत्याख्यान का पालन नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में कहें तो, अनाचार का त्याग करने से ही प्रत्याख्यान निर्दोष एवं शुद्ध हो सकता है। इसलिए अनाचार के त्याग और आचार के पालन का निरूपण करने के लिए यह पंचम आचारश्रुत नामक अध्ययन प्रारम्भ किया जा रहा है। अनाचार का वर्णन करने के कारण इस अध्ययन को कोई-कोई अनाचारश्रुत भी कहते हैं। इस अध्ययन को जानकर साधक आचार और अनाचार का ज्ञाता होकर आचार के पालन और अनाचार के त्याग में निपुण हो सकता है। जो साधक आचार के पालन एवं अनाचार-त्याग में दक्ष होता है, वही कुमार्ग को छोड़कर सुमार्ग पर चलने वाले पथिक की तरह समस्त दोषों से रहित होकर शीघ्र ही अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

जिस आचार का इस अध्ययन में वर्णन है, वह साधुओं का ही आचार है, इसलिए इस अध्ययन का नाम अनगारश्रुत भी है। निर्युक्तिकार के कथनानुसार इस अध्ययन का सार 'अनाचारों का त्याग करना' है। जब तक साधक को आचार का पूरा ज्ञान नहीं होता, तब तक वह उसका सम्यक्तया पालन नहीं कर सकता। अबहुश्रुत साधक को आचार-अनाचार के भेद का पता कैसे लग सकता है? इस प्रकार के मुमुक्षु द्वारा आचार की विराधना होने की संभावना रहती है। अतः आचार की सम्यक् आराधना के लिए साधक को बहुश्रुत होना बहुत जरूरी है।

प्रस्तुत अध्ययन पद्यमय है। इसमें ३३ गाथाएँ है। प्रथम ११ गाथाओं में अमुक प्रकार के एकान्तवाद को अनाचरणीय बताते हुए उसका निषेध किया गया है। इसके पश्चात् लोक-अलोक, जीव-अजीव, धर्म-अधर्म, बन्ध-मोक्ष, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, वेदना, निर्जरा, क्रिया-अक्रिया, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, संसार, सिद्धि-असिद्धि, देवी-देव साधु-असाधु, कल्याण-अकल्याण का निषेध करने वालों की मान्यताओं को अनाचरणीय बताते हुए लोक आदि के अस्तित्व पर श्रद्धा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बरतने एवं तदनुरूप आचरण करने के लिए कहा गया है। अन्तिम कुछ गाथाओं में अनगार को अमुक प्रकार की भाषा न बोलने का उपदेश दिया गया है।

अतः आचारश्रुत के सार्थक नाम के अनुसार इस अध्ययन की प्रथम गाथा इस प्रकार है—

मूल पाठ

आदाय बंभचेरं च, आसुपन्ने इमं वइं।
अस्सिं धम्मे अणायारं, नायरेज्ज कयाइ वि ॥१॥

संस्कृत छाया

आदाय ब्रह्मचर्यं च, आशुप्रज्ञ इदं वचः।
अस्मिन् धर्मे अनाचारं, नाचरेच्च कदापि हि ॥ १ ॥

अन्वयार्थ

(**आसुपन्ने**) आशुप्रज्ञ—सत्-असत् का ज्ञाता साधक (**इमं वइं बंभचेरं च आदाय**) इस अध्ययन के वाक्य तथा ब्रह्मचर्य (आत्मा से सम्बन्धित चर्या) को धारण करके (**अस्सिं धम्मे अणायारं कयाइ वि नायरेज्ज**) इस वीतरागप्ररूपित धर्म में अनाचार का कदापि सेवन न करें।

व्याख्या

आशुप्रज्ञ साधक के लिए अनाचार-सेवन का निषेध

इस शास्त्र के प्रारम्भ में तीर्थंकरदेव ने ज्ञान प्राप्त करने पर जोर दिया है। तथा द्वितीय श्रुतस्कन्ध के चौथे अध्ययन के अन्त में साधक को पण्डित बनना आवश्यक बताया है। अतः इस अध्ययन की प्रथम गाथा द्वारा शास्त्रकार कहते हैं कि साधक इस अध्ययन में उक्त वचनों तथा ब्रह्मचर्य को धारण करने से ही आशुप्रज्ञ—प्रत्युत्पन्नमति हो सकता है, यानी वह शीघ्र ही हिताहित का ज्ञान प्राप्त कर सकता है, पण्डित हो सकता है, अन्यथा नहीं।

प्रश्न होता है, केवल ब्रह्मचर्य के धारण करने यानी जननेन्द्रियसंयम कर लेने से ही कोई कैसे ज्ञान-प्राप्त हो सकता है, या पण्डित बन सकता है? इसके समाधानार्थ वृत्तिकार कहते हैं—ब्रह्मचर्य का अर्थ यहाँ आत्मा से सम्बन्धित चर्या में विचरण करना है, अथवा वीतराग परमात्मा द्वारा प्ररूपित प्रवचनों में रमण करना भी ब्रह्मचर्य है। जैसा कि एक आचार्य ने ब्रह्म का लक्षण किया है—

सत्यं ब्रह्म तपो ब्रह्म, ब्रह्म इन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदया ब्रह्म, एतद्ब्रह्मलक्षणम् ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात्—सत्य ब्रह्म है, तप ब्रह्म है, इन्द्रियनिग्रह ब्रह्म है, सर्व प्राणियों के प्रति दया ब्रह्म है। यह ब्रह्म का लक्षण है।

इस प्रकार ब्रह्म में विचरण करना ब्रह्मचर्य है। अथवा इन ब्रह्मविषयक बातों का वर्णन करने वाला वीतराग परमात्मा (ब्रह्म) द्वारा प्ररूपित जो आगमवचन या प्रवचन है, उसे भी ब्रह्मचर्य कहते हैं। अर्थात् सत्य, तप, जीवदया और सर्वेन्द्रिय-निरोध का वर्णन करने वाला जो जैनेन्द्र प्रवचन है, वह भी ब्रह्मचर्य है। इस जैनेन्द्र प्रवचनरूप ब्रह्मचर्य का स्वीकार करके विवेकी पुरुष कदापि सावद्य अनुष्ठान (अनाचार सेवन) न करे, यह शास्त्रकार का तात्पर्य है।

वह जैनेन्द्र प्रवचनरूप ब्रह्मचर्य सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग का प्रतिबोधक है। इसमें बताये हुए तत्त्वों को जानना, उन पर श्रद्धा करना (मानना) तथा तदनुसार आचरण करना—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, इसके विपरीत अन्य पूर्वापरविरुद्ध दर्शनों, अहिंसादि से विरुद्ध बातों (पदार्थों) को जानना, मानना (उन पर श्रद्धा करना) तथा उन कुमन्तव्यों के अनुसार आचरण करना क्रमशः मिथ्या-दर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र है। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, ये नौ तत्त्व हैं; धर्म, अधर्म, आकाश, काल जीव और पुद्गल, ये छह द्रव्य हैं। द्रव्य नित्यानित्य उभयस्वभावात्मक है अथवा सामान्य-विशेषात्मक है। अनाद्यनन्त चतुर्दशरज्ज्वात्मक जो लोक है, वह तत्त्व है। इस तत्त्व तथा पूर्वोक्त तत्त्वों व द्रव्यों पर यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल, यह पाँच प्रकार का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है; और सामायिक, छेदोपस्थानीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात, यह पाँच प्रकार चारित्र—सम्यक्, चारित्र है; अथवा मूलगुण और उत्तरगुण के भेद से चारित्र अनेक प्रकार का है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को बताने वाला जैनेन्द्र आगम (प्रवचन) ही वस्तुतः ब्रह्मचर्य है। इसे प्राप्त करके साधक को इस धर्म में कदापि मिथ्यादर्शन आदि त्रय अनाचरणीय बातों का सेवन नहीं करना चाहिए, यह शास्त्रकार का आशय है।

सारांश

दुःखरूप संसार का मार्ग असत्य है और मोक्ष का मार्ग सत्य है, इस प्रकार सत्-असत् वस्तु का ज्ञाता बुद्धिमान साधक इस अध्ययन में आगे कहे जाने वाले वचनों को तथा सत्य, तप, जीवदया एवं इन्द्रियनिग्रहरूप ब्रह्मचर्य को ग्रहण करके जिनेन्द्रप्रतिपादित धर्म में स्थित होकर कदापि अनाचार का अर्थात् कुत्सित या निषिद्ध आचार का सेवन न करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पाठ

अणादीयं परिन्नाय, अणवदग्गेति वा पुणो ।
सासयमसासए वा, इइ दिट्ठिं न धारए ॥२॥
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जई ।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं अणायारं तु जाणए ॥३॥

संस्कृत छाया

अनादिकं परिज्ञाय, अनवदग्रमिति वा पुनः ।
शाश्वतमशाश्वतं वा इति दृष्टिं न धारयेत् ॥ २ ॥
एताभ्यां द्वाभ्यां स्थानाभ्यां, व्यवहारो न विद्यते ।
एताभ्यां द्वाभ्यां स्थानाभ्यामनाचारं तु जानीयात् ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ

(**अणादीयं**) विवेकी पुरुष इस जगत को अनादि—आदिरहित, (**वा अणवदग्गेति पुणो**) अथवा जिसका कोई अवदग्र=अन्त न हो, अर्थात् अनन्त (**परिन्नाय**) यह चतुर्दश रज्जूरूप लोक अनादि-अनन्त धर्माधर्मादिरूप है, यह जानकर (**सासयमसासए वा**) यह लोक एकान्तनित्य है या एकान्तअनित्य है, (**इइ दिट्ठिं न धारए**) इस प्रकार की दृष्टि (एकान्त आग्रहमयी बुद्धि) न रखे ॥२॥

(**एएहिं दोहिं ठाणेहिं**) एकान्तनित्य और एकान्तअनित्य इन दोनों एकान्त पक्षों से (**ववहारो ण विज्जई**) शास्त्रीय या लौकिक व्यवहार चल नहीं सकता है, (**एएहिं दोहिं ठाणेहिं तु अणायारं जाणए**) इन दोनों एकान्त पक्षों के आश्रय को अनाचार सेवन जानना चाहिए ॥३॥

व्याख्या

एकान्तनित्यानित्यात्मक पक्ष अव्यवहार्य एवं अनाचरणीय

इन दोनों गाथाओं में शास्त्रकार ने मिथ्यादर्शनरूप अनाचार (अनाचरणीय) का निरूपण किया है तथा एकान्तनित्य अथवा एकान्तअनित्य पक्ष का स्वीकार करना अव्यवहार्य एवं अनाचरणीय बताया है ।

अणादीयं परिन्नाय अणवदग्गेति वा पुणो—अनादिक उसे कहते हैं, जिसकी आदि—प्रथम उत्पत्ति न हो । अनवदग्र उसे कहते हैं—जिसका अवदग्र यानी अन्त न हो, जो अनन्त हो ।

इइ दिट्ठिं न धारए—यह चतुर्दशरज्ज्वात्मक या धर्माधर्मादिमय लोक एकान्त शाश्वत—नित्य है, या एकान्त अशाश्वत—अनित्य है, इस प्रकार की एकान्त एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पक्षमयी दृष्टि न रखे, ऐसी एकान्तबुद्धि या एकपक्षीय अभिप्राय न रखे; अर्थात् कदाग्रह धारण करना उचित नहीं है।

ऐसा क्यों उचित या न्यायसंगत नहीं है? इसके समाधानार्थ तीसरी गाथा में शास्त्रकार स्वयं कहते हैं—**"ववहारो ण विज्जई, अणायारं तु जाणए।"**

इसका आशय यह है कि जगत् में जितने भी पदार्थ हैं, वे कथंचित् नित्य हैं, और कथंचित् अनित्य हैं। कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं जो एकान्तनित्य या एकान्त-अनित्य हो, क्योंकि प्रत्येक वस्तु द्रव्यरूप से नित्य है, परन्तु पर्यायरूप से अनित्य है। ऐसी दशा में कोई भी पदार्थ एकान्तनित्य या एकान्तअनित्य शास्त्रीय या लौकिक दोनों व्यवहारों से विरुद्ध है, वह सिद्ध नहीं होता। इसलिए इस प्रकार किसी भी पदार्थ को एकान्तनित्य या एकान्तअनित्य मानना अनाचार-सेवन करना है। अर्थात् पाँच प्रकार के आचारों में दूसरा आचार दर्शनाचार है, उसका विपरीतरूप से आचरण मिथ्यादर्शनाचाररूप है।

प्रश्न होता है कि एकान्त मान्यता से अनाचार-सेवन कैसे हो जाता है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि आर्हत प्रवचन (आगम) के सिद्धान्तानुसार सभी पदार्थ सामान्य-विशेषरूप उभयात्मक हैं, इसलिए वे सामान्य अंश को लेकर नित्य हैं और विशेष अंश को लेकर अनित्य हैं। अतः सभी पदार्थ नित्य-अनित्यात्मक हैं, ऐसा जानना सम्यग्दर्शनरूप आचार का सेवन है। ऐसी मान्यता युक्तिसंगत होने पर भी अन्यदर्शन वाले इसे स्वीकार नहीं करते, वे किसी एक पक्ष का एकान्तरूप से आश्रयी लेकर किसी पदार्थ को एकान्तनित्य तथा किसी को एकान्तअनित्य कह देते हैं।

सांख्यमतवादी कहते हैं—पदार्थ की न तो उत्पत्ति होती है और न ही विनाश होता है, प्रत्येक पदार्थ स्थिर एक स्वभावरूप कूटस्थनित्य है। यानी सभी पदार्थ एकान्तनित्य हैं; जबकि बौद्धमतवादी समस्त पदार्थों को निरन्वय क्षणभंगुर मानकर एकान्तअनित्य कहते हैं। वास्तव में दोनों मतवादी मिथ्यावादी हैं, क्योंकि दोनों ही एकान्तदृष्टिपरक हैं। जगत् में कोई भी पदार्थ एकान्तनित्य नहीं है। पदार्थ की की उत्पत्ति और विनाश प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। उसकी नवीनता और प्राचीनता (पुरातनता) भी प्रत्यक्ष देखी जाती है। जगत् का व्यवहार भी इसी तरह का है। लोकव्यवहार में कहा जाता है—यह वस्तु नई है, यह पुरानी है एवं यह वस्तु नष्ट हो गई है। अतः लोकव्यवहार में एकान्तनित्यता का व्यवहार भी नहीं देखा जाता। इसके अतिरिक्त यदि आत्मा को उत्पत्तिविनाशरहित सदा एक-सा एकरूप-एकरस रहने वाला कूटस्थनित्य माना जाए तो इसका बन्ध और मोक्ष नहीं हो सकता। फिर साधुदीक्षा ग्रहण करने और शास्त्रोक्त आचार-विचार का पालन करने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। अतः पारलौकिक दृष्टि से भी एकान्तनित्यतावाद युक्तिसंगत एवं शास्त्रसम्मत नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिस तरह एकान्तनित्यतावाद अयुक्त, असम्मत एवं लौकिक--पारलौकिक व्यवहारों से विरुद्ध है, इसी तरह एकान्तअनित्यवाद भी लोकविरुद्ध है। यदि आत्मा आदि समस्त पदार्थ एकान्त क्षणिक, यानी अनित्य हैं तो लोग भविष्य में उपभोग करने के लिए घर, स्त्री, धन-धान्य आदि का संग्रह क्यों करते हैं ? तथा वे बौद्धगण भी बौद्धभिक्षुदीक्षाग्रहण एवं विहार आदि क्यों करते हैं ? क्योंकि जब आत्मा आदि कोई पदार्थ स्थिर है ही नहीं, तब बन्ध और मोक्ष किसका होगा ? किसको साधना या धर्माचरण का फल मिलेगा ? जो धर्माचरण या साधना करने वाला था, वह व्यक्ति तो अनित्य होने के कारण नष्ट हो गया।

अतः इन दोनों ही एकान्तनित्य या एकान्तअनित्य मतपक्षों को मौनीन्द्र प्रवचन से विरुद्ध, लोकव्यवहार से असिद्ध एवं अनाचार (अनाचरणीय) समझना चहिए।

इसलिए "**उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्**" उत्पत्ति, स्थिति (ध्रुवता) और व्ययरूप जो पदार्थ का स्वरूप है, वही ठीक है और जैनदर्शनसम्मत है। एक आचार्य लोकव्यवहार से इसे स्पष्ट करते हुए कहा है—

घट-मौलि-सुवर्णार्थी, नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥

किसी राजकन्या के पास एक सोने का घड़ा था। राजा ने सुनार से उस घड़े को गलवाकर राजकुमार के लिए मुकुट बनवाया। इससे राजकन्या को यह जानकर दुःख हुआ कि मेरा सोने का घड़ा नष्ट हो गया, राजकुमार को बड़ा हर्ष हुआ, क्योंकि उसे सोने का मुकुट मिल गया। और उस राजा को न तो हर्ष ही हुआ और न ही शोक हुआ, क्योंकि उसका सोना तो अवस्था में परिवर्तन होने पर भी ज्यों का त्यों बना रहा। चाहे मुकुट के रूप में रहे, चाहे घड़े के रूप में। यदि पदार्थ एकान्तनित्य ही हो तो राजकन्या को शोक (दुःख) नहीं होना चाहिए और अगर पदार्थ एकान्त अनित्य ही हो तो राजकुमार को हर्ष किस बात का होता ? अतः पदार्थ कथञ्चित् नित्य और कथञ्चित् अनित्य है, यह पक्ष ही सत्य है। ऐसा मानने पर घड़े को नष्ट हुआ जानकर राजकुमारी को दुःख होना और नवीन मुकुट बना यह जानकर राजकुमार को हर्ष होना तथा सोने का सोना ही बने रहना जानकर राजा को मध्यस्थ होना, ये सब बातें बन जाती हैं। अतः एकान्तअनित्यता को व्यवहारविरुद्ध, सिद्धान्त से असम्मत तथा अनाचार समझना चाहिए।

सारांश

समग्र लोक को प्रमाण द्वारा अनादि-अनन्त मानकर, यह शाश्वत ही है, या अशाश्वत ही है, ऐसी एकान्तबुद्धि न रखे। क्योंकि एकान्तनित्य या एकान्तअनित्य इन दोनों पक्षों से शास्त्रीय और लौकिक व्यवहार नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता। अतः एकान्तनित्य या एकान्तअनित्य इन दोनों पक्षों में से किसी भी एक पक्ष का स्वीकार करना अनाचार है। वीतराग सर्वज्ञ के प्रवचन से विरुद्ध है।

मूल पाठ

समुच्छिहिंति सत्थारो, सव्वे पाणा अणेलिसा।
गंठिगा वा भविस्संति, सासयंति व णो वए ॥४॥
एएहिं दोहिं ठाणेहिं ववहारो ण विज्जइ।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं अणायारं तु जाणए ॥५॥

संस्कृत छाया

समुत्छेत्स्यन्ति शास्तारः, सर्वे प्राणाः अनीदृशाः।
ग्रन्थिका वा भविष्यन्ति, शाश्वता इति नो वदेत् ॥ ४ ॥
एताभ्यां द्वाभ्यां स्थानाभ्यां व्यवहारो न विद्यते।
एताभ्यां द्वाभ्यां स्थानाभ्यामनाचारं तु जानीयात् ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ

(**सत्थारो समुच्छिहिंति**) प्रशास्ता—शासनप्रवर्तक अनुशासक तीर्थंकर तथा उनके मत को जानने वाले सभी भव्यजीव उच्छेद को प्राप्त होंगे, अर्थात् कालक्रम से सभी मुक्ति प्राप्त कर लेंगे, सबके मुक्त हो जाने पर जगत् जीवों (भव्यजीवों) से रहित हो जाएगा। अथवा (**सव्वे पाणा अणेलिसा**) सभी जीव परस्पर विसदृश (एक सरीखे नहीं) हैं (**गंठिगा वा भविस्संति**) अथवा सभी प्राणी कर्मबन्धनरूपी ग्रन्थि से बद्ध रहेंगे, (**सासयंति व णो वए**) अथवा सभी जीव शाश्वत—सदा स्थायी, एकरूप रहेंगे, अथवा तीर्थंकर सदैव शाश्वत (स्थायी) रहेंगे, इत्यादि एकान्त वचन नहीं बोलने चाहिए ॥४॥

(**एएहिं दोहिं ठाणेहिं ववहारो ण विज्जइ**) क्योंकि इन दोनों एकान्तमय पक्षों से शास्त्रीय या लौकिक व्यवहार नहीं होता। (**एएहिं दोहिं ठाणेहिं अणायारं तु जाणए**) अतः इन दोनों पक्षों के आश्रय-ग्रहण को अनाचार-सेवन समझना चाहिए ॥५॥

व्याख्या

ये एकान्त वचन अव्यवहार्य एवं अनाचरणीय

इन दोनों गाथाओं में शास्त्रकार ने साधक को मोक्ष और संसार से सम्बन्धित बातों के विषय में एकान्त एकपक्षीय निर्णय देने का निषेध किया है, उसे अव्यवहार्य और अनाचरणीय बताया है।

इस प्रकार के ऊटपटांग एकान्त विधान के कुछ नमूने ये हैं—(१) तीर्थ के प्रवर्तक सर्वज्ञ तीर्थंकर और उनके शासन को मानने वाले भव्यजीव सबके सब एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिन भवोच्छेद (संसार का विनाश) करेंगे या सभी भव्य जीव सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त करेंगे, उस समय यह जगत् समस्त भव्यजीवों से रहित हो जायेगा। क्योंकि काल की आदि और अन्त नहीं है तथा जगत् में नये जीवों की उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए मुक्ति होते-होते जब समस्त भव्यजीव मुक्ति में चले जाएँगे, तो भव्यजीवों का इस जगत् से सर्वथा उच्छेद अवश्य हो जाएगा। नये भव्यजीव उत्पन्न नहीं होते और पुराने सभी मोक्ष में चले जाएँगे फिर भव्यजीव इस संसार में नहीं रहेंगे, इस प्रकार का एकान्त तथा ऊटपटाँग शास्त्रविरुद्ध विधान नहीं करना चाहिए।

(२) इसी प्रकार सभी प्राणी कर्मबन्धन की गाँठों में ही बँधे रहेंगे, सभी जीव परस्पर विसदृश ही हैं, ऐसा एकान्त वचन भी कदापि न कहना चाहिए।

(३) 'तीर्थंकर सदा स्थायी (शाश्वत) ही रहेंगे, उनका कभी क्षय नहीं होगा' ऐसा भी एकान्ततः नहीं कहना चाहिए।

इस प्रकार के एकान्त वचनों के कुछ नमूने देकर शास्त्रकार ने उनके विधान या कथन का निषेध इसलिए किया है कि जैसे भविष्य काल का अन्त नहीं है, इसी प्रकार भव्यजीवों का भी अन्त नहीं है। इसलिए जैसे भविष्य काल का उच्छेद असम्भव है, वैसे ही सम्पूर्ण भव्यजीवों का उच्छेद भी असम्भव है। यदि भव्यजीवों का उच्छेद सम्पूर्णरूपेण मान लिया जाए तो वे अनन्त (गिनती में) नही हो सकते, अतः सम्पूर्ण भव्यजीवों की मुक्ति होने पर उनसे जगत् को खाली बताना युक्तिसंगत नहीं है। इसी प्रकार तीर्थंकरों का भी क्षय बताना अयुक्त है। क्योंकि क्षय का कारण कर्म है। वह सिद्धों में नहीं है तो उनका क्षय किस तरह हो सकता है? साथ ही, भवस्थ केवली भी प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त हैं। अतः उनका भी सम्पूर्ण रूप से इस जगत् में अभाव असम्भव है। वस्तुतः भवस्थ केवली सिद्धि को प्राप्त होते हैं, इस अपेक्षा से वे शाश्वत नहीं हैं, तथा प्रवाह की अपेक्षा से वे सदा रहते हैं, इसलिए शाश्वत भी हैं। अतः भवस्थ केवली कथंचित् शाश्वत और कथंचित् अशाश्वत हैं, यह अनेकान्तयुक्त वचन ही विवेकी साधक को कहना चाहिए। इसी तरह जगत् के समस्त प्राणियों को विसदृश (विलक्षण) कहना भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि सभी प्राणियों का जीव समानरूप से उपयोग वाला, असंख्यप्रदेशी तथा अमूर्त है, इसलिए वे कथंचित् सदृश भी हैं, तथा भिन्न-भिन्न कर्म, गति, जाति, शरीर, अंगोपांग इत्यादि से युक्त होते हैं, इसलिए कथंचित् विसदृश भी हैं। एवं कोई अधिक वीर्यसम्पन्न होते हैं, वे कर्मग्रन्थि का सर्वथा छेदन कर देते हैं, और कोई अल्प-पराक्रमी कर्मग्रन्थिच्छेदन नहीं कर पाते, इसलिए एकान्तरूप से सभी जीवों को कर्म-ग्रन्थि से बद्ध रहना नहीं कहा जा सकता। अतः कोई जीव कर्मग्रन्थि के भेदक और कोई भेदन नहीं करने वाले होते हैं, ऐसा कथन ही शास्त्रसम्मत समझना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सारांश

तीर्थंकर और भव्यजीवों का उच्छेद हो जायेगा अर्थात् कर्मबन्धन से रहित होकर मोक्ष में चले जायेंगे, अथवा तीर्थंकर और भव्यजीव सदैव ही रहेंगे, अर्थात् वे मोक्ष प्राप्त नहीं करेंगे। ऐसा एकान्त कथन नहीं करना चाहिए। इन दोनों एकान्त नित्य और अनित्य पक्षों से शास्त्रीय या लौकिक व्यवहार सम्भव नहीं है। इसलिए इन दोनों एकान्त पक्षों को अनाचार जानना चाहिए।

मूल पाठ

जे केइ खुद्दगा पाणा, अदुवा सन्ति महालया।
सरिसं तेहिं वेरंति, असरिसंती य णो वए ॥६॥
एएहिं दोहिं ठाणेहिं ववहारो ण विज्जइ।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं अणायारं तु जाणए ॥७॥

संस्कृत छाया

ये केचित् क्षुद्रकाः प्राणाः, अथवा सन्ति महालयाः।
सदृशं तेषां वैरमिति, असदृशमिति नो वदेत् ॥ ६ ॥
एताभ्यां द्वाभ्यां स्थानाभ्यां व्यवहारो न विद्यते।
एताभ्यां द्वाभ्यां स्थानाभ्यां अनाचारं तु जानीयात् ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ

(**जे केइ खुद्दगा पाणा**) इस जगत् में जो एकेन्द्रिय आदि क्षुद्र प्राणी हैं, (**अदुवा महालया सन्ति**) अथवा महाकाय हाथी, घोड़े आदि जीव हैं, (**तेहिं वेरं सरिसंति असरिसंति य णो वए**) उन दोनों छोटे या बड़े प्राणियों की हिंसा से दोनों के साथ समान ही वैर होता है, अथवा समान वैर नहीं होता, यह नहीं कहना चाहिए ॥ ६ ॥

(**एएहिं दोहिं ठाणेहिं**) क्योंकि इन दोनों (समान ही वैर होता है, या समान वैर नहीं होता) एकान्तमय वचनों से (**ववहारो ण विज्जइ**) व्यवहार नहीं होता। (**एएहिं दोहिं ठाणेहिं अणायारं तु जाणए**) इसलिए इन दोनों एकान्तमय कथनों को अनाचार-सेवन जानना चाहिए ॥ ७ ॥

व्याख्या

क्षुद्र और महाकाय प्राणी की हिंसा से समान या असमान वैरबन्ध नहीं

इस जगत् में एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जो क्षुद्र प्राणी हैं, तथा जो क्षुद्र (अल्प) काय पंचेन्द्रिय (तंदुलमत्स्य जैसे) जीव हैं, एवं हाथी, घोड़े, मनुष्य आदि जो महाकाय पंचेन्द्रिय प्राणी हैं, उन सबका आत्मा समान प्रदेश वाला है, इसलिए इन अल्पकाय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और महाकाय दोनों प्रकार के जीवों को मारने से एक समान ही कर्मबन्ध (वैरबन्ध) होता है, यह एकान्त वचन नहीं बोलना चाहिए तथा इन प्राणियों की चेतना, ज्ञान, इन्द्रियों, मनों और शरीरों में सदृशता नहीं है, इसलिए इनको मारने से एक-सरीखा कर्मबन्ध (वैरबन्ध) नहीं होता, यह एकान्त कथन भी नहीं करना चाहिए। इस प्रकार इन दोनों एकान्त वचनों के निषेध का अभिप्राय यह है कि उन मारे जाने वाले प्राणियों की कायिक क्षुद्रता और महत्ता ही कर्मबन्ध (वैर) की क्षुद्रता और महत्ता की कारण नहीं है, किन्तु मारने वाले का तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञात-भाव, महावीर्यता और अल्पवीर्यता भी कारण हैं। अतः मारे जाने वाले प्राणी और मारने वाले प्राणी, इन दोनों की विशिष्टता से कर्मबन्ध (वैरबन्ध) में विशेषता पैदा होती है। अतः एक मात्र मारे जाने वाले प्राणी के हिसाब से ही कर्मबन्ध (वैरबन्ध) की न्यूनाधिकता की व्यवस्था करना ठीक नहीं है। इसी दृष्टि से शास्त्रकार ने इन दोनों एकान्त कथनों को अनाचार कहा है।

दूसरी दृष्टि से देखें तो—जीव (आत्मा) नित्य है, इसलिए उसकी हिंसा संभव नहीं है। यही कारण है कि पाँच इन्द्रियाँ आदि के घात को हिंसा कहते हैं। जैसा कि हिंसा का लक्षण बताया जाता है—

पंचेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च,
उच्छ्वासनिःश्वासमथान्यदायुः ।
प्राणाः दशैते भगवद्भिरुक्तास्तेषां,
वियोगीकरणं तु हिंसा ॥

अर्थात्—पाँच इन्द्रियाँ, मनोबल, वचनबल, कायबल, उच्छ्वास, निःश्वास और आयु ये दस प्राण भगवान् ने बताये हैं, उनका वियोग (शरीर से अलग) कर देना, हिंसा है।

यह हिंसा भावों की अपेक्षा से कर्मबन्ध को उत्पन्न करती है। यही कारण है कि रोगी के रोग की निवृत्ति के लिये भलीभाँति चिकित्सा करते हुए वैद्य के हाथ से यदि रोगी की मृत्यु हो जाती है, तो उस वैद्य का उस रोगी के साथ वैरबन्ध नहीं होता। तथा दूसरा मनुष्य जो रस्सी को साँप मानकर उसे पीटता है या काटता है तो उसे कर्मबन्ध अवश्य होता है, क्योंकि उसका भाव दूषित है।

इसलिए शास्त्रकार कहते हैं कि विवेकी पुरुषों को क्षुद्रकाय एवं महाकाय प्राणि-हिंसाजनित कर्मबन्ध के विषय में एकान्त कथन (विधान) न करके यही कहना चाहिए कि वध्य (मारा जाने वाला) और वध करने वाले (घातक) प्राणियों के भावों की अपेक्षा से कर्मबन्ध में कथंचित् सादृश्य होता भी है, कथंचित् नहीं भी होता।

सारांश

प्राणी क्षुद्रकाय हो या महाकाय दोनों की हिंसा से समान कर्म (वैर) बन्ध होता है या समान कर्मबन्ध नहीं होता, ऐसा एकान्त कथन नहीं करना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहिए। दोनों के एकान्त कथन से व्यवहार नहीं चलता और इसलिए यह एकान्त कथन तीर्थंकरों की दृष्टि में अनाचार है।

मूल पाठ

आहाकम्माणि भुंजंति, अण्णमण्णे सकम्मुणा।
उवलित्तेति जाणिज्जा, अणुवलित्तेति वा पुणो ॥८॥
एएहिं दोहिं ठाणेहिं ववहारो ण विज्जइ।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं अणायारं तु जाणए ॥९॥

संस्कृत छाया

आधाकर्माणि भुंजंते, अन्योऽन्यं स्वकर्मणा।
उपलिप्तानिति जानीयादनुपलिप्तानिति वा पुनः ॥ ८ ॥
आभ्यां द्वाभ्यां स्थानाभ्यां व्यवहारो न विद्यते।
आभ्यां द्वाभ्यां स्थानाभ्यां अनाचारं तु जानीयात् ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ

(**आहाकम्माणि भुंजंति**) जो साधु आधाकर्मदोषयुक्त (साधु के लिए षट्-काय का उपमर्दन करके तैयार किये हुए) आहार-पानी का सेवन करते हैं, (**अण्णमण्णे सकम्मुणा उवलित्तेति**) वे परस्पर अपने पापकर्म से उपलिप्त होते हैं (**अणुवलित्तेति वा पुणो**) अथवा वे उपलिप्त नहीं भी होते हैं, (**जाणिज्जा**) ऐसा जानना चाहिए ॥ ८ ॥

(**एएहिं दोहिं ठाणेहिं ववहारो ण विज्जइ**) क्योंकि इन दोनों एकान्त वचनों से व्यवहार नहीं होता, (**एएहिं दोहिं ठाणेहिं अणायारं तु जाणए**) अतः इन दोनों एकान्त वचनों को कहना अनाचार-सेवन जानना चाहिए ॥ ९ ॥

व्याख्या

आधाकर्मदोषी साधु : उपलिप्त या अनुलिप्त ?

मुनि को दान देने के उद्देश्य से जो भी भोजन, पानी, वस्त्र, मकान आदि बनाये जाते हैं, वे आधार्कमिक कहलाते हैं। ऐसे आधाकर्मदोषयुक्त आहार आदि का सेवन करने वाला साधु कर्म से लिप्त होता ही है, ऐसा एकान्त वचन नहीं कहना चाहिए, क्योंकि आधाकर्मी आहार का सेवन भी शास्त्रीय विधि के अनुसार अपवाद-मार्ग में कर्मबन्ध का कारण नहीं होता, मगर शास्त्रीय विधि का उल्लंघन करके आहारादि पर गृद्धि—आसक्ति की दृष्टि से जो आधाकर्मी आहारादि लिया जाता है, वही कर्मबन्ध का कारण होता है। इस सम्बन्ध में आचार्यों का चिन्तन इस प्रकार का है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किञ्चिच्छुद्धं कल्प्यमकल्प्यं वा स्यादकल्प्यमपि कल्प्यम्।
पिण्डः शय्या वस्त्रं पात्रं वा भेषजाद्यं वा ॥

अर्थात्—किसी अवस्थाविशेष में शुद्ध और कल्पनीय भी पिण्ड, शय्या, वस्त्र, पात्र और भेषज आदि अशुद्ध तथा अकल्पनीय हो जाते हैं, और ये ही अशुद्ध एवं अकल्पनीय पिण्ड आदि भी किसी अवस्थाविशेष में शुद्ध एवं कल्पनीय हो जाते हैं। इसी कारण यह भी कहा है—

उत्पद्येत हि सावस्था देशकालामयान् प्रति।
यस्यामकार्यं कार्यं स्यात् कर्म कार्यं च वर्जयेत् ॥

अर्थात्— मनुष्य की कभी ऐसी भी अवस्था हो जाती है, जिसमें न करने योग्य कार्य भी कर्तव्य और करने योग्य कार्य भी अकर्तव्य हो जाता है। अतः किसी देश-विशेष या कालविशेष में अथवा किसी अवस्थाविशेष में शुद्ध आहार न मिलने पर आहार के अभाव में अनर्थ पैदा हो सकता है क्योंकि वैसी दशा में साधु क्षुधा-पिपासा से पीड़ित होने पर ईर्यापथ का शोधन भी भलीभाँति नहीं कर सकता है, तथा उक्त साधु से चलते समय जीवों का उपमर्दन भी संभव है। अगर वह क्षुधा-पिपासा या रोग की पीड़ा से मूर्च्छित होकर गिर पड़े तो त्रस-जीवों की विराधना भी अवश्यम्भावी है। तथा ऐसी स्थिति में यदि वह अकाल में ही काल का ग्रास बन जाये तो संयम या विरति का नाश हो सकता है तथा आर्तध्यान होने पर उसकी दुर्गति भी हो सकती है। इसलिए आगम में स्पष्ट विधान किया है—

सव्वत्थ संजमं संजमाओ अप्पाणमेव रक्खेज्जा :

"साधक को हर हालत में किसी भी मूल्य पर संयम की रक्षा करनी चाहिए। संयम से भी बढ़कर (संयम-पालन के साधनभूत अपने) शरीर की रक्षा करनी चाहिए।" इसलिए आधाकर्मी आहारादि का सेवन पापकर्म का ही कारण है, ऐसा एकान्तरूप से कथन नहीं करना चाहिए तथैव आधाकर्मी आहार आदि के सेवन से पापकर्म का बन्ध होता ही नहीं, ऐसा एकान्त वचन भी नहीं कहना चाहिए। कारण, आधाकर्मी आहार आदि के बनाने में प्रत्यक्ष ही षट्कायिक जीवों की विराधना होती है। अतः षट्कायिक जीवों की विराधना से पापकर्म का बन्ध अनिवार्य है। इसलिए आधाकर्मयुक्त पदार्थों का सेवन पापकर्म न होने का कथन भी अनाचार है। वस्तुतः आधाकर्मी आहारादि-सेवन से कथंचित् पापबन्ध होता है और कथाचित् नहीं भी होता है, यह अनेकान्तात्मक वचन ही जैन-आचार-सम्मत समझना चाहिए।

सारांश

जो साधु आधाकर्मिक आहारादि का सेवन करते हैं, वे पापकर्म से लिप्त होते ही हैं अथवा सर्वथा पापकर्म से लिप्त नहीं होते, ऐसे दोनों प्रकार के एकान्त वचन नहीं कहने चाहिए। क्योंकि इन दोनों एकान्त वचनों से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवहार नहीं हो सकता। अतएव किसी भी एकान्त पक्ष का स्वीकार करना अनाचार समझना चाहिए।

मूल पाठ

जमियं ओरालमाहार, कम्मगं च तहेव य।
सव्वत्थ वीरियं अत्थि, णत्थि सव्वत्थ वीरियं ॥१०॥
एएहिं दोहिं ठाणेहिं ववहारो ण विज्जइ।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं अणायारं तु जाणए ॥११॥

संस्कृत छाया

यदिदमौदारिकमाहारकं कर्मगञ्च तथैव च।
सर्वत्र वीर्यमस्ति, नास्ति सर्वत्र वीर्यम् ॥ १० ॥
एताभ्यां द्वाभ्यां स्थानाभ्यां व्यवहारो न विद्यते।
एताभ्यां द्वाभ्यां स्थानाभ्यामनाचारं तु जानीयात् ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ

(**जमियं**) यह जो प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला (**ओरालं**) औदारिक शरीर है, (**आहारं**) आहारक शरीर है (**च**) और (**कम्मगं**) तथा कार्मण शरीर है (**तहेव य**) 'तथैव च' शब्द से इसी प्रकार वैक्रिय एवं तैजस शरीर हैं। ये पाँचों शरीर (सब) एकान्ततः भिन्न नहीं है (एक ही हैं), अथवा ये एकान्त रूप से भिन्न-भिन्न हैं, ऐसे दोनों एकान्तमय वचन नहीं कहने चाहिए। (**सव्वत्थ वीरियं अत्थि णत्थि सव्वत्थ वीरियं**) एवं सब पदार्थों में सब पदार्थों की शक्ति (वीर्य) मौजूद है, अथवा सब पदार्थों में सब की शक्ति नहीं है, ऐसा एकान्त वचन भी नहीं कहना चाहिए ॥१०॥

(**एएहिं दोहिं ठाणेहिं ववहारो ण विज्जइ**) क्योंकि इन दोनों स्थानों (एकान्त वचनों) से व्यवहार नहीं होता। (**एएहिं दोहिं ठाणेहिं अणायारं तु जाणए**) इसलिए इस प्रकार के दोनों एकान्त पक्षों का आश्रय लेना अनाचार-सेवन समझना चाहिए ॥११॥

व्याख्या

पाँच शरीरों को एकान्त भिन्न अथवा अभिन्न न कहे

जैन सिद्धान्तानुसार शरीर ५ प्रकार के हैं—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण। जो शरीर सर्वप्रत्यक्ष है, उदार-स्थूल पुद्गलों से बना हुआ है वह शरीर औदारिक कहलाता है। यह शरीर उराल अर्थात् निस्सार भी है, इसलिए इसे ओराल भी कहते हैं। औदारिक शरीर मनुष्यों और तिर्यंचों के होता है। आहारक शरीर का स्वरूप यह है कि वह चतुर्दशपूर्वधर मुनियों द्वारा किसी विषय में संशय होने पर बनाया जाता है। 'च' शब्द से वैक्रिय शरीर का भी ग्रहण कर लेना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहिए। वैक्रिय शरीर में विविध रूप बनाने की शक्ति होती है। यह देवों और नारकों को जन्म से ही प्राप्त होता है, मनुष्यों में से किसी को विशेष प्रकार की साधना या तपश्चर्या से ही प्राप्त होता है। औदारिक, वैक्रिय या आहारक इन तीनों शरीरों में से प्रत्येक के साथ तेजस और कार्मण शरीर भी अवश्य होते हैं। कार्मण शरीर का यहाँ ग्रहण किया ही है, और कार्मण के साथ तैजस शरीर का होना अवश्यम्भावी है, क्योंकि ये दोनों सहचारी शरीर हैं। अतः इन पाँचों शरीरों में परस्पर एकत्व की शंका किसी को हो सकती है, इसीलिए शास्त्रकार ने इनमें परस्पर एकत्व के कथन को अनुपयुक्त एवं अनाचार बताया है। आशय यह है कि औदारिक शरीर ही तैजस एवं कार्मण शरीर है तथा वैक्रिय शरीर ही आहारक है, ऐसा एकान्त अभेदात्मक वचन नहीं कहना चाहिए, तथा इन शरीरों में परस्पर भिन्नता ही है ऐसा भी नहीं कहना चाहिए। इस प्रकार इन शरीरों में परस्पर एकान्तअभेद एवं एकान्तभेद के निषेध का कारण यह है कि इन शरीरों के कारणों में भेद है, अतः इनमें एकान्त अभेद नहीं है। जैसे कि औदारिक शरीर के कारण उदार पुद्गल हैं, कार्मण शरीर के कारण कर्म तथा तैजस शरीर के कारण तेज हैं। इसलिए इनके कारणों में भिन्नता होने से इनमें एकान्त अभेद संभव नहीं है। इसी तरह इनमें एकान्ततः भेद (भिन्नता) भी संभव नहीं है। क्योंकि ये सब शरीर एक ही देश और एक ही काल में उपलब्ध होते हैं। गृह-दारादि की तरह भिन्न-भिन्न देश-काल में ये उपलब्ध नहीं होते, तथा सभी शरीर पुद्गल परमाणुओं से निर्मित हैं। अतः इन दोनों बातों को देखते हुए इन शरीरों में कथञ्चिद् भेद और कथञ्चित् अभेद है, यही अनेकान्तात्मक वचन कहना चाहिए। शास्त्रकार कहते हैं—यही अनुभवसिद्ध, निर्दोष व्यावहारिक राजमार्ग है। ऐसी स्थिति में इन्हें एकान्त भिन्न या एकान्त अभिन्न कहना अनाचार-सेवन करना है।

सब में सर्वशक्तियाँ विद्यमान हैं या अविद्यमान ?

इस गाथा में शास्त्रकार ने दूसरी बात यह कही है कि सभी वस्तुओं में सर्व शक्तियाँ विद्यमान हैं, अथवा नहीं हैं, ऐसा एकान्त वचन नहीं कहना चाहिए।

सांख्यमत का कथन है—जगत् के सब पदार्थ प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं, इसलिए प्रकृति ही समस्त पदार्थों का उपादान कारण है। यह 'प्रकृति' एक ही है, इसलिए सभी पदार्थ सर्वात्मक हैं और 'सब पदार्थों में सबकी शक्ति विद्यमान है।' यह एक कथन है। दूसरे मतवादियों का कथन है कि देश, काल और स्वभाव का भेद होने से सभी पदार्थ सबसे भिन्न है एवं सभी पदार्थ अपने-अपने स्वभाव में स्थित हैं तथा उनकी शक्ति भी परस्पर विलक्षण (भिन्न) है इसलिए सब पदार्थों में सबकी शक्ति नहीं है।

ये दोनों एकान्त मान्यताएँ हैं। इन दोनों के अनुसार एकान्त कथन करना उचित नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ इन दोनों प्रकार के एकान्तमय विधि-निषेधात्मक वचनों के कथन का निषेध इसलिए किया गया है कि ये दोनों बातें व्यवहार से विरुद्ध हैं। यह प्रत्यक्ष अनुभव किया जाता है कि पदार्थों की शक्ति एक दूसरे से भिन्न है। इसके अतिरिक्त सुख-दुःख, जीवन-मरण, दूरी-निकटता, सुरूपता-कुरूपता आदि पदार्थों की विचित्रताएँ भी पृथक-पृथक नजर आती हैं। तथा कोई पापी है तो कोई पुण्यवान है, कोई पुण्य-फल भोग रहा है तो कोई पापफल भोग रहा है। इसलिए सभी पदार्थों को सर्वात्मक, सर्वरूप और सभी में सबकी शक्ति का सद्भाव नहीं माना जा सकता। सांख्यमतवादी स्वयं सत्त्व, रज और तम को एक स्वरूप नहीं, भिन्न-भिन्न मानते हैं। सभी पदार्थ यदि सर्वात्मक है तो सत्त्व, रज एवं तम भी परस्पर अभिन्न होने चाहिए। परन्तु सांख्यवादी ऐसा नहीं मानते। दूसरी बात, यदि सभी सर्वात्मक हों तो जन्म-मरण, सुख-दुःख, बन्ध-मोक्ष आदि की लौकिक और शास्त्रीय व्यवस्थाएँ, जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, सिद्ध नहीं होतीं। इस कारण एकान्त अभेदपक्ष यथार्थ नहीं है। एकान्त भेद पक्ष में भी यही दोष आता है।

वस्तुतः सभी पदार्थ सत्ता रखते हैं, सभी ज्ञेय हैं, सभी प्रमेय है, इसलिए सत्ता, ज्ञेयत्व एवं प्रमेयत्वरूप सामान्यधर्म की दृष्टि से सभी पदार्थ कथंचित् एक भी हैं। तथा सबके कार्य, गुण, स्वभाव और नाम आदि भिन्न-भिन्न हैं, इसलिए सभी पदार्थ परस्पर कथंचित् भिन्न भी हैं। इस प्रकार अनेकान्तात्मक वचन कहना ही विवेकी साधक का कर्तव्य है। दोनों एकान्तों का सेवन करना अनाचार है।

सारांश

औदारिक आदि पाँचों शरीर एक देश-काल में उपलब्ध होते हैं, इसलिए परस्पर अभिन्न ही हैं अथवा इन पाँचों के कारणों में भिन्नता होने से ये परस्पर सर्वथा भिन्न ही हैं, ऐसे एकान्त कथन नहीं करने चाहिए। तथा सभी पदार्थों में सबकी शक्ति विद्यमान है, अथवा नहीं है, ऐसा एकान्त वचन कहना भी ठीक नहीं। दोनों एकान्तों से व्यवहार नहीं चलता, इस-लिए सर्वथा भिन्न या अभिन्न कहना अनाचार है।

मूल पाठ

णत्थि लोए अलोए वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि लोए अलोए वा, एवं सन्नं निवेसए ॥१२॥

संस्कृत छाया

नास्ति लोकोऽलोकश्च, नैवं संज्ञां निवेशयेत्।
अस्ति लोकोऽलोको वा, एवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ १२ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ

(**लोए अलोए वा णत्थि**) लोक या अलोक नहीं है, (**णेवं सन्नं निवेसए**) ऐसा ज्ञान नहीं रखना चाहिए। (**लोए अलोए वा अत्थि एवं सन्नं निवेसए**) लोक या अलोक है, ऐसा ज्ञान रखना चाहिए।

व्याख्या

लोक-अलोक के अस्तित्व का यथार्थ ज्ञान

इस गाथा में शास्त्रकार ने लोक-अलोक के सम्बन्ध में जो असत्यता है, उसका निषेध करके सत्यता का प्रतिपादन किया है।

सर्वशून्यतावादी लोक और अलोक दोनों का अस्तित्व नहीं मानते। वे कहते हैं कि स्वप्न, इन्द्रजाल और माया में प्रतीत होने वाले पदार्थ जैसे मिथ्या हैं, वैसे ही अस्वप्नावस्था में प्रतीत होने वाले जगत् के सभी दृश्य मिथ्या हैं। अपने पक्ष की सिद्धि वे इस प्रकार करते हैं—'जगत् में जितने भी दृश्य पदार्थ प्रकाशित हो रहे हैं, वे सभी अपने-अपने अवयवों के द्वारा ही प्रकाशित हो रहे हैं। इसलिए जब तक उनके अवयवों का अस्तित्व सिद्ध न हो जाय, तब तक उनका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। और अवयवों का अस्तित्व सिद्ध होना सम्भव नहीं है, क्योंकि अन्तिम अवयव परमाणु है—यानी अवयवों की धारा परमाणु में जाकर समाप्त होती है। और परमाणु इन्द्रियातीत (इन्द्रियों से अग्राह्य) है, इसलिए उसका अस्तित्व सिद्ध होना सम्भव नहीं है। परमाणु रूप अवयव का अस्तित्व सिद्ध न होने से जगत् के दृश्य पदार्थों का अस्तित्व भी सिद्ध नहीं हो सकता।

यदि जगत् के दृश्य पदार्थ अपने-अपने अवयवों के द्वारा प्रकाशित न मानकर अवयवी के द्वारा प्रकाशित माने जाएँ तो भी उनकी सिद्धि नहीं होती। इस सम्बन्ध में प्रश्न होगा कि वह अवयवी अपने प्रत्येक अवयव में सम्पूर्णरूप से स्थित माना जाएगा या अंशतः स्थित माना जाएगा? यदि उसे प्रत्येक अवयव में सम्पूर्णतः स्थित माना जाएगा तो जितने अवयव हैं, उतने ही अवयवी मानने पड़ेंगे। जो किसी को भी अभीष्ट नहीं है। सभी दार्शनिक एक ही अवयवी मानते हैं। अतः प्रत्येक अवयव में अवयवी की सम्पूर्णतः स्थिति तो नहीं मानी जा सकती। रही बात अंशतः स्थिति की। अवयवी अपने प्रत्येक अवयव में अंशतः स्थित रहे, यह भी सम्भव नहीं है। क्योंकि प्रश्न होता है कि वह अंश क्या है? यदि अवयव ही अंश है तो फिर वही बात आती है, जो अवयव पक्ष में कही गई है। यदि वह अंश अवयवी से पृथक् है, तब फिर पुनः वही प्रश्न उपस्थित होगा कि उस अंश में वह अवयवी सम्पूर्णतः स्थित रहता है या अंशतः? तो पहला प्रश्न फिर खड़ा हो जाता है। अतः इस उत्तर में अनवस्थादोष है। इस प्रकार विचारपूर्वक देखने से किसी भी दृश्य पदार्थ का कोई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नियत स्वरूप सिद्ध नहीं होता। इसलिए स्वप्न, इन्द्रजाल और माया में प्रतीत होने वाले पदार्थों के समान ही जगत् के सभी प्रतीयमान पदार्थ मिथ्या हैं, यह बात सिद्ध होती है। अनुभवी विद्वान् भी कहते हैं—

यथा यथाऽर्थाश्चिन्त्यन्ते विविच्यन्ते तथा तथा।
यद्येतत् स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्?

अर्थात्—"ज्यों-ज्यों गम्भीर दृष्टि से पदार्थों का विचार किया जाता है, त्यों-त्यों वे अपने स्वरूप को बदलते चले जाते हैं, अर्थात्—कभी वे किसी रूप में प्रतीत होते हैं, कभी किसी रूप में। उनका नियत एक रूप प्रतीत नहीं होता। अतः जब पदार्थों का तत्त्व ही ऐसा है, तब हम उन्हें नियतरूप देने वाले कौन हैं?"

निष्कर्ष यह है कि दृश्य पदार्थों का प्रतीयमान रूप मिथ्या है। अतः जब पदार्थों का अस्तित्व (सद्भाव) ही सिद्ध नहीं होता, तब लोक-अलोक आदि का सद्भाव कैसे सिद्ध हो सकता है?

परन्तु सर्वशून्यतावादी नास्तिकों का यह सिद्धान्त भ्रान्तिमूलक है। क्योंकि माया, स्वप्न या इन्द्रजाल में प्रतीत होने वाले पदार्थ सत्य पदार्थ की अपेक्षा से मिथ्या माने जाते हैं, स्वतः नहीं। यदि समस्त पदार्थ ही मिथ्या हैं, तब फिर माया, इन्द्रजाल और स्वप्न की व्यवस्था ही कैसे की जा सकती है? तथा सर्वशून्यतावादी युक्ति के आधार पर ही समस्त पदार्थों को मिथ्या सिद्ध कर सकता है, अन्यथा नहीं। वह युक्ति यदि मिथ्या नहीं है, सत्य है तो उस युक्ति की तरह जगत के समस्त दृश्य पदार्थ भी सत्य क्यों नहीं माने जायँ? और यदि वह युक्ति मिथ्या है तो फिर उस मिथ्या युक्ति से वस्तुतत्त्व की सिद्धि कैसे की जा सकती है? यह नास्तिक को सोचना चाहिए।

जगत् के दृश्य पदार्थ अपने-अपने अवयवों द्वारा प्रकाशित होते हैं या अवयवी के द्वारा? इस तरह दो पक्षों को प्रस्तुत करके नास्तिक ने जो दोनों पक्षों को दूषित करने की चेष्टा की है, वह भी उसका प्रलाप मात्र है। क्योंकि अवयव के साथ अवयवी का कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद है, तथा वे अपनी-अपनी सत्ता से स्वतः प्रकाशित हैं, एवं उनके द्वारा जगत् की समस्त क्रियाएँ की जाती हैं। जैसे आग प्रत्यक्ष जलती हुई, जल ठण्डा करता हुआ, हवा स्पर्श करती हुई प्रत्यक्ष ही अनुभव की जाती है, तथा जगत् के घट-पट आदि समस्त पदार्थ अपना-अपना कार्य करते हुए देखे जाते हैं, अतः उन्हें मिथ्या मानना सर्वथा भ्रम और पागलपन है।

यद्यपि पदार्थों का अन्तिम अवयव परमाणु है, तथापि वह अज्ञेय नहीं है, क्योंकि घटपटादिरूप कार्यों के द्वारा वे अनुमान से ग्रहण किये जाते हैं। तथा अवयवी का ग्रहण तो प्रत्यक्ष ही होता है, उसके लिए अन्य प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं है। वह अवयवी प्रत्येक अवयव में व्याप्त है, इसीलिए किसी वस्तु के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक अंश को देखकर भी उसे जान लेते हैं कि यह अमुक वस्तु है। परन्तु वह अवयवी अपने अवयवों से एकान्त भिन्न है या एकान्त अभिन्न है, यह नहीं मानकर अवयव से वह कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है, यह अनेकान्तात्मक सिद्धान्त ही निर्दोष और सर्वमान्य है। इस प्रकार विद्वानों को लोक-अलोक का अस्तित्व मानकर वे अवश्य हैं, ऐसा मानना चाहिए, परन्तु वे नहीं हैं, ऐसा मानना उचित नहीं है, यही इस गाथा का तात्पर्य है।

सारांश

लोक-अलोक दोनों नहीं हैं, ऐसी मान्यता नहीं रखनी चाहिए, अपितु लोक और अलोक दोनों हैं, यही मान्यता रखनी चाहिए।

मूल पाठ

णत्थि जीवा अजीवा वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि जीवा अजीवा वा, एवं सन्नं निवेसए ॥१३॥
णत्थि धम्मे अधम्मे वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि धम्मे अधम्मे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥१४॥
णत्थि बंधे व मोक्खे वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि बंधे व मोक्खे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥१५॥
णत्थि पुण्णे व पावे वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि पुण्णे व पावे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥१६॥
णत्थि आसवे संवरे वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि आसवे संवरे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥१७॥
णत्थि वेयणा निज्जरा वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि वेयणा निज्जरा वा, एवं सन्नं निवेसए ॥१८॥
णत्थि किरिया अकिरिया वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि किरिया अकिरिया वा, एवं सन्नं निवेसए ॥१९॥

संस्कृत छाया

नास्ति जीवोऽजीवो वा, नैवं संज्ञां निवेशयेत्।
अस्ति जीवोऽजीवो वा, एवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ १३ ॥
नास्ति धर्मोऽधर्मो वा, नैवं संज्ञां निवेशयेत्।
अस्ति धर्मोऽधर्मो वा, एवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ १४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नास्ति बन्धो वा मोक्षो वा, नैवं संज्ञां निवेशयेत् ।
अस्ति बन्धो मोक्षो वेत्येवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ १५ ॥
नास्ति पुण्यं वा पापं वा, नैवं संज्ञां निवेशयेत् ।
अस्ति पुण्यं वा पापं वा, एवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ १६ ॥
नास्त्याश्रवः संवरो वा, नैवं संज्ञां निवेशयेत् ।
अस्त्याश्रवः संवरो वा, एवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ १७ ॥
नास्ति वेदना निर्जरा वा, नैवं संज्ञां निवेशयेत् ।
अस्ति वेदना निर्जरा वा, एवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ १८ ॥
नास्ति क्रिया अक्रिया वा, नैवं संज्ञां निवेशयेत् ।
अस्ति क्रिया अक्रिया वा, एवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ

(**जीवा अजीवा वा णत्थि एवं सन्नं ण निवेसए**) जीव और अजीव पदार्थ नहीं हैं, ऐसी बुद्धि नहीं रखनी चाहिए। (**अत्थि जीवा अजीवा वा एवं सन्नं निवेसए**) किन्तु जीव हैं और अजीव हैं, इस प्रकार की बुद्धि रखनी चाहिए ॥१३॥

(**धम्मे अधम्मे वा णत्थि, एवं सन्नं ण निवेसए**) धर्म-अधर्म नहीं हैं, इस प्रकार की बुद्धि नहीं रखनी चाहिए। (**अत्थि धम्मे अधम्मे वा एवं सन्नं निवेसए**) किन्तु धर्म भी है, अथवा अधर्म भी है, यही बुद्धि रखनी चाहिए ॥१४॥

(**बंधे मोक्खे वा णत्थि एवं सन्नं ण निवेसए**) बन्ध या मोक्ष नहीं है, यह नहीं मानना चाहिए। (**बंधे मोक्खे वा अत्थि एवं सन्नं निवेसए**) किन्तु बन्ध और मोक्ष हैं, यही बात माननी चाहिए ॥१५॥

(**पुण्णे व पावे वा णत्थि एवं सन्नं ण निवेसए**) पुण्य और पाप नहीं है, ऐसी बुद्धि रखना उचित नहीं है, (**पुण्णे व पावे वा अत्थि एवं सन्नं निवेसए**) किन्तु पुण्य भी है और पाप भी है, ऐसी मान्यता रखनी चाहिए ॥१६॥

(**आसवे संवरे वा णत्थि एवं सन्नं ण निवेसए**) आश्रव और संवर नहीं हैं, ऐसी बुद्धि नहीं रखनी चाहिए। (**अत्थि आसवे संवरे वा, एवं सन्नं निवेसए**) किन्तु आश्रव और संवर हैं, ऐसी बुद्धि रखनी उचित है ॥१७॥

(**वेयणा निज्जरा वा णत्थि एवं सन्नं ण निवेसए**) वेदना और निर्जरा नहीं हैं, इस प्रकार की मान्यता रखना ठीक नहीं है, (**वेयणा निज्जरा वा अत्थि एवं सन्नं निवेसए**) किन्तु वेदना और निर्जरा हैं, यह मान्यता रखना ठीक है ॥१८॥

(**किरिया अकिरिया वा णत्थि एवं सन्नं ण निवेसए**) क्रिया और अक्रिया नहीं हैं, ऐसी बुद्धि नहीं रखनी चाहिए। (**किरिया अकिरिया वा अत्थि एवं सन्नं निवेसए**) अपितु क्रिया भी है, अक्रिया भी है, ऐसी बुद्धि रखनी चाहिए ॥१९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

जीव और अजीव के अस्तित्व का यथार्थ ज्ञान

तेरहवीं गाथा में शास्त्रकार ने जीव और अजीव दोनों पदार्थों के अस्तित्व का प्रतिपादन किया गया है।

पंचमहाभूतवादी का कथन है—जीव नामक कोई पदार्थ नहीं है। चलना, फिरना, सोना, जागना, उठना, बैठना, सुनना आदि सभी कार्य शरीर के रूप में परिणत पाँच महाभूतों द्वारा ही किये जाते हैं। क्योंकि चैतन्यरूप गुण शरीर के रूप में परिणत पाँच महाभूतों का ही गुण है। अतः शरीर में चैतन्य गुण को देखकर उसके गुणी अप्रत्यक्ष आत्मा की कल्पना भूल है। यह नास्तिक मत है। आत्माद्वैतवादी (वेदान्ती) कहते हैं—यह समस्त जगत् एक आत्मा (ब्रह्म) का परिणाम है। जो पदार्थ हो चुके हैं, जो हैं और जो होंगे, वे सभी एक आत्मा के कार्य हैं। इस कारण सभी एक आत्मस्वरूप हैं। एक आत्मा से भिन्न दूसरा कोई भी पदार्थ जगत् में नहीं है। चेतन और अचेतन जो कुछ भी पदार्थ दिखाई देते हैं, सभी आत्मस्वरूप हैं। अतः आत्मा से भिन्न जीव और अजीव आदि पदार्थों को मानना भूल है। यह आत्माद्वैतवादियों का मन्तव्य है।

परन्तु जैनदर्शन इन दोनों मतों को अयुक्त बतलाता है। उसका मन्तव्य यह है कि उपयोग लक्षण वाले जीवों का अस्तित्व नहीं है अथवा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, पुद्गल और कालरूप अजीवों का अस्तित्व नहीं है, विवेकी साधकों को इस प्रकार की प्ररूपणा, बुद्धि या मान्यता कदापि नहीं करनी चाहिए। अपितु ये दोनों ही पदार्थ हैं, यही बात माननी और कहनी चाहिए। जीव एक स्वतन्त्र और अनादि पदार्थ है, वह पंचमहाभूतों का कार्य नहीं है। क्योंकि पंचमहाभूत जड़ हैं, उनसे चैतन्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। तथा वे पंचमहाभूत जड़ होने के कारण किसी की प्रेरणा के बिना शरीर के आकार में परिणत भी नहीं हो सकते। एवं वे पंचमहाभूत अगर अपने में अविद्यमान चैतन्य की उत्पत्ति करते हैं, तो वे नित्य नहीं कहे जा सकते। जो वस्तु सदा एक स्वभाव में रहती है, वही नित्य कहलाती है। अतः पहले से विद्यमान चैतन्य की उत्पत्ति पाँच महाभूतों से मानें, तब तो यह एक प्रकार से जीव को ही मान लेना हुआ। क्योंकि वह चैतन्य पहले से विद्यमान होने के कारण नवीन उत्पन्न नहीं हुआ। यह चैतन्यगुण (धर्म) पंचमहाभूतों का नहीं है। यदि चैतन्य पंचमहाभूतों का धर्म होता तो पंचभूतों से निर्मित घट, पट आदि में भी चैतन्य की उपलब्धि होती, मगर घट-पटादि में चैतन्य की उपलब्धि या अनुभूति होती नहीं। अतः पंचमहाभूतवादी नास्तिकों का सिद्धान्त यथार्थ नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जगत में जितने भी प्राणी हैं, वे सभी अपने-अपने जीव का अस्तित्व अनुभव करते हैं। सभी कहते हैं—'मैं हूँ।' कोई भी ऐसा नहीं कहता कि 'मैं नहीं हूँ।' अतः सभी प्राणियों को जीव का मानस-प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्ष सबसे श्रेष्ठ और बड़ा प्रमाण है। अतः प्रत्यक्षसिद्ध जीव के साधन के लिए अनुमान आदि प्रमाणों का प्रयोग करके ग्रन्थ का कलेवर बढ़ाना उचित नहीं है। यह जीव सिद्ध और संसारी भेद से दो प्रकार का है। सभी जीव अलग-अलग और स्वतन्त्र हैं। किसी के साथ किसी जीव का कार्य-कारण भाव नहीं है।

इसी प्रकार वेदान्तियों का मत भी यथार्थ नहीं है। जीव या अजीव सभी पदार्थ यदि एक ही ब्रह्म (आत्मा) या एक ही आत्मा से उत्पन्न होते तो उनमें परस्पर विचित्रता न होती। इसके सिवाय यदि आत्मा एक ही होता तो कोई बद्ध जीव है, कोई मुक्त है, कोई सुखी, कोई दुःखी इत्यादि व्यवस्था जो सभी के अनुभव से सिद्ध है, वह न होती। तथा सभी जीव-अजीव आदि किसी एक ब्रह्म या आत्मा के परिणाम नहीं हैं, क्योंकि इस विषय में कोई प्रमाण भी नहीं है। इस जगत् में घट-पट आदि अचेतन पदार्थ भी अनन्त हैं, वे चेतन रूप आत्मा या ब्रह्म के परिणाम हों, ऐसा सम्भव नहीं है। क्योंकि ऐसा होने पर वे जड़ नहीं, किन्तु चेतन होते। सारे जगत् में एक ही आत्मा मानने पर एक के सुख से दूसरे सुखी और एक के दुःख से दूसरे दुःखी हो जाते, परन्तु ऐसा है नहीं। अतः एक आत्मा को ही परमार्थसत् मानकर शेष समस्त पदार्थों को मिथ्या मानना आत्माद्वैतवादियों का भ्रम है।

अतः जीव और अजीव दोनों का अस्तित्व स्वीकार करना ही युक्तिसंगत है।

धर्म और अधर्म के अस्तित्व का यथार्थ ज्ञान

श्रुत और चारित्र धर्म कहलाते हैं, वे आत्मा के अपने स्वाभाविक परिणाम हैं तथा वे कर्मक्षय के कारण हैं। इसी प्रकार मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच अधर्म कहलाते हैं, ये भी आत्मा के वैभाविक परिणाम है। धर्म और अधर्म, ये दोनों अवश्य हैं, अतः इनका निषेध नहीं करना चाहिए। उपर्युक्त बात सत्य होने पर भी कई दार्शनिक काल, स्वभाव, नियति और ईश्वर आदि को समस्त जगत् की विचित्रता कारण मानकर धर्म-अधर्म को नहीं मानते। परन्तु उनकी यह मान्यता यथार्थ नहीं है। क्योंकि धर्म-अधर्म के बिना वस्तुओं की विचित्रता सम्भव नहीं है। काल, स्वभाव और नियति आदि भी कारण अवश्य हैं, लेकिन वे धर्म-अधर्म के साथ ही कारण होते हैं, इन्हें छोड़कर नहीं। एक ही काल में जन्म धारण करने वाला कोई व्यक्ति काला, कोई गोरा, कोई सुन्दर, कोई बीभत्स, कोई हृष्टपुष्ट, कोई दुर्बल, कोई पूर्णांग, कोई अंगहीन आदि होता है। अतः काल आदि की समानता, समकालिकता होने पर भी धर्म-अधर्म की भिन्नता के कारण ही उक्त विचित्रता होती है। अतः धर्म-अधर्म को न मानना भूल है। इसीलिए आचार्यों ने कहा है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहि कालादिहेतो केवलएहिंतो जायए किंचि ।
इह मुग्गरंधणाइवि ता सव्वे समुदिया हेऊ ॥

संसार का कोई भी कार्य काल आदि से सिद्ध नहीं हो सकता, किन्तु धर्म-अधर्म आदि भी यहाँ कारण रूप से रहते हैं । अतः धर्म-अधर्म के साथ मिले हुए ही काल आदि सबके कारण हैं । अकेले नहीं । मूंग का पकना आदि भी अकेले काल आदि को कारण मानने पर सिद्ध नहीं हो सकते । इसलिए विवेकी साधक यह बात कथमपि स्वीकार नहीं कर सकते कि धर्म-अधर्म का अस्तित्व नहीं है । यही चौदहवीं गाथा का आशय है ।

बंध और मोक्ष का अस्तित्व मानना ही चाहिए

कर्मपुद्गलों का जीव के साथ सम्बद्ध होना बन्ध है, समस्त कर्मों का क्षय होना मोक्ष है । बन्ध नहीं है, और मोक्ष भी नहीं है; इस प्रकार की मान्यता रखना उचित नहीं है । बन्ध और मोक्ष के विषय में अश्रद्धा का परित्याग करके इन दोनों के अस्तित्व पर श्रद्धा रखनी चाहिए । अश्रद्धा अनाचार में गिराने वाली है । अतः जो अपना कल्याण चाहते हैं, उन्हें अश्रद्धा का दूर से ही त्याग कर देना चाहिए ।

कई दार्शनिक बन्ध और मोक्ष का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते वे कहते हैं—आत्मा अमूर्त है, और कर्मपुद्गल मूर्त है । ऐसी स्थिति में अमूर्त आत्मा का मूर्त कर्मपुदगलों के साथ कैसे बन्ध हो सकता हैं ? अमूर्त आकाश का किसी भी मूर्त पदार्थ के साथ लेप नहीं हो सकता, इसी तरह अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्मपुद्गलों का बन्ध नहीं हो सकता । इसलिए आत्मा में बन्ध नहीं मानना चाहिए । कहा भी है—

"वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नः"

वर्षा होने से आकाश भीग नहीं जाता, और न ही धूप पड़ने से वह तपता है । क्योंकि वर्षा और धूप मूर्त हैं, और आकाश अमूर्त है । हाँ, चमड़े पर उनका (वर्षा और धूप का) प्रभाव अवश्य होता है ।

इस प्रकार जब आत्मा अमूर्त होने के कारण बद्ध नहीं हो सकता, तब उसके मोक्ष की बात करना निरर्थक है । क्योंकि बंध का नाश होना ही मोक्ष है । बन्ध के अभाव में मोक्ष सम्भव नहीं है । जब आत्मा के बन्ध ही नहीं है, तब मोक्ष किस बात से या किसका होगा ? अतः बन्ध और मोक्ष दोनों ही मिथ्या हैं, यह किसी का मत है ।

वास्तव में यह सिद्धान्त यथार्थ नहीं है । क्योंकि अमूर्त के साथ मूर्त का सम्बन्ध देखा जाता है । जैसे कि विज्ञान अमूर्त पदार्थ है, मूर्त नहीं है, फिर भी मद्य आदि के सेवन से या ब्राह्मी आदि के सेवन से उसमें अनुपकार या उपकार प्रत्यक्ष देखा जाता है । मद्यादि के पान से उसमें विकृति और ब्राह्मी आदि के पान से उसमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृति (स्पष्टता आदि) पैदा होती साक्षात् देखी जाती है। यह विकृति अमूर्त विज्ञान (ज्ञान) के साथ मूर्त मद्य का सम्बन्ध माने बिना सम्भव नहीं है। अतः जिस प्रकार अमूर्त विज्ञान के साथ मूर्त मद्य आदि का सम्बन्ध होता है, वैसे ही अमूर्त आत्मा का मूर्त कर्म-पुद्गलों के साथ सम्बन्ध होने से बन्ध अवश्य होता है।

दूसरी बात यह है कि संसारी आत्मा अनादिकाल से तैजस और कार्मण शरीरों के साथ बद्ध होने के कारण कथंचित् मूर्त ही है। अर्थात् आत्मा अपने मूलभूत शुद्ध स्वभाव की अपेक्षा से अमूर्त है, ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपोमय है, तथापि तैजस-कार्मण शरीरों के साथ सम्बद्ध होने के कारण कथंचित् मूर्त भी है। इस अपेक्षा से आत्मा का कर्म-पुद्गलों के साथ बन्ध होना निर्बाध है और जब बन्ध होता है, तो उसका अभाव (मोक्ष) भी सम्भव है। अतः बन्ध और मोक्ष नहीं हैं, इस प्रकार की बुद्धि का त्याग करके बन्ध भी है, मोक्ष भी है, इस मान्यता का स्वीकार करना चाहिए। कुतर्क और कदाग्रह करके शास्त्रसम्मत समझ को छोड़ देना उचित नहीं है। यह पन्द्रहवीं गाथा का तात्पर्य है।

पुण्य और पाप को मानना यथार्थ है

"जैनदर्शन के अनुसार शुभकर्मपुद्गल पुण्य है और जो अशुभकर्मपुद्गल हैं, वे पाप हैं।[1] अर्थात् शुभ प्रकृतियों को पुण्य कहते हैं। जिसके कारण यह पुण्यात्मा है, ऐसा व्यवहार होता है, वह भी पुण्य है। जो अशुभ क्रिया से उत्पन्न हो, और अधोगति का कारण हो उसे पाप कहते हैं। किसी-किसी के मतानुसार '**प्रकटं पुण्यं, प्रच्छन्नं पापम्**' जो प्रकट हो, वह पुण्य है और जो प्रच्छन्न हो या छिपाया जाता हो वह पाप है।"

इस प्रकार पुण्य और पाप दोनों का अस्तित्व मानना चाहिए। कई अन्य-तीर्थिक मानते हैं कि इस जगत् में 'पुण्य' नामक का कोई पदार्थ नहीं है, किन्तु एक मात्र पाप ही है। पाप जब कम हो जाता है, तब वह सुख उत्पन्न करता है और जब पाप अधिक हो जाता है, तब वह दुःख उत्पन्न करता है।

कुछ अन्य दार्शनिक इसे न मानकर कहते हैं कि जगत् में पाप नाम का कोई पदार्थ नहीं है, एकमात्र पुण्य ही है। वह पुण्य जब घट जाता है, तब दुःख उत्पन्न करता है और जब वह बढ़ जाता है, तब सुख की उत्पत्ति करता है।

तीसरे मतवादी कहते हैं कि पुण्य या पाप दोनों ही पदार्थ मिथ्या हैं, क्योंकि जगत् की विचित्रता नियति, स्वभाव आदि के कारण से होती है। अतः पाप और पुण्य के द्वारा जगत् की विचित्रता मानना मिथ्या है।

---

१ "पुद्गलकर्म शुभं यत् तत्पुण्यमिति जिनशासने दृष्टम्।
यदशुभमथ तत् पापमिति भवति सर्वज्ञनिर्देशात्॥"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपर्युक्त समस्त मान्यताओं को मिथ्या सिद्ध करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—पुण्य और पाप नहीं हैं, ऐसा नहीं मानना चाहिए, बल्कि यह मानना चाहिए, कि पुण्य भी है और पाप भी है। जो लोग पाप को मानकर पुण्य का खण्डन करते हैं, अथवा जो पुण्य को मानकर पाप का खण्डन करते हैं, वे दोनों ही वस्तुतत्त्व को नहीं जानते, क्योंकि पुण्य और पाप दोनों का परस्पर नियत सम्बन्ध है। जो एक का अस्तित्व स्वीकार करता है, उसे दूसरे का अस्तित्व स्वीकार करना ही होगा। अतः पुण्य के होने पर पाप या पाप के होने पर पुण्य स्वतः सिद्ध हो जाता है। अतः दोनों को ही मानना चाहिए।

जो लोग नियति या स्वभाव से जगत् की विचित्रता मानकर, पुण्य और पाप दोनों का ही खण्डन करते हैं, वे भी भ्रम में हैं, क्योंकि स्वभाव या नियति से जगत् की विचित्रता मानने पर तो जगत् की समस्त क्रियाएँ निरर्थक सिद्ध होंगी। जब सब कुछ नियति या स्वभाव से ही होने लगेगा, तब फिर क्यों कोई शुद्ध क्रिया करेगा या सत्कार्य में प्रवृत्त होगा? अशुभ क्रिया का भी कोई फल प्राप्त नहीं होगा। इस प्रकार शुभाशुभ क्रिया का फल चौपट हो जायेगा। सब कुछ स्वभाव या नियति से ही होने लगेगा। पर ऐसा होता नहीं है। अतः पुण्य और पाप को न मानना उचित नहीं है। यह १६वीं गाथा का निष्कर्ष है।

आश्रव और संवर के अस्तित्व की यथार्थता

जिसके द्वारा आत्मा में कर्म आते हैं—प्रवेश करते हैं, वह आश्रव कहलाता है। वह प्राणातिपात आदि है और उस आश्रव का निरोध करना संवर कहलाता है। ये दोनों पदार्थ भी अवश्यम्भावी हैं, यही मानना अभीष्ट है, शास्त्रसम्मत है। इसके विपरीत इन दोनों के अस्तित्व का निषेध करना उचित नहीं है। किसी मतवादी का कथन है कि यह तथाकथित आश्रव आत्मा से भिन्न है या अभिन्न? यदि वह आत्मा से भिन्न है तो वह आश्रव नहीं हो सकता, क्योंकि जैसे आत्मा से भिन्न घट-पट आदि पदार्थ हैं, वे आत्मा के लिए कुछ नहीं कर सकते, वैसे ही आश्रव आत्मा से सर्वथा भिन्न होने से आत्मा में कर्म का प्रवेश नहीं करा सकता। अथवा जैसे घट-पटादि पदार्थों द्वारा आत्मा में कर्म का प्रवेश नहीं हो सकता, वैसे ही आश्रव द्वारा आत्मा में कर्म का प्रवेश नहीं हो सकेगा। यदि आश्रव को आत्मा से अभिन्न मानें, तो मुक्तात्माओं में भी आश्रव मानना पड़ेगा। आश्रव को आत्मा से अभिन्न मानने पर वह आत्मा का स्वरूप हो जायेगा, ऐसी स्थिति में मुक्तात्माओं में उपयोग की सत्ता की तरह आश्रव की सत्ता भी माननी पड़ेगी, जो अभीष्ट नहीं है। अतः आश्रव की कल्पना मिथ्या है। जब आश्रव का अस्तित्व सिद्ध नहीं हुआ तो उस आश्रव का निरोधरूप संवर भी नहीं माना जा सकता। इस प्रकार आश्रव और संवर दोनों ही नहीं हैं, यह किसी का मत है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस मत का निराकरण करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि आश्रव और संवर दोनों नहीं हैं, यह कथन ठीक नहीं है। बुद्धिमान पुरुष को आश्रव और संवर दोनों का अस्तित्व स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि संसारी आत्मा के साथ आश्रव न तो सर्वथा भिन्न है और न ही अभिन्न। किन्तु कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न मानना ही समीचीन है। इसलिए एकान्त एक पक्ष को लेकर जो आश्रव का खण्डन किया गया है, वह मिथ्या है।

काया, वाणी और मन का जो शुभयोग है, वह पुण्याश्रव है तथा इनका अशुभ-योग पापाश्रव है। तथा काया, वाणी और मन की गुप्ति संवर है। जब तक इस जीव का शरीर में अहंभाव है, तब तक कायिक, वाचिक और मानसिक योगों के साथ उसका सम्बन्ध अवश्य है। इसलिए आश्रव आत्मा से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न मानना ही उचित है। इसी प्रकार संवर का भी अस्तित्व मानना चाहिए।

वेदना और निर्जरा के अस्तित्व का सम्यग्ज्ञान

कर्म के फल का अनुभव करना, भोगना वेदना कहलाती है, और आत्मप्रदेशों से कर्मप्रदेशों का झड़ जाना—क्षय हो जाना निर्जरा है।

ये दोनों पदार्थ नहीं हैं, ऐसी कई मतवादियों की मान्यता है। वे कहते हैं कि सैकड़ों पल्योपम और सागरोपम-काल में भोगने योग्य कर्मों का भी अन्तर्मुहूर्त में ही क्षय हो जाता है। क्योंकि आचार्यों ने कहा है—"अज्ञानी पुरुष अनेक कोटि वर्षों में जिन कर्मों का क्षय करता है, तीन गुप्तियों से युक्त ज्ञानी उन्हें एक उच्छ्वासमात्र में नष्ट कर देता है।" यह शास्त्रसम्मत सिद्धान्त है। तथा क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ साधु शीघ्र ही अपने कर्मों का क्षय कर डालता है। अतः क्रमशः बद्ध कर्मों का अनुभव न होने के कारण वेदना का अभाव सिद्ध होता है। और वेदना का अभाव सिद्ध हो जाने से निर्जरा का अभाव स्वतःसिद्ध है।

विवेकी साधक को इस एकान्त मान्यता को नहीं मानना चाहिए। तपस्या और प्रदेशानुभव के द्वारा कुछ कर्मों का क्षय होता है; सभी कर्मों का नहीं। उनको तो उदीरणा और उदय के द्वारा अनुभव करना ही पड़ता है। वेदना का सद्भाव (अस्तित्व) अवश्य है, अभाव नहीं। इसके लिए आगम का पाठ भी साक्षी है—

"पुव्वि दुचिण्णाणं दुप्पडिक्कंताणं कम्माणं वेइत्ता मोक्खो, णत्थि अवेइत्ता"

अर्थात् पहले अपने द्वारा किये गये दुष्कर्मों (पापकर्मों), जो कि अत्यन्त दुष्कर (दुष्प्रतीकार्य) कर्म हैं, उनका वेदन (फलभोग) करके ही मोक्ष होता है, अन्यथा नहीं होता। इस प्रकार वेदना की सिद्धि होने पर निर्जरा की सिद्धि तो अपने आप हो ही गई। इसलिए वेदना और निर्जरा दोनों का सद्भाव मानना अत्यावश्यक है। विवेकी साधक को वेदना और निर्जरा नहीं है, यह नहीं मानना चाहिए। यहीं १८वीं गाथा का आशय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रिया और अक्रिया दोनों का अस्तित्व मानना

गमन, आगमन, परिस्पन्दन आदि व्यापार को क्रिया कहते हैं, और उसके अभाव को अक्रिया। इन दोनों का अस्तित्व अवश्य है। अतः इन दोनों के अस्तित्व से इन्कार करना मिथ्या है।

सांख्यमतवादी आत्मा को आकाश के समान व्यापक मानकर उसमें क्रिया का अस्तित्व नहीं मानते। वे आत्मा (पुरुष) को निष्क्रिय कहते हैं।

बौद्धमतवादी समस्त पदार्थों को क्षणिक मानकर उनमें उत्पत्ति के सिवाय अन्य किसी क्रिया को नहीं मानते। उनके ही शब्दों में देखिए—

भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते।

अर्थात्—पदार्थों की जो उत्पत्ति है, वही उनकी क्रिया है, और वही उनका कर्तृत्व है। उनके मत में सभी पदार्थ प्रतिक्षण अवस्थान्तरित होते रहते हैं, इसलिए उनमें अक्रिया यानी क्रियारहित होना भी सम्भव नहीं। वास्तव में ये दोनों ही मत युक्तिसंगत नहीं हैं। क्योंकि आत्मा को आकाश की तरह व्यापक और निष्क्रिय मानने पर बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था नहीं हो सकती। एवं वह (आत्मा) सुख-दुःख का भोक्ता भी सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए आत्मा को आकाशवत् सर्वव्यापक मान कर उसमें क्रिया का अभाव मानना अयुक्त है।

इसी प्रकार समस्त पदार्थों को विरन्वय क्षणभंगुर मानकर उत्पत्ति के सिवाय उनमें अन्य क्रियाओं का अभाव मानना भी युक्तिविरुद्ध है, क्योंकि ऐसा मानने पर विश्व की दूसरी क्रियाएँ जो प्रत्यक्ष अनुभव की जा रही हैं, उनका कर्ता कौन होगा? तथा आत्मा में क्रिया का सर्वथा अभाव मानने पर बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था नहीं होगी। अतः बुद्धिमान व्यक्ति को क्रिया और अक्रिया दोनों का अस्तित्व मानना चाहिए। यही १९वीं गाथा का निष्कर्ष है।

सारांश

१३ से १९वीं गाथा तक में शास्त्रकार ने यह स्पष्ट संकेत कर दिया है कि जीव-अजीव, धर्म-अधर्म, बन्ध-मोक्ष, पुण्य-पाप, आश्रव-संवर, वेदना-निर्जरा, क्रिया-अक्रिया आदि १४ बातों के अस्तित्व से इन्कार करने की मान्यता ठीक नहीं है, इन १४ बातों के अस्तित्व का स्वीकार करना ही युक्तियुक्त मान्यता है। इन्हीं के स्वीकार से साधक अपने हिताहित का विचार करके आत्महित में संलग्न होता है।

मूल पाठ

णत्थि कोहे व माणे वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि कोहे व माणे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥२०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णत्थि माया व लोभे वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि माया व लोभे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥२१॥
णत्थि पेज्जे व दोसे वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि पेज्जे व दोसे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥२२॥

संस्कृत छाया

नास्ति क्रोधश्च मानो वा, नैवं संज्ञां निवेशयेत्।
अस्ति क्रोधश्च मानं वा, एवं संज्ञा निवेशयेत् ॥ २० ॥
नास्ति माया वा लोभो वा, नैवं संज्ञां निवेशयेत्।
अस्ति मायां वा लोभो वा, एवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ २१ ॥
नास्ति प्रेम वा द्वेषो वा, नैवं संज्ञां निवेशयेत्।
अस्ति प्रेम वा द्वेषो वा, एवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ

(**कोहे व माणे वा णत्थि एवं सन्नं न निवेसए**) क्रोध और मान नहीं हैं, ऐसी मान्यता नहीं रखनी चाहिए। (**कोहे व माणे वा अत्थि, एवं सन्नं निवेसए**) किन्तु क्रोध और मान हैं, ऐसी मान्यता रखनी चाहिए ॥ २० ॥

(**माया व लोभे वा णत्थि एवं सन्नं न निवेसए**) माया और लोभ नहीं हैं, ऐसी बुद्धि नहीं रखनी चाहिए, (**माया व लोभे वा अत्थि एवं सन्नं निवेसए**) लेकिन माया और लोभ हैं, ऐसी बुद्धि रखनी चाहिए ॥ २१ ॥

(**पेज्जे दोसे वा णत्थि एवं सन्नं न निवेसए**) राग और द्वेष नहीं हैं, ऐसी विचारणा नहीं रखनी चाहिए, (**पेज्जे व दोसे वा अत्थि एवं सन्नं निवेसए**) किन्तु राग और द्वेष होते हैं, ऐसी बुद्धि रखनी चाहिए।

व्याख्या

क्रोध, मान, माया, लोभ, राग और द्वेष के अस्तित्व का यथार्थ ज्ञान

इन तीन गाथाओं में क्रोधादि ६ के अस्तित्व एवं नास्तित्व पर विचार किया गया है। साधक के जीवन में क्रोधादि चुपके से प्रविष्ट हो जाएँ तो बहुत बड़ा अनर्थ पैदा कर देते हैं, जन्म-मरण का चक्र बढ़ा देते हैं, अतः साधक अगर इनके अस्तित्व से इन्कार करके इनसे बेखबर रहेगा तो उसकी साधना ही चौपट हो जायेगी। इसी दृष्टि से शास्त्रकार ने कहा है—क्रोधमानादि हैं और वे साधक-जीवन में अनर्थ पैदा करते हैं, यह मानकर ही साधक को सावधान होकर चलना चाहिए।

अपने या दूसरे पर अप्रीति करना क्रोध है। गर्व करना मान कहलाता है। कुछ लोगों का कहना है कि क्रोध और मान का कोई अस्तित्व नहीं है। आत्मा अपने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आप में इन क्रोधादि से रहित, शुद्ध है। ये आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। कई कहते हैं—क्रोध मान से भिन्न नहीं है, बल्कि वह मान का ही अंश है। इसीलिए तो अभिमानी पुरुषों में क्रोध का उदय देखा जाता है, तथा क्षपक श्रेणी में क्रोध का अलग से क्षपण (नष्ट) करना नहीं माना जाता, इसलिए क्रोध आत्मा का धर्म नहीं है, क्योंकि वह सिद्ध (मुक्त) आत्माओं में नहीं पाया जाता। तथा वह कर्म का भी धर्म (स्वभाव) नहीं है, क्योंकि कर्म का धर्म होने पर दूसरे कषायों के उदय के साथ-साथ इसका भी उदय होना चाहिए, एवं कर्म घट के समान अमूर्त है, इसलिए यदि क्रोध कर्मस्वरूप हो तो उसकी उपलब्धि भी स्वतन्त्र आकार में होनी चाहिए। परन्तु ये सब नहीं होते। अतः क्रोध न तो आत्मा का धर्म है और न कर्म का। आत्मा और कर्म का धर्म न होकर यदि क्रोध किसी दूसरे पदार्थ का धर्म हो, तब तो उससे आत्मा की कोई हानि नहीं है। अतः क्रोध का कोई अस्तित्व नहीं है।

उपर्युक्त मन्तव्य यथार्थ नहीं है। क्योंकि क्रोध कषायरूप कर्म के उदय होने पर मनुष्य अपने दाँतों से ओठों को काटने लगता है, भोंहें टेढ़ी करके भुँह भयंकर बना लेता है, मुख लाल-लाल हो जाता है, सिर से पसीने की बूंदें भी टपकने लगती हैं। क्रोध का यह लक्षण प्रत्यक्ष देखा जाता है। अतः क्रोध का न मानना प्रत्यक्ष-विरुद्ध है। क्रोध मान का अंश है, यह बात भी गलत है। क्योंकि वह मान का कार्य नहीं करता मान तो दूसरे कारण से उत्पन्न होता है। क्रोध आत्मा और कर्म दोनों का ही धर्म है, किसी एक का धर्म मानकर जो दोष बताये गये हैं, वे ठीक नहीं हैं। इस प्रकार क्रोध आदि की सत्ता स्पष्ट सिद्ध होने पर भी उन्हें न मानना अज्ञान का फल है। मान भी प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है, उसे न मानना भूल है। दोनों का अस्तित्व मानना विवेकी पुरुषों का कर्त्तव्य है। कोध और मान के चार-चार भेद हैं—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानीय, प्रत्याख्यानीय और संज्वलन।

क्रोध और मान की तरह कई लोग माया और लोभ को भी नहीं मानते, वे अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिए पूर्वोक्त दलीलें देते हैं, उनका खण्डन भी पूर्वोक्त रीति से समझ लेना चाहिए। माया कपट को और लोभ वितृष्णा को कहते हैं।

अपने धन-स्त्री-पुत्र आदि पदार्थों के प्रति मनुष्यों की जो प्रीति होती है, उसे राग या प्रेम कहते हैं। उसके दो अंग हैं,—माया और लोभ। अपनी इष्ट वस्तु पर आघात पहुँचाने वाले पुरुष के चित्त में अप्रीति होना द्वेष है। इसके भी दो अंग हैं—क्रोध और मान। इस प्रकार माया और लोभ दोनों के समुदाय को राग और क्रोध एवं मान दोनों के समुदाय को द्वेष कहते हैं। इस सम्बन्ध में किसी का मन्तव्य है कि माया और लोभ तो अवश्य हैं, पर इनका समुदाय राग कोई वस्तु नहीं है, इसी प्रकार मान और क्रोध तो अवश्य हैं, पर इनका समुदाय जो द्वेष है, वह कोई वस्तु नहीं है। क्योंकि समुदाय अवयवों से कोई अलग पदार्थ नहीं हैं। यदि अलग पदार्थ माना जाय तो घटपटादि की तरह अवयवों से अलग उसकी उपलब्धि होनी चाहिए परन्तु इस प्रकार उपलब्धि नहीं है। इसलिए समुदाय या अवयवी कोई वस्तु नहीं है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः राग और द्वेष कोई पदार्थ नहीं हैं, ऐसा कुछ दार्शनिक कहते हैं। वस्तुतः यह मान्यता यथार्थ नहीं है। क्योंकि अवयवी या समुदाय अवयवों से कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न है। ऐसा न मानने से घटपटादि पदार्थों में जो एकत्व का व्यवहार होता है, वह किसी तरह भी नहीं हो सकता, क्योंकि अवयव अनेक हैं, एक नहीं है। अतः विवेकी पुरुष को क्रोध, मान, माया, लोभ, राग और द्वेष का अस्तित्व अवश्य मानना चाहिए, यही इन गाथाओं का तात्पर्य है।

मूल पाठ

णत्थि चाउरंते संसारे, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि चाउरंते संसारे, एवं सन्नं निवेसए॥ २३॥
णत्थि देवो व देवी वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि देवो व देवी वा, एवं सन्नं निवेसए॥ २४॥
णत्थि सिद्धी असिद्धी वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि सिद्धी असिद्धी वा, एवं सन्नं निवेसए॥ २५॥
णत्थि सिद्धी नियं ठाणं, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि सिद्धी नियं ठाणं, एवं सन्नं निवेसए॥ २६॥
णत्थि साहू असाहू वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि साहू असाहू वा, एवं सन्न निवेसए॥ २७॥
णत्थि कल्लाण पावे वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि कल्लाण पावे वा, एवं सन्नं निवेसए॥ २८॥

संस्कृत छाया

नास्ति चातुरन्तः संसारो, नैवं संज्ञां निवेशयेत्।
अस्ति चातुरन्तः संसारः, एवं संज्ञां निवेशयेत्॥ २३॥
नास्ति देवो वा देवी वा, नैवं संज्ञां निवेशयेत्।
नास्ति देवो वा देवी वा, एवं संज्ञां निवेशयेत्॥ २४॥
नास्ति सिद्धिरसिद्धिर्वा, नैवं संज्ञां निवेशयेत्।
अस्ति सिद्धिरसिद्धिर्वा, एवं संज्ञां निवेशयेत्॥ २५॥
नास्ति सिद्धिर्निजं स्थानम्, नैवं संज्ञां निवेशयेत्।
अस्ति सिद्धिर्निजं स्थानं, एवं संज्ञां निवेशयेत्॥ २६॥
नास्ति साधुरसाधुर्वा, नैवं संज्ञां निवेशयेत्।
अस्ति साधुरसाधुर्वा, एवं संज्ञां निवेशयेत्॥ २७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नास्ति कल्याणः पापो वा, नैवं संज्ञां निवेशयेत् ।
अस्ति कल्याणः पापो वा, एवं संज्ञां निवेशयेत् ।। २८ ।।

अन्वयार्थ

(**चाउरंते संसारे णत्थि एवं सन्नं न निवेसए**) चार गति वाला संसार नहीं है, ऐसी बुद्धि नहीं रखनी चाहिए, (**चाउरंते संसारे अत्थि एवं सन्नं निवेसए**) किन्तु चार गति वाला संसार है, यही विचार रखना चाहिए ।। २३ ।।

(**देवो वा देवी वा णत्थि एवं सन्नं न निवेसए**) देव या देवी नहीं हैं, ऐसी मान्यता नहीं रखनी चाहिए, किन्तु (**देवो वा देवी वा अत्थि एवं सन्नं निवेसए**) देव और देवी हैं, यही बात सत्य मानना चाहिए ।। २४ ।।

(**सिद्धी असिद्धी वा णत्थि एवं सन्नं न निवेसए**) सिद्धि या असिद्धि नहीं है, यह ज्ञान नहीं रखना चाहिए, (**सिद्धी असिद्धी वा अत्थि एवं सन्नं निवेसए**) किन्तु सिद्धि या असिद्धि हैं, यही बुद्धि रखनी चाहिए ।। २५ ।।

(**सिद्धी नियं ठाणं णत्थि एवं सन्नं न निवेसए**) सिद्धि जीव का निज स्थान नहीं है, ऐसा नहीं मानना चाहिए । इसके विपरीत (**सिद्धी नियं ठाणं अत्थि एवं सन्नं निवेसए**) किन्तु सिद्धि जीव का निजस्थान है, यही सिद्धान्त मानना चाहिए ।। २६ ।।

(**साहू असाहू वा णत्थि एवं सन्नं न निवेसए**) साधु और असाधु नहीं है, ऐसा नहीं मानना चाहिए, (**साहू असाहू वा अत्थि एवं सन्नं निवेसए**) किन्तु साधु और असाधु हैं, यही सिद्धान्त मानना चाहिए ।। २७ ।।

(**कल्लाण पावे वा णत्थि एवं सन्नं न निवेसए**) कल्याणवान् या पापी नहीं हैं, ऐसा नहीं मानना चाहिए, (**कल्लाण पावे वा अत्थि एवं सन्नं निवेसए**) किन्तु कल्याण-वान् भी हैं और पापी भी है, यही बात माननी चाहिए ।। २८ ।।

व्याख्या

चातुर्गतिक संसार है, यही विचार यथार्थ है

२३वीं गाथा में चार गति वाला संसार है या नहीं ? इस सम्बन्ध में सर्वज्ञ भगवान की मान्यता दी गई है ।

वास्तविक मान्यता यह है कि यह संसार चार गतियों वाला है । नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव, ये चार गतियाँ, इस संसार की मानी गई हैं । परन्तु कई मतवादी कहते हैं—यह संसार कर्मबन्धनरूप है तथा समस्त जीवों को एकमात्र दुःख देने वाला है । इसलिए यह एक ही प्रकार का है । तथा कोई कहते हैं—इस जगत् में मनुष्य और तिर्यञ्च ये दो ही प्रकार के प्राणी दृष्टिगोचर होते हैं, देव और नारक नहीं पाए जाते । इसलिए संसार दो ही गति वाला है । और इन दो गतियों में ही सुख-दुःख की उत्कृष्टता पाई जाती है । अतः संसार में दो ही गति माननी चाहिए, चार नहीं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से सोचें तो यह संसार अनेकविध है, चतुर्विध नहीं। अतः संसार को चतुर्विध मानना भूल है। यह किसी का मत है। इन सब मान्यताओं का निराकरण करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—**'अत्थि चाउरंते संसारे···।'** अर्थात् संसार चार गति वाला है, यही मानना चाहिए। चार गति वाला नहीं है, ऐसी मान्यता नहीं रखनी चाहिए।

यद्यपि नारक और देव हम जैसे परोक्षज्ञानियों को प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं होते, तथापि अनुमान और आगम प्रमाण से उनकी सिद्धि और पुष्टि होती है। देव उत्कृष्ट पुण्यफल के भोक्ता और नारक निकृष्ट पापफल के भोक्ता होते हैं। सर्वज्ञ-प्रतिपादित आगम भी देवों और नारकों के अस्तित्व विधान करता है।

अनुमान प्रमाण भी इसी प्रकार है—इस जगत् में पाप और पुण्य का मध्यम फल भोगने वाले तिर्यञ्च और मनुष्य प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि पाप और पुण्य के उत्कृष्ट फल भोगने वाले भी कोई अवश्य हैं। जो पाप के उत्कृष्ट फल भोगने वाले हैं, वे नारकी हैं और जो पुण्य के उत्कृष्ट फल भोगने वाले हैं, वे देव हैं। तथा सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र एवं तारा आदि ज्योतिषी देव तो प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। ग्रहों के द्वारा पीड़ा और वरदान आदि प्राप्त करना भी देवों के अस्तित्व में प्रमाण है। अतः देव और नारकीयों को न मानकर तिर्यञ्च और मनुष्यरूप दो ही गति मानना अयुक्त है। पर्यायनय की अपेक्षा से संसार को अनेक प्रकार का मानना भी ठीक नहीं है। क्योंकि नरक की ७ भूमियों में रहने वाले नारक जीव सबके सब एक ही नरकगति में समाविष्ट हो जाते हैं तथा पृथ्वीकाय आदि स्थावर तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च, कुल मिलाकर ६२ लाख जीवयोनि वाले हैं, वे सभी एक ही तिर्यञ्चगति में समाविष्ट हो जाते हैं। क्योंकि उनका सामान्य धर्म तिर्यञ्चपन एक है। तथा कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज, अन्तर्द्वीपज और संमूर्च्छनरूप भेदों को मिलाकर समस्त मनुष्य एक ही प्रकार के हैं। इसी तरह भुवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क एवं वैमानिक ये चारों प्रकार के देव भिन्न-भिन्न होते हुए भी सबका देवरूप से ग्रहण हो जाता है। इसलिए वे भी एक ही हैं। इस तरह सामान्य-विशेषरूप का आश्रय लेकर संसार को चार प्रकार का कहा गया है, उसे ही सत्य समझना चाहिए। संसार विचित्र है, इसलिए एक प्रकार का नहीं है। तथा नारकी आदि सभी जीव अपनी-अपनी जाति का उल्लंघन नहीं करते। इसलिए संसार अनेक प्रकार का भी नहीं है। संसार है, इसलिए मोक्ष भी है। क्योंकि समस्त पदार्थों का प्रतिपक्ष अवश्य होता है। इसलिए चातुर्गतिक संसार मानना ही युक्तियुक्त है।

सिद्धि, असिद्धि और सिद्धिस्थान का निश्चय

२५वीं गाथा में सूत्रकार ने सिद्धि और असिद्धि का निर्णय किया है, तथा २६वीं गाथा में सिद्धि जीव का अपना स्थान है, इस मान्यता का समर्थन किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धि का अर्थ है—समस्त कर्मों का क्षय हो जाने पर अनन्तज्ञान-दर्शन और सुखरूप आत्मस्वरूप की उपलब्धि हो जाना। इसे मोक्ष या मुक्ति भी कहते हैं। सिद्धि से जो विपरीत हो, वह असिद्धि है। अर्थात्—शुद्धस्वरूप की उपलब्धि न होना और संसार में भ्रमण करना। असिद्धि संसारस्वरूप है। सिद्धि और असिद्धि दोनों ही नहीं हैं, ऐसा विचार भी नहीं करना चाहिए, अपितु यही विचार करना चाहिए कि सिद्धि भी है और असिद्धि भी है। असिद्धि अर्थात् संसार के स्वरूप का वर्णन २३वीं गाथा में किया गया है। जब असिद्धि सत्य है, तो उससे विपरीत समस्त कर्म-क्षयरूप सिद्धि भी सत्य है। क्योंकि सभी पदार्थों का प्रतिपक्ष अवश्य होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग की आराधना करने से समस्त कर्मों का क्षय होकर जीव को सिद्धि की प्राप्ति होती है। किसी पुरुष का किसी समय संचित किया हुआ कर्मसमुदाय क्षीण हो जाता है, यह प्रत्यक्ष देखा जाता है, क्योंकि वह समुदाय है। जो-जो समुदाय होता है उसका कभी न कभी क्षय अवश्य होता है; जैसे घटसमूदाय का। तथा पीड़ा और उपशम के द्वारा कर्मों का अंशतः (देश से) क्षय होना प्रत्यक्ष देखा जाता है, इससे सिद्ध होता है कि समस्त कर्मों का क्षय भी किसी जीव का अवश्य होता है। इसलिए विद्वानों ने कहा है—

दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषात्यिशायिनी।
क्वचित् यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः।

जैसे मल को नष्ट करने के कारण मिलने पर बाह्य और आभ्यन्तर मल का सर्वनाश हो जाता है, इसी तरह पुरुष (आत्मा) के रागादि दोषों और आवरणों का भी अत्यन्त क्षय हो जाता है। ऐसा पुरुष समस्त कर्मों के क्षय होने से सिद्धि को प्राप्त करता है और उसी को सर्वविषयक ज्ञान होकर सर्वज्ञता प्राप्त होती है। वस्तुतः देखा जाय तो जीव में स्वाभाविक ही सर्वज्ञता रही हुई है। वह आवरण से ढकी हुई है। उस आवरण के सर्वथा क्षय हो जाने पर सर्वज्ञता को कौन रोक सकता है? वह अपने आप ही हो जाती है। वह सर्वज्ञ पुरुष सिद्धि या मुक्ति को अवश्य ही प्राप्त करता है। इसलिए सिद्धि या मुक्ति अवश्य है ही, यही विवेकी पुरुष को मानना चाहिए।

कुछ लोगों का कहना है कि—यह संसार अंजन (काजल) से भरी पेटी के समान, जीवों से संकुल (ठसाठस भरा हुआ) है। इसलिए किसी भी जीव का हिंसा से बचना इसमें सम्भव नहीं है। कहा भी है—

जले जीवाः स्थले जीवाः आकाशे जीवमालिनि।
जीवमालाकुले लोके, कथं भिक्षुरहिंसकः?

अर्थात्—'जल में जीव हैं, स्थल में जीव हैं, आकाश में भी जीव हैं, इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार जीवों से पूर्ण इस लोक में भिक्षु (साधु) अहिंसक कैसे हो सकता है ?' अतः हिंसा से सर्वथा निवृत्त न होने से किसी की भी सिद्धि या मुक्ति होना सम्भव नहीं है। परन्तु यह कथन भी यथार्थ नहीं है, क्योंकि जो साधु जीवहिंसा से बचने के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है, तथा समस्त आश्रवद्वारों को रोककर पाँच समिति एवं तीन गुप्तियों का पालन करता हुआ, ४२ दोषों को वर्जित करके निरवद्य निर्दोष आहार ग्रहण करता है, एवं निरन्तर ईर्यापथ का शोधन करता हुआ अपनी प्रवृत्ति करता है, उसका भाव शुद्ध है। ऐसे पुरुष के द्वारा कदाचित् किसी प्राणी की द्रव्यतः विराधना हो भी जाय तो भावशुद्धि के कारण कर्मबन्ध नहीं होता क्योंकि वह साधु सर्वथा दोषरहित है। अतः ऐसे पुरुषों को समस्त कर्मों का क्षय होकर सिद्धि या मुक्ति की प्राप्ति होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसलिए सिद्धि की प्राप्ति को असम्भव मानना मिथ्या है। पूर्वोक्त अनुमानों से, आगमप्रमाण से और महापुरुषों द्वारा सिद्धि के लिए प्रवृत्ति करने से सिद्धि की सिद्धि होती है।

असिद्धि का स्वरूप तो स्पष्टतः सिद्ध ही है। उसका हम सबने अनुभव किया है और कर रहे हैं। अतः सिद्धि और असिद्धि नहीं है, यह विचारणा उचित नहीं है। दोनों का अस्तित्व है, यह ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।

इसी प्रकार सिद्धि जीव का निजी स्थान नहीं है, ऐसी मान्यता रखना भी ठीक नहीं है। बल्कि सिद्धि ही जीव का अपना स्थान है, समस्त कर्मों के क्षय हो जाने पर जीव जिस स्थान को प्राप्त करता है, वही उसका निज स्थान है, ऐसी मान्यता रखना ही उचित है। जैसे बद्ध जीव का कोई स्थान होता है, उसी प्रकार मुक्त जीव का भी कोई स्थान अवश्य होना चहिए। कई लोग कहते हैं—मुक्त पुरुष तो आकाश की तरह सर्वव्यापक होता है, उसका कोई एक निजी स्थान नहीं होता, यह कथन यथार्थ नहीं है। आकाश तो लोक और अलोक दोनों में व्याप्त है, मगर मुक्त पुरुष को ऐसा नहीं माना जा सकता; क्योंकि अलोक में तो आकाश के सिवाय अन्य किसी किसी पदार्थ का रहना असम्भव है। एवं मुक्तात्मा लोकमात्रव्यापक हो, यह भी नहीं हो सकता क्योंकि मुक्ति होने से पूर्व उसमें समस्त लोकव्यापकता नहीं पाई जाती, अपितु नियत देशकाल आदि के साथ ही उसका सम्पर्क पाया जाता है। तथा वह नियत सुख-दुःख का ही अनुभव करता देखा जाता हैं। अतः मुक्ति होने के पश्चात् भी उसकी व्यापकता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि मुक्ति होने के पश्चात् वह सर्वव्यापक हो जाता है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। अतः उस मुक्तात्मा का जो निजस्थान है, वह लोकाग्र (सिद्धिस्थान—सिद्धिशिला) है। जो योजन के एक कोस के छठे हिस्से के बराबर है तथा चतुर्दश-रज्ज्वात्मक लोक के अग्रभाग में स्थित है। कहा भी है—

कर्मविप्रमुक्तस्य ऊर्ध्वगतिः

अर्थात्—कर्मबन्धन से मुक्त जीव की ऊर्ध्वगति होती है। वह ऊर्ध्वगति लोक का अग्रभाग ही है। जैसे तुम्बा, एरण्ड का फल और धनुष से छूटा हुआ बाण और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धुंआ पूर्वप्रयोग से गति करते हैं, इसी तरह सिद्ध (मुक्त) पुरुष भी पूर्वप्रयोगवशात् ऊर्ध्वगति करते हैं। मगर उस समय में वे कोई व्यापार नहीं करते। जैसे कर्मों के अधीन जीव अपने कर्मोदयवश अनेक स्थानों का अनुभव करते हैं। वैसे ही कर्मरहित जीव का लोक के अग्रभाग में ही अपना स्थान होता है। अतः सिद्धि जीव का अपना स्थान नहीं है, ऐसी विपरीत मान्यता छोड़कर सिद्धि ही जीव का अपना अन्तिम स्थान (लक्ष्य) है, ऐसा मानना चाहिए। यही २६वीं गाथा का आशय है।

साधु-असाधु, कल्याणवान् या पापी का अस्तित्व

२७वीं गाथा में शास्त्रकार ने साधु और असाधु के अस्तित्व को मानने पर बल दिया है और कहा है कि इससे इन्कार करना न्यायोचित नहीं है।

साधु का अर्थ है, जो स्वपरहित को सिद्ध करता है अथवा प्राणातिपात आदि १८ पापस्थानों से विरत होकर सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपरूप मोक्षमार्ग की या पंच महाव्रतों की साधना करता है, वह साधु है। जिसमें इस प्रकार की साधुता न पाई जाए, वह असाधु है। जगत् में इस प्रकार का साधु या असाधु नहीं है ऐसा विचार नहीं करना चाहिए, किन्तु साधु भी है असाधु भी है, ऐसा विचार करना चाहिए।

किन्हीं लोगों का सिद्धान्त है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप रत्नत्रय का पूर्णरूप से पालन करना सम्भव नहीं है। और इनका पूर्णरूप से पालन या आराधन किये बिना कोई साधु नहीं होता। इसलिए संसार में कोई साधु नहीं है। जब साधु ही नहीं है तो उसका प्रतिपक्षी असाधु भी नहीं हो सकता क्योंकि साधु और असाधु परस्पर सापेक्ष हैं। इसलिए साधु और असाधु नहीं है ऐसा कतिपय लोग कहते हैं। किन्तु उनकी यह मान्यता उचित नहीं है। विवेकी पुरुष को ऐसा नहीं मानना चाहिए। जो उत्तम पुरुष सदा यतनावान (उपयोगयुक्त), रागद्वेषरहित, सुसंयमी एवं शास्त्रोक्त विधि से शुद्ध निर्दोष आहार लेता है, वह सम्यग्दृष्टि चारित्रवान् व्यक्ति साधु अवश्य है। उसके द्वारा भूल से अनजान में कदाचित् अनेषणीय अशुद्ध आहार ले भी लिया जाय तो भी वह सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय का अपूर्ण आराधक नहीं, अपितु पूर्ण आराधक है, क्योंकि उसकी उपयोग बुद्धि एवं भावना शुद्ध है। अनजान में प्रमादवश होकर अशुद्ध आहार को अपनी शुद्ध बुद्धि से शुद्ध समझकर उपयोगपूर्वक खाता है। इसलिए अपनी दृष्टि में वह पूर्णरूप से रत्नत्रय का आराधक होने से साधु ही है।

तथा पूर्वगाथा में समस्त कर्मक्षयरूप जिस मुक्ति की सिद्धि की गई है, वह भी साधु को होती है। इससे भी साधु के अस्तित्व की सिद्धि होती है। इस प्रकार साधु के अस्तित्व की सिद्धि हो जाने पर उसके प्रतिपक्षी असाधु के अस्तित्व की भी सिद्धि हो जाती है। अतएव विवेकी जनों को ऐसा नहीं मानना चाहिए कि साधु और असाधु नहीं हैं। यही २७वीं गाथा का आशय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कई लोग कहते हैं कि साधु को तो समतावान् होना चाहिए, जिसमें समता न हो, वह साधु नहीं हो सकता। किन्तु जिसे आप साधु कहते हैं, वह तो 'यह भक्ष्य है, यह अभक्ष्य है, यह प्रासुक है, यह अप्रासुक है, यह एषणीय है, यह अनैषणीय है,' इस प्रकार एक पर राग और दूसरे पर द्वेष रखता है और इस प्रकार राग-द्वेष रखना, विषमभाव है ऐसे विषमभाव रखने वाले पुरुषों में सामायिक (समता) का अभाव होने से वे साधु नहीं हो सकते। यह कथन भी अविचारपूर्ण है। क्योंकि भक्ष्याभक्ष्य, कल्प्य-अकल्प्य का विचार करना मोक्ष का प्रधान अंग है वह राग-द्वेष नहीं है। राग से तो भक्ष्याभक्ष्य आदि का विचार नष्ट हो जाता है। वस्तु चाहे कैसी भी स्वादिष्ट हो, रागी-पुरुष की उसे ग्रहण करने की बुद्धि हो जाती है। इसलिए भक्ष्याभक्ष्य का विवेक राग के अभाव का कार्य है, राग का कार्य नहीं। वास्तव में कोई अपने पर उपकार करे या अपकार करे, उस पर समभाव रखना सामायिक है, परन्तु भक्ष्याभक्ष्य-विवेक न रखना सामायिक नहीं। अतः भक्ष्याभक्ष्य-विवेक को रागद्वेष मानना भूल है। पूर्वोक्त निरूपण से यह सिद्ध हो जाता है कि साधु समतावान् (सामायिक युक्त) ही होता है।

२८वीं गाथा में शास्त्रकार ने कल्याण या पाप अथवा कल्याणवान् या पापवान् कोई वस्तु नहीं है, ऐसा कहने वालों की मान्यता को अयथार्थ बताया है। किन्तु कल्याण और पाप दोनों का अस्तित्व है, यही मान्यता ठीक है।

बौद्धों का कथन है कि समस्त पदार्थ अशुचि और अनात्मक (आत्मा से रहित) हैं, इसलिए जगत् में कल्याण नामक कोई पदार्थ नहीं है। कल्याण नामक पदार्थ न होने से कोई व्यक्ति कल्याणवान् भी नहीं है। आत्माद्वैतवादी के मत से आत्मा से भिन्न कोई पदार्थ है ही नहीं, सभी पदार्थ आत्म(पुरुष)स्वरूप हैं, इसलिए कल्याण और पाप कोई वस्तु नहीं है। परन्तु विवेकी पुरुष को ऐसा नहीं मानना चाहिए, क्योंकि अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति को कल्याण और हिंसा आदि को पाप कहते हैं। अगर अद्वैत को मानकर इन दोनों का निषेध किया जाए तो अबाधित (प्रत्यक्ष) अनुभव सिद्ध इस जगत् की विचित्रता संगत नहीं हो सकती। इसलिए आत्माद्वैत के अनुसार कल्याण और पाप का अभाव मानना मिथ्या है। बौद्धमतानुसार कल्याण एवं पाप का अभाव एवं समस्त पदार्थों को अशुचि एवं अनात्मक मानना ठीक नहीं है, क्योंकि सभी पदार्थ अशुचि होने पर बौद्धों के उपास्यदेव भी अशुचि सिद्ध होंगे, परन्तु वे ऐसा नहीं मान सकते। इसलिए सब पदार्थ अशुचि नहीं है, और न ही निरात्मक हैं, क्योंकि सभी पदार्थ स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से सत् और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा से असत् हैं, यही सर्वानुभवसिद्ध निर्दोष सिद्धान्त है, निरात्मवाद नहीं।

चार प्रकार के घनघाती कर्मों का क्षय किये हुए केवली में साता और असाता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोनों का उदय होता है। तथा नारकीय जीवों में भी पंचेन्द्रियत्व और ज्ञान आदि का सद्भाव है, अतः वे भी एकान्त पापी नहीं है। इस प्रकार कथंचित् कल्याण और कथंचित् पाप भी अवश्य है, ऐसा अनेकान्तात्मक सिद्धान्त ही युक्तियुक्त मानना चाहिए।

सारांश

शास्त्रकार ने २३वीं गाथा से लेकर २८वीं गाथा तक चातुर्गतिक संसार, देवी-देव, सिद्धि-असिद्धि, सिद्धि : निजस्थान, साधु-असाधु एवं कल्याण-पाप का निषेध करने वालों के मत का निराकरण करके इन छहों गाथाओं में उक्त बातों के अस्तित्व को सत्य मानने पर जोर दिया है। वास्तव में सर्वज्ञ-प्रतिपादित सिद्धान्त ठोस सत्य पर आधारित हैं, उन्हें मानने से इन्कार करना, अपने आपको मानने से इन्कार करना है।

मूल पाठ

कल्लाणे पावए वावि, ववहारो ण विज्जइ।
जं वेरं तं न जाणंति, समणा बालपंडिया॥ २९॥

संस्कृत छाया

कल्याणः पापको वाऽपि, व्यवहारो न विद्यते।
यद् वैरं तन्न जानन्ति, श्रमणाः बालपण्डिताः॥ २९॥

अन्वयार्थ

(**कल्लाणे पावए वावि ववहारो ण विज्जइ**) यह पुरुष एकान्त कल्याणवान् है और यह एकान्त पापी है, ऐसा व्यवहार जगत् में नहीं होता है। (**बालपंडिया समणा जं वेरं तं न जाणंति**) तथापि शाक्य आदि श्रमण, जो बालपंडित हैं, अर्थात् सत्-असत्-विवेक से रहित होते हुए भी अपने आपको पण्डित मानते हैं, वे एकान्त पक्ष के अवलम्बन से उत्पन्न होने वाले वैर को अर्थात् कर्मबन्धन को नहीं जानते हैं।

व्याख्या

कोई एकान्त कल्याणकारी या पापी नहीं होता

यह पुरुष सर्वथा कल्याण (अभीष्ट अर्थप्राप्ति) का भाजन है यानी एकान्त पुण्यवान् है और इससे विपरीत यह एकान्ततः पापी है, ऐसा व्यवहार लोक में नहीं है, क्योंकि कोई भी वस्तु जगत् में एकान्त नहीं है, किन्तु सर्वत्र अनेकान्त का सद्भाव है। ऐसी दशा में सभी पदार्थ कथञ्चित् कल्याणवान् और कथंचित् पापयुक्त हैं, यही बात सत्य माननी चाहिए। एकान्त एक पक्ष का आश्रय लेने से जो वैरबन्ध (कर्मबन्ध) होता है, उससे वे अन्यतीर्थी अनभिज्ञ है। इसलिए वे अहिंसाधर्म और अनेकान्त पक्ष का आश्रय नहीं लेते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सारांश

कोई पुरुष एकान्ततः कल्याणवान् या पापवान् है, ऐसा व्यवहार नहीं होता, फिर भी जो शाक्य आदि श्रमण बालपण्डित हैं, वे एकान्त पक्ष का अवलम्बन लेने से उत्पन्न होने वाले वैर अर्थात् कर्मबन्धन को नहीं जानते।

मूल पाठ

असेसं अक्खयं वाऽवि, सव्वदुक्खेति वा पुणो।
वज्झा पाणा न वज्झत्ति, इति वायं न नीसरे ॥ ३० ॥

संस्कृत छाया

अशेषमक्षयं वाऽपि, सर्वदुखमिति वा पुनः।
वध्याः प्राणाः न वध्या इति, इति वाचं न निःसृजेत् ॥ ३० ॥

अन्वयार्थ

(**असेसं अक्खयं वावि**) जगत् के समस्त पदार्थ एकान्त नित्य हैं, अथवा एकान्त अनित्य हैं, ऐसा नहीं कहना चाहिए। (**पुणो सव्वदुक्खेति**) तथा समस्त जगत् एकान्त रूप से दुःखमय है, यह भी नहीं कहना चाहिए। (**वज्झा पाणा अवज्झा इति वायं न नीसरे**) तथा अपराधी प्राणी वध्य हैं या अवध्य हैं, यह वचन साधु न कहे ॥३०॥

व्याख्या

एकान्त नित्य या अनित्य कहना ठीक नहीं

इस गाथा में शास्त्रकार तीन बातों के सम्बन्ध में एकान्त वचन का निषेध करते हैं—(१) जगत् के सभी पदार्थ एक न्ततः नित्य या अनित्य हैं, (२) सारा जगत् एकान्ततः दुःखरूप है, (३) अमुक प्राणी वध्य है या अवध्य है ? वास्तव में इस गाथा में साधु को अनेकान्तात्मक वचन कहने का उपदेश दिया गया है।

सांख्यमतवादी कहते हैं—जगत् के समस्त पदार्थ एकान्त नित्य हैं। उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता। परन्तु यह कथन यथार्थ नहीं है, क्योंकि जगत् के सभी पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहते हैं। कोई भी वस्तु सदा एक-सी अवस्था में नहीं रहती। जैसे नखों और केशों को काट लेने पर फिर नये उत्पन्न हुए नखों और केशों को तुल्य जानकर ये वे ही नख या केश हैं, इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान होता है। इसी तरह समस्त पदार्थों की तुल्यता को देखकर ये वे ही पदार्थ हैं, ऐसा प्रत्यभिज्ञान होता है। लेकिन इस प्रत्यभिज्ञान को लेकर वस्तुओं में अन्यथाभाव (परिवर्तन) न मानना तथा उन्हें एकान्त नित्य कहना मिथ्या है।

इसी तरह जगत् के समस्त पदार्थों को बौद्धों की तरह एकान्त क्षणिक (अनित्य) भी नहीं कहना चाहिए। क्योंकि बौद्ध पूर्वपदार्थ का एकान्त नाश और उत्तर पदार्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की निर्हेतुक उत्पत्ति बताते हैं, वस्तुतः यह मत ठीक नहीं है। यह पहले कहा जा चुका है।

सारा जगत् एकान्त दुःखमय है, यह कथन युक्तिसंगत नहीं

इसी प्रकार जगत् में अनेक जीवों को दुःखमय देखकर सम्पूर्ण जगत् को एकान्त दुःखमय कहना युक्तियुक्त नहीं है। विवेकी पुरुष को यह नहीं कहना चाहिए कि सारा जगत् दुःखरूप है, क्योंकि सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय की प्राप्ति होने पर जीव को असीम आनन्द की प्राप्ति होती है, यह शास्त्र कहता है। अतएव विद्वानों ने कहा है—

तणसंत्थारणिसण्णोवि मुणिवरो भट्ठरायमयमोहो।
जं पावइ मुत्तिसुहं, कत्तो तं चक्कवट्टी वि॥

राग, मद और मोह से रहित मुनिवर तृण की शय्या पर बैठा हुआ भी जिस मुक्तिसुख जैसे अनुपम आनन्द को प्राप्त करता है, उसको चक्रवर्ती भी कहाँ से प्राप्त कर सकता है? अतः समस्त जगत् एकान्त रूप से दुःखात्मक है, यह विद्वान् साधक को नहीं कहना चाहिए, क्योंकि ऐसा कहने पर साधारण मानव संयम में प्रवृत्ति करने के लिए प्रोत्साहित नहीं होता।

ये प्राणी वध्य हैं या अवध्य हैं, यह वचन भी न कहे

संसार में जो प्राणी चोर, डाकू, हत्यारे या पारदारिक आदि महान् अपराधी हैं, उनके लिए अहिंसाधर्मी साधु ऐसा न कहे कि ये प्राणी वध करने योग्य हैं, इन्हें मार डालना चाहिए अथवा ये वध करने योग्य नहीं हैं; इसी प्रकार दूसरे प्राणियों को मारने में सदा तत्पर रहने वाले सिंह, व्याघ्र, विडाल, सर्प आदि प्राणियों को देखकर साधु यह न कहे कि ये जीव वध करने योग्य हैं, अथवा ये वध करने योग्य नहीं है। किन्तु समस्त प्राणियों के प्रति समभाव रखता हुआ साधु माध्यस्थ्यवृत्ति धारण करे। आशय यह है कि साधु वध का दण्ड देने योग्य चोर और पारदारिक आदि प्राणी को दण्ड न देने योग्य निरपराधी न कहे, क्योंकि अपराधी को निरपराधी कहने से साधु को उसके कार्य का अनुमोदन लगता है। अतः अपनी साधुचर्या के अनुष्ठान में संलग्न और दूसरों के व्यापार से निरपेक्ष साधु को पूर्वोक्त बात नहीं कहनी चाहिए। यहाँ मरते हुए जीव की प्राणरक्षा के लिए 'मत मार' ऐसा कहने या उपदेश देने के निषेध का प्रसंग नहीं है, और न ही गाथा में राग या द्वेष शब्द का उल्लेख है, यहाँ तो साधु के लिए उचित भाषासमिति का उपदेश है। स्वयं शीलांकाचार्य ने इस शास्त्र की टीका में स्पष्ट लिखा है कि जीवहिंसा करने में तत्पर रहने वाले सिंह, व्याघ्र, बिलाव आदि प्राणियों को देखकर साधु माध्यस्थ्यभाव का अवलम्बन लेकर रहे।[1] जैसे कि

---

१. तथाहि सिंह-व्याघ्र-मार्जारादीन् परसत्वव्यापादनपरायणान् दृष्ट्वा साधुर्माध्यस्थामवलम्बयेत्। तथा चोक्तम्—मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ्यानि सत्त्वगुणाधिक-क्लिश्यमानाविनेयेषु। —**सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति० श्रु०२, अ०५, गा० ३०**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वार्थसूत्र में कहा है—समस्त जीवों के प्रति मैत्रीभाव, अपने से अधिक गुणसम्पन्न व्यक्तियों के प्रति प्रमोदभाव, क्लेश पाते हुए दुःखी जीवों के प्रति करुणाभाव एवं अविनेय प्राणियों के प्रति माध्यस्थ्य भाव रखना चाहिए। यहाँ सिंह-व्याघ्रादि पंचेन्द्रिय जीवों की घात करने वाले प्राणियों के प्रति माध्यस्थ्य भाव रखना आगमसम्मत है, संक्लेश पाते हुए दुःखी जीवों के प्रति नहीं। दुःखी जीवों पर करुणा एवं दया करना साधु का परम कर्तव्य है। अतः जो साधु मरते हुए प्राणी पर दया नहीं करता, और दया करके उसकी रक्षा का उपदेश देने में पाप समझता है, वह सम्यक्त्व के मूलगुण—अनुकम्पा से रहित है। जो लोग टीका में प्रयुक्त 'आदि' शब्द से साधु के अतिरिक्त सभी जीवों का ग्रहण करके उन्हें हिंसक मानते हैं, और मरते हुए, या मारे जाते हुए उन प्राणियों को भी सिंहव्याघ्रादि की तरह भयंकर हिंसक मानकर उनके प्रति माध्यस्थ भाव रखते हैं या रखने का उपदेश देते हैं, वे भयंकर भ्रम में हैं। यदि साधु के अतिरिक्त सभी प्राणी भयंकर हिंसक हैं, तो मैत्री, प्रमोद और करुणाभाव किस पर रखेंगे ? अतः इस गाथा में शास्त्रकार केवल साधु के लिए भाषासमिति का उपदेश देकर वाक्संयम रखने का उपदेश देते हैं।

मूल पाठ

दीसंति समियायारा, भिक्खुणो साहुजीविणो।
एए मिच्छोवजीवंति, इइ दिट्ठिं न धारए॥ ३१॥

संस्कृत छाया

दृश्यन्ते समिताचाराः, भिक्षवः साधुजीविनः।
एते मिथ्योपजीवन्ति, इति दृष्टिं न धारयेत्॥ ३१॥

अन्वयार्थ

(**साहुजीविणो समियायारा भिक्खुणो दीसंति**) साधुतापूर्वक जीने वाले सम्यक्-आचार का पालन करने वाले भिक्षाजीवी साधु दृष्टिगोचर होते हैं, इसलिए (**एए मिच्छोवजीवंति**) ये साधु लोग कपट से जीविका (जीवननिर्वाह) करते हैं, (**इइ दिट्ठिं न धारए**) ऐसी दृष्टि नहीं रखनी चाहिए।

व्याख्या

सुसाधु के विषय में मिथ्या कल्पना मत करो

इस गाथा में शास्त्रकार यह बताते हैं कि सुसाधु के विषय में व्यर्थ ही दोषारोपण करके उसे मिथ्याचारी कहना या वैसी मिथ्या धारणा बना लेना साधक के लिए उचित नहीं है। जो साधु प्रशस्त विधि से जीवनयापन करते हैं, जो शास्त्रोक्त रीति से आत्मसंयम रखते हैं, संयम पालन करते हैं अथवा शास्त्रोक्त सम्यक् आचारसम्पन्न हैं निर्दोष भिक्षामात्रजीवी हैं तथा उत्तम ढंग से जीते हैं, ऐसे त्यागी, निस्पृह साधु-भिक्षु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस जगत् में देखे जाते हैं। वे किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाते, वे शान्त, दान्त, क्षमाशील, कषायविजयी एवं जितेन्द्रिय सत्यवादी तथा मिताहारी होकर इस भूमण्डल पर विचरण करते हैं। ऐसे स्वपरहितकारी साधुओं को देखकर ऐसी मिथ्या धारणा नहीं बना लेनी चाहिए कि आजकल सच्चा साधु तो कोई है ही नहीं, ये सब मिथ्याचारी हैं, ढोंगी हैं, कपटी हैं, साधु का वेश धारण करके भी साधु नहीं है। अथवा सराग होकर भी ये वीतराग का-सा डौल करते हैं, अतः दम्भी हैं, इत्यादि मिथ्या कल्पना करना या दूसरे से ऐसा कहना उचित नहीं है। तात्पर्य यह है कि ये साधु नहीं, ठग हैं, ढोंगी हैं, धर्मध्वजी हैं, दम्भी हैं, इस प्रकार की बुद्धि या धारणा सुसाधुओं के बारे में नहीं रखनी चाहिए। क्योंकि जो पुरुष सर्वज्ञ नहीं है, छद्मस्थ है, वह ऐसा निश्चय नहीं कर सकता कि अमुक व्यक्ति सराग है, अमुक वीतराग है, अमुक कपटी है या अमुक सच्चा साधु है। दूसरों की चित्तवृत्ति को जानना अल्पज्ञ व्यक्ति के वश की बात नहीं है। शास्त्रकार का आशय यह है कि वह साधक चाहे स्वतीर्थी हो या परतीर्थी, उसके विषय में पूर्वोक्त गलत निर्णय साधु को नहीं करना चाहिए, न उसके सम्बन्ध में ऐसी मिथ्या धारणा बनाकर किसी को कहना चाहिए। किसी साधक ने ठीक ही कहा है—

यावत्परगुण-परदोषकीर्तने व्यापृतं मनो भवति।
तावद्वरं विशुद्धे ध्याने व्यग्रं मनःकर्तुम्॥

अर्थात्—साधकवर! जितने समय तुम्हारा यह मन दूसरों के गुण-दोषों की आलोचना एवं कीर्तन में प्रवृत्त रहता है, उतने समय तक यदि इसे शुद्ध ध्यान में एकाग्र कर दिया जाए तो कितना अच्छा हो!

सारांश

निष्कर्ष यह है कि किसी भी साधक के विषय में सहसा मिथ्या धारणा बनाकर गलत अफवाहें फैलाना साधु के लिए सत्यमहाव्रत की दृष्टि से कथमपि उचित नहीं है।

मूलपाठ

दक्खिणाए पडिलंभो, अत्थि वा णत्थि वा पुणो।
ण वियागरेज्ज मेहावी, संतिमग्गं च बूहए॥ ३२॥

संस्कृत छाया

दक्षिणाया: प्रतिलम्भः अस्ति वा नास्ति वा पुनः।
न व्यागृणीयान्मेधावी, शान्तिमार्गं च वर्धयेत्॥ ३२॥

अन्वयार्थ

(**दक्खिणाए पडिलंभो अत्थि वा पुणो णत्थि वा मेहावी ण वियागरेज्ज**) दक्षिणा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—दान का प्रतिलाभ—प्राप्ति अमुक से होती है या अमुक से नहीं होती, अथवा तुम्हें आज भिक्षालाभ मिलेगा या नहीं मिलेगा, बुद्धिमान साधु ऐसी बात न कहे। **(संतिमग्गं च बूहए)** किन्तु जिससे शान्ति यानी मोक्ष के मार्ग की वृद्धि होती हो, ऐसा वचन कहे।

व्याख्या

दान-प्राप्ति अमुक से होगी या नहीं होगी, ऐसा न कहे

साधु मर्यादा में स्थित साधु को यह नहीं कहना चाहिए कि अमुक गृहस्थ से दान की प्राप्ति होगी, अमुक गृहस्थ से नहीं होगी। दानलाभ के सम्बन्ध में स्वयूथिक या परयूथिक साधु के पूछने पर मुनि को यह नहीं कहना चाहिए कि आज तुम्हें भिक्षा मिलेगी या नहीं मिलेगी। यदि साधु ऐसा कह देता है कि आज तुम्हें भिक्षा मिलेगी, तो पूछने वाले साधु को अपार हर्ष होने से अधिकरणादि दोष उत्पन्न हो सकते हैं, तथा 'आज तुम्हें भिक्षा नहीं मिलेगी', ऐसा कहने पर अन्तराय होना सम्भव है, एवं भिक्षार्थी के मन में भी दुःख होना सम्भव है। कदाचित् साधु की कही हुई बात अन्यथा हो जाए तो उसके प्रति उक्त प्रश्नकार के मन में अश्रद्धा पैदा हो सकती है। इसलिए स्वयूथिक या परयूथिक के पूछने पर साधु को एकान्त रूप से कुछ भी नहीं कहना चाहिए। जिस प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग की उन्नति हो, वैसी बात भाषासमिति के द्वारा साधु को कहनी चाहिए। इस प्रकार धर्मोपदेश देते समय भी साधु को निरवद्य भाषा बोलना चाहिए जैसे कि कहा है—

"सावज्जणवज्जाणं वयणाणं जो ण जाणइ विसेसं।"

"जिस साधु को सावद्य एवं निरवद्य भाषा का ज्ञान नहीं है, वह दूसरों को क्या खाक धर्मोपदेश देगा ?"

दक्खिणाए पडिलंभो—दक्षिणा दान को कहते हैं, उसका प्रतिलाभ यानी प्राप्ति —दानलाभ। इस गाथा में प्रयुक्त 'पडिलंभो' शब्द स्वयूथिक—अपने यूथ-सम्प्रदाय के—साधु को और परयूथिक—तीर्थान्तरीय-अन्य धर्म-सम्प्रदाय के—साधु के दान-लाभ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। गृहस्थ के दानलाभ अर्थ में नहीं।

कई लोग इस गाथा को प्रस्तुत करके यह अर्थ लगाते हैं कि "जिस समय दाता किसी दीन-हीन को दे रहा हो और लेने वाला ले रहा हो, उस समय साधु को अनुकम्पादान में एकान्त पाप नहीं कहना चाहिए, परन्तु उपदेश करते समय उसमें एकान्त पाप कहकर इस अनुकम्पादान का निषेध करना चाहिए।" यह नितान्त असत्य और पूर्वापरप्रसंग विरुद्ध है। यहाँ अनुकम्पादान का प्रसंग ही नहीं है यहाँ तो भाषासमिति का प्रकरण है। और न ही यहाँ शास्त्रकार ने 'गृहस्थ के दानलाभ' अर्थ में **दक्खिणाए पडिलंभो** शब्द का प्रयोग किया है।

सारांश

प्रस्तुत गाथा का आशय यह है कि यदि कोई स्वयूथिक या परयूथिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधु मुनि से यह पूछे कि मुझे आज अमुक के यहाँ भिक्षा (दान) प्राप्ति होगी या नहीं ? ऐसे प्रसंग पर साधुत्व की मर्यादा में स्थित साधु को एकान्तरूप से विधि या निषेध की भाषा में उत्तर नहीं देना चाहिए, परन्तु भाषासमिति द्वारा मोक्षमार्गसम्मत उत्तर देना चाहिए।

मूल पाठ

इच्चेएहिं ठाणेहिं जिणदिट्ठेहिं संजए।
धारयंते उ अप्पाणं, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥ ३३ ॥
॥त्ति बेमि॥

संस्कृत छाया

इत्येतैः स्थानैर्जिनदृष्टैः संयतः।
धारयंस्त्वात्मानम्, आमोक्षाय परिव्रजेत् ॥ ३३ ॥
॥इति ब्रवीमि॥

अन्वयार्थ

(**इच्चेएहिं जिणदिट्ठेहिं ठाणेहिं**) इस अध्ययन में कहे गए इन जिनोक्त स्थानों के द्वारा (**संजए अप्पाणं धारयंते उ**) अपने आपको संयम में स्थापित करता हुआ साधु (**आमोक्खाए परिव्वएज्जा**) मोक्ष प्राप्त होने तक प्रयत्न करे।

व्याख्या

पूर्वोक्त सभी बातों का मोक्षप्राप्तिपर्यन्त ध्यान रखे

यह इस अध्ययन की अन्तिम गाथा है। इस अध्ययन में जिनप्रतिपादित या जिनदर्शनसम्मत जो बातें कही गई हैं, उनमें भलीभांति अपने आपको नियुक्त करके मोक्षप्राप्ति तक संयम में पुरुषार्थ करने की बात कही गई है। यों तो इस अध्ययन में प्रतिपक्षी लोगों द्वारा मान्य बातों का भी उल्लेख किया गया है, लेकिन प्रतिपक्षमान्य प्रत्येक बात का साथ ही साथ निषेध करके जिनेन्द्रमान्य वीतरागसिद्धान्तसम्मत बातों को मानने, उसी की धारणा-प्ररूपणा करने एवं उसी के अनुरूप अपना जीवन ढालने की प्रेरणा शास्त्रकार ने दी है।

सारांश

इस अध्ययन में कहा हुआ वाक्संयम का भलीभाँति पालन करता हुआ साधु मोक्षप्राप्तिपर्यन्त संयम का अनुष्ठान करे।

इस प्रकार सूत्रकृतांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध का पंचम अध्ययन अमर-सुखबोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण हुआ।

॥अनगारश्रुत आचारश्रुत नामक पंचम अध्ययन समाप्त॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छठा अध्ययन : आर्द्रकीय

छठे अध्ययन का संक्षिप्त परिचय

पाँचवें अध्ययन में बताया गया है कि उत्तम पुरुष को अनाचार का त्याग और आचार का सेवन करना चाहिए, इस छठे अध्ययन में अनाचार-त्यागी एवं आचारपालक आर्द्रक मुनि का उदाहरण देकर यह बताया जाता है कि अनाचार का त्याग एवं आचार का सेवन मनुष्य के द्वारा किया जा सकता है। वह असम्भव नहीं, सम्भव है।

अध्ययन के प्रारम्भ में ही **'पुराकडं अद्द ! इमं सुणेह'** (हे आर्द्रक ! तू इस पूर्व-कृत को सुन) इस प्रकार आर्द्रक को सम्बोधित किया गया है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस अध्ययन में चर्चित वाद-विवाद का सम्बन्ध आर्द्रक के साथ है। इसी-लिए इस अध्ययन का नाम **'आर्द्रकीय'** रखा गया है।

यह आर्द्रक कौन था ? कहाँ का था ? कैसे मुनि बना ? और वाद-विवाद कब और किस परिस्थिति में हुआ ? इन सब बातों के समाधान हमें निर्युक्तिकार एव वृत्तिकार द्वारा मिलते हैं। आर्द्रकपुर नामक नगर के राजा रिपुमर्दन की रानी आर्द्रकवती की कुक्षि से आर्द्रककुमार का जन्म हुआ। अनुश्रुति यह है कि यह आर्द्रक-पुर अनार्य देश में था, जहाँ वीतराग-प्ररूपित धर्म के प्रचार-प्रसार की गुंजाइश दुष्कर थी इसलिए कुछ लोगों ने तो आर्द्रकपुर—अद्द—आर्द्र शब्द की तुलना 'एडन' के साथ की है। आर्द्रकपुर के राजा और मगधराज श्रेणिक के बीच स्नेह सम्बन्ध था। एक बार आर्द्रककुमार के पिता ने राजगृह नगर में श्रेणिक राजा को प्रीतिवृद्धि के लिए कोई उपहार भेजा। जब उपहार देकर राजसेवक आर्द्रकपुर लौटा और उसने राजा श्रेणिक की गुणग्राहकता का परिचय दिया तो आर्द्रककुमार ने उससे पूछा—"राजा श्रेणिक के कोई पुत्र है या नहीं ?"

"हाँ, है ! श्रेणिक राजा का पुत्र अभयकुमार है, जो समस्त कलाओं में निपुण है, अनेक विद्याओं का वेत्ता है, महान् लक्षणों एवं धीरता, वीरता, विनय एवं गम्भी-रता आदि अनेक गुणों से सम्पन्न है।" यह सुनकर आर्द्रककुमार को अभयकुमार के प्रति प्रीति उत्पन्न हुई और उसने प्रीतिसंवर्द्धन के लिए एक उपहार भेजा। राजसेवक ने आर्द्रक द्वारा प्रेषित उपहार अभयकुमार को दिया, स्नेहपूर्ण वचन भी कहे। अभय कुमार ने सोचा—यह आर्द्रक भव्य और शीघ्र मोक्षगामी होना चाहिए, जो मेरे साथ मैत्री करने की और भारत आकर राजगृह देखने की अभिलाषा रखता है। अतः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभयकुमार ने भी अपने मित्र आर्द्रककुमार के लिए रजोहरण, आसन, प्रमार्जनिका आदि धर्मोपकरण उस राजसेवक के साथ भेजे और उसे एकान्त में देने के लिए कह दिया। राजसेवक ने आर्द्रकपुर पहुँचकर अभयकुमार का सन्देश कहा और एकान्त में ले जाकर वे उपहाररूप धर्मोपकरण दिये। आर्द्रककुमार ने जब वे उपकरण एकान्त में देखे तो उसे पूर्वजन्म का ज्ञान (जातिस्मरणज्ञान) उत्पन्न हुआ। वह वीतराग धर्म में प्रतिबुद्ध हुआ, तथा वह अभयकुमार से प्रत्यक्ष मिलने को उत्सुक हुआ। साथ ही आर्द्रककुमार का मन कामभोगों से विरत हो गया, उसकी इच्छा प्रव्रज्या ग्रहण करने की हो गई। पिता ने आर्द्रककुमार की संसारविरक्ति के रंगढंग देखकर सोचा—'कहीं यह भाग न जाए। अगर यहाँ से भारत देश को भाग गया तो फिर मेरे काबू में नहीं रहेगा।' अतः उसने आर्द्रककुमार के अपने देश से अन्यत्र भागने पर प्रतिबन्ध लगाने हेतु ५०० सशस्त्र सैनिक उसकी देखभाल के लिए नियुक्त कर दिये। फिर भी एक दिन मौका पाकर आर्द्रककुमार उन सैनिकों की आँख बचाकर अश्वशाला में पहुँचा और वहाँ से एक सुन्दर घोड़ा लेकर नौ दो ग्यारह हो गया।

अपने देश से भागकर वह भारत पहुँचा। वहाँ वह स्वयमेव आर्हत दीक्षा में प्रव्रजित होने लगा तो उसे रोकने के लिए आकाशवाणी हुई—'तुम्हारे भोगावली कर्म अभी तक बाकी हैं। इसलिए अभी दीक्षा ग्रहण मत करो, अन्यथा तुम्हें वापिस गृहस्थाश्रम में लौटना पड़ेगा।' परन्तु आर्द्रक ने वैराग्य की उत्कटता के कारण इसे सुनी-अनसुनी करके साधु-दीक्षा ले ली।

एक बार आर्द्रक मुनि वसन्तपुर नगर के रम्यक उद्यान में भिक्षु प्रतिमा अंगीकार करके कायोत्सर्ग में स्थित थे। प्रतिमा स्थित मुनि को देखकर अपनी समवयस्क सहेलियों के साथ क्रीड़ा करती हुई सेठ की लड़की श्रीमती ने कहा—"यह मेरा पति है।" ऐसा कहते ही देव ने १२॥ करोड़ स्वर्णमुद्राओं की वृष्टि की। राजा उन स्वर्णमुद्राओं को ग्रहण करने लगा तो देव ने उसे रोककर कहा—ये स्वर्णमुद्राएँ इस बालिका की हैं। तब बालिका के पिता ने वे स्वर्णमुद्राएँ ले लीं। आर्द्रक मुनि इसे अनुकूल उपसर्ग जानकर वहाँ से अन्यत्र चले गये।

इधर उस लड़की को वरण करने के लिए अनेक कुमार आने लगे, तब लड़की ने अपने पिता से साफ-साफ कह दिया—पिताजी! इन कुमारों को वापस लौटा दें। मैं अपने पति के रूप में उन्हें स्वीकार कर चुकी हूँ, जिनका धन (स्वर्णमुद्राएँ) आपने ग्रहण किया है।

तत्पश्चात् आर्द्रककुमार का पता लगाने के लिए उक्त कन्या ने दानशाला प्रारम्भ की। वहाँ वह अनेक भिक्षुओं को दान दिया करती थी। एक दिन आर्द्रक मुनि उसी मार्ग से होकर जा रहे थे। श्रीमती उनके चरण देखकर पहचान गई कि यही मेरे पति हैं। तत्पश्चात् वह अपने परिवार को लेकर आर्द्रक मुनि के पीछे-पीछे गई।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आर्द्रक मुनि ने दीक्षा के समय हुई आकाशवाणी का स्मरण किया, और कर्मोदयवश साधुवेश छोड़कर पुनः गृहस्थधर्म में प्रविष्ट हुए।

जब आर्द्रककुमार के एक पुत्र हो गया, तब उसने श्रीमती से कहा—"प्रिये ! अब तुम्हारा निर्वाह करने वाला यह पुत्र हो गया है, अब मुझे छुट्टी दो, मैं पुनः संयम ग्रहण करूँगा।" श्रीमती उसी दिन से उदास होकर रहने और चरखे पर सूत कातने लगी। यह देखकर बालक ने अपनी माँ से पूछा—"माँ ! ऐसा क्यों कर रही हो ?" "बेटा ! तुम्हारे पिताजी दीक्षा अंगीकार करेंगे। तुम अभी द्रव्योपार्जन नहीं कर सकते। अतः मैंने जीवननिर्वाह के लिए सूत कातना शुरू किया है।" लड़के ने माँ से वादा किया कि मैं पिताजी को बाँधकर रखूंगा। और सचमुच ही उसने खाट पर सोये हुए आर्द्रककुमार के पैर को काते हुए सूत से लपेट दिया। जब आर्द्रक जागा तो देखा—सूत के बारह आँटे लगाए हुए हैं। बालक के अनुरोध पर उसने (आर्द्रक-कुमार ने) १२ वर्ष और गृहस्थधर्म में रहने का निश्चय कर लिया।

बारह वर्ष की अवधि समाप्त होने पर आर्द्रककुमार ने फिर साधुवेश पहना, सूत्र एवं अर्थ में निपुण हुआ और एकाकी विचरण करता हुआ राजगृह में, जहाँ भगवान् महावीर उपदेश दे रहे थे, वहाँ पहुँचने के लिए चल पड़ा।

आर्द्रक के पिता ने जिन ५०० सैनिकों को उसकी रखवाली के लिए नियुक्त किया था, वे भी आर्द्रक के भाग जाने पर राजा के भय के भाग गये। वे जंगल में चौर्यवृत्ति करके अपना निर्वाह करने लगे। एक दिन आर्द्रक से उनकी मुठभेड़ हो गई। वे उन्हें पहचानकर पकड़ने लगे तो उन्हें आर्द्रक ने कहा—"अरे ! यह क्या अनार्य कर्म कर रहे हो ?" इस पर उन्होंने अपनी सारी आपबीती कह सुनाई। आर्द्रक ने उन्हें वैराग्यमय उपदेश दिया, जिससे विरक्त होकर वे सब आर्द्रक मुनि के पास दीक्षित हो गए।

आर्द्रक मुनि अपने शिष्य परिवार सहित जब राजगृह की ओर जा रहे थे, तभी रास्ते में एक राजा मिला, जिसने सेना सहित पड़ाव डाल रखा था। उस राजा का हाथी खम्भे से बँधा हुआ था, लेकिन आर्द्रक मुनि को देखते ही वह बन्धनमुक्त हो गया। इस पर उक्त राजा ने पूछा—"आर्द्रक मुनि ! आपको देखते ही यह हाथी कैसे छूट गया ?" मुनि ने कहा—**'न दुक्करं वारण-पासमोयणं'** अर्थात् भौतिक बन्धन से बद्ध हाथी का बन्धन से छूट जाना क्या बड़ी बात है ? मुझे तो कर्मावली के तन्तुओं से बँधे हुए बंधन का छूटना ही दुष्कर प्रतीत होता है। जब मेरे कर्मावली के बंधन छिन्न-भिन्न हो गये तो हाथी के बंधन के छिन्न-भिन्न हो जाने में आश्चर्य की क्या बात है ? राजा यह सुनकर अत्यन्त प्रभावित हुआ।

पाँच सौ शिष्यों से परिवृत होकर आर्द्रक मुनि जब भगवान् महावीर की वन्दना करने जा रहे थे, तभी मार्ग में उन्हें गोशालक, बौद्धभिक्षु, ब्रह्मव्रती (त्रिदण्डी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

या एकदण्डी), हस्तितापस आदि मिले। आर्द्रकमुनि के साथ इन सब भिक्षुओं आदि का जो वाद-विवाद हुआ, वही इस अध्ययन में वर्णित है।

इस अध्ययन की प्रारम्भिक पच्चीस गाथाओं में आर्द्रक मुनि का गोशालक के साथ वाद-विवाद है। इनमें गोशालक ने भगवान् महावीर की भरपेट निन्दा की है और बताया है कि वे पहले तो त्यागी थे, एकान्त में रहता थे और मौन रखते थे; लेकिन अब आराम से रहते हैं, सभा में बैठते हैं, मौन नहीं रखते। इस प्रकार के और भी आक्षेप गोशालक ने भ० महावीर पर लगाये हैं। आर्द्रक मुनि ने उन तमाम आक्षेपों का डटकर उत्तर दिया है। इस वाद-विवाद के मूल में कहीं भी गोशालक का नाम नहीं है। निर्युक्तिकार एवं वृत्तिकार ने इसका सम्बन्ध गोशालक के साथ जोड़ा है। क्योंकि वाद-विवाद को पढ़ने से मालूम होता है कि पूर्वपक्षी महावीर से पूर्णतया परिचित होना चाहिए। यह व्यक्ति गोशालक के सिवाय और कोई नहीं हो सकता। इसलिए वाद-विवाद का सम्बन्ध गोशालक के साथ जोड़ा गया है, जो उचित ही है। आगे ४२वीं गाथा तक बौद्ध-भिक्षुओं के साथ वाद-विवाद का वर्णन है, इनमें 'बुद्ध' शब्द आया है, तथा बौद्ध-धर्म के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी किया गया है। इसके पश्चात् ५१वीं गाथा तक ब्रह्मव्रती (त्रिदण्डी या एकदण्डी) के साथ वाद-विवाद का वर्णन है। ये सभी वेदवादी हैं और आर्हतमत को वेदबाह्य होने से अग्राह्य मानते हैं। अन्त में हस्तितापसों के साथ विवाद का वर्णन है, जो अनेक छोटे जीवों को कई बार मारने के बजाय एक हाथी को मारकर वर्ष भर तक का भोजन चला लेते थे। प्रथम श्रुतस्कन्ध के सातवें कुशील अध्ययन में हस्तितापस सम्प्रदाय का समावेश असंयतियों में किया गया है।

इस प्रकार आर्द्रकीय नामक इस अध्ययन में विविध साधकों के साथ आर्द्रक मुनि के हुए वाद-विवाद का रोचक वर्णन है।

उपर्युक्त परिचय के प्रकाश में आर्द्रकीय अध्ययन की क्रमप्राप्त गाथाएँ इस प्रकार हैं—

मूल पाठ

पुराकडं अद्द ! इमं सुणेह, मेगंतयारी समणे पुराऽऽसी।
से भिक्खुणो उवणेत्ता अणेगे, आइक्खइ ईण्हि पुढो वित्थरेणं॥ १॥
साऽऽजीविया पट्ठविया ऽत्थिरेणं, सभागओ गणओ भिक्खुमज्झे।
आइक्खमाणो बहुजन्नमत्थं, न संधयाई अवरेण पुव्वं॥ २॥
एगंतमेवं अदुवा वि ईण्हि दोऽवण्णमन्नं न समेति जम्हा।
पुव्विं च ईण्हि च अणागयं वा, एगंतमेवं पडिसंधयाई॥ ३॥
समिच्च लोगं तसथावराणं खेमंकरे, समणे माहणे वा।
आइक्खमाणो वि सहस्समज्झे एगंतयं साहयई तहच्चे॥ ४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धम्मं कहंतस्स उ णत्थि दोसो, खंतस्स दंतस्स जिइंदियस्स।
भासाय दोसे य विवज्जगस्स, गुणे य भासाय णिसेवगस्स ॥ ५ ॥
महव्वए पंच अणुव्वए य, तहेव पंचासवसंवरे य।
विरतिं इह सामणियंमि पन्ने, लवावसंक्की समणे त्ति बेमि ॥ ६ ॥

संस्कृत छाया

पुराकृतमार्द्र ! इदं शृणु, एकान्तचारी श्रमणः पुराऽऽसीत्।
स भिक्षूनुपनीयाऽनेकान् आख्यातीदानीं पृथक् विस्तरेण ॥१॥

सा जीविका प्रस्थापिताऽस्थिरेण सभागतो गणशो भिक्षुमध्ये।
आचक्षमाणो बहुजन्यमर्थं, न सन्दधात्यपरेण पूर्वम् ॥ २ ॥

एकान्तमेवं अथवाऽपीदानीं, द्वावन्योऽन्यं न समितो यस्मात्।
पूर्वं चेदानीं चानागतं च, एकान्तमेवं प्रतिसंदधाति ॥ ३ ॥

समेत्य लोकं त्रसस्थावराणां क्षेमकरः श्रमणो माहनो वा।
आचक्षमाणोऽपि सहस्रमध्ये, एकान्तकं साधयति तथार्चः ॥ ४ ॥

धर्मं कथयतस्तु नास्ति दोषः, क्षान्तस्य दान्तस्य जितेन्द्रियस्य।
भाषायाः दोषस्य विवर्जकस्य, गुणश्च भाषायाः निषेवकस्य ॥ ५ ॥

महाव्रतान् पंचाणुव्रतांश्च, तथैव पंचाश्रवसंवरांश्च।
विरतिमिह श्रामण्ये पूर्णे लवावस्वष्की श्रमण इति ब्रवीमि ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ

(**अद्द ! पुराकडं इमं सुणेह मे**) गोशालक आर्द्रक मुनि से कहता है—हे आर्द्रक ! महावीर स्वामी ने पहले जो आचरण किया था, उसे मुझसे सुन लो। (**एगंतयारी समणे पुराऽऽसी**) महावीर स्वामी पहले अकेले ही विचरण किया करते थे तथा तपस्वी थे। (**इण्हि से अणेगे भिक्खुणो उवणेत्ता पुढो वित्थरेण आइक्खइ**) अब वे (महावीर स्वामी) अनेक भिक्षुओं को इकट्ठे करके या अपने साथ रखकर पृथक्-पृथक् विस्तारपूर्वक धर्मोपदेश देते (कहते) हैं ॥१॥

(**अत्थिरेणं सा आजीविया पट्ठविया**) उस चंचल चित्त वाले महावीर स्वामी ने यह तो आजीविका बना ली है (**सभागओ गणओ भिक्खुमज्झे**) वह सभा में जाकर नेक भिक्षुओं के गण के बीच (**आइक्खमाणो बहुजन्नमत्थं**) बहुत-से लोगों के हित के लिए धर्मोपदेश देते हैं, (**अवरेण पुव्वं न संधयाई**) उनका यह वर्तमान व्यवहार उनके पहले व्यवहार से मेल नहीं खाता, यह पूर्वापरविरुद्ध आचरण है ॥२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(**एवं**) इस प्रकार (**एगंत**) या तो महावीर स्वामी का पहला व्यवहार एकान्त विचरण या एकान्तवास ही अच्छा (सम्यक् आचरण) हो सकता है, (**अदुवा वि इण्हि**) अथवा इस समय का अनेक लोगों के साथ रहने का व्यवहार ही अच्छा (सम्यक् आचरण) हो सकता है। (**दोऽवण्णमन्नं जम्हा न समेंति**) किन्तु परस्परविरुद्ध दोनों आचार अच्छे नहीं हो सकते; क्योंकि दोनों में परस्पर विरोध है, मेल नहीं खाता है।

आर्द्रक मुनि उत्तर देते हैं—(**पुव्विं च इण्हिं च अणागयं वा एगंतमेव**) भ० महावीर पूर्वकाल में (पहले), वर्तमान काल में (अब) तथा भविष्यत् काल में एकान्त का ही अनुभव करते हैं, इसलिए (**पडिसंधयाइ**) उनके पहले के, और इस समय के आचरण में परस्पर मेल है, विरोध नहीं है ॥३॥

(**समणे माहणे वा लोगं समिच्च**) बारह प्रकार की तपःसाधना द्वारा अपने शरीर को तपाये हुए तथा 'जीवों को मत मारो' (माहन) उपदेश देने वाले भ० महावीर केवलज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण चराचर लोक (चतुर्दश रज्ज्वात्मक) को जानकर (**तसथावराणां खेमंकरे**) त्रस और स्थावर जीवों के कल्याण-क्षेम के लिए (**सहस्समज्झे आइक्खमाणो वि**) हजारों लोगों के बीच में धर्मकथन करते हुए भी (**एगंतयं साहयइ**) एकान्तवास साध लेते हैं, एकान्तवास का अनुभव कर लेते हैं। (**तहच्चे**) क्योंकि उनकी चित्तवृत्ति उसी प्रकार की बनी हुई रहती है या उनकी चित्तवृत्ति सदैव एक रूप रहती है ॥४॥

(**धम्मं कहंतस्स उ दोसो णत्थि**) श्रुत-चारित्ररूप धर्म का उपदेश करने वाले श्रमण भ० महावीर को कोई दोष नहीं होता, (**खंतस्स दंतस्स जिइंदियस्स**) क्योंकि भगवान् महावीर क्षमाशील अथवा समस्त परीषहों को सहन करने वाले, मनोविजेता (दान्त) एवं जितेन्द्रिय हैं, (**भासाय दोसे य विवज्जगस्स भासाय णिसेवगस्स**) अतः भाषा के दोषों को वर्जित करने वाले भगवान् के द्वारा भाषा का सेवन (प्रयोग) किया जाना (**गुणे य**) गुणकर है, दोषकारक नहीं ॥५॥

(**लवावसंक्की समणे**) घातिक कर्मों से बिलकुल दूर हुए श्रमण भगवान् महावीर (**महव्वए पंच अणुव्वए य पंचासवसंवरे य**) वर्तमान श्रमणों के लिए पाँच महाव्रत तथा श्रावकों के लिए पाँच अणुव्रत एवं पाँच आश्रवों व संवरों का उपदेश देते हैं। (**तहेव पन्ने सामणियंमि विरतिं**) तथा पूर्ण साधुत्व में वे विरति का तथा पुण्य एवं उपलक्षण से पाप, बंध-निर्जरा एवं मोक्ष का उपदेश देते हैं, (**त्ति बेमि**) यह मैं कहता हूँ ॥६॥

व्याख्या

आक्षेप गोशालक के, उत्तर आर्द्रक मुनि के

प्रत्येकबुद्ध राजकुमार आर्द्रक जब भगवान् महावीर स्वामी की सेवा में जा रहे थे, तब गोशालक उनकी इस इच्छा को बदलने व उन्हें बरगलाने के लिए उनके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पास आया और कहने लगा—"आर्द्रक ! महावीर स्वामी के पास जाने से पहले मेरी बात सुन लो, बाद में जैसी इच्छा हो, वैसा करना। मैं तुम्हारे महावीर का पहला वृत्तान्त सुनाता हूँ, उसे सुन लो। महावीर स्वामी पहले जनसम्पर्करहित एकान्त स्थान में विचरण करते हुए कठोर तपस्या में लीन रहते थे, परन्तु इस समय वे तपस्या के क्लेश से पीड़ित होकर उसे छोड़-छाड़कर देवों, मनुष्यों, तिर्यंचों से खचाखच भरी हुई सभा में जाकर उपदेश देते हैं। उनकी तो बुद्धि ही बिगड़ गई है। अब उन्हें एकान्त अच्छा नहीं लगता। अतः अब वे अनेक शिष्यों को अपने साथ रखते हुए या एकत्र करके तुम जैसे भोले-भाले जीवों को मुग्ध करने के लिए विस्तृत रूप से धर्म की व्याख्या करते हैं।

अपने पहले के आचरण को छोड़कर अब महावीर स्वामी ने उससे सर्वथा उलटा यह दूसरे प्रकार का आचरण अपनाया है, निश्चय ही ऐसा करके उन्होंने एक प्रकार से अपनी जीविका स्थापित कर ली है, क्योंकि अकेले विचरण करने वाले मनुष्य का लोग तिरस्कार किया करते हैं। अतः अस्थिरचित्त महावीर जनसमूह का महान् आडम्बर रचकर अब विचरण करते हैं। कहा भी है—

छत्रं छात्रं पात्रं वस्त्रं यष्टिं च चर्चयति भिक्षुः।
वेषेण परिकरेण च कियताऽपि विना न भिक्षाऽपि॥

अर्थात्—भिक्षु जो अपने पास छत्र, छात्र, पात्र, वस्त्र और दण्ड रखता है, वह अपनी जीविका का साधन करने के लिए ही रखता है, क्योंकि वेष और आडम्बर के बिना जगत् में भिक्षा भी नहीं मिलती। इसलिए महावीर स्वामी ने भी जीविका के लिए ही इस मार्ग को स्वीकार किया है। महावीर स्वामी स्थिरचित्त नहीं हैं, किन्तु चंचल स्वभाव वाले हैं। वे पहले किसी शून्य वाटिका या किसी एकान्त स्थान में रहते हुए अन्त-प्रान्त आहार से अपना निर्वाह करते थे। किन्तु अब वे सोचते हैं कि रेत के कौर के समान स्वादरहित यह कार्य जिंदगी भर करना ठीक नहीं है, इसलिए अब वे भारी आडम्बर के साथ विचरण करते हैं। हे आर्द्रक ! इनके पहले के आचार और वर्तमान आचार में कोई मेल नहीं है, किन्तु धूप और छाया के समान एकान्त विरोध है, क्योंकि कहाँ तो एकाकी शान्त निर्भय होकर विचरण करना और कहाँ जनता की भीड़ के साथ घूमना ? यदि इस प्रकार आडम्बर के साथ विचरण करना ही धर्म का अंग है तो पहले महावीर स्वामी अकेले क्यों विचरण करते थे ? और यदि अकेले में ही रहना अच्छा था, तो इस समय वे लोगों के जमघट के बीच जाकर धर्मोपदेश क्यों देते हैं ? वस्तुतः वे चंचल हैं, किसी एक सिद्धान्त पर स्थिर नहीं रहते, न इनकी पहले-पीछे की चर्या एक-सरीखी है, किन्तु बदलती रहती है। इस कारण ये दाम्भिक हैं, धार्मिक नहीं है। इसलिए उनके पास तुम्हारा जाना ठीक नहीं है। तुम्हें उनसे कुछ भी मिलेगा, ऐसी आशा नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गोशालक के आक्षेप का उत्तर देते हुए आर्द्रकमुनि कहते हैं—भगवान् महावीर पहले, अब और भविष्य में भी अर्थात् सदैव एकान्त का ही अनुभव करते हैं। इसलिए उन्हें चंचल कहना तथा उनकी पूर्वकालिक चर्या के साथ वर्तमान चर्या की भिन्नता बताना तुम्हारा अज्ञान है। यद्यपि इस समय भगवान् महावीर विशाल जनसमूह में जाकर धर्मोपदेश देते हैं, तथापि उस श्रोतृसमुदाय में से किसी के प्रति न तो उनका राग है और न द्वेष है, किन्तु सबके प्रति उनका भाव समान है। इसलिए महान् जनसमूह में स्थित होने पर भी वे पहले के समान एकान्त का ही अनुभव करते हैं। अतः उनकी पूर्व-अवस्था और वर्तमान अवस्था में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है। इस समय वे सर्वथा वीतराग हैं, पहले वे चतुर्विध घनघाती कर्मों का क्षय करने के लिए वाचिक संयम (मौन) रखते थे और एकान्त-सेवन करते थे लेकिन अब घातिक कर्मों का नाश हो जाने के बाद शेष चतुर्विध अघातिक कर्मों के उदयानुसार विशाल जनसमूह की सभा में धर्मोपदेश की वाचिक प्रवृत्ति होती है।

वे न जीविकानिर्वाह के लिए धर्मोपदेश करते हैं और न राग-द्वेष से प्रेरित होकर ही। अतः उनको चंचल बताना अज्ञान है। यह तीसरी गाथा का आशय है।

इसके पश्चात् गोशालक के द्वारा जो यह आक्षेप लगाया गया था कि महावीर स्वामी की पहली चर्या दूसरी थी, अब दूसरी है, क्योंकि पहले वे अकेले रहते थे और अब वे अनेक मनुष्यों के साथ रहते हैं, अतः वे दाम्भिक हैं, सच्चे साधु नहीं हैं, इसका उत्तर देते हुए आर्द्रकमुनि कहते हैं कि भगवान् महावीर स्वामी सच्चे साधु हैं, वे दाम्भिक नहीं हैं। पहले उनको केवलज्ञान प्राप्त नहीं था, इसलिए वे उसकी प्राप्ति के लिए मौन रहते थे और एकान्तवास करते थे। उस समय उनके लिए यही उचित था, क्योंकि उस समय उनको सर्वज्ञता प्राप्त न होने से धर्मोपदेश करना ठीक नहीं था। वस्तुस्वरूप को पूर्णतया यथार्थरूप से जानकर ही धर्मोपदेश देना उचित होता है। अब भ० महावीर को केवलज्ञान प्राप्त हो गया है, उसके प्रभाव से उन्होंने समस्त चराचर त्रसस्थावरमय प्राणिजगत् को जान लिया है। प्राणियों के अधःपतन का पथ कौन-सा है? उनके कल्याण का साधन क्या है? यह उन्होंने भली-भाँति केवलज्ञान से जान लिया है। भगवान् दयालु हैं, क्षेमंकर[1] हैं इसलिए समस्त प्राणियों के प्रति क्षेमंकर भाव से (पूर्ण समभाव से) भगवान् का धर्मोपदेश होता है। भगवान् धर्मोपदेश देकर किसी भी प्रकार का स्वार्थसाधन करना नहीं चाहते, क्योंकि उनका अब कोई स्वार्थ शेष है ही नहीं, वे कृतकृत्य हो चुके हैं। अतः भगवान् महावीर पर स्वार्थ का आरोपण करना मिथ्या है।

---

१. यहाँ भ० महावीर तथा उनके श्रमण और माहन को त्रस और स्थावर प्राणियों के लिए क्षेमंकर बताकर यह सिद्ध कर दिया है कि साधु को षट्काय के जीवों का क्षेम-कल्याण करने में कोई दोष नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वार्थ के लिए जो अपनी चर्या या अवस्थाओं में परिवर्तन करता है, वही दाम्भिक है, परन्तु स्वार्थरहित पुरुष पूर्ण समभाव से जो उत्तमोत्तम अनुष्ठान करता है, वह दम्भ नहीं है। भगवान् महावीर स्वामी स्वार्थरहित, ममत्वरहित एवं राग-द्वेष रहित हैं, वे सिर्फ प्राणियों के कल्याण के लिए धर्मोपदेश करते हैं। इसलिए वे महात्मा, महापुरुष और परम दयालु हैं, दाम्भिक नहीं हैं। जिस व्यक्ति को भाषा के दोषों का ज्ञान नहीं है, उसका भाषण ही दोष का कारण होता है। अतः धर्मोपदेश करने वाले को भाषा के दोषों का ज्ञान और उन दोषों का त्याग करना आवश्यक है। जो पुरुष भाषा के दोषों को जानकर उनका त्याग करता हुआ भाषण करता है, उसका भाषण करना दोषजनक नहीं होता अपितु धर्म की वृद्धि आदि अनेक गुणों का कारण होता है, इसलिए धर्मोपदेश के लिए भगवान् महावीर स्वामी का भाषण करना गुण है, दोष नहीं है; क्योंकि वे भाषा के दोषों को त्यागकर भाषण करने वाले और प्राणियों को पवित्र मार्गदर्शन करने वाले हैं। यद्यपि धर्मोपदेश करते समय भगवान् को अनेक प्राणियों के मध्य में स्थित होना पड़ता है, तथापि इससे उनकी कोई हानि नहीं होती। वे पहले जिस तरह एकान्त का अनुभव करते थे, उसी तरह इस समय भी एकान्त का ही अनुभव करते हैं, क्योंकि उनके अन्तःकरण में किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं है, इसलिए हजारों प्राणियों के बीच में रहते हुए भी वे भाव से अकेले ही हैं। लोगों के मध्य में रहते हुए भी उनके शुद्ध भाव में कोई अन्तर नहीं आता। जैसे एकान्त स्थान में उनके शुक्लध्यान की स्थिति रहती है, उसी तरह हजारों मनुष्यों के मध्य में वे अविचल बने रहते हैं। ध्यान में अन्तर होने का कारण राग-द्वेष है। इसलिए राग-द्वेषरहित पुरुष के ध्यान में अन्तर होने का कोई कारण नहीं है। किसी विचारक ने कहा है—

रागद्वेषौ विनिर्जित्य किमरण्ये करिष्यसि ?
अथ नो निर्जितावेतौ किमरण्ये करिष्यसि ?

—यदि तुमने राग-द्वेष को जीत लिया तो जंगल में रहकर क्या करोगे ? और यदि रागद्वेष को जीता ही नहीं है, तो भी जंगल में रहकर क्या करोगे ?

तात्पर्य यह है कि राग-द्वेष ही मनुष्य के ध्यान में अन्तर के कारण हैं, जिसमें ये नहीं है, वह महात्मा चाहे अकेला रहे या हजारों मनुष्यों से घिरा हुआ रहे, उसकी स्थिति में जरा भी अन्तर नहीं पड़ता है। इस दृष्टि से लोगों के मध्य में रहना भगवान् के लिए दोष की बात नहीं है।

जो पुरुष समस्त सावद्यकर्मों के त्यागी साधु हैं, उनको मोक्ष-प्राप्ति के लिए भगवान् पाँच महाव्रतों के पालन का उपदेश देते हैं, जो देश से सावद्यकर्मों का त्याग करने वाले श्रावक हैं, उनके लिए वे ५ अणुव्रतों का उपदेश देते हैं। भगवान् ५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आश्रवों और १७ प्रकार के संयम का अपदेश देते हैं। संवरयुक्त पुरुष को विरति प्राप्त होती है इसलिए वे विरति का उपदेश देते हैं। विरति से निर्जरा और निर्जरा से मोक्ष होता है इसलिए वे निर्जरा और मोक्ष का उपदेश देते हैं। भगवान् कर्मों से दूर रहने वाले परमतपस्वी हैं। अतः उन पर पापकर्मों के करने का आरोप लगाना मिथ्या है।

अगली गाथा मे गोशालक अपने धर्म की महत्ता बताने हेतु आर्द्रकमुनि से कहता है और आर्द्रकमुनि उसका प्रतिवाद करते हैं—

मूल पाठ

सीओदगं सेवउ बीयकायं, आहायकम्मं तह इत्थियाओ।
एगंतचारिस्सिह अम्ह धम्मे, तवस्सिणो णाभिसमेइ पावं ॥ ७ ॥
सीओदगं वा तह बीयकायं, आहायकम्मं तह इत्थियाओ।
एयाइं जाणं पडिसेवमाणा, अगारिणो अस्समणा भवंति ॥ ८ ॥
सिया य बीओदगइत्थियाओ, पडिसेवमाणा समणा भवंतु।
अगारिणोऽवि समणा भवंतु, सेवंति उ तेऽवि तहप्पगारं ॥ ९ ॥
जे यावि बीओदगभोइ भिक्खू, भिक्खं विहं जायंति जीवियट्ठी।
ते णाइसंजोगमविप्पहाय कायोवगा णंतकरा भवंति ॥ १० ॥

संस्कृत छाया

शीतोदकं सेवतु बीजकायम्, आधाकर्म तथा स्त्रियः।
एकान्तचारिण इहाऽस्मद्धर्मे तपस्विनो नाभिसमेति पापम् ॥ ७ ॥
शीतोदकं वा तथा बीजकायं, आधाकर्म तथा स्त्रियः।
एतानि जानीहि प्रतिसेवमानाः अगारिणोऽश्रमणाः भवन्ति ॥ ८ ॥
स्याच्च बीजोदक स्त्रियः प्रतिसेवमानाः श्रमणाः भवन्तु।
अगारिणोऽपि श्रमणा भवन्तु, सेवन्ति तु तेऽपि तथाप्रकारम् ॥ ९ ॥
ये चाऽपि बीजोदक भोजिनो भिक्षवः, भिक्षाविधिं यान्ति जीवितार्थिनः।
ते ज्ञातिसंयोगमपि प्रहाय कायोपगाः नान्तकराः भवन्ति ॥ १० ॥

अन्वयार्थ

गोशालक कहता है—(**सीओदगं बीयकायं आहायकम्मं तह इत्थियाओ**) कच्चा (सचित्त) जल, बीजकाय, आधाकर्मयुक्त आहारादि, तथा स्त्रियों का (**सेवउ**) भले ही सेवन करता हो (**इह अम्ह धम्मे एगंतचारिस्स तवस्सिणो पावं णाभिसमेइ**) परन्तु जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अकेला विचरण करने वाला तपस्वी साधक है, उसे हमारे धर्म में पाप नहीं लगता ॥७॥

आर्द्रक मुनि कहते हैं—(**सीओदगं बीयकायं आहायकम्मं तह इत्थियाओ एयाइं जाणं पडिसेवमाणा अगारिणो अस्समणा भवंति**) सचित्त जल, बीजकाय, आधाकर्म-युक्त आहार और स्त्रियाँ, इनका सेवन करने वाले गृहस्थ हैं, श्रमण नहीं ॥८॥

(**सिया य बीओदग इत्थियाओ पडिसेवमाणा समणा भवंतु**) यदि बीजकाय (बीज वाली हरी सचित्त वनस्पति) कच्चा (सचित्त) जल, एवं कामिनियों का सेवन करने वाले पुरुष भी श्रमण हों, (**अगारिणो वि समणा भवंतु तेऽवि उ तहप्पगारं सेवंति**) तो गृहस्थ भी श्रमण क्यों नहीं माने जाएँगे ? क्योंकि वे भी पूर्वोक्त विषयों का सेवन करते हैं ॥९॥

(**जे यावि भिक्खू बीओदग भोइत्ति जीवियट्ठी भिक्खं विहं जायंति**) जो पुरुष भिक्षु होकर भी सचित्त बीजकाय, कच्चा जल और आधाकर्मदोषयुक्त आहारादि का उपभोग करते हैं, वे जीवन जीने से लिए ही भिक्षावृत्ति करते हैं। (**ते णाइसंजोग-मविप्पहाय**) वे अपने ज्ञातिजनों (परिवार) का संसर्ग छोड़कर भी (**कायोवगा**) अपनी काया (देह) का ही पोषण करते हैं, शरीर के ही उपकार में लगे हैं, (**णंतकरा भवंति**) वे अपने कर्मों का नाश करने या जन्म-मरणरूप संसार का अन्त करने वाले नहीं हैं ॥१०॥

व्याख्या

गोशालक के भोगवादी धर्म का आर्द्रक मुनि द्वारा प्रतिवाद

इन चार गाथाओं में से सातवीं गाथा में गोशालक द्वारा अपने सुविधावादी भौतिक भोगपरायण धर्म के माहात्म्य का मण्डन अंकित किया गया है, जिसका प्रतिवाद आठवीं, नौवीं और दसवीं गाथाओं में आर्द्रकमुनि द्वारा किया गया है।

गोशालक अपने धर्म की महत्ता और आकर्षकता बताने के लिए कहता है—आर्द्रक ! तुमने अपने धर्म की बात कही, पर तुम्हारे धर्म में आम जनता का कोई आकर्षण नहीं, क्योंकि उसमें पद-पद पर प्रतिबन्ध लगाया गया है, यह मत खाओ, वह मत पीओ, उससे संसर्ग मत करो इत्यादि रूप से अनेक सुख-सुविधाओं पर उसमें रोक लगा दी गई है, पर हमारे धर्म में ऐसा कुछ भी प्रतिबन्ध नहीं है। जो साधक अकेला निर्द्वन्द्व होकर विचरण करता है, तपस्वी है, वह चाहे कच्चा पानी पीए, चाहे जिस बीजकाय (सचित्त वनस्पति) का सेवन करे, चाहे स्त्रियों का संसर्ग एवं सेवन करे, उसे किसी प्रकार का पाप-दोष नहीं लगता।

इस भोगवादी धर्मसिद्धान्त का प्रतिवाद करते हुए आर्द्रकमुनि कहते हैं—वाह रे गोशालक ! तुम्हारे श्रमणों के ये लक्षण तो कुछ भी समझ में नहीं आए। क्योंकि सचित्त जल, सचित्त वनस्पति और कामिनियों का सेवन तो गृहस्थ भी करते हैं, और वे कुछ तप भी करते हैं, अकेले भी घूमते हैं, फिर गृहस्थ में और तुम्हारे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमणों में क्या अन्तर रहा ? मेरी दृष्टि में यह श्रमणों का लक्षण नहीं है। श्रमणों का लक्षण है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन करना, समभाव में रहना, तप-संयमयुक्त जीवन बिताना। सचित्त जल, वनस्पति, नारी आदि का सेवन करना तो भोगियों का लक्षण है, त्यागियों का नहीं। इनके सेवन करने से तो त्यागी श्रमण का जीवन पतित हो जाता है। अब रही अकेले रहने की बात। यदि अकेले रहने मात्र से ही श्रमणत्व आ जाता हो और कोई दोष न लगता हो, गृहस्थ भी जब परदेश जाते हैं, तब वहाँ अकेले रहते हैं, कहीं दूर नौकरी हो तो भी अकेले रहते हैं, वे भी श्रमण कहलाने लगेंगे। इसके अतिरिक्त बाह्य तपस्या से ही श्रमणत्व आ जाता हो तो गृहस्थ लोग भी ऐसी तपस्या करते रहते हैं, धन प्राप्ति के लिए वे भूख-प्यास के कष्टों को सहन करते हैं, क्या वे भी श्रमण माने जाएँगे। वस्तुतः वे गृहस्थ ही कहलाते हैं, श्रमण नहीं। इसलिए श्रमणत्व के ये दोनों लक्षण अतिव्याप्त दोषयुक्त हैं। जो व्यक्ति अपने परिवार आदि के संसर्ग को छोड़कर प्रव्रज्या लेकर भिक्षु बन गया है, वह यदि सचित्त जल, बीजकाय, आधाकर्मयुक्त आहार आदि तथा कामिनी का सेवन करता हो तो वह दाम्भिक ही समझा जाएगा। ऐसे पुरुष भिक्षाचर्या करते हैं, वह कर्मों का अन्त करने हेतु नहीं, किन्तु अपने उदर-भरण और शरीर-पोषण के लिए ही करते हैं। वास्तव में जो व्यक्ति षट्काय के जीवों का आरम्भ करते-कराते हैं, वे चाहे द्रव्य से ब्रह्मचारी भी हो, परन्तु वे संसार का अन्त करने में समर्थ नहीं है। अतः तुम्हारा सिद्धान्त मिथ्या है, उपादेय नहीं है।

सारांश

सातवीं गाथा में गोशालक द्वारा अपने सुविधावादी श्रमण सिद्धान्त की चर्चा की गई है, कि चाहे कैसा भी साधक हो, वह सचित्त जल, वनस्पति या आधाकर्मयुक्त आहारादि अथवा कामिनियों का सेवन करे तो भी कोई दोष नहीं है, बशर्ते कि वह एकाकी विचरण करता हो और तपस्वी हो। आर्द्रकमुनि ने इसका खण्डन आठवीं, नवीं, दसवीं तीन गाथाओं में किया है।

मूल पाठ

इमं वयं तु तुम पाउकुव्वं, पावाइणो गरिहसि सव्व एव।
पावाइणो पुढो किट्टयंता, सयं सयं दिट्ठि करेंति पाउं॥ ११॥

ते अन्नमन्नस्स उ गरहमाणा, अक्खंति भो समणा माहणा य।
सतो य अत्थी असतो य णत्थी, गरहामो दिट्ठि ण गरहामो किंचि॥ १२॥

ण किंचि रूवेणऽभिधारयामो, सदिट्ठिमग्गं तु करेमु पाउं।
मग्गे इमे किट्टिए आरिएहिं, अणुत्तरे सप्पुरिसेहिं अंजू॥ १३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु, तसा य जे थावरा जे य पाणा।
भूयाहिसंकाभिदुगुंछमाणा, णो गरहई वुसिमं किंचि लोए ॥ १४ ॥

संस्कृत छाया

इमां वाचं तु त्वं प्रादुष्कुर्वन् प्रवादिनः गर्हसे सर्वानेव।
प्रवादिनः पृथक् कीर्तयन्तः स्वकां स्वकां दृष्टिं कुर्वन्ति प्रादुः ॥ ११ ॥
तेऽन्योऽन्यस्य तु गर्हमाणाः, आख्यान्ति भोः श्रमणाः माहनाश्च।
स्वतश्चाऽस्ति अस्वतश्च नास्ति गर्हामहे दृष्टिं न गर्हामहे किंचित् ॥ १२ ॥
न कंचन रूपेणाभिधारयामः, स्वदृष्टिमार्गं च कुर्मः प्रादुः।
मार्गोऽयं कीर्तित आर्येरनुत्तरः सत्पुरुषैरंजु ॥ १३ ॥
ऊर्ध्वमधस्तिर्यग्दिशासु, त्रसाश्च ये स्थावरा ये च प्राणाः।
भूताभिशंकाभिर्जुगुप्समानो, नो गर्हते संयमवान् किंचिल्लोके ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ

(**इमं वयं तु पाउकुव्वं तुम सव्व एव पावाइणो गरिहसि**) गोशालक कहता है—हे आर्द्रक ! तुम इस वचन को कहकर समस्त प्रावादुकों (विभिन्न शास्त्रों के व्याख्याताओं) की निन्दा करते हो। (**पावाइणो पुढे किट्टयंता सयं सयं दिट्ठिं पाउं करेंति**) प्रावादुकगण पृथक्-पृथक् अपने सिद्धान्तों को बताते हुए अपनी-अपनी दृष्टि (दर्शन) को प्रकट करते हैं ॥११॥

(**ते समणा माहणा य अन्नमन्नस्स उ गरहमाणा अक्खंति**) आर्द्रक मुनि कहते हैं—वे श्रमण और ब्राह्मण परस्पर एक-दूसरे की निन्दा करते हुए अपने-अपने दर्शन की प्रशंसा करते हैं। (**सतो य अत्थि असतो य णत्थि दिट्ठिं गरहामो ण किंचि**) अपने दर्शन में प्रतिपादित क्रिया के अनुष्ठान से पुण्य, धर्म या मोक्ष होता है, ऐसा कहते हैं, अतः हम उनकी एकान्त एकांगी दृष्टि की निन्दा करते हैं, किसी व्यक्ति विशेष की हम कुछ भी निन्दा नहीं करते ॥१२॥

(**किंचि रूवेण ण अभिधारियामो**) हम किसी के रूप और वेष आदि की निन्दा नहीं करते. (**सदिट्ठिमग्गं तु पाउं करेमु**) किन्तु अपनी दृष्टि (दर्शन) के मार्ग को अभिव्यक्त करते हैं। (**इमे मग्गे अणुत्तरे सप्पुरिसेहिं आरिएहिं अंजू किट्ठिए**) यह मार्ग सर्वोत्तम है और आर्य सत्पुरुषों द्वारा निर्दोष रूप में कहा गया है ॥१३॥

(**उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु तसा य जे थावरा जे य पाणा**) ऊर्ध्व दिशा, अधो दिशा तथा तिरछी (पूर्वादि) दिशाओं में जो त्रस या स्थावर प्राणी हैं, (**भूयाहि-संकाभिदुगुंछमाणो बुसिमं लोए न किंचि गरहई**) उन प्राणियों की हिंसा से घृणा करने वाले पुरुष इस लोक में किसी की निन्दा नहीं करते ॥१४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

दार्शनिकों के विवाद के सम्बन्ध में आर्द्रक की दृष्टि

ग्यारहवीं गाथा में गोशालक ने फिर प्रश्न छेड़ा है कि आर्द्रक ! यों अपने मत के ही एकांगी प्रतिपादन से कौन तुम्हारी बात को सच्ची मान लेगा ? बात तो वही सत्य मानी जाएगी, जो विविध दार्शनिकों द्वारा बहुमत से मान्य हो, प्रस्तुत विषय में अर्थात् शीतजल, बीजकाय, आधाकर्म आदि के उपभोग के विषय में कर्मबन्ध बताकर तुम समस्त दार्शनिकों के मत की अवहेलना कर रहे हो। वे तो अपने दर्शन के मतानुसार शीतजल आदि के सेवन से संसार से पार होने का स्वयं प्रयत्न करते हैं, तथा अपनी-अपनी दृष्टि प्रकट करते हुए वे अपने-अपने दर्शन में विहित आचरण से पुण्य, धर्म एवं मोक्ष बताते हैं। परन्तु यदि तुम्हारे मन्तव्यानुसार शीतजल आदि के सेवन से कर्मबन्ध माना जाए तब तो इन दार्शनिकों का प्रयत्न व्यर्थ है, वह मुक्ति के साधक के बदले बन्धन का साधक होगा। इसलिए तुम समस्त दार्शनिकों की निन्दा कर रहे हो। इस आशय का गोशालक का आक्षेप है। इस आक्षेप का परिहार करते हुए आर्द्रक मुनि कहते हैं—गोशालक ! इसमें निन्दा की कोई बात नहीं है। वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन करना निन्दा नहीं है। निन्दा तो तब होती, जब मैं उन पर व्यक्तिगत आक्षेप करता। वस्तुतः इस प्रकार से व्यक्तिगत निन्दा करना समभावी साधु के लिए कथमपि उचित नहीं है। हमने तो उक्त एकान्त दृष्टिकोण का विरोध किया है, और करते हैं, जो विभिन्न दार्शनिक अपने-अपने दर्शन में कथित क्रिया के अनुष्ठान से ही पुण्य, धर्म और मोक्ष बतलाते हैं और दूसरों के दर्शन में उक्त आचरण से नहीं। इस प्रकार स्वदर्शन-प्रशंसा और परदर्शन-निन्दा से हमें घृणा है। हम किसी के व्यक्तिगत रूप या वेष की निन्दा नहीं करते, उसके अंगोपांगों की हम कोई बुराई नहीं करते; हम तो सिर्फ अपने दर्शन के मार्ग को ही अभिव्यक्त करते हैं।

देखो, सभी दार्शनिकों का अनुष्ठान भी परस्पर विरुद्ध प्रतीत होता है। फिर भी वे अपने-अपने पक्ष का समर्थन और परपक्ष को दूषित करते हैं। तथा सभी अपने-अपने धर्मशास्त्र में प्रतिपादित विधान से मुक्ति की प्राप्ति और परदर्शन के शास्त्र में उक्त विधान से मुक्ति का निषेध बतलाते हैं, यह बात सत्य है, मिथ्या नहीं है। परन्तु मैं इस नीति का आश्रय लेकर किसी की निन्दा नहीं करता, वरन् मध्यस्थ भाव से वस्तु के सत्य स्वरूप को बतला रहा हूँ।

फिर सभी अन्य दार्शनिक एकान्त दृष्टि को लेकर अपने-अपने पक्ष का समर्थन और अन्य पक्ष का निषेध करते हैं। उनकी यह एकान्तदृष्टि यथार्थ नहीं है, क्योंकि एकान्तदृष्टि से वस्तु का यथार्थ स्वरूप नहीं जाना जाता। वस्तुस्वरूप को जानने के लिए अनेकान्त दृष्टि ही उपयोगी है। उसी का आश्रय लेकर मैं वस्तु के यथार्थ स्वरूप को व्यक्त कर रहा हूँ, ऐसा करना किसी की निन्दा करना नहीं, अपितु वस्तु के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करना है। इसीलिए विद्वानों ने कहा है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नेत्रैर्निरीक्ष्य बिलकण्टककीटसर्पान्,
सम्यक् पथा व्रजति तान् परिहृत्य सर्वान् ।
कुज्ञान-कुश्रुति-कुमार्ग-कुदृष्टिदोषान्,
सम्यक् विचारयत कोऽत्र परापवादः ?

"नेत्रवान् पुरुष अपनी आँखों से बिल, काँटे, कीड़े और साँप आदि को देखकर उन सबको छोड़कर ठीक रास्ते से चलता है, इसी तरह विवेकी पुरुष कुज्ञान, कुश्रुति (मिथ्या आगम), कुमार्ग और कुदृष्टि के दोषों का भलीभाँति विचार करके सम्यक्मार्ग से चलता है। ऐसा करने में कौन-सी परनिन्दा है ?"

वास्तव में देखा जाय तो वे ही अन्यदर्शनी परनिन्दा करते हैं, जो पदार्थ को एकान्त नित्य या एकान्त अनित्य अथवा एकान्त सामान्य या विशेष स्वरूप को मानते हैं, जो अनेकान्तवादी अनेकान्त पक्ष को मानते हैं, वे किसी की निन्दा नहीं करते, क्योंकि वे तो पदार्थों को कथंचित् सत्, कथंचित् असत् तथा कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य, एवं कथंचित् सामान्य व कथंचित् विशेष रूप से स्वीकार करके सबका समन्वय करते हैं। ऐसा किये बिना जगत् को वस्तुस्वरूप का ज्ञान हो नहीं सकता। इसलिए हम रागद्वेषरहित होकर सिर्फ एकान्त दृष्टि को दूषित और अनेकान्त दृष्टि का समर्थन करते हैं। अन्य दार्शनिकों के ग्रन्थों में जो एकान्त दृष्टिकोण प्रतिपादित है, उसे और अपने दर्शन के अनेकान्तपरक दृष्टिकोण को उजागर कर देते हैं। ऐसा करना किसी की निन्दा करना नहीं है।

आगे आर्द्रककुमार कहते हैं—वस्तुतः देखा जाए तो शीतजल, बीजकाय आदि का सेवन करना मोक्षमार्ग नहीं है, अपितु सर्वज्ञ आर्य पुरुषों द्वारा प्रतिपादित वस्तु के यथार्थ स्वरूप को प्रगट करने वाला सर्वोत्तम मार्ग सम्यक्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप है, वही मनुष्यों के कल्याण का कारण है।

उस धर्म का पालन करने वाले संयमी पुरुष ऊपर, नीची और तिरछी दिशाओं में रहने वाले त्रस और स्थावर प्राणियों को दुःखित करने की पीड़ा की आशंका से वे किसी की निन्दा नहीं करते हैं। जिन कार्यों से प्राणियों का उपमर्दन सम्भव है उन सावद्य अनुष्ठानों का आचरण कदापि नहीं करते। वे रागद्वेषरहित पुरुष जगत् के उपकारार्थ जो वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन करते हैं, वह किसी की निन्दा करना नहीं है। यदि ऐसा करना भी निन्दा हो, तब तो आग गर्म होती है, पानी ठंडा होता है, यह कहना भी निन्दा मानना चाहिए। अतः वस्तु के यथार्थ स्वरूप को बताना निन्दा नहीं है।

मूल पाठ

आगंतगारे आरामगारे, समणे उ भीते ण उवेति वासं।
दक्खा हु संती बहवे मणुस्सा, ऊणातिरित्ता य लवालवा य ॥ १५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेहाविणो सिक्खिय बुद्धिमंता, सुत्तेहि अत्थेहि य णिच्छयन्ना ।
पुच्छिसु मा णे अणगार अन्ने, इति संकमाणो ण उवेति तत्थ ।। १६ ।।
णो कामकिच्चा ण य बालकिच्चा, रायाभिओगेण कुओ भएणं ।
वियागरेज्ज पसिणं नवावि, सकाम किच्चेणिह आरियाणं ।। १७ ।।
गंता च तत्था अदुवा अगंता, वियागरेज्जा समियासुपन्ने ।
अणारिया दंसणओ परित्ता, इति संकमाणो ण उवेति तत्थ ।। १८ ।।

संस्कृत छाया

आगन्त्रगारे आरामागारे श्रमणस्तु भीतो नोपैति वासम् ।
दक्षा हि सन्ति बहवो मनुष्याः, ऊनातिरिक्ताश्च लपालपाश्च ।। १५ ।।
मेधाविनः शिक्षित बुद्धिमन्तः, सूत्रेष्वर्थेषु च निश्चयज्ञाः ।
मा प्राक्षुरनगारा अन्य इति शंकमाणो नोपैति तत्र ।। १६ ।।
न कामकृत्यो न च बालकृत्यो, राजाभियोगेन कुतोभयेन ।
व्यागृणीयात् प्रश्नं नवाऽपि, स्वकामकृत्येनेहार्याणाम् ।। १७ ।।
गत्वा च तत्राऽथवाऽगत्वा, व्यागृणीयात् समतयाऽऽशुप्रज्ञः ।
अनार्याः दर्शनतः परीता इति शंकमाणो नोपैति तत्र ।। १८ ।।

अन्वयार्थ

(**समणे उ भीते आगंतगारे आरामगारे वासं ण उवेति**) गोशालक पुनः आर्द्रक मुनि से कहता है—तुम्हारे श्रमण भगवान् महावीर बड़े डरपोक हैं, इसीलिए तो जहाँ बहुत से आगन्तुक लोग ठहरते हैं, ऐसे गृहों में तथा आरामगृहों में निवास नहीं करते। (**बहवे मणुस्सा ऊणातिरित्ता लवालवा य दक्खा संति**) वे सोचते हैं कि उक्त स्थानों में बहुत से मनुष्य कोई न्यून, कोई अधिक तथा कोई वक्ता और कोई मौनी निवास करते हैं ।।१५।।

(**मेहाविणो सिक्खिय बुद्धिमंता सुत्तेहिं अत्थेहिं य णिच्छायन्ना अन्ने अणगार मा णे पुच्छिसु इति संकमाणो तत्थ ण उवेति**) एवं कोई बुद्धिमान्, कोई शिक्षा पाए हुए, कोई मेधावी तथा कोई सूत्रों और अर्थों के पूर्णरूप से निश्चय किये हुए व्यक्ति वहाँ निवास करते हैं। अतः ऐसे दूसरे साधु मुझसे कुछ प्रश्न न पूछ बैठें, ऐसी आशंका करके वहाँ महावीर स्वामी नहीं जाते ।।१६।।

(**णो कामकिच्चा ण य बालकिच्चा**) आर्द्रक मुनि ने गोशालक के आक्षेप का उत्तर देते हुए कहा—भगवान् महावीर स्वामी बिना प्रयोजन के कोई भी कार्य नहीं करते तथा वे बालक की तरह बिना विचारे कोई भी कार्य नहीं करते। (**रायाभिओगेण भएणं कुओ**) वे राजभय से भी धर्मोपदेश नहीं करते, फिर अन्य भयों की तो बात ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्या है ? (**पसिणं वियागरेज्जा नवावि**) भगवान् प्रश्न का उत्तर देते हैं और नहीं भी देते। (**सकाम किच्चेणिह आरियाणं**) वे इस जगत् में आर्य लोगों के लिए तथा अपने तीर्थंकर-नामकर्म के क्षय के लिए धर्मोपदेश करते हैं ॥१७॥

(**आसुपन्ने तत्था गंता अदुवा अगंता समिया वियागरेज्जा**) सर्वज्ञ भगवान् महावीर सुनने वालों के पास जाकर अथवा न जाकर समान भाव से धर्मोपदेश देते हैं (**अणारिया दंसणओ परित्ता इति संकमाणो तत्थ ण उवेति**) परन्तु अनार्य लोग दर्शन से भ्रष्ट होते हैं, इस आशंका से भगवान् उनके पास नहीं जाते हैं ॥१८॥

व्याख्या

डरपोक होने के आक्षेप का उत्तर

पन्द्रहवीं गाथा से लेकर १८वीं गाथा तक में गोशालक द्वारा भगवान् महावीर पर किये हुए डरपोक होने के आक्षेप का आर्द्रक मुनि द्वारा दिये गये उत्तर अंकित हैं।

आर्द्रक मुनि के पूर्वोक्त कथनों से निरुत्तर हुआ गोशालक पुनः अन्य प्रकार से भगवान् महावीर पर आक्षेप करता हुआ कहता है—आर्द्रक ! मालूम होता है, तुम्हारे श्रमण महावीर स्वामी सच्चे साधु नहीं है, अपितु राग-द्वेष और भय से भरे हुए दाम्भिक हैं। जहाँ बहुत से आए-गए लोग ठहरते हैं, उस स्थान में तथा बगीचे आदि में बने हुए स्थानों में वे नहीं ठहरते। वे समझते हैं कि इन स्थानों में बहुत से बड़े-बड़े धर्म के ज्ञाता, बड़े-बड़े प्रमाणनिपुण तांत्रिक और शास्त्र के ज्ञाता, व्रतों के ग्रहण-धारण करने में मेधावी, औत्पातिकी आदि बुद्धियों से युक्त, वक्ता, जाति आदि में श्रेष्ठ, योगसिद्धि एवं औषधिसिद्धि आदि के ज्ञाता होते हैं। वे अन्यतीर्थी बड़े मेधावी और आचार्य के पास रहकर शिक्षा पाये हुए होते हैं, वे सूत्र और अर्थ के धुरन्धर विद्वान् और बुद्धिमान् होते हैं। अतः वे यदि मुझसे कुछ पूछ बैठेंगे तो मैं उनका उत्तर नहीं दे सकूँगा, अतः वहाँ जाना ही ठीक नहीं है। यह सोचकर तुम्हारे महावीर स्वामी अन्यतीर्थियों के डर से उक्त स्थानों में नहीं ठहरते। अतः अन्यतीर्थियों से डरने वाले महावीर स्वामी डरपोक हैं। तथा सब में उनकी समदृष्टि नहीं है। इसलिए वे राग-द्वेष से युक्त हैं। यदि यह बात न होती तो वे अनार्य देश में जाकर अनार्यों को धर्मोपदेश क्यों नहीं देते ? तथा आर्य देश में भी सर्वत्र न जाकर कतिपय स्थानों में ही क्यों जाते हैं ? अतः वे समदृष्टि वाले नहीं, अपितु विषमदृष्टि होने के कारण राग-द्वेष से युक्त हैं।

इस प्रकार गोशालक के द्वारा किये हुए आक्षेपों का समाधान करते हुए आर्द्रक मुनि कहते हैं—गोशालकजी ! भगवान् महावीर स्वामी डरपोक और विषमदृष्टि नहीं हैं। किन्तु वे निष्प्रयोजन कोई भी कार्य नहीं करते, और न ही बिना विचारे किसी प्रकार की बालचेष्टा करते हैं। वे सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी हैं, वे सदा दूसरे प्राणियों के हित में तत्पर रहते हैं, इसलिए जिससे दूसरे का उपकार होता दिखता है, वही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कार्य वे करते हैं। भगवान् जब देखते हैं कि मेरे उपदेश से यहाँ कोई फल होने वाला नहीं है, तब वे वहाँ उपदेश नहीं करते। प्रश्नकर्ता का उपकार देखकर भगवान् उनके प्रश्न का उत्तर देते हैं, अन्यथा नहीं देते। वे राजा के भय से भी धर्म का उपदेश नहीं करते तो दूसरे के भय से तो उपदेश करेंगे ही कैसे? भगवान् स्वतन्त्र हैं, वे अपने पूर्वोपार्जित तीर्थंकर नामकर्म का क्षय करने तथा आर्य पुरुषों के उपकार के लिए धर्मोपदेश देते हैं। वे उपकार होता देखकर भव्य जीवों के पास जाकर भी धर्मोपदेश करते हैं, अन्यथा वहाँ रहकर भी उपदेश नहीं देते। चाहे चक्रवर्ती हो या दरिद्र, सबको समान भाव से भगवान् धर्म का उपदेश देते हैं। इसलिए उनमें रागद्वेष की गन्ध भी नहीं है। अनार्य देश में भगवान् नहीं जाते, इसका कारण अनार्य देश से उनका कोई द्वेष है, ऐसी बात नहीं है; किन्तु अनार्य पुरुष क्षेत्र, भाषा और आचरण से हीन हैं, तथा वे दर्शन और श्रद्धा से भी भ्रष्ट या हीन हैं। अतः कितना ही प्रयत्न करने पर उनका उपकार सम्भव नहीं है। अतः वहाँ जाना व्यर्थ समझकर वे अनार्य देश में नहीं जाते। आर्य देश में भी राग के कारण भगवान् भ्रमण करते हैं, ऐसी बात नहीं है। किन्तु भव्य जीवों एवं आर्य नर-नारियों के उपकार के लिए तथा अपने तीर्थंकर नामकर्म के क्षपण के लिए वे भ्रमण करते हैं, अतः भगवान् में रागद्वेष की कल्पना करना मिथ्या है।

भगवान् अन्यतीर्थिकों के डर से आगन्तुकों (आम जनता) के स्थानों पर नहीं ठहरते या नहीं जाते, यह कथन भी मिथ्या है, क्योंकि भगवान् सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी हैं, उनसे कुछ भी बात छिपी नहीं है। फिर वे प्रश्नों के उत्तर देने से डरें या हिचकिचाएँ, यह कल्पना भी कैसे की जा सकती है? एक अन्यतीर्थी तो क्या, सभी अन्यतीर्थी मिलकर भी भगवान् के सामने अपना सिर भी ऊँचा उठा नहीं सकते, अतः भगवान् को उनसे डर लगता है, यह कल्पना भी बेहूदी और झूठी है। सच्चाई यह है कि भगवान् वहीं पधारते हैं, जहाँ कुछ उपकार होता दिखता है, जहाँ कुछ भी उपकार होता नहीं दिखता, वहाँ वे नहीं पधारते।

मूल पाठ

पन्नं जहा वणिए उदयट्ठी, आयस्स हेउं पगरेति संगं।
तऊवमे समणे नायपुत्ते, इच्चेव मे होइ मई वियक्का॥ १९॥

नवं न कुज्जा विहुणे पुराणं, चिच्चाऽमइं ताइ य साह एवं।
एतोवया बंभवतित्ति वुत्ता, तस्सोदयट्ठी समणे त्ति बेमि॥ २०॥

समारभंते वणिया भूयगामं, परिग्गहं चेव ममायमाणा।
ते णाइसंजोगमविप्पहाय, आयस्स हेउं पगरंति संगं॥ २१॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वित्तेसिणो मेहुणसंपगाढा, ते भोयणट्ठा वणिया वयंति।
वयं तु कामेसु अज्झोववन्ना, अणारिया पेमरसेसु गिद्धा ॥ २२ ॥
आरंभगं चेव परिग्गहं च, अविउस्सिया णिस्सिय आयदंडा।
तेसिं च से उदए जं वयासी, चउरंतणंताय दुहाय णेह ॥ २३ ॥
णेगंत णच्चंतिव उदए सो, वयंति ते दो विगुणोदयंमि।
से उदए साइमणंतपत्ते, तमुदयं साहयइ ताइ णाई ॥ २४ ॥
अहिंसयं सव्वपयाणुकंपी, धम्मे ठियं कम्मविवेगहेउं।
तमायदंडेहिं समायरंता, अबोहीए ते पडिरूवमेयं ॥ २५ ॥

संस्कृत छाया

पण्यं यथा वणिगुदयार्थी, आयस्य हेतोः प्रकरोति संगम्।
तदुपमः श्रमणो ज्ञातपुत्रः, इत्येव मे भवति मतिर्वितर्कः ॥ १९ ॥
नवं न कुर्यात् विधूनयति पुराणं, त्यक्त्वाऽमतिं त्रायी स आह एवम्।
एतावता ब्रह्मव्रतमित्युक्तं, तस्योदयार्थी श्रमण इति ब्रवीमि ॥ २० ॥
समारभन्ते वणिजो भूतग्रामं, परिग्रहञ्चैव ममी कुर्वन्ति।
ते ज्ञाति संयोगमविप्रहाय, आयस्य हेतोः प्रकुर्वन्ति सङ्गम् ॥ २१ ॥
वित्तैषिणो मैथुनसम्प्रगाढाः, ते भोजनार्थं वणिजो व्रजन्ति।
वयं तु कामेष्वध्युपपन्ना, अनार्य्याः प्रेमरसेषु गृद्धाः ॥ २२ ॥
आरम्भकं चैव परिग्रहं चा व्युत्सृज्य निश्रिता आत्मदण्डाः।
तेषां च स उदयो यमवादीश्चतुरन्तानन्ताय दुःखाय नेह ॥ २३ ॥
नैकान्त नात्यन्तिक उदयः स एवं, वदन्ति ते द्वौ विगुणोदयौ।
तस्योदयः साद्यनन्तप्राप्तः, तमुदयं साधयति तायी ज्ञायी ॥ २४ ॥
अहिंसकं सर्वप्रजानुकम्पिनं, धर्मे स्थितं कर्मविवेकहेतुम्।
तमात्मदण्डैः समाचरन्तः अबोधेस्ते प्रतिरूपमेतत् ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ

(**जहा उदयट्ठी वणिए पन्नं आयस्स हेउं संगं पगरेति**) गोशालक कहता है—जैसे लाभार्थी बनिया क्रय-विक्रय के योग्य वस्तु को लेकर लाभ के निमित्त महाजनों से संग (सम्पर्क) करता है, (**तऊवमे समणे नायपुत्ते**) यही उपमा श्रमण ज्ञातपुत्र के लिए ठीक ही है, (**इच्चेव मे मई वियक्का होइ**) यही मेरी बुद्धि में वितर्क (विचार) उठते हैं ॥१९॥

आर्द्रक मुनि कहते हैं—(**नवं न कुज्जा**) भगवान् महावीर स्वामी नवीन कर्म-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बन्धन नहीं करते (**पुराणं विहुणे**) अपितु वे पुराने कर्मों का क्षय करते हैं। (**तायी स एवमाह अमइं चिच्चा**) षड्जीवनिकाय के त्राता—रक्षक वे भगवान् महावीर स्वयं ऐसा कहते हैं कि प्राणी कुमति का त्याग करके ही मोक्ष को पाता है। (**एतोवया बभवति त्ति वुत्ता**) इसी प्रकार से (त्याग करने मात्र से) ही मोक्ष का व्रत कहा गया है। (**तस्सोदयट्ठी समणे त्ति बेमि**) उसी मोक्ष के उदय-लाभ की इच्छा वाले श्रमण भगवान् महावीर हैं, ऐसा मैं कहता हूँ ॥२०॥

(**वणिया भूयगामं समारभंते**) हे गोशालक ! बनिये तो प्राणिसमूह का आरम्भ (हिंसाजनित प्रवृत्ति) करते हैं, (**परिग्गहं चेव ममायमाणा**) तथा वे परिग्रह पर भी ममत्व रखते हैं, (**ते णाइसंजोगमविप्पहाय आयस्स हेउं संगं पगरंति**) एवं वे ज्ञातिजनों के सम्बन्धों को न छोड़ते हुए लाभ के लिए दूसरों (सम्बन्ध न करने योग्य लोगों) से भी सम्बन्ध करते हैं ॥२१॥

(**वणिया वित्तेसिणो मेहुणसंपगाढा**) बनिये धन के अन्वेषी (अभिलाषी) और मैथुन में अत्यन्त आसक्त होते हैं, (**ते भोयणट्ठा वयंति**) वे भोजन (या भोगों) के लिए इधर-उधर जाते रहते हैं। (**वयं तु कामेसु अज्झोववन्ना पेमरसेसु गिद्धा अणारिया**) किन्तु हम तो ऐसे बनियों को कामभोगों में आसक्त, प्रेम-राग के वश में गृद्ध फँसे हुए और अनार्य कहते हैं, (मगर भगवान् महावीर इस प्रकार के स्वहानिकर्ता बनिये नहीं हैं) ॥२२॥

(**आरंभगं चेव परिग्गहं च अविउस्सिया णिस्सिय आयदंडा**) बनिये आरम्भ और परिग्रह को नहीं छोड़कर उनमें अत्यन्त बँधे रहते हैं, तथा वे अपनी आत्मा को दण्ड देते रहते हैं। (**तेसिं च से उदए जं वयासी**) उनका वह उदय (लाभ), जिसे तुम उदय (लाभ) बता रहे हो, वस्तुतः वह उदय नहीं है, (**चउरंतणंताय दुहाय णेह**) किन्तु वह चातुर्गतिक तथा अनन्त संसार का कारण होता है, तथा दुःख के लिए होता है, वह वास्तव में उदय है ही नहीं, होता भी नहीं ॥२३॥

(**से उदए एवं णेगंत णच्चंतिव ते वयंति**) विद्वान् लोग धनलाभ आदि पूर्वोक्त सावद्य-अनुष्ठान रूप उदय को न तो एकान्तिक उदय (लाभ) कहते हैं और न ही आत्यन्तिक। (**दो विगुणोदयंमि**) जो उदय एकान्तिक और आत्यन्तिक सुख रूप दोनों गुणों (लाभों) से रहित है, उसमें कोई गुण (विशेषता) नहीं है। (**से उदए साइमणंतपत्ते**) परन्तु भगवान् महावीर जिस उदय (लाभ) को पाए हुए हैं, वह सादि और अनन्त है। **तमुदयं साहयइ तायी णायी** जीवों के त्राता एवं सर्वज्ञाता भगवान् महावीर उसी उदय (केवलज्ञान एवं सर्वप्राणिदयारूप लाभ) की प्राप्ति का उपदेश दूसरों को करते हैं ॥२४॥

(**अहिंसयं सव्वपयाणुकंपी**) भगवान् प्राणियों की हिंसा से सर्वथा रहित हैं और समस्त प्राणियों पर अनुकम्पा (दया) करते हैं। (**धम्मे ठियं कम्मविवेगहेउं**) वे धर्म में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सदा स्थित रहते हैं और कर्मविवेक (कर्मनिर्जरा) के कारण है। (**तमायदंडेहिं समायरंता**) ऐसे वीतराग सर्वज्ञ पुरुष को तुम जैसे आत्मा को दण्ड देने वाले व्यक्ति ही बनिये के सदृश कहते हैं। (**एयं ते अबोहिए पडिरूवं**) यह कार्य तुम्हारे अज्ञान के अनुरूप ही है, अथवा ऐसा कथन तुम जैसे अबोधिक लोगों के मुँह से निकल सकता है ॥२५॥

व्याख्या

गोशालक द्वारा प्रदत्त वणिक् की उपमा का प्रतिवाद

१९वीं गाथा में गोशालक द्वारा भगवान् महावीर पर वणिक् होने का आक्षेप किया गया है, जिसका खण्डन आर्द्रक मुनि ने २०वीं गाथा से लेकर पच्चीसवीं गाथा तक में बड़े ही मार्मिक ढंग से किया गया है, जिसे शास्त्रकार ने अंकित किया है।

पूर्व गाथाओं में आर्द्रक मुनि ने एक बात स्पष्ट रूप से गोशालक से कही थी कि भ० महावीर जहाँ दूसरों के उपकार आदि रूप लाभ देखते हैं, वहाँ जाते हैं, और उपदेश भी देते हैं, परन्तु जहाँ वे ऐसा लाभ नहीं देखते, वहाँ वे नहीं जाते और न ही उपदेश देते हैं। इस बात को पकड़कर गोशालक भ० महावीर पर व्यंग्य कसते हुए आर्द्रक मुनि से कहता है—आर्द्रक ! लाभ तो बनिया देखता है। जैसे कोई बनिया कपूर, अगर, कस्तूरी, आदि बेचने योग्य वस्तुएँ लेकर लाभ के लिए दूसरे देश में जाता है, और वहाँ अपने लाभ के लिए महाजनों से सम्पर्क भी करता है, इसी तरह तुम्हारे ज्ञातपुत्र महावीर भी अपनी पूजा-प्रतिष्ठा तथा आहारादि के लाभ के लिए विभिन्न देशों (प्रान्तों या प्रदेशों) में जाते हैं, और वहाँ बड़े-बड़े लोगों से सम्पर्क करते हैं, उन्हें उपदेश देते हैं। इसलिए मुझे तो तुम्हारे महावीर बनियों जैसे लगते हैं। बनिये की उपमा उन पर ठीक घटित होती है, क्योंकि वे अपने स्वार्थ साधन या पूर्वोक्त लाभ के लिए ही जनसमूह में जाकर उपदेश आदि करते हैं, यह मैंने अपनी पैनी बुद्धि से सोच-विचारकर तुम्हें कहा है, मेरी बात तुम सत्य मानो।

गोशालक के द्वारा किये गये आक्षेप को सुनकर आर्द्रक मुनि बोले—वाह गोशालक वाह ! धन्य है तुम्हारी बुद्धि को। तुमने जो भगवान् महावीर स्वामी को लाभार्थी (उदयार्थी) वणिक् की उपमा दी है, वह पूर्णतः तुल्यता को लेकर दी है या एकदेशीय (आंशिक) तुल्यता को लेकर दी है। अगर तुमने एकदेशीय तुल्यता को लेकर वणिक् की उपमा दी है, तब तो मैं तुमसे सहमत हूँ, क्योंकि भ० महावीर भी जहाँ आत्मिक उपकार आदिरूप लाभ देखते हैं, वहीं उपदेश करते हैं, जहाँ ऐसा लाभ नहीं देखते, वहाँ वे उपदेश नहीं करते। अतः लाभार्थी वैश्य की उपमा अंशतः (इस दृष्टि से) तो ठीक संगत होती है, लेकिन सम्पूर्ण तुल्यता को लेकर यदि वणिक् से भगवान् की तुलना तुमने की है तो वह कदापि संगत नहीं होती। क्योंकि भगवान् सर्वज्ञ हैं, जबकि वणिक् अल्पज्ञ होते है। सर्वज्ञ होने के कारण वे समस्त सावद्यकार्यों से रहित होने से नये कर्मबन्धन नहीं करते, साथ ही पूर्वबद्ध (भव को प्राप्त कराने वाले) कर्मों की वे निर्जरा करते हैं, अथवा क्षय करते हैं; जबकि वणिक् ऐसा नहीं करते। भगवान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुबुद्धि को छोड़कर सबकी रक्षा करने वाले हैं। सर्वत्र भ्रमण करते हैं और उपदेश देते हैं। जो पुरुष कुबुद्धि का परित्याग करता है, सभी की रक्षा करता है, वही मुक्ति पाता है, ऐसा भगवान् ने स्वयं कहा है। अतः भगवान् मोक्षव्रत का अनुष्ठान करने वाले हैं, वे मोक्षोदय के अर्थी—मुक्ति लाभार्थी अवश्य हैं, यह मेरा अभिमत है, उनके सम्बन्ध में।

आर्द्रक मुनि आगे कहते हैं—गोशालक ! बनियों का आचरण तो पूर्वोक्त आचरण से प्रायः विपरीत होता है। सामान्यतः बनियों का आचरण ऐसा है कि वे सावद्य (सदोष) क्रिया या प्रवृत्ति (आरम्भयुक्त) करते हैं, जिससे अनेक प्राणियों की हिंसा होती है। वे ऊँट, बैलगाड़ी या अन्य साधनों द्वारा माल इधर से उधर भेजते या लाते-ले जाते हैं, जिसमें अनेक प्राणियों का संहार होता है, वे द्विपद-चतुष्पद, धन-धान्य, जमीन-जायदाद आदि परिग्रह पर ममत्व रखते हैं, वे उक्त परिग्रह में अत्यन्त आसक्त होते है, उसकी रक्षा के लिए मरने-मारने को तैयार हो जाते हैं। परिग्रह सम्बन्धी ममत्व के कारण दशों दिशाओं में रातदिन दौड़-धूप करते हैं। वे अपने ज्ञाति-जनों के साथ सम्बन्ध रखते हुए भी परिग्रह के लाभ के लिए जिन लोगों से वास्ता नहीं रखना चाहिए, उनसे भी अधिकाधिक सम्पर्क रखते हैं। परन्तु भगवान् वीर प्रभु ऐसे नहीं, वे निष्परिग्रही और निष्काम हैं, आरम्भ से दूर रहते हैं। वे छहों काया के जीवों के रक्षक हैं, स्वजनों के त्यागी हैं, अप्रतिबद्धविहारी हैं। वे धर्मवृद्धि के लिए उपदेश देते हैं। इसलिए भगवान् के साथ बनिये का सर्वसादृश्य बताना बिलकुल गलत है। फिर बनिये तो जैसे-तैसे व्यापार द्वारा एकमात्र धन के अभिलाषी होते हैं, वे धन की प्राप्ति के लिए इधर-उधर मारे-मारे फिरते हैं, वे सांसारिक काम-सुखों और कामिनियों में गाढ़ आसक्त रहते हैं। वे भोजनादि साधनों के लिए इतस्ततः घूमते रहते हैं। उन्हें हम वास्तविक उदयार्थी या लाभार्थी नहीं कह सकते। सच्चे माने में वे तो सांसारिक काम-भोगों में तथा रागरंगों में गाढासक्त रहते हैं। कहाँ वे और कहाँ कामभोग, राग-द्वेष आदि से सर्वथा दूर, कंचनकामिनी के त्यागी मोक्षलाभार्थी भगवान महावीर। ऐसे बनियों से भगवान् की तुलना करना तुम्हारी बुद्धि का दिवालियापन है।

गोशालक ! जरा ठंडे दिल-दिमाग से सोचो कि बनियों और भ० महावीर में कितना अन्तर है ? बनिये सावद्य अनुष्ठान—हिंसाजनित आरम्भ एवं परिग्रह का सर्वथा त्याग नहीं करते हैं। वे क्रय-विक्रय, पचन-पाचन आदि सावद्यकर्म करते हैं। वे धन-धान्य, हिरण्य-सुवर्ण, द्विपद-चतुष्पद आदि पदार्थों में अत्यन्त ममत्व रखते हैं। वे असत् आचरणों में प्रवृत्त रहते हुए अपनी आत्मा को अधोगति में गिराकर उसे दण्ड देते हैं। वे जिस लाभ के लिए इन कार्यों को करते हैं, जिन्हें तुम जैसे लोग लाभ मानते हैं, परन्तु जरा विवेक के गज से नाप कर देखो तो वह वास्तविक लाभ है ही नहीं। अनन्त काल तक चार गतियों में परिभ्रमण करना कौन-सा लाभ है ? वह तो घाटे का सौदा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, नुकसान है। जिस धन के लिए बनिये इतने सावद्य कार्य करते हैं, वह धन भी सबको प्राप्त नहीं होता, किसी पुण्यवान् को ही उसकी प्राप्ति होती है, किसी को अनेक उद्योग करने पर भी नहीं होती। इसलिए बनिये की आत्महानिकारक प्रवृत्ति और भ० महावीर की स्वपर-आत्मिक लाभ की प्रवृत्ति में रात-दिन का अन्तर है।

और फिर बनिये को उद्योग-धन्धों द्वारा जो लाभ होता है, वह भी सदा स्थायी नहीं होता, वह कभी होता है, कभी नहीं होता। कभी तो लाभ के बदले भारी हानि भी हो जाती है। दूसरे पहलू से इसके अर्थ पर विचार करें तो धनादि का लाभ न तो एकान्तिक सुख के लिए होता है, और न आत्यन्तिक सुख के लिए; इसलिए धनादि का लाभ इन दोनों गुणों से रहित होता है, इसलिए विद्वानों का कहना है, बनिये के लाभ में कोई गुण-विशेषता नहीं है। जबकि भगवान् महावीर जो केवलज्ञान और मोक्षसुख का लाभ प्राप्त करते हैं, वह एकान्तिक और आत्यन्तिक गुणों से युक्त हैं। क्योंकि वह उदय (लाभ) सादि-अनन्त हैं। सचमुच भ० महावीर ने धर्म-साधना के द्वारा निर्जरारूप लाभ या केवलज्ञान का लाभ प्राप्त किया है, वही यथार्थ लाभ है, और वह लाभ एकान्त लाभ है, क्योंकि उसके साथ अलाभ का तो कोई प्रश्न ही नहीं है, और वह आत्यन्तिक भी है। क्योंकि एक बार प्राप्त होने पर वह लाभ नष्ट नहीं होता, उससे बढ़कर कोई अन्य लाभ नहीं है। ऐसे उदय (लाभ) को प्राप्त करके भगवान् दूसरे लोगों को भी उसकी प्राप्ति कराने के लिए धर्मोपदेश देते हैं। भगवान् महावीर समस्त पदार्थों के यथार्थ स्वरूप के ज्ञाता हैं तथा प्राणियों के त्राता हैं अथवा भव्य जीवों को संसार सागर से पार करने वाले हैं। अतः भगवान् को बनिये की उपमा देना तुम्हारी अज्ञानता का सूचक है।

भगवान् महावीर स्वामी देवताओं द्वारा रचित समवसरण, छत्र, चामर, सिंहासन आदि का उपभोग करते हैं, इसलिए आधाकर्मी स्थान का उपयोग करने वाले साधु की तरह भगवान् भी अनुमोदनरूप कर्मों से लिप्त क्यों नहीं हो सकते? गोशालक की इस आशंका की निवृत्ति के लिए आर्द्रक मुनि कहते हैं—गोशालक! यद्यपि भगवान् महावीर देवों द्वारा रचित समवसरण आदि का उपयोग करते हैं, तथापि उनको कर्मबन्ध नहीं होता, क्योंकि वे कर्मबन्ध के कारण रूप हिंसा, परिग्रह, ममत्व, रागद्वेष आदि से दूर रहते हैं। वे पूर्ण अहिंसक होने के नाते किसी भी प्राणी की हिंसा न करते हुए उनका उपयोग करते हैं तथा समवसरण आदि के लिए उनकी जरा भी इच्छा नहीं होती, अपितु तृण और मणि, स्वर्ण-मुक्ता और पत्थर को समान दृष्टि से देखते हुए वे उनका उपयोग करते हैं। देवगण भी धर्म (प्रवचन) की उन्नति और भव्य जीवों को धर्म में प्रवृत्त करने के लिए समवसरण आदि की व्यवस्था करते हैं। भगवान् का इनमें जरा भी आग्रह न होने से उन्हें कर्मबन्ध नहीं होता। भगवान् समस्त प्राणियों पर अनुकम्पा करके ही समवसरण में विराजमान होकर धर्मोपदेश

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते हैं, वे धर्मोपदेश के बदले किसी से कुछ भी लेते नहीं, इसलिए अपने निःस्पृह, त्यागरूप सच्चे श्रमणधर्म में स्थित है।

ऐसे महान् पुरुष भगवान् को बनिये के सदृश वही बता सकता है, जो सावद्य अनुष्ठान द्वारा अपनी महाहानि करके आत्मा को दण्ड देता हो, अज्ञानी हो। गोशालक ! तुम्हारा कार्य तुम्हारी अज्ञानता का परिचायक है। तुम्हारी अज्ञानता यह है कि पहले तो तुम स्वयं कुमार्ग में प्रवृत्त हो रहे हो, उस पर भी विश्ववन्द्य एवं अतिशयधारक श्रमण भगवान् महावीर की तुलना बनिये से करते हो।

सारांश

१९वीं से २५वीं गाथा तक गोशालक द्वारा भगवान महावीर को वणिक् के सदृश बताने का व्यंग्य किये जाने पर आर्द्रक मुनि द्वारा दिये गये अकाट्य युक्तियों से परिपूर्ण समाधान अंकित किये गये हैं। यहाँ तक आर्द्रक मुनि का गोशालक के साथ जो संवाद हुआ है, उसका निरूपण है। इससे आगे की गाथाओं में अन्य साधकों के द्वारा किये हुए ऊटपटांग विधानों का समाधान अंकित किया गया है।

मूल पाठ

पिन्नागपिंडीमवि विद्ध सूले, केइ पएज्जा पुरिसे इमेत्ति।
अलाउयं वावि कुमारएत्ति, स लिप्पई पाणिवहेण अम्हं ॥ २६ ॥
अहवा वि विद्धूण मिलक्खु सूले, पिन्नागबुद्धीइ नरं पएज्जा।
कुमारगं वावि अलाबुयंति, न लिप्पइ पाणिवहेण अम्हं ॥ २७ ॥
पुरिसं च विद्धूण कुमारगं वा, सूलंमि केई पए जायतेए।
पिन्नायपिंडं सतिमारुहेत्ता, बुद्धाण तं कप्पइ पारणाए ॥ २८ ॥
सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए णियए भिक्खुयाणं।
ते पुन्नखंधं सुमहं जिणित्ता, भवंति आरोप्प महंतसंता ॥ २९ ॥
अजोगरूवं इह संजयाणं, पावं तु पाणाणं पसज्झ काउं।
अबोहिए दोण्ह वि तं असाहु, वयंति जे यावि पडिस्सुणंति ॥ ३० ॥
उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु, विन्नाय लिंगं तसथावराणं।
भूयाभिसंकाइ दुगुंछमाणे, वदे करेज्जा व कुओ विहऽत्थी ? ॥ ३१ ॥
पुरिसेत्ति विन्नत्ति न एवमत्थि, अणारिए से पुरिसे तहा हु।
को संभवो ? पिन्नगपिंडियाए, वायावि एसा बुइया असच्चा ॥ ३२ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वायाभियोगेण जमावहेज्जा, णो तारिसं वायमुदाहरिज्जा।
अट्ठाणमेयं वयणं गुणाणं, णो दिक्खिए बूय मुरालमेयं ॥ ३३ ॥
लद्धे अट्ठे अहो एव तुब्भे, जीवाणुभागे सुविचिंतिए व।
पुव्वं समुद्दं अवरं च पुट्ठे, उलोइए पाणितले ठिए वा ॥ ३४ ॥
जीवाणुभागं सुविचिंतयंता, आहारिया अन्नविहीय सोहिं।
न वियागरे छन्नपओपजीवी, एसोऽणुधम्मो इह संजयाणं ॥ ३५ ॥
सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए नियए भिक्खुयाणं।
असंजए लोहियपाणि से ऊ, णियच्छइ गरिहमिहेव लोए ॥ ३६ ॥
थूलं उरब्भं इह मारियाणं उद्दिट्ठभत्तं च पगप्पएत्ता।
तं लोणतेल्लेण उवक्खडेत्ता, सपिप्पलीयं पगरंति मंसं ॥ ३७ ॥
तं भुंजमाणा पिसितं पभूयं, णो उवलिप्पामो वयं रएणं।
इच्चेवमाहंसु अणज्जधम्मा, अणारिया बाला रसेसु गिद्धा ॥ ३८ ॥
जे यावि भुंजंति तहप्पगारं, सेवंति ते पावमजाणमाणा।
मणं न एयं कुसला करेंति, वायावि एसा बुइया उ मिच्छा ॥ ३९ ॥
सव्वेसिं जीवाणं दयट्ठयाए, सावज्ज दोसं परिवज्जयंता।
तस्संकिणो इसिणो नायपुत्ता, उद्दिट्ठभत्तं परिवज्जयंति ॥ ४० ॥
भूयाभिसंकाए दुगुंछमाणा, सव्वेसिं पाणाण निहाय दंडं।
तम्हा ण भुंजंति तहप्पगारं, एसोऽणुधम्मो इह संजयाणं ॥ ४१ ॥
निग्गंथधम्मंमि इमं समाहिं अस्सि सुठिच्चा अणिहे चरेज्जा।
बुद्धे मुणी सीलगुणोववेए, अच्चत्थं तं पाउणई सिलोगं ॥ ४२ ॥

संस्कृत छाया

पिण्याकपिण्डीमपि विद्ध्वा शूले कोऽपि पचेत् पुरुषोऽयमिति।
अलाबुकं वाऽपि कुमार इति स लिप्यते प्राणिवधेनाऽस्माकम् ॥ २६ ॥
अथवापि विद्ध्वा म्लेच्छः शूले, पिण्याकबुद्ध्या नरं पचेत्।
कुमारकं वाऽपि अलाबुकमिति, न लिप्यते प्राणिवधेनाऽस्माकम् ॥ २७ ॥
पुरुषं विद्ध्वा कुमारं वा, शूले कोऽपि पचेत् जाततेजसि।
पिण्याकपिण्डीसतिमारुह्य, बुद्धानां तत्कल्पते पारणायै ॥ २८ ॥
स्नातकानां तु द्वे सहस्रे, यो भोजयेन्नित्यं भिक्षूणाम्।
ते पुण्यस्कन्धं सुमहज्जनित्वा, भवन्त्यारोप्याः महासत्त्वाः ॥ २९ ॥
अयोग्यरूपमिह संयतानां, पापं तु प्राणानां प्रसह्य कृत्वा।
अबोध्यै द्वयोरपि तदसाधु, वदन्ति ये चाऽपि प्रतिशृण्वन्ति ॥ ३० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्षु दिशासु विज्ञाय लिंगं त्रसस्थावराणाम्।
भूताभिशंकया जुगुप्समानः वदेत् कुर्याद् वा कुतोऽप्यस्ति ?॥ ३१॥
पुरुष इति विज्ञप्तिर्नैवमस्ति अनार्यः स पुरुषस्तदा हि।
कः सम्भवः पिण्याकपिण्ड्यां वागप्येषोक्ताऽसत्या॥ ३२॥
वागभियोगेन यदावहेन्नो, तादृशीं वाचमुदाहरेत्।
अस्थानमेतद्वचनं गुणानां, नो दीक्षितः ब्रूयादुदारमेतत्॥ ३३॥
लब्धोऽर्थ अहो एव युष्माभिः जीवानुभागः सुविचिन्तितश्च।
पूर्वं समुद्रमपरञ्च स्पृष्टमवलोकितः पाणितले स्थितो वा॥ ३४॥
जीवानुभागं सुविचिन्त्य, आहार्यान्नविधेश्च शुद्धिम्।
न व्यागृणीयाच्छन्नपदोपजीवी, एषोऽनुधर्म इह संयतानाम्॥ ३५॥
स्नातकानां तु द्वे सहस्रे, यो भोजयेन्नित्यं भिक्षुकानाम्।
असंयतो लोहितपाणिः स तु, निगच्छति गर्हामिहैव लोके॥ ३६॥
स्थूलमुरभ्रमिह मारयित्वोद्दिष्टभक्तं च प्रकल्प्य।
तं लवणतैलाभ्यामुपस्कृत्य सपिप्पलीकं प्रकुर्वन्ति मांसम्॥ ३७॥
तं भुञ्जमानाः पिशितं प्रभूतं नोपलिप्यामो वयं रजसा।
इत्येवमाहुरनार्यधर्माणः, अनार्याः बालाः रसेषु गृद्धाः॥ ३८॥
ये चाऽपि भुंजते तथाप्रकारं, सेवन्ति ते पापमजानानाः।
मनो नैतत्कुशलाः कुर्वन्ति, वागप्येषोक्ता तु मिथ्या॥ ३९॥
सर्वेषां भूतानां दयार्थाय, सावद्यदोषं परिवर्जयन्तः।
तच्छंकिन ऋषयो ज्ञातपुत्रीयाः, उद्दिष्टभक्तं परिवर्जयन्ति॥ ४०॥
भूताभिशंकया जुगुप्समाना, सर्वेषां प्राणानां निधाय दण्डम्।
तस्मान् न भुञ्जते तथाप्रकारं, एषोऽनुधर्म इह संयतानाम्॥ ४१॥
निर्ग्रन्थधर्म इमं समाधिमस्मिन् सुस्थायानिहश्चरेत्।
बुद्धो मुनिः शीलगुणोपेतः अत्यर्थं तं प्राप्नोति श्लोकम्॥ ४२॥

अन्वयार्थ

(**केइ पिन्नागपिंडीमवि इमे पुरिसे इति सूले विद्धूणं पएज्जा**) गोशालक से निपटकर जब आर्द्रक मुनि भ० महावीर के पास जा रहे थे तो रास्ते में शाक्य भिक्षु मिले। वे आर्द्रक मुनि से कहने लगे—कोई व्यक्ति खली के पिण्ड को 'यह पुरुष है', यों मानकर शूल से बींधकर पकाए (**अलाउयं वावि कुमारएत्ति**) अथवा तुम्बे को कुमार (बालक) मानकर पकाए तो (**अम्हं स पाणिवहेण लिप्पई**) हमारे मत में वह प्राणिवध करने के पाप का भागी होता है ॥२६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(अहवा वि मिलक्खु पिन्नागबुद्धीइ नरं सूले विद्धूण पएज्जा) अथवा वह म्लेच्छ पुरुष मनुष्य को खली समझकर उसे शूल में बींधकर पकाए **(अलाबुयंति कुमारगं वावि)** अथवा कुमार (बालक) को तुम्बा समझकर पकाए तो **(अम्हं पाणिवहेण न लिप्पइ)** वह हमारे मत में प्राणिघात के पाप का भागी नहीं होता ॥२७॥

(केइ पुरिसं कुमारगं वा पिन्नायपिंड सूलंमि विद्धूण जायतेए आरुहेत्ता पए) कोई पुरुष मनुष्य को या बालक को खली का पिण्ड मानकर उसे शूल में बींधकर आग में रख (डाल) कर पकाए **(सति तं बुद्धाणं पारणाए कप्पइ)** तो वह पवित्र है, वह बुद्धों के पारणे के योग्य है ॥२८॥

(जे दुवे सहस्से सिणायगाणं भिक्खुयाणं णियए भोयए) जो पुरुष दो हजार भिक्षुओं को प्रतिदिन भोजन कराता है, **(ते सुमहं पुन्नक्खधं जिणित्ता महंतसत्ता आरोप्प भवंति)** वह महान् पुण्य उपार्जन करके महापराक्रमी आरोप्य नामक देव होता है ॥२९॥

(इह संजयाणं अजोगरूवं) आर्द्रक मुनि भिक्षुओं की बात सुनकर प्रत्युत्तर देते हैं—यह शाक्यमत संयमी पुरुषों के लिए अयोग्य है। **(पाणाणं पसज्झ काउं)** प्राणियों का घात करने पर भी पाप नहीं होता, **(जे वयंति, जे यावि पडिसुणंति दोण्ह वि अबोहिए तं असाहु)** जो ऐसा कहते हैं, और जो सुनते हैं, दोनों के लिए अबोधि (अज्ञान) वर्द्धक और बुरा है ॥३०॥

(उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु तसथावराणं लिंगं विन्नाय) ऊँची, नीची और तिरछी दिशाओं में त्रस और स्थावर प्राणियों के सद्भाव के चिह्न को जानकर **(भूयाभिसंकाइ दुगुंछमाणे वदे करेज्जा कुओ विहऽत्थी)** जीवहिंसा की आशंका से विवेकी पुरुष हिंसा से घृणा करता हुआ विचारकर बोले या कार्य भी विचारपूर्वक करे तो उसे दोष कैसे हो सकता है ? ॥३१॥

(पुरिसेत्ति विन्नत्ति न एवमत्थि तहा हु से पुरिसे अणारिया) खली के पिण्ड में पुरुषबुद्धि मूर्ख को भी नहीं होती, अतः जो पुरुष खली के पिण्ड में पुरुषबुद्धि अथवा पुरुष में खली के पिण्ड की बुद्धि रखता है, वह अनार्य है। **(पिन्नगपिंडियाए को संभवो)** खली की पिण्डी में पुरुष की बुद्धि कैसे संभव है ? **(एसा वायावि बुइया असच्चा)** अतः तुम्हारे द्वारा कही हुई ऐसी वाणी (बात) भी असत्य हो जाती है ॥३२॥

(वायाभियोगेण जमावहेज्जा णो तारिसं वायमुदाहरिज्जा) जिस वचन के प्रयोग करने से जीव को पाप लगता है, ऐसा वचन कदापि नहीं बोलना चाहिए। **(एयं वयणं गुणाणं अट्ठाणं)** क्योंकि आपका पूर्वोक्त वचन गुणों का स्थान (कारण) नहीं है, अपितु कर्मबन्ध का कारण है। **(एयं उरालं दिक्खिए णो बूयं)** अतः दीक्षा धारण किया हुआ व्यक्ति पूर्वोक्त निःसार वचन न बोले ॥३३॥

(अहो तुब्भे एव अट्ठे लद्धं) अहो बौद्धो ! तुमने ही संसार भर के पदार्थों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को जान लिया है, (**जीवाणुभागे सुविचिंतिए व**) तुमने ही जीवों के कर्मफल का विचार किया है, (**पुव्वं समुद्दं अवरं च पुट्ठे**) तुम्हारा ही यश पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र तक फैला हुआ है। (**उल्लोइए पाणितले ठिए वा**) तुमने ही हाथ पर रखी हुई वस्तु के समान इस जगत् को देख लिया है ॥३४॥

(**जीवाणुभागं सुविचिंतयंता**) जैन शासन को मानने वाले पुरुष जीवों के कर्म-फलस्वरूप पीड़ा को भलीभांति सोचकर (**अन्नविहीय सोहिं आहारिया**) शुद्ध अन्न का स्वीकार करते हैं। (**छन्नपओपजीवी न वियागरे**) तथा कपट से जीविका करने वाले बनकर मायामय वचन नहीं बोलते हैं। (**इह संजयाणं एसो अणुधम्मो**) इस जैन शासन में संयमी पुरुषों का यही धर्म है ॥३५॥

(**जे सिणायगाणं भिक्खुयाणं दुवे सहस्से णियए भोयए**) जो पुरुष दो हजार भिक्षुकों को प्रतिदिन भोजन कराता है, (**से उ असंजए लोहियपाणि इहेव लोए गरिहं णियच्छति**) वह असंयमी तथा रुधिर से लाल हाथ वाला पुरुष इसी लोक में निन्दित होता है ॥३६॥

(**इह थूलं उरब्भं मारियाणं उद्दिट्ठभत्तं च पगप्पएत्ता**) इस बौद्धमत को मानने वाले पुरुष एक बड़े मोटे ताजे भेड़े को मारकर उसे बौद्ध भिक्षुओं के भोजन के लिए बनाकर (**तं लोणतेल्लेण उवक्खडेत्ता**) उसे नमक और तेल के साथ पकाकर (**सपिप्पलीयं मंसं पगरंति**) फिर पिप्पली आदि द्रव्यों से उसे बघारकर तैयार करते हैं। वह मांस बौद्ध भिक्षुओं के भोजन के योग्य समझा जाता है। यही इन भिक्षुओं के आहार की रीति है ॥३७॥

(**अणज्जधम्मा अणारिया बाला रसेसु गिद्धा इच्चेवमाहसु**) अनार्यों का कार्य करने वाले अनार्य, अज्ञानी, रसलम्पट वे बौद्ध भिक्षु यह कहते हैं कि (**पभूयं पिसितं भुंजमाणा वयं रएणं णो उवलिप्पामो**) बहुत मांस खाते हुए भी हम लोग पाप से नहीं बँधते ॥३८॥

(**जे यावि तहप्पगारं भुंजंति**) जो लोग पूर्व गाथा में कहे अनुसार तथारूप मांस का सेवन करते हैं, (**ते अजाणमाणा पावं सेवंति**) वे अज्ञजन पाप का सेवन करते हैं। (**कुसला एयं मणं न करेंति**) अतः जो पुरुष कुशल हैं, वे उक्त प्रकार का माँस खाने की इच्छा भी नहीं करते। (**एसा वायावि मिच्छा बुइया**) मांसभक्षण में दोष न होने का कथन भी मिथ्या है ॥३९॥

(**सव्वेसिं जीवाणं दयट्ठयाए**) सम्पूर्ण प्राणियों पर दया करने के लिए (**सावज्ज दोसं परिवज्जयंता**) सावद्य दोष से दूर रहने वाले (**तस्संकिणो इसिणो नायपुत्ता**) तथा उस सावद्य की आशंका करने वाले भगवान् महावीर स्वामी के शिष्य ऋषिगण (**उद्दिट्ठभत्तं परिवज्जयंति**) उद्दिष्टभक्त का त्याग करते हैं ॥४०॥

(**भूयाभिसंकाए दुगुंछमाणा**) प्राणियों के उपमर्दन की आशंका से सावद्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुष्ठान से विरक्त रहने वाले साधु पुरुष (**सव्वेसिं पाणाणं दंडं निहाय**) समस्त प्राणियों को दण्ड देने का त्याग करके (**तहप्पगारं ण भुंजंति**) उस प्रकार के आहार का यानी दोषयुक्त आहार का उपभोग नहीं करते, (**इह संजयाणं एसो अणुधम्मो**) इस जैन शासन में संयमी पुरुषों का यही धर्म है ॥४१॥

(**निग्गंथ धम्मंमि इमं समाहिं अस्सि सुठिच्चा अणिहे चरेज्जा**) इस निर्ग्रन्थ धर्म में स्थित पुरुष पूर्वोक्त समाधि को प्राप्त करके तथा इसमें भली-भांति रहकर मायारहित होकर संयम का अनुष्ठान करे। (**बुद्धे मुणी सीलगुणोववेए अच्चंतयं तं सिलोगं पाउणई**) इस धर्म के आचरण के प्रभाव से पदार्थ ज्ञान को प्राप्त त्रिकालवेदी तथा शील और गुणों से युक्त पुरुष अत्यन्त प्रशंसा का पात्र होता है ॥४२॥

व्याख्या

बौद्धों के अपसिद्धान्त का आर्द्रक मुनि द्वारा खण्डन

२६वीं गाथा से लेकर ४२वीं गाथा तक में शास्त्रकार ने बौद्धभिक्षुओं के द्वारा प्रतिपादित अपसिद्धान्त का आर्द्रक मुनि द्वारा किया गया खण्डन अंकित किया है। पूर्वोक्त प्रकार से गोशालक को निरुत्तर करके भगवान् महावीर के पास जाते हुए श्री आर्द्रक मुनि को रास्ते में शाक्यमतीय भिक्षु मिले। वे आर्द्रक मुनि से बोले—आर्द्रक मुनि ! अच्छा हुआ, आपने बनिये के दृष्टान्त को दूषित बताकर बाह्य आचरण का खण्डन किया है, क्योंकि बाह्य अनुष्ठान तुच्छ है, आन्तरिक अनुष्ठान ही मोक्ष और संसार का साधन है। यही हमारे दर्शन का सिद्धान्त है। शाक्यभिक्षुओं ने अपनी बात का इस प्रकार प्रतिपादन किया—जैसे कोई मनुष्य उपद्रव आदि से पीड़ित होकर परदेश चला गया। दैवयोग से वह म्लेच्छों के देश में जा पहुँचा। वहाँ मनुष्यों को पकाकर खा जाने वाले बर्बर म्लेच्छ रहते थे। अतः उनके डर से वह पुरुष खली के पिण्ड पर अपने वस्त्र डालकर वहीं कहीं छिप गया। म्लेच्छ उसे ढूँढ़ रहे थे, तभी उन्होंने उसके वस्त्र से ढके हुए खली के पिण्ड को देखकर उसे मनुष्य समझा और लोहे के शूल में उसे पिरोकर उस पिण्ड को पकाया, तथा वस्त्र से ढके किसी तुम्बे को बालक समझकर उसे भी पकाया। इस प्रकार मनुष्यबुद्धि से खली के पिण्ड और बालकबुद्धि से तुम्बे को पकाने वाले उन म्लेच्छों को मनुष्य-वध का पाप लगा। क्योंकि पाप और पुण्य आन्तरिक भावों के अनुसार ही होता है। यद्यपि उन म्लेच्छों द्वारा मनुष्य-वध नहीं हुआ, तथापि उनके चित्त दूषित होने से उन्हें मानववध का ही पाप लगा। यह हमारी मान्यता है। द्रव्यतः प्राणिघात न होने पर भी चित्त दूषित होने से जीव को प्राणिवध का पाप लगता है, यह समझ लेना चाहिए।

इसके साथ ही हमारा यह भी सिद्धान्त है कि म्लेच्छ पुरुष यदि मनुष्य को खली मानकर तथा बालक को तुम्बा मानकर पकाएँ तो उन्हें प्राणिवध का पाप नहीं लगता। इस दृष्टि से यदि कोई बौद्धभक्त मनुष्य को या बालक को खली के पिण्ड मान-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर उन्हें शूल में पिरोकर आग में पकाता है, तो उसे प्राणिवध का पाप नहीं लगता है, वह आहार निर्दोष है और बुद्धों के पारणे के योग्य है। तात्पर्य यह है कि जो कार्य भूल से हो जाता है, तथा जो मन के संकल्प के बिना किया जाता है, वह बंधन का कारण नहीं होता। इसके पश्चात् वे शाक्यभिक्षु आर्द्रक मुनि से कहते हैं—हमारा यह भी सिद्धान्त है कि जो व्यक्ति प्रतिदिन दो हजार शाक्यभिक्षुओं को अपने यहाँ भोजन कराता है, वह महान् पुण्यराशि उपार्जित करके उसके फलस्वरूप आरोप्य नामक उत्तम देव होता है।

शाक्यभिक्षुओं का सिद्धान्त सुनकर आर्द्रक मुनि बोले—शाक्यभिक्षुओ! आपके ये (पूर्वोक्त) सिद्धान्त बड़े विचित्र हैं, ये संयमी पुरुषों के द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं हैं। जो पुरुष पाँच समिति और तीन गुप्तियों का पालन करता हुआ सम्यग्ज्ञानपूर्वक क्रिया करता है, और अहिंसाव्रत का आचरण करता है, उसी की भावशुद्धि होती है, परन्तु जो पुरुष अज्ञानी है, और मोह में पड़कर खली और पुरुष के अन्तर को नहीं जानता, उसकी भावशुद्धि कदापि नहीं हो सकती। मनुष्य को खली मानकर उसे शूल में बींधकर पकाना और उसे खली समझकर मांसभक्षण करना, और प्राणियों की जबर्दस्ती हिंसा करना अत्यन्त पापजनक ही है। चाहे वह हिंसा स्वयं की गई हो, अथवा दूसरे से कराई गई हो, या उसकी अनुमोदना की गई हो, वह हिंसा कभी धर्मयुक्त नहीं हो सकती। अतः ऐसे हिंसाकार्यों में पाप का अभाव बताने वाले और उसे सुनकर वैसा ही मानने वाले दोनों ही पुरुष अज्ञानी और पाप-वृद्धि करने वाले हैं। ऐसे पुरुषों का भाव कभी शुद्ध नहीं होता। यदि ऐसे पुरुषों का भाव शुद्ध माना जाय, तब तो जो लोग रोग आदि से पीड़ित प्राणी को विष आदि का प्रयोग करके मार डालने का उपदेश देते हैं, उनके भावों को भी शुद्ध क्यों नहीं मानना चाहिए? परन्तु बौद्धगण उसके भाव को शुद्ध नहीं मानते। यदि भावशुद्धि ही एक-मात्र कल्याण का साधन है, तो फिर बौद्धभिक्षु सिर का मुण्डन और भिक्षावृत्ति आदि बाह्य क्रियाएँ क्यों करते हैं? इससे यह सिद्ध होता है कि भावशुद्धि के साथ बाह्य क्रिया की पवित्रता भी आवश्यक है। जो लोग मनुष्य को खली समझकर उसे आग में पकाने के लिए झोंकते हैं, वे तो घोरपापी तथा प्रत्यक्ष ही अपनी आत्मा को धोखा देने वाले हैं। इसलिए उनका भाव भी दूषित है। अतः बौद्धों की पूर्वोक्त मान्यता ठीक नहीं है।

आर्द्रक मुनि बौद्धों के पक्ष को दूषित करके अब अपना पक्ष प्रस्तुत करते हैं—ऊँची, नीची और तिरछी सर्वदिशाओं में त्रस और स्थावर प्राणी निवास करते हैं। वे अपनी-अपनी जाति के अनुसार चलना, कम्पन, अंकुर उत्पन्न करना आदि क्रियाएँ करते हैं, तथा छेदन करने पर स्थावर प्राणी मुरझा जाते हैं, इत्यादि बातें उनके जीव होने के प्रत्यक्ष चिह्न हैं। अतः विवेकी पुरुष इन चिह्नों को देखकर इन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राणियों की रक्षा के लिए निरवद्य भाषा बोलते हैं, और निरवद्य कार्य का ही अनुष्ठान करते हैं। ऐसे पुरुषों को किसी प्रकार का पाप नहीं लगता। अतः इन पुरुषों का जो धर्म है, वही सच्चा और दोषरहित है। इसलिए ऐसे धर्म के वक्ता और श्रोता दोनों ही उत्तम है, यह जानो।

आर्द्रक मुनि कहते हैं—बौद्धभिक्षुओ ! यह तो सर्वविदित है कि खली के पिण्ड में पुरुषबुद्धि होना अत्यन्त मूर्ख के लिए भी सम्भव नहीं है। पशु आदि भी पुरुष और खली को एक नहीं मानते। अतः जो अज्ञानी व्यक्ति पुरुष को खली समझकर आग में भूनकर खाता है, दूसरे को भी ऐसा करने का उपदेश देता है, वह निश्चय ही अनार्य है। खली के पिण्ड में पुरुषबुद्धि होना सम्भव नहीं है। अतः जो पुरुष मनुष्य को खली का पिण्ड बताता है, वह बिलकुल असत्य भाषण करता है। अतः आपका मत आर्य पुरुषों के लिए उपादेय नहीं है। सिद्धान्त यह है कि सावद्य भाषा बोलने से पाप लगता है, इसलिए भाषा के गुण-दोष के ज्ञाता विवेकी पुरुष कर्मबन्धजनक भाषा नहीं बोलते तथा वस्तुतत्त्व को जानकर सत्य अर्थ के उपदेशक प्रव्रजित पुरुष 'खली पुरुष है, तथा पुरुष खली है,' एवं 'बालक तुम्बा है, और तुम्बा बालक है', ये या इस प्रकार के युक्तिरहित और मिथ्या वचन कभी नहीं कहते।

आर्द्रक मुनि बौद्धभिक्षुओं को निरुत्तर करके उन पर करारा व्यंग्य कसते हैं —वाह रे बौद्धभिक्षुओ ! तुमने ही दुनिया भर का पदार्थज्ञान प्राप्त किया है, समस्त जीवों के शुभाशुभ कर्मफल को तुम ही ने समझा है, इस प्रकार के विज्ञान से तुम्हारा यश ही संसार भर में फैला हुआ है, तुमने ही अपने विज्ञान बल से हथेली पर रखे हुए पदार्थ की तरह सब पदार्थों को जानने का ठेका ले लिया है। धन्य है, तुम्हें और तुम्हारे इस विचित्र विज्ञान को, जो पुरुष और खलीपिण्ड, तुम्बा और बालक में कोई अन्तर न मानने से पाप नहीं होता, और अन्तर मानने से पाप होना, बतलाता है।

आर्द्रक मुनि बौद्धमत का खण्डन करने के बाद अब अपने मत का मण्डन करते हुए कहते हैं—जैनेन्द्रशासन के अनुयायी बुद्धिमान् साधक प्राणियों की पीड़ा या कर्मफल का भलीभाँति विचार करके शुद्ध भिक्षान्न को ही ग्रहण करते हैं। वे ४२ दोषों को वर्जित करके जीवविघात से सर्वथा दूर रहने का प्रयत्न करते हैं। जैसे बौद्ध साधक भिक्षापात्र में आए हुए मांस को भी बुरा नहीं मानते, वैसे आर्हतसाधक नहीं करते। जो पुरुष कपट से जीविका करता और कपट से बोलता है, वह साधु बनने के योग्य नहीं है। इसलिए जैनधर्म ही पवित्र एवं आदरणीय है। बौद्धों का यह कथन ठीक नहीं है कि अन्न भी मांस के सदृश है, क्योंकि वह भी प्राणी का अंग है। किन्तु प्राणी का अंग होने पर भी जगत् में कोई वस्तु मांस और कोई अमांस मानी जाती है। जैसे दूध और रक्त दोनों ही गाय के विकार हैं, तथापि लोक में ये दोनों अलग-अलग माने जाते हैं, दूध भक्ष्य और रक्त अभक्ष्य माना जाता है। अपनी माता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और पत्नी दोनों ही स्त्रीजाति की होने पर भी लोक में माता अगम्य और पत्नी गम्य मानी जाती है। इसी तरह प्राणी के अंग होने पर भी अन्न और मांस में रात-दिन का अन्तर है। अन्न के तुल्य मांस को भक्ष्य बताना मिथ्या है।

आर्द्रक मुनि ने बौद्धों के उस अपसिद्धान्त का खण्डन करते हुए कहा—आपका यह कथन भी बिलकुल निराधार एवं मिथ्या है कि जो पुरुष बोधिसत्त्व के तुल्य दो हजार भिक्षुकों को प्रतिदिन भोजन कराता है, वह उत्तम गति को प्राप्त करता है। बल्कि ऐसे मांसाहारी भिक्षुओं को भोजन कराने वाला असंयमी होता है, उसके हाथ रक्त से सने रहते हैं, इसलिए वह परलोक में अनार्य लोगों की गति को प्राप्त करता है, वह उत्तम साधुजनों द्वारा निन्दित होता है। बौद्धभिक्षुओं की आहार की रीति भी बड़ी विचित्र है। बौद्धभिक्षुओं के भोजन के लिए उनके अनुयायी एक मोटे-ताजे हृष्ट-पुष्ट भेड़े को मारते हैं, तत्पश्चात् उसके मांस को निकालकर वे नमक और तेल में उसे पकाते हैं। फिर पिप्पली आदि द्रव्यों से उसे बघार देकर तैयार करते हैं। वह मांस बौद्धभिक्षुओं के भोजन के योग्य समझा जाता है। ऐसे मांस को खाने वाले अनार्यकर्मकारी बौद्धभिक्षुओं का यह कथन कितना बेहूदा है कि हम लोग मांस का भक्षण करते हुए भी पाप के भागी नहीं होते। इससे बढ़कर अज्ञान और क्या हो सकता है? अतः ये लोग अज्ञानी, अनार्य और रसलोलुप हैं। ऐसे पापकर्मा लोगों को भोजन कराने से कैसे सुगति-गमन या सुफल हो सकता है? वास्तव में जो लोग मांसाहार करते हैं, वे पुरुष अनार्य हैं, उन्हें पाप-पुण्य का बिलकुल भी ज्ञान नहीं हैं। एक तो मांस हिंसा के बिना मिलता नहीं, दूसरे वह स्वभाव से ही अपवित्र है, रौद्रध्यान का हेतु है, रक्त आदि दूषित पदार्थों से पूर्ण होता है तथा अनेक कीड़ों का घर है। फिर मांस बहुत ही दुर्गन्धित, शुक्रशोणित से उत्पन्न तथा सज्जनों द्वारा निन्दित है। ऐसे मांस को जो खाता है, वह व्यक्ति राक्षस के समान है और नरकगामी है। अतः विचार करने पर मालूम होता है कि मांसभोजी व्यक्ति अपनी आत्मा को स्वयमेव नरक में डालने के कारण आत्मद्रोही है, आत्मकल्याण-द्वेषी है।

मांस का अर्थ ही यह है कि जिसके मांस को मैंने इस भव में खाया है, वह प्राणी परभव में मेरा मांस खाएगा। इसलिए मांसभक्षी मोक्षगामी या मोक्षमार्ग का आराधक नहीं है। जो पुरुष कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक रखते हैं, जो ज्ञानी महात्मा हैं, वे मांस खाने की इच्छा भी नहीं करते तथा इसके अनुमोदन को भी पाप समझते हैं। अतः बौद्धों का यह आचरण अच्छा नहीं है।

जो पुरुष मुमुक्षु हैं, उन्हें मांसभक्षण से तो दूर रहना ही चाहिए उद्दिष्टभक्त का भी त्याग करना चाहिए, क्योंकि वह (आहार) छह काया के जीवों का आरम्भ करके तैयार किया जाता है। वह आहार यदि साधु के लिए बनाया गया हो तो साधु को छह काया के जीवों के आरम्भ का अनुमोदक बनना पड़ता है। इसलिए सुसाधु ऐसे आहार को नहीं लेते। भगवान् महावीर के शिष्य ऋषिगण सर्वसावद्य प्रवृत्तियों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के त्यागी होते हैं। अतः जिस आहार में उन्हें जरा भी दोष की आशंका होती है, उसे वे नहीं ग्रहण करते।

सर्वज्ञोक्त धर्म का पालन करने वाले उत्तम ऋषिगण प्राणियों के उपमर्दन की आशंका से सावद्यकार्य नहीं करते। वे किसी भी प्राणी को दण्ड (घात) नहीं देते, इसीलिए अशुद्ध (दोषयुक्त) आहार ग्रहण नहीं करते। पहले तीर्थंकर ने इस धर्म का आचरण किया, उसके बाद उनके शिष्यगण इस धर्म का आचरण करने लगे। इसलिए इस धर्म को अनुधर्म कहते है। अथवा यह धर्म शिरीष के फूल के समान अत्यन्त कोमल है, क्योंकि जरा-सा भी दोष (अतिचार) लगने पर यह नष्ट हो जाता है, इसलिए इसे अणुधर्म भी कहते हैं। यही धर्म उत्तम पुरुषों का धर्म है, यही मोक्षप्राप्ति का सच्चा साधन है।

यह निर्ग्रन्थधर्म किसी प्रकार के कपट से युक्त नहीं है, अपितु सारे कपटों से रहित है। इसीलिए यह निर्ग्रन्थ धर्म कहलाता है। **निर्गतः ग्रन्थेभ्यः कपटेभ्य इति निर्ग्रन्थः**। जो धर्म ग्रन्थ यानी कपट से रहित है, यह निर्ग्रन्थधर्म कहलाता है। यह धर्म श्रुत-चारित्ररूप है। अथवा उत्तम पुरुषों द्वारा आचरित, सर्वज्ञोक्त क्षमा आदि धर्म निर्ग्रन्थधर्म है। उक्त निर्ग्रन्थधर्म में स्थित साधक पूर्वोक्त समाधि को प्राप्त करके अशुद्ध आहार का त्याग करे, वह समस्त परीषहों को समभावपूर्वक सहता हुआ शुद्ध संयम का पालन करे। इस धर्म के आचरण के प्रभाव से पदार्थों के यथार्थस्वरूप को जानता हुआ क्रोधादिरहित त्रिकालदर्शी मूलगुण-उत्तरगुणसम्पन्न साधु सम्पूर्ण द्वन्द्वों से रहित हो जाता है। वह दोनों लोकों में प्रशंसनीय बन जाता है। ऐसे मुनिवरों के सम्बन्ध में किन्हीं विचारकों ने कहा है—

राजान् तृणतुल्यमेव मनुते, शक्रेऽपि नैवादरो,
वित्तोपार्जनरक्षणव्ययकृताः प्राप्नोति नो वेदनाः।
संसारान्तर्वर्त्यपीह लभते शं मुक्तवन्निर्भयः,
संतोषात् पुरुषोऽमृतत्वमचिराद् यायात् सुरेन्द्रार्चितः॥

सर्वज्ञोक्त धर्म में स्थित संतोषी साधु राजा-महाराजा आदि को तिनके के समान मानता है, वह इन्द्र को भी आदर नहीं देता, वह संतोषी पुरुष धन के अर्जन, रक्षण एवं व्यय के दुःखों को नहीं पाता। वह संसार में रहता हुआ भी मुक्त पुरुष के समान निर्भय होकर विचरण करता है, संतोष के कारण वह इन्द्रादि देवों का भी पूजनीय बन जाता है और शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करता है।

सारांश

यहाँ बौद्धभिक्षुओं की तीन मान्यताएँ प्रस्तुत की हैं—(१) पुरुष को खलीपिण्ड मान या समझकर जो उसे मारकर भूनकर खा जाता है, वह पाप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का भागी नहीं, (२) दो हजार बौद्धभिक्षुओं को भोजन कराने वाला महा-पुण्य का उपार्जन करता है, (३) मांसभक्षण, जो अमुक विधि से तैयार किया गया हो, उद्दिष्ट हो तो भी भिक्षुओं को सेवन करने में दोष नहीं है। किन्तु आर्द्रक मुनि ने तीनों का भली-भाँति खण्डन किया है, इन मान्यताओं को दोषयुक्त बताया है।

मूल पाठ

सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए णियये माहणाणं।
ते पुण्णखंधे सुमहऽज्जणित्ता, भवंति देवा इति वेयवाओ॥ ४३॥
सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए णियए कुलालयाणं।
से गच्छति लोलुवसंपगाढे तिव्वाभितावी णरगाभिसेवी॥ ४४॥
दयावरं धम्म दुगुंछमाणा वहावहं धम्म पसंसमाणा।
एगंपि जे भोययई असीलं, णिवो णिसं जाइ कुओ सुरेहिं ?॥ ४५॥

संस्कृत छाया

स्नातकानां तु द्वे सहस्रे, यो भोजयेन्नित्यं ब्राह्मणानाम्।
ते पुण्यस्कन्धं सुमहज्जनित्वा, भवन्ति देवा इति वेदवादः॥ ४३॥
स्नातकानां तु द्वे सहस्रे, यो भोजयेन्नित्यं कुलालयानाम्।
स गच्छति लोलुपसम्प्रगाढ़े, तीव्राभितापी नरकाभिसेवी॥ ४४॥
दयावरं धर्मं जुगुप्सन् वधावहं धर्मं प्रशंसन्।
एकमप्यशीलं यो भोजयति नृपः, निशां याति कुतः सुरेषु॥ ४५॥

अन्वयार्थ

ब्राह्मण लोग आर्द्रक मुनि से कहने लगे—(**जे दुवे सहस्से सिणायगाणं माहणाणं णियए भोयए**) जो पुरुष दो हजार स्नातक ब्राह्मणों को प्रतिदिन भोजन कराता है, (**ते सुमहं पुण्णखंधे जणित्ता देवा भवंति इति वेयवाओ**) वह भारी पुण्यराशि का उपार्जन करके देवता होता है, यह वेद का कथन है॥४३॥

आर्द्रक मुनि ने कहा—(**कुलालयाणं सिणायगाणं जे दुवे सहस्से णियए भोयए**) क्षत्रिय आदि कुलों में भोजन करने के लिए घूमने वाले दो हजार स्नातक ब्राह्मणों को जो प्रतिदिन भोजन कराता है, (**से लोलुव संपगाढे तिव्वाभितावी णरगाभिसेवी गच्छति**) वह व्यक्ति मांसलोलुप पक्षियों से परिपूर्ण नरक में जाता है और वह वहाँ भयंकर ताप भोगता रहता है॥४४॥

(**दयावरं धम्मं दुगुंछमाणा वहावहं धम्मं पसंसमाणा जे णिवो**) दयाप्रधान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म की निन्दा और हिंसाप्रधान धर्म की प्रशंसा करने वाला जो राजा **(एगंपि असीलं भोययई)** एक भी शीलरहित ब्राह्मण को भोजन कराता है, **(णिसं जाइ सुरेहिं कुओ)** वह अन्धकार युक्त नरक में जाता है, फिर देवों (देवलोकों) में जाने की तो बात ही क्या है ? ॥४५॥

व्याख्या

कुशील ब्राह्मण-भोजन का फल : शंका-समाधान

४३वीं गाथा से लेकर ४५वीं गाथा तक आर्द्रक मुनि और ब्राह्मणगण के संवाद का वर्णन है। आर्द्रक मुनि जब बौद्धभिक्षुओं को निरुत्तर करके आगे बढ़ने लगे तभी कुछ ब्राह्मणगण आए और वे कहने लगे—आर्द्रक मुने ! आपने गोशालक मत का एवं बौद्धमत का प्रतिवाद करके बहुत अच्छा किया, क्योंकि ये दोनों ही मत वेदबाह्य हैं। इसी तरह आर्हतमत भी वेदबाह्य है, इसे भी छोड़ दो। आप क्षत्रियों में श्रेष्ठ हैं। इसलिए वर्णों में श्रेष्ठ ब्राह्मणों की सेवा करना ही आपका धर्म है, शूद्रों की सेवा करना नहीं। आप तो यज्ञ-याग का अनुष्ठान करें और ब्राह्मणों की सेवा करें। ब्राह्मण-सेवा का माहात्म्य हम आपको बतलाते हैं—वेदपाठी, षट्कर्मपरायण, शौचाचारपालक एवं सदा स्नान करने वाले दो हजार स्नातक ब्रह्मचारी ब्राह्मणों को जो व्यक्ति प्रतिदिन भोजन कराता है, वह महान् पुण्यपुंज का उपार्जन करके स्वर्ग-लोक में देवता बनता है।

आर्द्रक मुनि ब्राह्मणों के लच्छेदार वचनों को सुनकर उनकी उक्त मान्यता का प्रतिवाद करते हुए कहते हैं—हे ब्राह्मणो ! हमारी यह मान्यता है और वह सिद्धान्त से समर्थित है कि जो मनुष्य वैडालिकवृत्ति वाले दो हजार स्नातक ब्राह्मणों को प्रतिदिन भोजन कराता है, वह कुपात्र को दान देने वाला है, क्योंकि जैसे बिल्ली मांस की खोज में घर-घर घूमती रहती है, वैसे ही ये वैडालिकवृत्ति वाले ब्राह्मण मांस आदि भोजन की प्राप्ति के लिए क्षत्रिय आदि के कुलों में घूमते रहते हैं। इसी-लिए इनका नाम 'कुलालय' पड़ा है, कुलालय का अर्थ होता है—मांसादि भोजन के लिए जो क्षत्रिय आदि के कुलों—घरों में पड़े रहते हैं। अतः दूसरों की कमाई पर गुलछर्रे उड़ाने वाले, निन्दनीय जीविका वाले ऐसे ब्राह्मण कुपात्र हैं, वे शीलरहित होते हैं। ऐसे ब्राह्मणों को भोजन कराना कुपात्रदान देना है। अतः ऐसे ब्राह्मणों को भोजन कराने वाला व्यक्ति मांसभक्षी वज्रचंचु पक्षियों से परिपूर्ण तथा भयंकर वेदना से युक्त नरक में जाता है। सचमुच दयाप्रधान धर्म की निन्दा और हिंसाप्रधान धर्म की प्रशंसा करने वाला विवेकमूढ़ शासक हजार तो क्या एक भी व्रतरहित, शीलहीन ब्राह्मण को षट्कायिक जीवों का उपमर्दन करके भोजन कराता है, वह घोर अन्धकार से भरे हुए नरक में जाता है। वह मूढ़ व्यर्थ ही अपने आपको धर्मात्मा मानता है। वह मरकर अधम देव भी नहीं होता, फिर उत्तम देव होने की बात ही क्या है ? ऐसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक भी अशील ब्राह्मण को भोजन कराने से जब नरक होता है, तब फिर ऐसे दो हजार ब्राह्मणों को भोजन कराने से तो कहना ही क्या है ? मूल में मांसाहार आदि हिंसाजनित भोजन करना-कराना नरक-गमन का ही कारण होता है ।

दूसरी बात यह है कि ब्राह्मणों को जाति का बड़ा भारी अभिमान होता है, जबकि जन्म (जाति) कर्मवश प्राप्त होता है, वह नित्य नहीं है । इसलिए बुद्धिमान् पुरुष जाति का मद नहीं करते । कई लोग तो यहाँ तक डींग हाँका करते हैं कि "ब्राह्मण तो ब्रह्माजी के मुख से पैदा हुए हैं, क्षत्रिय भुजा से, वैश्य उदर या उरु से और शूद्र पैरों से पैदा हुए हैं ।"[1] परन्तु यह बात सत्य से कोसों दूर है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो वर्णों में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए । चारों वर्ण ब्रह्मा से उत्पन्न होने के कारण एक समान होने चाहिए, परन्तु ब्राह्मणों को चारों वर्णों को समान मानना अभीष्ट नहीं है । फिर ब्रह्मा के मुख आदि से चारों वर्णों की उत्पत्ति होती न तो आज दिखाई देती है और न पहले ही देखी गई है । यह कपोलकल्पना है, युक्तिरहित होने से यह बात प्रमाण नहीं है । फिर जाति तो अनित्य है, यह ब्राह्मण धर्म की भी मान्यता है । जैसे कि कहा है—

"शृगालो वै एष जायते यः सपुरीषो दह्यते ।"

—जिसके शरीर में विष्टा लगी हुई है, वह मृत व्यक्ति यदि विष्ठासहित जलाया जाता है तो वह अवश्य ही सियार होता है । यानी गीदड़ की योनि में जन्म लेता है ।

सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च ।
त्र्यहेन शूद्री भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयी ॥

जो ब्राह्मण मांस, चमड़ा या लाख एवं नमक बेचता है, वह शीघ्र ही पतित हो जाता है । दूध बेचने वाला तो तीन ही दिन में शूद्र हो जाता है ।

इत्यादि वाक्यों में जातिभ्रष्ट होना जाति की अनित्यता को सूचित करता है । इसी प्रकार तमाम जातियों का परलोक में भ्रष्ट या नष्ट होना ब्राह्मण धर्म में भी कहा है । जैसा कि उनके धर्मग्रन्थ में कहा है—

कायिकैः कर्मणां दोषैः याति स्थावरतां नरः ।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥

कायिक कर्मों के दोष से यानी शरीर द्वारा किये गए पापकर्मों से जीव स्थावर योनि को प्राप्त करता है और जो वाणी से पाप करता है, वह पक्षी तथा मृग आदि होता है तथा जो मानसिक पाप करता है, वह चाण्डाल (अन्त्यज) जाति में जन्म लेता है । अतः जाति अनित्य है, यह निश्चित है । फिर जो मनुष्य इस अनित्य

---

१. ब्राह्मणोस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
उरुभ्यां वैश्यो जातः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाति को पाकर मद करता है, उससे बढ़कर मूर्ख कौन होगा ? इसके अतिरिक्त ब्राह्मणगण पशुहिंसा को धर्म का अंग मानते हैं, यह भी ब्राह्मणत्व के अनुकूल कार्य नहीं है। अतः हिंसा के समर्थक मांसभोजी ब्राह्मणों को भोजन कराने से नरक के सिवाय और कौन-सी गति प्राप्त हो सकती है ? यह आर्द्रक मुनि का तात्पर्य है।

मूल पाठ

दुहओ वि धम्मंमि समुट्ठियामो, अस्सि सुठिच्चा तह एसकाले।
आयारसीले बुइएह नाणी, ण संपरायंमि विसेसमत्थि ॥ ४६ ॥
अव्वत्तरूवं पुरिसं महंतं, सणातणं अक्खयमव्वयं च।
सव्वेसु भूतेसु वि सव्वओ से, चंदो व तारांहिं समत्तरूवे ॥ ४७ ॥
एवं ण मिज्जंति ण संसरंती, ण माहणा खत्तियवेसपेसा।
कीडा य पक्खी य सरीसिवा य, नरा य सव्वे तह देवलोगा ॥ ४८ ॥
लोयं अयाणित्तिह केवलेणं, कहंति जे धम्ममजाणमाणा।
णासंति अप्पाण परं च णट्ठा, संसारघोरंमि अणोरपारे ॥ ४९ ॥
लोयं विजाणंतिह केवलेणं, पुन्नेण नाणेण समाहिजुत्ता।
धम्मं समत्तं च कहंति जे उ, तारंति अप्पाण परं च तिन्ना ॥ ५० ॥
जे गरहियं ठाणमिहावसंति, जे यावि लोए चरणोववेया।
उदाहडं तं तु समं मईए, अहाउसो विप्परियासमेव ॥ ५१ ॥

संस्कृत छाया

द्विधाऽपि धर्मे समुत्थिताः, अस्मिन् सुस्थितास्तथैष्यत्काले।
आचारशील उक्त इह ज्ञानी, न सम्पराये विशेषोऽस्ति ॥ ४६ ॥
अव्यक्तरूपं पुरुषं महान्तं सनातनमक्षयमव्ययं च।
सर्वेषु भूतेष्वपि सर्वतोऽसौ चन्द्र इव तारासु समस्तरूपः ॥ ४७ ॥
एवं न मीयन्ते न संसरन्ति, न ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यप्रेष्याः।
कीटाश्च पक्षिणश्च सरीसृपाश्च, नराश्च सर्वे तथा देवलोकाः ॥ ४८ ॥
लोकमज्ञात्वेह केवलेन, कथयन्ति ये धर्ममजानानाः।
नाशयन्त्यात्मानं परञ्च नष्टाः, संसारघोरेऽपारे ॥ ४९ ॥
लोकं विजानन्तीह केवलेन, पूर्णेन ज्ञानेन समाधियुक्ताः।
धर्मं समस्तं कथयन्ति ये तु, तारयन्त्य त्मानं परं च तीर्णाः ॥ ५० ॥
ये गर्हितं स्थानमिहावसन्ति, ये चाऽपि लोके चरणोपेताः।
उदाहृतं तत्तु समं स्वमत्या, अथायुष्मन् ! विपर्यासमेव ॥ ५१ ॥

अन्वयार्थ

एकदण्डी लोग आर्द्रक मुनि से कहते हैं—(**दुहओ वि धम्मंमि समुट्ठिया**)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आप और हम दोनों ही धर्म में सम्यक् प्रकार से स्थित-प्रवृत्त हैं। (**अस्सिं सुठिच्चा तह एसकाले**) हम दोनों भूत, वर्तमान तथा भविष्य, तीनों काल में धर्म में स्थित हैं। (**आयारसीले नाणी भुइए**) हम दोनों के मत में आचारशील पुरुष को ही ज्ञानी कहा गया है। (**संपरायंमि ण विसेसमत्थि**) आपके और हमारे दर्शन में संसार के स्वरूप में कोई खास अन्तर है ॥४६॥

(**पुरिसं अव्वत्तरूवं महंतं सणातणं अव्वयं अक्खयं**) यह पुरुष (आत्मा) अव्यक्त रूप है, यानी इन्द्रिय और मन से अगोचर है, तथा सर्वलोकव्यापी और सनातन (नित्य) है, यह क्षय और व्यय (नाश) से रहित है (**से सव्वेसु भूतेसु वि सव्वओ तारांहि चंदो व समत्तरूवे**) यह आत्मा (पुरुष) सब भूतों में सम्पूर्ण रूप से रहता है, जैसे चन्द्रमा समस्त तारों के साथ सम्पूर्ण रूप से सम्बन्धित रहता है ॥४७॥

आर्द्रक मुनि कहते हैं—(**एवं ण मिज्जंती**) हे एकदण्डियो ! आपके सिद्धान्तानुसार सुखी (सुभग) एवं दुःखी (दुर्भग) आदि व्यवस्था की संगति नहीं हो सकती (**ण संसरंती**) और जीव (आत्मा) का अपने कर्म से प्रेरित होकर नाना गतियों में गमनागमन भी सिद्ध नहीं हो सकता। (**ण माहणा खत्तियवेसपेसा**) एवं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और प्रेष्य (शूद्र) रूप भेद भी सिद्ध नहीं हो सकता, (**कीडा य पक्खी य सरीसिवा य**) तथा कीट, पक्षी, एवं सरीसृप—रेंगने वाले प्राणी इत्यादि योनियों की विविधता भी सिद्ध नहीं हो सकती, (**नरा य सव्वे तह देवलोया**) इसी प्रकार सर्व-मनुष्य तथा देवलोक के देव आदि गतियों के भेद भी सिद्ध नहीं हो सकते ॥४८॥

(**इह लोयं केवलेणं अजाणित्ता**) इस लोक को केवलज्ञान के द्वारा न जानकर (**जे अजाणमाणा धम्मं कहंति**) जो अज्ञानी धर्म का उपदेश करते हैं, (**अप्पाणं परं च अणोरपारे संसारघोरंमि णासंति**) वे स्वयं-नष्ट जीव अपने को और दूसरे को भी अपार एवं भयंकर संसार में नष्ट करते हैं ॥४९॥

(**जे उ समाहिजुत्ता इह पुन्नेण केवलेण नाणेण लोयं विजाणंति**) परन्तु जो समाधियुक्त पुरुष पूर्ण केवलज्ञान के द्वारा इस लोक को सम्यक् प्रकार से जानते हैं, (**समत्तं धम्मं कहंति**) वे सच्चे धर्म का उपदेश देते हैं। (**तिन्ना अप्पाणं परं च तारंति**) वे पाप से पार हुए पुरुष स्वयं को और दूसरे को भी संसार सागर से पार करते हैं ॥५०॥

(**इह लोगे जे गरहियं ठाणं आवसंति जे यावि चरणोवविया तं तु मईए सम्मं उदाहडं**) इस लोक में जो पुरुष निन्दनीय आचरण करते हैं और जो पुरुष उत्तम आचरण करते हैं, उन दोनों के अनुष्ठानों को असर्वज्ञ जीव अपनी इच्छा से या बुद्धि से समान बतलाते हैं। (**अह आउसो विप्परियासमेव**) अथवा हे आयुष्मन् ! वे शुभ अनुष्ठान करने वालों को अशुभ आचरण करने वाले और अशुभ अनुष्ठान करने वालों को शुभ आचरण करने वाले बताकर विपरीत प्ररूपणा करते हैं ॥५१॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

एकदण्डीमत और आर्द्रक मुनि द्वारा समाधान

४६वीं गाथा से लेकर ५१वीं गाथा तक में एकदण्डी (सांख्यमतवादी) और आर्द्रक मुनि के बीच हुए तात्त्विक संवाद का निरूपण है। जब ब्राह्मणों को परास्त करके आर्द्रक मुनि आगे बढ़ने लगे तो उनके पास एकदण्डी साधक आए और वे कहने लगे—"आर्द्रक मुने ! विषयभोगरत मांसाहारी ब्राह्मणों को युक्तियों से परास्त करके आपने बहुत अच्छा किया। अब हमारे सिद्धान्त सुनो और उन्हें हृदयंगम करो।"

हमारे मतानुसार विश्व में कुल २५ तत्त्व हैं। सर्वप्रथम मूल तत्त्व प्रकृति है, जो सत्त्व, रज और तम, इन तीनों गुणों की साम्यावस्था कहलाती है। प्रकृति से महत्तत्त्व (बुद्धि) की उत्पत्ति होती है तथा महत्तत्त्व से अहंकार और अहंकार से १६ गुण (५ ज्ञानेन्द्रियाँ ५ कर्मेन्द्रियाँ, मन और तन्मात्रा) उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार महत्, बुद्धि, अहंकार, मन, १० इन्द्रियाँ, ५ तन्मात्रा और ५ महाभूत—ये २४ तत्व होते हैं। पच्चीसवाँ तत्त्व पुरुष (आत्मा) है। वह चेतनस्वरूप है। इस प्रकार उक्त २५ तत्त्वों के यथार्थज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है, यही हमारा सिद्धान्त है। इस हमारे सिद्धान्त के साथ आर्हत सिद्धान्त का कोई खास अन्तर नहीं है। आप लोग जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, बन्ध और मोक्ष को मानते हैं और हम भी इनका अस्तित्व मानते हैं। हम लोग जिन अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को यम कहते हैं, उन्हें ही आप लोग पंच महाव्रत कहते हैं। इन्द्रिय और मन पर नियंत्रण रखने की बात हम और आप दोनों मानते हैं। अतः हम दोनों के मतों में बहुत सदृशता है। वस्तुतः हम और आप आप ये दो ही सच्चे धर्म (सांख्य एवं जैन) मे स्थित हैं तथा भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों में अपनी स्वीकृत प्रतिज्ञा का हम दोनों पालन करते हैं। हम दोनों के यहाँ आचारप्रधान शील सर्वोत्तम माना गया है। जो यमनियमादि रूप है। हम दोनों के शास्त्रों में सम्यग्ज्ञान या केवलज्ञान को मोक्ष का कारण माना है। संसार का स्वरूप भी हम दोनों के शास्त्रों में समान है। हमारे शास्त्र में बताया गया है कि अत्यन्त असत् वस्तु उत्पन्न नहीं होती, किन्तु कारण में कथंचित् स्थित वस्तु ही उत्पन्न होती है, आप भी यही मानते हैं। द्रव्यरूप से आप भी संसार को नित्य मानते हैं, हम भी। आप संसार की उत्पत्ति और नाश भी मानते हैं, जबकि हम उसका आविर्भाव-तिरोभाव मानते हैं। इसलिए इस विषय में भी कोई खास मतभेद नहीं है।

फिर वे लोग आर्हत दर्शन से अपने दर्शन की तुल्यता सिद्ध करते हुए कहते हैं—शरीर को पुर कहते हैं और उसमें जो निवास करता है उसे हम **पुरुष** कहते हैं, वह जीवात्मा है, जिसे हमारी तरह आप लोग भी मानते हैं। वह जीवात्मा इन्द्रिय और मन से अग्राह्य (जानने योग्य नहीं) न होने से **अव्यक्त** है। वह स्वतः कर, चरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिर और गर्दन आदि अवयवों से युक्त नहीं है, वह **सर्वलोकव्यापी** एवं **नित्य** है, तथा उसकी नाना योनियों में गति होती है तथापि उसके चैतन्यरूप का कदापि नाश नहीं होता, अतः वह **नित्य** हैं। उसके प्रदेशों को कोई खण्डित नहीं कर सकता, इसलिए वह **अक्षय** है। अनन्तकाल बीत जाने पर भी उसके एक अंश का भी नाश नहीं होता इसलिए वह **अव्यय** है। जैसे चन्द्र अश्विनी आदि तारों के साथ पूर्णरूप से सम्बद्ध रहता है, वैसे ही यह आत्मा शरीर रूप से परिणत सभी भूतों के साथ **पूर्णरूप** से सम्बद्ध रहता है, किसी एक अंश से नहीं, क्योंकि वह **निरंश** है। इस प्रकार आत्मा के ये सब विशेषण हमारे दर्शन में पूर्णरूपेण कहे गये हैं, किन्तु आर्हतदर्शन में नहीं, यह हमारे दर्शन की आर्हतदर्शन से विशेषता है। इसलिए आपको हमारे धर्म में आना चाहिए, आर्हतधर्म में नहीं। इस प्रकार एकदण्डी (सांख्य) दार्शनिकों ने आर्द्रक मुनि को फुसलाने का प्रयत्न किया।

लेकिन आर्द्रक मुनि गम्भीर विचारक और जैनदर्शन के रंग में गहरे रंगे हुए थे। उन्होंने एकदण्डिकों का यथातथ्य विश्लेषण करते हुए कहा—आपके साथ हमारे मत की एकता इसलिए नहीं हो सकती कि आप एकान्तवादी हैं और हम अनेकान्तवादी हैं। आप आत्मा को सर्वव्यापी मानते हैं, हम उसे शरीरमात्रव्यापी मानते हैं। इस तरह आत्मा के विषय में जैसा हमारा और आपका मतैक्य नहीं है, वैसे ही संसार के स्वरूप के विषय में भी हम और आप एकमत नहीं हैं। आप कहते हैं—सभी पदार्थ प्रकृति से सर्वथा अभिन्न हैं और हम कहते हैं कि कारण में कार्य द्रव्यरूप से रहता है, पर्याय रूप से नहीं। आपके और हमारे बीच में यह बड़ा मतभेद है। आपके मत से कार्य कारण में सर्वात्मरूप से विद्यमान रहता है, हमारे मत से वह सर्वात्मरूप से विद्यमान नहीं रहता। हमारे मत में सभी सत् पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त माने जाते हैं, जबकि आप ऐसा नहीं मानते। आप सभी पदार्थों को ध्रौव्ययुक्त ही मानते हैं। यद्यपि आप पदार्थों का आविर्भाव एवं तिरोभाव मानते हैं, लेकिन वे भी उत्पत्ति और विनाश के बिना नहीं हो सकते। अतः आपके साथ हमारा ऐहिक और पारलौकिक किसी भी पदार्थ के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है।

आप आत्मा को सर्वव्यापी मानते हैं, यह मान्यता युक्ति से सिद्ध नहीं होती, क्योंकि चैतन्यरूप आत्मा का गुण सर्वत्र नहीं पाया जाता, शरीर में ही उसका अनुभव होता है, इसलिए आत्मा को सर्वव्यापी न मानकर शरीरमात्रव्यापी मानना ही उचित है। जो वस्तु आकाश की तरह सर्वव्यापी होती है, वह गति नहीं कर सकती, जबकि आत्मा कर्म से प्रेरित होकर नाना गतियों में गमनागमन करती है। अतः इसे सर्वव्यापी मानना यथार्थ नहीं है। आप लोग आत्मा में किसी प्रकार का विकार होना नहीं मानते, उसे सदा एकरूप, एकरस बतलाते हैं, ऐसी स्थिति में उसका विभिन्न गतियों और योनियों में परिवर्तन कैसे हो सकता है? इस जगत् में कोई दुःखी, कोई सुखी, कोई कुरूप, कोई सुरूप, कोई धनी, कोई निर्धन, कोई बालक, कोई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युवक और कोई वृद्ध आदि नाना भेद दृष्टिगोचर होते हैं, ये भेद आत्मा को कूटस्थ, एकरूप, एकरस एवं नित्य तथा एक मानने पर संभव नहीं हो सकते। इसलिए आत्मा को एकान्त कूटस्थ नित्य मानना गलत है। वस्तुतः प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है, भिन्न-भिन्न है, इसलिए स्व-स्वकर्मानुसार प्रत्येक आत्मा अपना-अपना सुख-दुःख भोगता है, आत्मा का निजीगुण चैतन्य शरीरपर्यन्त ही पाया जाता है, इसलिए वह शरीरमात्र-व्यापी है तथा कारण में कार्य द्रव्यरूप से ही रहता हैं, पर्यायरूप से नहीं। आत्मा नाना गतियों में जाता है, इसलिए वह परिणामी है, कूटस्थ नित्य नहीं। अतः आर्हत दर्शन ही युक्तिसंगत और मान्य है, सांख्यदर्शन और आत्माद्वैतवाद नहीं, यह आर्द्रक मुनि का आशय है।

आगे आर्द्रक मुनि कहते हैं—जो पुरुष केवलज्ञानी नहीं है, वह वस्तु के सत्य स्वरूप को नहीं जान सकता, क्योंकि वस्तु के सत्य स्वरूप का ज्ञान केवलज्ञान से ही प्राप्त होता है। अतः केवलज्ञानी तीर्थंकरों ने जो उपदेश दिया है, वही मनुष्यों के कल्याण का मार्ग है, दूसरे सब अनर्थ हैं। अतः जिसने केवलज्ञान को प्राप्त नहीं किया, और केवलज्ञानी द्वारा कथित पदार्थों पर श्रद्धा भी नहीं रखता, वह पुरुष धर्मोपदेश करने के योग्य नहीं है। ऐसे मनुष्य जो उपदेश करते हैं, उससे जगत् के जीवों की बड़ी हानि होती है; क्योंकि उनके विपरीत उपदेश से मनुष्य विपरीत आचरण करके संसारसागर में सदा के लिए बद्ध हो जाते हैं। अतः ऐसे मूर्ख जीव स्वयं तो नष्ट हैं ही, साथ ही वे अन्य जीवों को भी नष्ट कर देते हैं।

निष्कर्ष यह है कि जो पुरुष केवलज्ञानी है, वही वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानता है, अतः वह पुरुष ही जगत् के हित के लिए सच्चे धर्म का उपदेश देकर अपने और दूसरों को संसारसागर से पार करता है। परन्तु जो पुरुष केवलज्ञानी नहीं है, वह वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता न होने के कारण मनमाना आचरण करता हुआ स्वयं भी भ्रष्ट होता है और अन्य प्राणियों को भी भ्रष्ट करता है। जैसे सन्मार्ग को जानने वाला पुरुष ही घोर जंगल में से स्वयं को पार करता है, और उपदेश देकर दूसरे को भी पार करता है, परन्तु जो मार्ग का ज्ञाता नहीं है, और मार्गज्ञाता की बात को भी नहीं मानता, वह उस घोर जंगल में भटकता रहता है। अतः श्रेयार्थी मनुष्य को केवलज्ञानी तीर्थंकरों द्वारा बताये मार्ग से ही चलना चाहिए।

जो पुरुष अशुभकर्म के उदय से अज्ञानी पुरुषों द्वारा आचरित कुमार्ग का आश्रय लेकर असत् आचरण करते हैं तथा जो सर्वज्ञोक्त मार्ग का आश्रय लेकर उत्तम चारित्र का आचरण करते हैं। यद्यपि इन दोनों के आचरण समान नहीं हैं, किन्तु पहले का आचरण अशुभ और दूसरे का शुभ होने के कारण दोनों के आचरण भिन्न-भिन्न हैं, तथापि अज्ञानी जीव इन दोनों को समान ही बतलाते हैं; तथा कई अज्ञानी तो पूर्वोक्त असत्य अनुष्ठान वाले के आचरण को शुभ बतलाते हैं। वस्तुतः यह उनकी अपनी बुद्धि की कल्पनामात्र है, वस्तुस्थिति नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सारांश

४६वीं गाथा से लेकर ५१वीं गाथा तक में शास्त्रकार ने एकदण्डी (सांख्य) मतवादी और आर्द्रक मुनि के पारस्परिक संवाद का निरूपण किया है। वास्तव में सांख्यदर्शन ने आत्मा के सम्बन्ध में जो विचार प्रस्तुत किए हैं, उनके अकाट्य समाधान श्री आर्द्रक मुनि ने दिये हैं।

मूल पाठ

संवच्छरेणावि य एगमेगं, बाणेण मारेउ महागयं तु।
सेसाण जीवाण दयट्ठयाए, वासं वयं वित्ति पकप्पयामो॥ ५२॥
संवच्छरेणावि य एगमेगं, पाणं हणंता अणियत्तदोसा।
सेसाण जीवाण वहेण लग्गा, सिया य थोवं गिहिणोऽवि तम्हा॥ ५३॥
संवच्छरेणावि य एगमेगं, पाणं हणंता समणव्वएसु।
आयाहिए से पुरिसे अणज्जे, ण तारिसे केवलिणो भवंति॥ ५४॥

संस्कृत छाया

संवत्सरेणापि चैकैकं वाणेन, मारयित्वा महागजं तु।
शेषाणां जीवानां दयार्थाय वर्षं वयं वृत्ति प्रकल्पयामः॥ ५२॥
संवत्सरेणापि चैकैकं प्राणं घ्नन्तोऽनिवृत्तदोषाः।
शेषाणां जीवानां वधेन लग्नाः, स्यात् स्तोकं गृहिणोऽपि तस्मात्॥ ५३॥
संवत्सरेणाऽपि चैकैकं प्राणं घ्नन् श्रमणव्रतेषु।
आख्यातः स पुरुषोऽनार्यः, न तादृशाः केवलिनो भवंति॥ ५४॥

अन्वयार्थ

हस्तितापस आर्द्रक मुनि से कहते हैं—(**वयं सेसाणं जीवाणं दयट्ठयाए**) हम लोग शेष जीवों की दया के लिए (**संवच्छरेणावि य बाणेण एगमेगं महागयं तु मारेउ**) वर्ष भर में बाण से एक बड़े हाथी को मारकर (**वासं वित्तिं पकप्पयामो**) वर्ष भर उसके मांस से अपना निर्वाह करते हैं॥५२॥

(**संवच्छरेणावि य एगमेगं पाणं हणंता अणियत्तदोसा**) वर्ष भर में एक-एक प्राणी को मारने वाले पुरुष भी दोषरहित नहीं है, (**सेसाणं जीवाणं वहेण लग्गा गिहिणो वि तम्हा थोवं सिया य**) क्योंकि शेष जीवों के घात में प्रवृत्ति न करने वाले गृहस्थ भी दोषवर्जित क्यों न माने जाएँगे॥५३॥

(**समणव्वएसु संवच्छरेणावि एगमेगं पाणं हणंता**) जो पुरुष श्रमणों के व्रत में स्थित होकर वर्ष भर में भी एक-एक प्राणी को मारता है, (**से पुरिसे अणज्जे आयाहिए**) वह पुरुष अनार्य कहा गया है, (**तारिसे केवलिणो न भवंति**) ऐसे पुरुष को केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होती॥५४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

हस्तितापसों को आर्द्रक मुनि का करारा उत्तर

५४वीं गाथा में हस्तितापसों ने अपनी अहिंसावृत्ति की डींग हाँकी है, जिसका ५५-५६वीं गाथाओं में श्री आर्द्रक मुनि ने बहुत ही करारा उत्तर दिया है।

पूर्वोक्त प्रकार से एकदण्डियों (सांख्यमतवादियों) को निरुत्तर करके जब श्री आर्द्रक मुनि भगवान् महावीर के पास जाने लगे, तो कुछ हस्तितापसों ने आकर उन्हें घेर लिया। उन्हें वे मजबूर करने लगे—आर्द्रक मुने ! बुद्धिमान् मनुष्यों को सदा अल्पत्व और बहुत्व का विचार करना चाहिए। जो कन्दमूल, फल आदि खाकर अपना निर्वाह करते हैं, वे स्थावर प्राणियों को तथा उनके आश्रित अनेक जंगमप्राणियों का संहार करते हैं। गुल्लर आदि में अनेक जंगम प्राणी अपना डेरा जमाए रहते हैं। इसलिए गुल्लर आदि फलों को जो खाते हैं, वे तापस उन अनेक जंगम प्राणियों का संहार कर देते हैं। तथा जो लोग भिक्षा से अपना जीवन-निर्वाह करते हैं, वे भिक्षा के लिए इधर-उधर जाते समय चींटी आदि अनेक प्राणियों का घात कर देते हैं तथा भिक्षा की कामना से उनका चित्त भी दूषित हो जाता है। अतः हम (तापस) लोग वर्ष भर में एक भारी भरकम हाथी को बाण से मारकर उसके माँस से वर्ष भर तक अपना निर्वाह कर लेते हैं। ऐसा करके हम शेष समस्त जीवों की रक्षा करते हैं। अतः हमारे धर्म को आप स्वीकार कर लें। हमारे धर्म में वर्ष भर में एक जीव का विनाश अवश्य है, जबकि दूसरे धर्मों में अनेक जीवों का प्रतिदिन विनाश करके अपना निर्वाह किया जाता है, जबकि हम उन (शेष) जीवों को अभयदान दे देते हैं।

आर्द्रक मुनि ने शान्ति से हस्तितापसों की बात सुनी तो वे दंग रह गए। इस विचित्र मान्यता का उन्होंने अपनी लाक्षणिक शैली में उत्तर दिया—बन्धुवर ! हिंसा-अहिंसा की न्यूनाधिकता का नापतौल मृत जीवों की संख्या के आधार पर नहीं किया जाता। वह किया जाता है—प्राणी की चेतना, इन्द्रियों, मन, शरीर आदि के विकास के आधार पर। यदि कोई वर्ष भर में सिर्फ एक विशालकाय जीव को मारता है, तो वह हिंसा के दोष से कदापि बच नहीं सकता। उस पर भी हाथी जैसे महाकाय पंचेन्द्रिय जीव को मारने वाले को तो किसी भी सूरत में दोषरहित नहीं कहा जा सकता। जो पुरुष श्रमण धर्म में प्रव्रजित है, वह सूर्य की किरणों से स्पष्ट नजर आने वाले मार्ग पर गाड़ी के जूए जितनी लम्बी दृष्टि रखकर चलते हैं। वे ईर्या-समिति से युक्त होकर ४२ भिक्षादोषों से वर्जित करके आहारादि ग्रहण करते हैं। वे लाभ-अलाभ दोनों में सम रहते हैं, अतः उनके द्वारा चींटी आदि प्राणियों का घात होना सम्भव नहीं है। तथा उन्हें आशंसा का दोष भी नहीं लगता। फिर आप लोग अल्पजीवों के घात से पाप होना नहीं मानते, यह मान्यता भी ठीक नहीं है। अगर ऐसा माना जाएगा तो जो गृहस्थ क्षेत्र-काल से दूरवर्ती प्राणियों का घात नहीं करते, वे अन्य प्राणियों के घातक होने पर भी दोषरहित माने जाने लगेंगे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर आप लोगों को ऐसा अभीष्ट नहीं है। अतः जैसे गृहस्थ दोषरहित नहीं है, इसी तरह आप लोग भी दोषरहित नहीं हैं।

जो पुरुष श्रमणों के व्रत (धर्म) में स्थित होकर प्रतिवर्ष एक महाकाय प्राणी का वध करते हैं, या करने में धर्म मानते हैं, तथा दूसरों को इस कार्य का उपदेश देते हैं, वे अपना और दूसरों का भारी अहित करते हैं। वे अज्ञानी और अनार्य (अनाड़ी) है। वर्ष में एक महाकाय प्राणी का घात करने से सिर्फ एक ही प्राणी का घात नहीं होता, अपितु उस प्राणी के आश्रित रहे हुए अनेक जीवों का घात होता है। उस प्राणी के माँस, खून, चर्बी आदि में रहने वाले या पैदा होने वाले अनेक स्थावर और जंगम प्राणियों का घात होता है। इसलिए वर्ष भर में जो एक प्राणी की हत्या की बात कहते हैं, वे घोर हिंसक हैं, पंचेन्द्रिय वध के कारण नरक के मेहमान बनते हैं, वे अहिंसा की उपासना से कोसों दूर है। अहिंसा की उपासना तो एकमात्र माधुकरीवृत्ति या गोचरी की वृत्ति से ही होती है, परन्तु जो विवेकमूढ़ हैं, उनके गले यह बात नहीं उतरती। ऐसे हिंसामय कार्य करने वाले जंगली एवं दाम्भिक लोगों को सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। अतः मानव को इन दूषित एवं अनाड़ी लोगों द्वारा चलाए हुए असन्मार्गों का आश्रय कदापि नहीं लेना चाहिए।

इस प्रकार हस्तितापसों को परास्त करके आर्द्रक मुनि श्रमण भगवान् महावीर की सेवा में पहुँचे।

सारांश

५२ से लेकर ५४वीं गाथा तक में हस्तितापसों द्वारा छेड़े गए अहिंसा सम्बन्धी प्रश्न का आर्द्रक मुनि द्वारा दिया गया उत्तर अंकित है। वास्तव में हस्तितापसों की अहिंसा सम्बन्धी मान्यता बिलकुल मिथ्या और विचित्र है।

मूल पाठ

बुद्धस्स आणाए इमं समाहिं, अंस्सि सुठिच्चा तिविहेण ताई।
तरिउं समुद्दं व महाभवोघं, आयाणवं धम्ममुदाहरेज्जा त्तिबेमि ॥ ५५ ॥

संस्कृत छाया

बुद्धस्याज्ञयेमं समाधिमस्मिन् सुस्थाय त्रिविधेन त्रायी।
तरितुं समुद्रमिव महाभवौघमादानं धर्ममुदाहरेद् इति ब्रवीमि ॥ ५५ ॥

अन्वयार्थ

(**बुद्धस्स आणाए इमं समाहिं**) तत्त्वदर्शी भगवान् की आज्ञा से इस शान्तिमय धर्म को अंगीकार करके (**अंस्सि सुठिच्चा तिविहे ताई**) इस धर्म में अच्छी तरह स्थित होकर तीनों करणों से मिथ्यात्व की निन्दा करता हुआ साधक अपनी तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरे की रक्षा करता है। (**महाभवोघं समुद्दं तरिउं आयाणवं धम्ममुदाहरेज्जा**) महादुस्तर संसार समुद्र को पार करने के लिए विवेकी साधक को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म का निरूपण और ग्रहण करना चाहिए।

व्याख्या

सद्धर्म को अंगीकार करने वाले त्राता का जीवन

इस गाथा में इस अध्ययन का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार पूर्वोक्त संवादों के सन्दर्भ में सद्धर्म को अंगीकार करने वाले त्राता साधक के जीवन की संक्षिप्त झाँकी दे रहे हैं। जो पुरुष सर्वज्ञ भगवान महावीर की आज्ञा से इस सद्धर्म का स्वीकार करके मन-वचन-काया से इसका भली-भाँति पालन करता है तथा समस्त मिथ्यादर्शनों की तीन करण से उपेक्षा करता है, वही इस संसार से अपनी और दूसरों की रक्षा करता है। वही केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष का अधिकारी होता है। इस दुस्तर संसार सागर को पार करने का एकमात्र उपाय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही है। जो इनको धारण-पालन करता है, वही सुसाधु है, वह आर्द्रक मुनि की तरह अपने सम्यग्दर्शन के प्रभाव से परतीर्थिकों के आडम्बर एवं वाग्जाल में नहीं फँसता, स्वमार्ग या दर्शन से भ्रष्ट लोगों को पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान कराता है। सम्यक्चारित्र के प्रभाव से वह सकल जीवों का हितैषी होकर अपने आस्रवद्वारों को रोक देता है, तथा वह अपने विशिष्ट तप के प्रभाव से अनेक जन्मों के संचित कर्मों को नष्ट कर देता है। अतः ऐसे धर्म को विद्वान् साधक स्वयं ग्रहण करते हैं और दूसरों को भी इसे ग्रहण करने का उपदेश देते हैं।

इस प्रकार सूत्रकृतांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध का छठा आर्द्रकीय अध्ययन अमरसुखबोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण हुआ।

॥ आर्द्रकीय नामक छठा अध्ययन समाप्त ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सप्तम अध्ययन : नालन्दनीय

सप्तम अध्ययन का संक्षिप्त परिचय

छठे अध्ययन को व्याख्या की जा चुकी है। अब सप्तम अध्ययन प्रारम्भ किया जा रहा है। सातवें अध्ययन का नाम नालन्दीय है। यह सूत्रकृतांग सूत्र का अन्तिम अध्ययन है। पहले के अध्ययनों में प्रायः साधुओं के आचार-विचार का विस्तृत वर्णन किया गया है, परन्तु श्रावकों का आचार-विचार नहीं बताया गया है; अतः श्रावकों के आचार का प्रतिपादन करने के लिए इस अध्ययन का प्रारम्भ किया जाता है। इस अध्ययन का नाम **'नालन्दीय'** इसलिए रखा गया है कि इसमें राजगृह के बाहर उत्तरपूर्व अर्थात् ईशानकोण में स्थित नालन्दा में जो घटना हुई है उसका, या नालन्दा से सम्बन्धित विषय है नालन्दा की प्रसिद्धि जितनी जैन आगमों में है, उतनी ही बौद्ध पिटकों में भी है। निर्युक्तिकार ने नालन्दा पद का अर्थ बताते हुए कहा है—**'न अलं ददाति इति नालन्दा'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'न+अलं+दा' इन तीन शब्दों से स्त्रीलिंगवाची 'नालंदा' शब्द बनता है। 'दा' अर्थात् देना—दान देना, 'न' अर्थात् नहीं, और 'अलं' अर्थात् 'बस', इन तीनों अर्थों का संयोग करने पर जो अर्थ निकलता है, वह इस प्रकार है कि 'जहाँ पर दान देने की बात पर किसी की ओर से 'बस' नहीं है—'ना' नहीं है। अतः जहाँ दान देने के लिए कोई मना ही नहीं करता, उस जगह का नाम नालन्दा है। यहाँ 'न' और 'अलं' दो शब्द निषेधवाचक हैं और 'दा' धातु दान अर्थ में है। इसलिए दो निषेध प्रस्तुत अर्थ की दृढ़ता के सूचक होने से नालन्दा शब्द का अर्थ ध्वनि से यह निकलता है कि 'जो याचकों को अवश्य दान देती है, वह नगरी नालन्दा है।' दान लेने वाला चाहे श्रमण हो, अथवा माहन हो या ब्राह्मण हो, आजीवक हो या परिव्राजक हो, सबके लिए यहाँ दान सुलभ है। किसी के लिए किसी की मनाही नहीं है।

कहा जाता है कि राजा श्रेणिक तथा अन्य बड़े-बड़े सामन्त, सेठ आदि नर-श्रेष्ठ नरेन्द्र यहाँ रहते थे। अतः इसका नाम 'नारेन्द्र' प्रसिद्ध हुआ। मागधी उच्चारण की प्रक्रियानुसार 'नारेन्द्र' का 'नालेन्द्र' और बाद में ह्रस्व होने के कारण नालिंद तथा 'इ' का 'अ' हो जाने से 'नालंद' हो जाना स्वाभाविक है। 'नालंदा' शब्द की यह व्युत्पत्ति अधिक उपयुक्त मालूम होती है।

इस नालन्दीय अध्ययन के प्रारम्भ में नालन्दानिवासी 'लेप' नामक उदार, विश्वस्त एवं जैन परम्परा के श्रावक के असाधारण गुणों से युक्त जैनतत्त्वज्ञ श्रमणो-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पासक का वर्णन है। लेप ने नालन्दा के ईशानकोण में शेषद्रव्या नामक एक विशाल उदकशाला (प्याऊ) बनवाई थी। लेप ने इस उदकशाला का निर्माण अपने आवासस्थान बनवाने के बाद शेष रहे हुए द्रव्य से कराया था। इस उदकशाला के पास ही हस्तियाम नामक एक वनखण्ड था, जो बहुत हरा-भरा होने के कारण ठंडा था। इस वनखण्ड में एक बार भगवान महावीर के पट्टशिष्य इन्द्रभूति गौतम ठहरे हुए थे। उसी दौरान यहाँ पर मेयज्जगोत्रीय 'पेढालपुत्र उदक' नामक एक पार्श्वापत्यीय निर्ग्रन्थ गौतम स्वामी के पास कुछ प्रश्नों पर तत्त्वचर्चा करने हेतु आया। चर्चा के दौरान 'उदकपेढालपुत्र' ने इन्द्रभूति गौतम के समक्ष दो शंकाएँ प्रस्तुत की हैं—एक तो त्रसजीवों की हिंसा के प्रत्याख्यान के सम्बन्ध में, दूसरा—त्रस जीवों के स्थावर हो जाने की सम्भावना पर त्रसजीवों की हिंसा त्याग की व्यर्थता के सम्बन्ध में। इन्द्रभूति गौतम ने दोनों ही शंकाओं का अपनी ओर से यथोचित समाधान करने का प्रयत्न किया है।

इस अध्ययन में श्रावक के अहिंसा व्रत के सम्बन्ध में पार्श्वापत्यीय उदकपेढालपुत्र और भगवान् महावीर के ज्येष्ठ शिष्य इन्द्रभूति गौतम गणधर के बीच जो चर्चा हुई है, उसकी पद्धति को देखते हुए यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि भ० पार्श्वनाथ की परम्परा वाले भ० महावीर की परम्परा को अपने से भिन्न परम्परा के रूप में ही मानते थे। भले ही बाद में भ० पार्श्वनाथ की परम्परा महावीर की परम्परा में मिल गई हो। फिर भी दोनों के बीच जो चर्चा हुई है, वह तत्त्व समझने-समझाने की दृष्टि से हुई है।

इस नालन्दीय अध्ययन में उसी चर्चा का विवरण प्रस्तुत किया गया है। इस सम्बन्ध से प्राप्त गद्य में निबद्ध इस अध्ययन का पहला सूत्र इस प्रकार है—

मूल पाठ

तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नयरे होत्था, रिद्धत्थिमियसमिद्धे वण्णओ जाव पडिरूवे। तस्स णं रायगिहस्स नयरस्स बाहिरिया उत्तर पुरच्छिमे दिसिभाए एत्थ णं नालंदा नामं बाहिरिया होत्था, अणेग भवणसयसन्निविट्ठा जाव पडिरूवा ॥ सू० ६८ ॥

संस्कृत छाया

तस्मिन् काले तस्मिन् समये राजगृहं नाम नगरमासीत् ऋद्धिस्तिमितसमृद्धं वर्णतः यावत् प्रतिरूपम्। तस्य राजगृहस्य नगरस्य बहिः उत्तर,पूर्वस्यां दिग्विभागे अत्र खलु नालन्दा नाम बाहिरिका आसीत्, अनेक भवनशतसन्निविष्टा यावत् प्रतिरूपा ॥ सू० ६८ ॥

अन्वयार्थ

(**तेणं कालेणं तेणं समएणं**) उपदेष्टा भगवान् महावीर के उस काल में, तथा उस समय में, अर्थात् उस काल के उस विभाग विशेष में, उस अवसर पर (**रायगिहे**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नामं नयरे होत्था) राजगृह नामक नगर था। (**ऋद्धत्थिमियसमिद्धे वण्णओ जाव पडिरूवे**) वह (राजगृह नगर) ऋद्धि-धन-सम्पत्ति से परिपूर्ण, स्तमित—स्वचक्रपरचक्र के भय से रहित, स्थिर-शासन से युक्त तथा समृद्धि—धान्य, गृह तथा अन्य सामग्री से युक्त था, यावत् वह बहुत ही सुन्दर नगर था। इसका समस्त वर्णन औपपातिक सूत्र से जान लेना चाहिए। (**तस्स णं रायगिहस्स नयरस्स बाहिरिया उत्तर पुरच्छिमे दिसिभाए एत्थ णं नालन्दा नामं बाहिरिया होत्था**) उस राजगृह नगर की बाह्य भूमि में ईशानकोण (उत्तर-पूर्वदिशा भाग) में नालन्दा नाम की एक बाहिरिका यानी पाड़ा या उपनगरी अथवा लघु ग्राम थी (**अणेग भवणसयसन्निविट्ठा जाव पडिरूवा**) वह अनेक—सैकड़ों भवनों से सुशोभित थी, यावत् वह प्रासादीय, दर्शनीय, अभिरूप एवं प्रतिरूप थी, यानी वह अतीव सुन्दर थी।

व्याख्या

नालन्दा की विशेषताएँ

नालन्दा एक उपनगरी या लघुग्रामटिका अथवा पाड़ा या मौहल्ला थी, जो राजगृह से बाहर ईशानकोण में स्थित थी। इसलिए शास्त्रकार सर्वप्रथम राजगृह नगर का वर्णन करते हैं—"**तेणं कालेणं·····नयरे होत्था।**" प्रश्न होता है कि इस सूत्र में राजगृह का जैसा वर्णन किया गया है, वैसा इस समय तो वह है नहीं, फिर इसकी इतनी विशेषताएँ क्यों बताई गईं ? इसके समाधानार्थ शास्त्रकार ने स्वयं ही मूल में **'तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहं नामं नयरे होत्था'** इस प्रकार भूतकाल का प्रयोग किया है। आशय यह है कि इस सूत्र में राजगृह नगर का जैसा वर्णन किया गया है, वैसा वह किसी समय में अवश्य था। इसी बात को द्योतित करने के लिए ही मूल में **'तेणं कालेणं तेणं समएणं'** कहा है। अर्थात् जिस समय राजगृह नगर इस सूत्र में वर्णित विशेषणों से युक्त था, उस काल और उस समय के अनुसार ही यहाँ वर्णन किया गया है। इसलिए इस वर्णन को मिथ्या नहीं समझना चाहिए।

जैनतत्त्वज्ञान की दृष्टि से सोचें तो सभी पदार्थ क्षण-क्षण परिवर्तनशील हैं। इस नियम के अनुसार जिस प्रकार की विशेषताओं वाला राजगृह नगर भगवान् महावीर की विद्यमानता के समय था, वैसा सुधर्मा स्वामी के इस उपदेश (सूत्ररचनानुसार वर्णन) के समय नहीं रहा अर्थात् भगवान् महावीर के समय उसकी जो वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श की पर्यायें थीं, वह सुधर्मा स्वामी के इस कथन के समय नहीं रहीं। जब वे पर्यायें नहीं रहीं तो उन पर्यायों से विशिष्ट राजगृह भी नहीं रहा। इस प्रकार इसके स्वरूप में विरूपता या परिवर्तन आ जाने के कारण शास्त्रकार ने जो भूतकालीन प्रयोग किया है, वह उपयुक्त है और वैसा सम्भव भी है।

किस काल और किस समय में राजगृह नगर वैसा था ? यह तो इसी अध्ययन में आगे वर्णित श्री गौतम स्वामी के एवं श्री पेढालपुत्र उदक के परस्पर संवाद से ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिव्यक्त हो जाता है कि जिस समय भगवान् महावीर स्वामी और उनके पट्टशिष्य गणधर गौतम स्वामी विद्यमान थे, उस समय यह राजगृह नगर बहुत विस्तृत, अनेक गगनचुम्बी भवनों से सुशोभित तथा धनधान्य आदि से परिपूर्ण, स्वचक्र-परचक्र के उपद्रव के भय से रहित था। इसका विशेष वर्णन औपपातिक सूत्र से जान लेना चाहिए। यहाँ तक कि वह नगर इतना सुन्दर था कि दर्शकों को उसका रूप नया-नया ही दृष्टिगोचर होता था।

उसी राजगृह नगर की बाह्य भूमि में ईशानकोण में नालन्दा नाम की एक उपनगरी थी, अथवा राजगृह का ही एक पाड़ा या मौहल्ला था, वह। उसमें सैकड़ों भवन पंक्तिबद्ध सुशोभित थे। वह भी अत्यन्त प्रासादीय, दर्शनीय, अभिरूप एवं प्रतिरूप था, एक सुन्दर लघुग्राम जैसी वह बसी हुई थी। वास्तव में नालन्दा को ही श्रमण शिरोमणि भ० महावीर के चौदह वर्षावास कराने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था तथा वहीं इस अध्ययन में वर्णित गौतम-पेढालपुत्रउदक संवाद हुआ था। इसीलिए शास्त्रकार ने नालन्दा की विशेषताओं तथा उसकी स्थिति का निरूपण किया है।

सारांश

प्रस्तुत सूत्र में राजगृह और तदन्तर्गत ईशानकोण में स्थित एक विशिष्ट भूभाग—नालन्दा का सजीव वर्णन है। वह नालन्दा भगवान् महावीर तथा तथागत बुद्ध के समय में अतीव समृद्ध था। वह भगवान् महावीर की साधनाभूमि भी रही। वहीं गौतम गणधर एवं उदअपेढालपुत्र के बीच अध्ययन में निरूपति धर्म-चर्चा हुई थी।

मूल पाठ

तत्थ णं नालंदाए बाहिरियाए लेवे नामं गाहावई होत्था, अड्ढे दित्ते वित्ते विच्छिण्णविपुलभवणसयणासणजाणवाहणाइण्णे बहुधणबहुजायरूवरजते आओगपओगसंपउत्ते विछड्डियपउरभत्तपाणे बहुदासीदासगोमहिसगवेलगप्पभूए बहुजणस्स अपरिभूए यावि होत्था। से णं लेवे नामं गाहावई समणोवासए या वि होत्था, अभिगयजीवाजीवे जाव विहरइ। निग्गंथे पावयणे निस्संकिए निक्कंखिए निव्वितिगिच्छे, लद्धट्ठे गहियट्ठे पुच्छियट्ठे विणिच्छियट्ठे अभिगहियट्ठे अट्ठिमिंजापेमाणुरागरत्ते, अयमाउसो! निग्गंथे पावयणे अयं अट्ठे अयं परमट्ठे सेसे अणट्ठे, उस्सियफलिहे अप्पावयदुवारे चियत्तंतेउरघरप्पवेसे चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुन्नं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणे समणे निग्गंथे तहाविहेणं एसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणे बहूहिं सीलव्वयगुणविरमणपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेमाणे एवं च णं विहरइ॥ सू० ६९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

तस्यां खलु नालन्दायां बाह्यायां लेपोनाम गाथापतिरासीत् । आढ्यो, दीप्तो, वित्तो, विस्तीर्ण विपुलभवनशयनासनयानवाहनाकीर्णः बहुधनबहुजातरूपरजतः, आयोग-प्रयोग-सम्प्रयुक्तः, विच्छर्दित (वितरित) प्रचुरभक्तपानो, बहुदासीदासगोमहिषगवेलकप्रभूतः बहुजनस्य अपरिभूतश्चाप्यासीत् । स खलु लेपोनाम गाथापतिः श्रमणोपासकश्चाप्यासीत् अभिगतजीवाजीवो यावद् विहरति । निर्ग्रन्थे प्रवचने निःशंकितः, निष्कांक्षितः, निर्विचिकित्सः, लब्धार्थः, गृहीतार्थः, पृष्टार्थः, विनिश्चितार्थः, अभिगृहीतार्थः अस्थिमज्जाप्रेमाऽनुरागरक्तः, इदमायुष्मन् ! नैर्ग्रन्थं प्रवचनम् अयमर्थः अयं परमार्थः, शेषोऽनर्थः । उच्छ्रितफलकः, अप्रावृतद्वारः अत्यक्तान्तःपुरप्रवेशः, चतुर्दश्यष्टम्युद्दिष्टपूर्णिमासु प्रतिपूर्ण पौषधं सम्यगनुपालयन् श्रमणान् निर्ग्रन्थान् तथाविधेन एषणीयेन अशन-पान-खाद्य-स्वाद्येन प्रतिलाभयन बहुभिशीलव्रतगुणविरमणप्रत्याख्यानपौषधोपवासैरात्मानं भावयन् एवं च खलु विहरति ।सू०६९।

अन्वयार्थ

(**तत्थ णं बाहिरियाए नालंदाए लेवे नामं गाहावई होत्था**) उस राजगृह के नालंदा नामक बाह्यप्रदेश में लेप नामक गाथापति (गृहपति) रहता था। (**अड्ढे दित्ते वित्ते**) वह बड़ा ही धनिक, तेजस्वी और प्रसिद्ध व्यक्ति था। (**विच्छिण्णविपुलभवण-सयणासणजाणवाहणाइण्णे**) वह बड़े-बड़े विशाल अनेकों भवनों, शयन (शय्या), आसन, यानों (रथ, पालकी आदि) एवं वाहनों (घोड़े आदि सवारियों) आदि सामग्री से परिपूर्ण था। (**बहुधणबहुजायरूवरजते**) उसके पास प्रचुर सम्पत्ति, सोना-चाँदी थी। (**आओगपओगसंपउत्ते**) वह धनोपार्जन के उपायों का ज्ञाता तथा उनके प्रयोग में बहुत कुशल था। (**बिछिड्डियपउरभत्तपाणे**) उसके यहाँ से प्रचुर आहार-पानी लोगों को बाँटा (वितरित किया) जाता था। (**बहुदासीदासगोमहिसगवेलगप्पभूए**) वह बहुत-से दासी-दासों, गायों-भैंसों और भेड़ों का मालिक था, (**बहुजणस्स अपरिभूए यावि होत्था**) तथा वह अनेक लोगों से भी पराभव नहीं पाता (दबता नहीं) था, वह दबंग व्यक्ति था। (**से णं लेवे नामं गाहावई समणोवासए यावि होत्था**) वह लेप नामक गाथापति श्रमणोपासक भी था। (**अभिगय जीवाजीवे जाव विहरइ**) वह जीव एवं अजीव का ज्ञाता, यावत् शब्द से उपासकदशांग सूत्र में वर्णित श्रमणोपासक की विशेषताओं का वर्णन समझ लेना चाहिए। (**निग्गंथे पावयणे निस्संकिए निक्कंखिए निव्वितिगिच्छे**) वह लेप श्रमणोपासक निर्ग्रन्थ प्रवचन में शंकारहित था; अन्य दर्शनों की आकांक्षा या धर्माचरण की फलाकांक्षा से दूर था, उसे धर्माचरण के फल में कोई सन्देह न था, अथवा वह गुणी पुरुषों की निन्दा से दूर रहता था। (**लद्धट्ठे गहियट्ठे पुच्छियट्ठे**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विणिच्छियट्ठे अभिगहियट्ठे) धर्म (निर्ग्रन्थ प्रवचनरूप या श्रुतचारित्ररूपधर्म) के वस्तु-तत्त्व को उपलब्ध कर चुका था, उसने मोक्षमार्ग को स्वीकार कर लिया था। विद्वानों से पूछकर पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था, तथा प्रश्नोत्तर द्वारा तत्त्वों का भलीभाँति निश्चय कर लिया था, उसे अपने चित्त में जमा लिया था, उसका हृदय सम्यक्त्व से वासित था, (**अट्ठिमिंजपेमाणुरागरत्ते**) धर्म या निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति अनुराग उसकी हड्डियों और नसों (रग-रग) में भरा हुआ था। (**अयमाउसो निग्गंथे पावयणे अयं अट्ठे, अयं परमट्ठे सेसे अणिट्ठे**) उससे धर्म या निर्ग्रन्थ प्रवचन के सम्बन्ध में जब कोई पूछता था तो वह यह कहता था कि हे आयुष्मन् ! यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही मेरे जीवन का सर्वस्व है, यही सत्य है, यही परमार्थ है, इसके अतिरिक्त शेष सभी दर्शन या धर्म अनर्थरूप हैं। (**उस्सियफलिहे अप्पावयदुवारे**) उसका निर्मल यश चारों ओर फैला हुआ था, तथा उसके घर के द्वार सब याचकों के लिए सदैव खुले रहते थे, (**चियत्तंतेउरप्पवेसे**) राजाओं के अन्तःपुर में भी उसका प्रवेश निषिद्ध नहीं था, इतना वह शील और अर्थ के बारे में विश्वस्त था। (**चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुन्नं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणे**) वह चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा के दिन प्रतिपूर्ण पौषध का सम्यक् प्रकार से पालन करता था। (**समणे निग्गंथे तहाविहेणं एसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेमाणे**) वह श्रमणों निर्ग्रन्थों का तथाविधि शास्त्रोक्त ४२ दोषों से रहित निर्दोष एषणीय अशन, पान, खाद्य एवं स्वाद्यरूप चतुर्विध आहार आदि का दान (प्रतिलाभित) करता हुआ (**बहूहिंसीलव्वयगुणविरमणपच्चक्खाण-पोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेमाणे एवं च णं विहरइ**) तथा अनेकों शील (शिक्षाव्रत) एवं गुणव्रत तथा हिंसा आदि से विरमणरूप अणुव्रत, त्याग, नियम, प्रत्याख्यान एवं प्रोषधोपवास आदि से अपनी आत्मा को भावित (पवित्र) करता हुआ धर्माचरण में रत रहता था।

व्याख्या

लेप श्रमणोपासक की विशेषताएँ

पूर्वोक्त नालंदा नामक उपनगर या पाड़े (ग्राम) में एक बहुत ही धनाढ्य लेप नामक गृहस्थ निवास करता था। वह श्रमणों की उपासना करने वाला, श्रमणों के उपदेश का पक्का श्रोता (श्रावक) एवं उनके धर्म का दृढ़ अनुरागी था, उन्हें आहारादि देता था, अतः उनका उपासक था। वह जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आश्रव-संवर, निर्जरा, बन्ध मोक्ष का ज्ञाता था। वह सम्यग्ज्ञानी था। उस अकेले को देव और असुर भी धर्म से विचलित नहीं कर सकते थे। निर्ग्रन्थ प्रवचन में उसे तनिक भी शंका नहीं थी, वह दूसरे दर्शनों की कभी आकांक्षा नहीं करता था, न उसे धर्माचरण के फल में सन्देह था। उसका यह दृढ़ विश्वास था कि वही सत्य है, निःशंक है, जो वीतराग जिनेन्द्रों द्वारा उपदिष्ट है। अन्य दर्शनों के प्रति उसे जरा भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुराग न था। उसने धर्म या निर्ग्रन्थ प्रवचन के रहस्य को हस्तगत कर लिया था, उसे हृदय से भली-भाँति ग्रहण (स्वीकार) कर लिया था, उसके सम्बन्ध में बार-बार पूछताछ करके उसने उसके स्वरूप को जान लिया था, उसके तत्त्व का निश्चय कर लिया था, उसने अपने चित्त में उसके तत्त्व को जमा लिया था। उसकी हड्डियों और रगों में निर्ग्रन्थ प्रवचनरूप धर्म के प्रति गाढ़ अनुराग था। उससे कोई धर्म के सम्बन्ध में पूछता तो वह यही कहा करता—आयुष्मन्! मेरे जीवन में सर्वोत्तम धर्म निर्ग्रन्थ प्रवचन है, यही सच्चा है, यही परमार्थ रूप है, इसके सिवाय सब बेकार हैं, अनर्थकर हैं। श्रावकव्रतों के पालन करने से उसकी कीर्ति दूर-दूर तक फैली हुई थी, अन्यतीर्थी भी उसके घर पर आकर चाहे जितना प्रयत्न कर लें, वह तो क्या उसका एक मामूली दास भी सम्यग्दर्शन से विचलित नहीं किया जा सकता था। इस कारण उसके घर के द्वार श्रमण, माहन, साधु-सन्तों आदि सभी याचकों के लिए खुले रहते थे। वह इतना उदार था कि अन्यतीर्थियों के भय से घर के दरवाजे बन्द नहीं करता था। जहाँ अन्य लोगों का प्रवेश निषिद्ध होता है, ऐसे राजाओं के अन्तःपुर में भी उसका बेरोकटोक प्रवेश था, क्योंकि श्रावक के सम्पूर्ण गुणों से युक्त होने के कारण वह सर्वत्र विश्वासपात्र था, उसके शील एवं अर्थ के सम्बन्ध में किसी को कोई शंका न थी। वह चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या, पूर्णिमा तथा अन्य शास्त्रोक्त कल्याणकारी तिथियों में आहार-शरीर-सत्कार-अब्रह्मचर्य-त्यागरूप प्रतिपूर्ण पौषध करता था। वह श्रमण निर्ग्रन्थों को प्रासुक एषणीय आहार आदि दान देता था। वह अनेकों नियम, व्रत, प्रत्याख्यान तथा १२ श्रावकव्रतों आदि का पालन करता हुआ, अपनी आत्मा को धर्माचरण से पावन करता हुआ विचरण करता था।

सारांश

इस सूत्र में लेप नामक गृहस्थ की विशेषताओं का वर्णन किया गया है। लेप श्रमणों का उपासक था, निर्ग्रन्थ प्रवचन पर पूर्ण श्रद्धालु था। साथ ही वह सबके प्रति उदार एवं धर्मशील पुरुष था। अपने व्रत-नियमों पर वह दृढ़ था।

मूल पाठ

तस्स णं लेवस्स गाहावइस्स नालंदाए बाहिरियाए उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए एत्थ णं सेसदविया नामं उदगसाला होत्था, अणेग खंभसयसन्निविट्ठा पासादीया जाव पडिरूवा। तीसे णं सेसदवियाए उदगसालाए उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए, एत्थ णं हत्थिजामे नामं वणसंडे होत्था, किण्हे वण्णओ वणसंडस्स ॥ सू० ७० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत छाया

तस्य खलु लेपस्य गाथापते नालन्दायाः बाह्यायाः उत्तरपूर्वस्यां दिशिभागे शेषद्रव्या नामोदकशाला आसीत्, अनेकस्तम्भशतसन्निविष्टा प्रासादिका यावत् प्रतिरूपा। तस्याः खलु शेषद्रव्यायाः उदकशालायाः उत्तरपूर्वस्यां दिग्भागे हस्तियामनामा वनखण्डः आसीत्। कृष्णो वर्णकवनखण्डस्य ॥सू० ७०॥

अन्वयार्थ

(**तस्स णं लेवस्स गाहावइस्स नालंदाए बाहिरियाए उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए एत्थ णं सेसदविया नाम उदगसाला होत्था**) उस युग में उस लेप नामक गृहपति (गृहस्थ) की शेषद्रव्या नामक एक जल-शाला थी, जो नालन्दा से बाहर उत्तर-पूर्व दिशा में स्थित थी। (**अणेग खंभसयसन्निविट्ठा पासादीया जाव पडिरूवा**) वह उदकशाला अनेक प्रकार से सैकड़ों खम्भों के आधार पर टिकी हुई थी, तथा वह अत्यन्त मनोहर, चित्त को प्रसन्न करने वाली तथा बड़ी सुन्दर थी। (**तीसे णं सेसदवियाए उदगसालाए उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए एत्थ णं हत्थिजामे नामं वणसंडे होत्था**) उस शेषद्रव्या नामक उदकशाला के उत्तरपूर्व दिक्विभाग में (दिशा में) हस्तियाम नाम का एक वनखण्ड था। (**किण्हे वण्णओ वणसंडस्स**) वह वनखण्ड श्यामवर्ण का था। इसका शेष वर्णन उववाई सूत्र में किये हुए वनखण्ड के वर्णन के समान जान लेना चाहिए।

सारांश

नालन्दा के बाहर उत्तरपूर्व दिशा में लेप नामक गृहपति के द्वारा अपने आवासभवन के निर्माण के बाद बची हुई सामग्री से बनवाई हुई एक उदकशाला (प्याऊ) थी, जो अनेक प्रकार के सैकड़ों खंभों पर टिकी हुई, बहुत ही सुन्दर और रमणीय थी। लेप गृहपति ने उसका नाम शेषद्रव्या रखा था। उस उदकशाला के ईशानकोण में हस्तियाम नामक एक विशाल वनखण्ड था, जो अनेक वृक्षों के कारण हराभरा और सब ऋतुओं में सुहावना था।

उदकशाला और वनखण्ड का परिचय यहाँ इसलिए दिया गया है कि आगे जो धर्मचर्चा हुई है, उसका स्थल वनखण्ड ही रहा है, जो शेषद्रव्या उदकशाला के अतिनिकट था।

मूल पाठ

तस्सि च णं गिहपदेसंमि भगवं गोयमे विहरइ, भगवं च णं अहे आरामंसि। अहे णं उदए पेढालपुत्ते भगवं पासावच्चिज्जे नियंठे मेयज्जे गोत्तेणं जेणेव भगवं गोयमे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता भगवं गोयमं एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वयासी—आउसंतो गोयमा ! अत्थि खलु मे केइ पदेसे पुच्छियव्वे, तं च आउसो ! अहासुयं अहादरिसियं मे वियागरेहि सवायं । भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी अवियाइ आउसो सोच्चा निसम्म जाणिस्सामो ॥ सू० ७१ ॥

संस्कृत छाया

तस्मिंश्च गृहप्रदेशे भगवान् गौतमो विहरति भगवांश्चाध आरामे । अथ उदकः पेढालपुत्रः भगवत्पार्श्वापत्यीयः निर्ग्रन्थः मेदार्यो गोत्रेण यत्र भगवान् गौतमस्तत्रोपागच्छति, उपगम्य भगवन्तं गौतममेवमवादीत्—"आयुष्मन् गौतम ! अस्ति खलु मे कोऽपि प्रदेशः प्रष्टव्यः । तं चायुष्मन् ! यथाश्रुतं यथादर्शनं मे व्यागृणीहि सवादम् ।" भगवान् गौतम उदकं पेढालपुत्रमेवमवदीत्, "अपि चेदायुष्मन् ! श्रुत्वा निशम्यज्ञास्यामः ॥सू० ७१॥

अन्वयार्थ

(तस्सि च णं गिहपदेसंमि भगवं गोयमे विहरइ) उस वनखण्ड के गृहप्रदेश में भगवान् गौतमस्वामी विचरण करते थे । **(भगवं च णं अहे आरामंसि)** भगवान् गौतम स्वामी नीचे बगीचे में विराजमान थे । **(अहे णं उदए पेढालपुत्ते भगवं पासावच्चिज्जे नियंठे मेयज्जे गोत्तेणं जेणेव भगवं गोयमे तेणेव उवागच्छइ)** इसी अवसर में उदकपेढालपुत्र, जो भगवान् पार्श्वस्वामी का शिष्यसन्तान था, और मेदार्य गोत्र वाला निर्ग्रन्थ था, भगवान् गौतमस्वामी के पास आया । **(उवागच्छइत्ता भगवं गोयमं एवं वयासी—आउसंतो गोयमा ! अत्थि खलु मे केइ पदेसे पुच्छियव्वे)** उसने भगवान् गौतमस्वामी के पास आकर यों कहा—आयुष्मन् गौतम ! हमें आपसे कोई प्रदेश (स्थल) प्रश्न पूछने हैं, **(तं च आउसो अहासुयं अहादरिसियं मे वियागरेहि सवाय)** हे आयुष्मन् ! उसे आपने जैसा सुना और जैसा निश्चय किया है, वैसा मुझसे वाद के सहित कहें । **(भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी)** भगवान् गौतम ने उदक पेढालपुत्र से इस प्रकार कहा—**(अवियाइ आउसो सोच्चा निसम्म जाणिस्सामो)** हे आयुष्मन् ! आपका प्रश्न सुनकर और समझकर यदि मैं जान सकूँगा तो उत्तर दूँगा ।

सारांश

एक बार गौतमस्वामी ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए उसी हस्तियाम वनखण्ड में पधारे और उसमें बने हुए गृह के समीप ठहरे । उसी दौरान उदकपेढालपुत्र नामक पार्श्वनाथ परम्परा के निर्ग्रन्थ एक बार उस वनखण्ड में इन्द्रभूति गौतम गणधर के पास आकर बैठे और इन्द्रभूति गौतम से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहा—"आयुष्मन् ! गौतम मुझे आपसे कुछ बातों पर प्रश्न पूछना है, उसका उत्तर भगवान महावीर से जैसा आपने सुना है, जैसा विचार किया है, वह मुझसे वाद (युक्ति) पूर्वक कहिए।" गौतम स्वामी ने उदकपेढालपुत्र से यों कहा—"आयुष्मन् ! आप अपना प्रश्न प्रस्तुत कीजिए, उसे सुन-समझकर जैसी भी मेरी भी जानकारी है, तदनुसार युक्तिपूर्वक उसका उत्तर दूँगा।"

इस प्रकार श्री उदकपेढालपुत्र ने जो प्रश्न प्रस्तुत किया, उसे अगले सूत्र में कहते हैं—

मूल पाठ

सवायं उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी—आउसो गोयमा ! अत्थि खलु कुमारपुत्तिया नाम समणा निग्गंथा तुम्हाणं पवयणं पवयमाणा गाहावइं समणोवासगं उवसंपन्नं एवं पच्चक्खावेंति—णण्णत्थ अभिओएणं गाहावइचोरग्गहणविमोक्खणयाए तसेहिं पाणेहिं णिहाय दंडं, एवं ण्हं पच्चक्खंताणं दुपच्चक्खायं भवइ, एवं ण्हं पच्चक्खावेमाणाणं दुपच्चक्खावियव्वं भवइ, एवं ते परं पच्चक्खावेमाणा अतियरंति सयं पतिण्णं, कस्स णं तं हेउं ? संसारिया खलु पाणा थावरावि पाणा तसत्ताए पच्चायंति, तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति, थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा तसकायंसि उववज्जंति, तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा थावरकायंसि उववज्जंति, तेसिं च णं थावरकायंसि उववण्णाणं ठाणमेयं घत्तं ॥ सू० ७२ ॥

संस्कृत छाया

सवादमुदकः पेढालपुत्रो भगवन्तं गौतममेवमवादीत्—आयुष्मन् गौतम !सन्ति खलु कुमारपुत्राः नाम श्रमणाः निर्ग्रन्थाः युष्माकं प्रवचनं प्रवदन्तः गाथापतिं श्रमणोपासकमुपसन्नमेवं प्रत्याख्यापयन्ति नान्यत्राभियोगेन गाथापतिचोरग्रहणविमोक्षणेन त्रसेषु प्राणेषु निधाय दण्डमेवं प्रत्याख्यायतां दुष्प्रत्याख्यानं भवति, एवं प्रत्याख्यापयतां दुष्प्रत्याख्यापयितव्यं भवति। एवं ते परं प्रत्याख्यापयन्तोऽतिचरन्ति स्वां प्रतिज्ञाम्। कस्य हेतोः ? संसारिणः खलु प्राणाः स्थावरा अपि प्राणाः त्रसत्वाय प्रत्यायान्ति, त्रसा अपि प्राणाः स्थावरत्वाय प्रत्यायान्ति, स्थावरकायाद् विप्रमुच्यमानाः त्रसकायेषु उत्पद्यन्ते त्रसकायाद् विप्रमुच्यमानाः स्थावरकायेषु उत्पद्यन्ते, तेषां च खलु स्थावरकायेषूत्पन्नानां स्थानमेतद् घात्यम् ॥सू० ७२॥

अन्वयार्थ

(सवायं उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी) वाद सहित उदकपेढाल-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुत्र ने भगवान् गौतम स्वामी से इस प्रकार कहा—(**आउसो गोयमा ! अत्थि कुमारपुत्तिया नाम समणा निग्गंथा तुम्हाणं पवयणं पवयमाणा**) आयुष्मन् गौतम ! कुमारपुत्र नामक श्रमण निर्ग्रन्थ हैं, जो आपके प्रवचन का उपदेश देते हैं—प्ररूपणा करते हैं। (**समणोवासगं गाहावइं उवसंपन्नं एवं पच्चक्खावेंति**) जब कोई गृहस्थ श्रमणोपासक उनके समीप प्रत्याख्यान (नियम) ग्रहण करने के लिए पहुँचता है तो वे उसे इस प्रकार प्रत्याख्यान कराते हैं—(**अभिओएणं गाहावइचोरग्गहणविमोक्खणयाए णण्णत्थ तसेहिं पाणेहिं णिहाय दंडं**) राजा आदि के अभियोग (बलात्कार) के सिवाय गाथापति-चोर-विमोक्षणन्याय से त्रस जीवों के दंड देने घात (हिंसा) का त्याग करता है, (**एवं णं पच्चक्खंताणं दुपच्चक्खायं भवइ**) परन्तु जो लोग इस प्रकार से प्रत्याख्यान स्वीकार करते हैं, उनका प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान (खोटा प्रत्याख्यान) है। (**एवं णं पच्चक्खावेमाणाणं दुपच्चक्खावियव्वं भवइ**) तथा इस रीति से जो प्रत्याख्यान कराते हैं, वे भी दुष्प्रत्याख्यान कराते हैं। (**एवं ते परं पच्चक्खावेमाणा अतियरंति सयं पतिण्णं**) क्योंकि इस प्रकार से दूसरे को प्रत्याख्यान कराने वाले साधक अपनी प्रतिज्ञा का उल्लंघन करते हैं। (**कस्स णं तं हेउं ?**) प्रतिज्ञा भंग किस कारण से हो जाता है ? (**संसारिया खलु पाणा**) कारण यह है कि सभी प्राणी संसरणशील—परिवर्तनशील हैं। (**थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चायंति**) इसलिए इस समय जो स्थावर प्राणी हैं, वे कभी त्रसरूप में उत्पन्न हो जाते हैं (**तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति**) तथा इस समय जो त्रस-प्राणी हैं, वे कर्मोदयवश समय पाकर स्थावर रूप में आ जाते हैं। (**थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा तसकायंसि उववज्जंति, तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा थावरकायंसि उववज्जंति**) अनेक जीव स्थावरकाय से छूटकर त्रसकाय में उत्पन्न होते हैं, और त्रसकाय से छूटकर स्थावरकाय में उत्पन्न हो जाते हैं। (**तेसिं च णं थावरकायंसि उववण्णाणं ठाणमेयं घत्तं**) वे त्रस प्राणी जब स्थावरकाय में उत्पन्न हो जाते हैं, तब वे उन त्रसकाय के जीवों को दण्ड न देने की प्रतिज्ञा लिए हुए पुरुषों द्वारा घात करने के योग्य हो जाते हैं।

व्याख्या

प्रत्याख्यानप्रतिज्ञाभंग : एक शंका

इस सूत्र में उदकपेढालपुत्र निर्ग्रन्थ द्वारा गौतम स्वामी के समक्ष प्रत्याख्यान की प्रतिज्ञा भंग होने की शंका प्रस्तुत की गई है। उदकपेढालपुत्र की शंका इस प्रकार है—आयुष्मन् गौतम ! आपके अनुयायी कुमारपुत्र श्रमण निर्ग्रन्थ अपने पास आए हुए श्रमणोपासक गृहस्थ को जिस पद्धति से प्रत्याख्यान कराते हैं, वह ठीक नहीं है। क्योंकि उस पद्धति से प्रतिज्ञा का पालन नहीं हो सकता, अपितु प्रतिज्ञाभंग होता है। जैसे कि जब उनके पास कोई श्रद्धालु गृहस्थ प्रत्याख्यान करने की इच्छा प्रकट करता है, तब वे उसे इस प्रकार प्रत्याख्यान कराते हैं—"राजा आदि के अभियोग को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छोड़कर गाथापतिचोरविमोक्षणन्याय से त्रस प्राणी को दण्ड देने का तुम्हारे त्याग है।" पर तु इस रीति से प्रत्याख्यान कराने पर प्रतिज्ञा-भंग होता है, क्योंकि प्राणी परिवर्तनशील हैं। वे सदा एक ही शरीर में नहीं रहते, किन्तु भिन्न-भिन्न कर्मों के उदय से भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म ग्रहण करते हैं। अतएव कभी तो त्रसजीव त्रस शरीर त्यागकर स्थावर शरीर में आ जाते हैं, और कभी स्थावर प्राणी स्थावर शरीर का त्याग करके त्रस शरीर में आ जाते हैं। ऐसी दशा में जिसने यह प्रतिज्ञा की है कि "मैं त्रस प्राणी का घात न करूंगा" वह व्यक्ति स्थावर शरीर को पाये हुए उस त्रस प्राणी को अपने घात के योग्य मानता है, और आवश्यकतानुसार उसका घात भी कर डालता है। फिर त्रस प्राणी को दण्ड न देने (हिंसा न करने) की उसकी जो प्रतिज्ञा है, वह अभंग कहाँ रही, वह तो खण्डित हो चुकी न ? जैसे किसी पुरुष ने प्रतिज्ञा की—"मैं नागरिक पुरुष या नागरिक पशु को नहीं मारूँगा।" वह पुरुष यदि नगर से बाहर गए हुए उस भूतपूर्व नागरिक पुरुष या पशु का घात कर देता है तो वह अपनी प्रतिज्ञा को भंग कर ही देता है। इसी तरह त्रस शरीर को छोड़कर स्थावरकाय में आए हुए प्राणी को जो व्यक्ति मारता है, वह त्रसकाय के प्राणी को न मारने की प्रतिज्ञा का उल्लंघन करता है। फिर जो त्रस प्राणी स्थावरकाय में पैदा होते हैं, उनमें ऐसा कोई चिन्ह नहीं होता, जिससे उनकी पहिचान हो सके। कि वह पहले त्रस था। ऐसी स्थिति में जिसको दण्ड न देने की प्रतिज्ञा की गई थी, उसी को दण्ड दिया जाता है। इसलिए त्रस प्राणी को न मारने का प्रत्याख्यान करना दुष्प्रत्याख्यान करना है तथा उक्त रीति से प्रत्याख्यान कराना भी दुष्प्रत्याख्यान कराना है।

सारांश

उदकपेढालपुत्र ने गौतम स्वामी से पूछा कि जब कोई श्रमणोपासक आपके अनुगामी कुमारपुत्र श्रमण के पास प्रत्याख्यान करने आते हैं, तो वे अभियोग के सिवाय त्रसप्राणियों की हिंसा करने का त्याग कराते हैं, मगर यह दुष्प्रत्याख्यान है, क्योंकि जब त्रस जीव (जिनका वध न करने का नियम लिया था) शरीर छोड़कर स्थावर बन जाते हैं, तब वे जीव उनके लिए घात करने योग्य बन जाते हैं, मौका आने पर वे उनका घात भी कर देते हैं। इस दृष्टि से यह दुष्प्रत्याख्यान है।

मूल पाठ

एवं णं पच्चक्खंताणं सुपच्चक्खायं भवइ, एवं णं पच्चक्खावेमाणाणं सुपच्चक्खावियं भवइ, एवं ते परं पच्चक्खावेमाणा णातियरंति सयं पइण्णं णण्णत्थ अभिओएणं गाहावइचोरग्गहणविमोक्खणयाए तसभूएहिं पाणेहिं णिहाय दंडं, एवमेव सइ भासाए परक्कमे विज्जमाणे जे ते कोहा वा लोहा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परं पच्चक्खावेंति, अयमपि णो उवएसे णो णेआउए भवइ, एवियाइं आउसो वा गोयमा ! तुब्भं पि एवं रोयइ ? ॥ सू० ७३ ॥

संस्कृत छाया

एवं खलु प्रत्याख्यायतां सुप्रत्याख्यातं भवति, एवं खलु प्रत्याख्यापयतां सुप्रत्याख्यापितं भवति, एवं ते परं प्रत्याख्यापयन्तः नातिचरन्ति स्वीयां प्रतिज्ञाम् "नान्यत्राभियोगेन गाथापतिचोरग्रहणविमोक्षणतः त्रसभूतेषु प्राणेषु निधाय दण्डं, एवमेव सति भाषायाः पराक्रमे विद्यमाने ये ते कोधाद् वा लोभाद् वा परं प्रत्याख्यापयन्ति(तेषां मृषावादो भवति), अयमपि न उपदेशो, न नैयायिको भवति। अपि च आयुष्मन् गौतम ! तुभ्यमपि एवं रोचते ? ॥सू० ७३॥

अन्वयार्थ

(**एवं ण्हं पच्चक्खंताणं सुपच्चक्खायं भवइ**) परन्तु जो लोग इस प्रकार प्रत्याख्यान करते हैं, उनका प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है, (**एवं ण्हं पच्चक्खावेमाणाणं सुपच्चक्खावियं भवइ**) तथा इस प्रकार जो प्रत्याख्यान कराते हैं, उनका प्रत्याख्यान कराना सुप्रत्याख्यान कराना होता है (**एवं ते परं पच्चक्खावेमाणा णातियरंति सयं पइण्णं**) इस प्रकार जो दूसरे को प्रत्याख्यान कराते हैं, वे अपनी प्रतिज्ञा का अतिक्रमण नहीं करते। (**णण्णत्थ अभिओएणं गाहावइचोरग्गहणविमोक्खणयाए तसभूएहिं पाणेहिं दंडं णिहाय**) वह प्रत्याख्यान इस प्रकार है—"राजा आदि के अभियोग को छोड़कर गाथापति चोर के ग्रहण किये जाने पर उनके विमोचन (मुक्त कराने) के समान वर्तमान काल में त्रस रूप में परिणत प्राणी को दण्ड देने का त्याग है। (**एवमेव सइ भासाए परक्कमे विज्जमाणे जे ते कोहा वा लोहा वा परं पच्चक्खावेंति**) इस प्रकार त्रस पद के बाद 'भूत' पद लगा देने से जब भाषा में ऐसी शक्ति आ जाती है, तब उस मनुष्य का प्रत्याख्यान नष्ट नहीं होता, तब जो लोग क्रोध या लोभ के वश होकर त्रस के आगे 'भूत' पद न जोड़कर दूसरे को प्रत्याख्यान कराते हैं, वे अपनी प्रतिज्ञा को भंग करते हैं, ऐसा मेरा विचार है। (**अयमवि णो उवएसे णो णेयाउए भवइ**) क्या हमारा उपदेश न्यायसंगत नहीं है ? (**अवियाइं आउसो गोयमा ! तुब्भंपि एवं रोयइ**) तथा हे आयुष्मन् गौतम ! यह हमारा कथन क्या आपको भी रुचिकर लगता है ?

व्याख्या

उदकपेढालपुत्र द्वारा प्रस्तुत सुप्रत्याख्यान का स्वरूप

इस सूत्र में उदकपेढालपुत्र प्रत्याख्यान के सम्बन्ध में अपने अभीष्ट मत को प्रस्तुत करता है—जो श्रमणोपासक त्रसप्राणी को मारने का त्याग करते हैं, और जो श्रमण उन्हें वैसा त्याग कराते हैं, उन दोनों की पद्धति समीचीन नहीं है। मैं जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्याख्यान की पद्धति बताता हूँ; उसके अनुसार प्रत्याख्यान करना निर्दोष है। वह पद्धति यह है कि त्रस पद के आगे 'भूत' पद को जोड़कर प्रत्याख्यान करने से अर्थात् 'मुझे त्रसभूत प्राणी का मारने का त्याग है।' ऐसे शब्द--प्रयोग के सहित त्याग करने का आशय यह होता है कि जो प्राणी वर्तमानकाल में त्रसरूप से उत्पन्न हैं, उनको दण्ड देने का त्याग है, परन्तु जो वर्तमान काल में त्रस नहीं हैं, किन्तु आगे त्रसरूप में उत्पन्न होने वाले हैं, अथवा जो भूतकाल में त्रस थे, उनको मारने का त्याग नहीं है। ऐसी दशा में स्थावर पर्याय में उत्पन्न प्राणी को दण्ड देने पर भी प्रतिज्ञा भंग नहीं हो सकती। अतः आप लोग प्रत्याख्यान वाक्य में केवल त्रस पद का प्रयोग करने के बदले यदि **"त्रसभूत"** पद का प्रयोग करें अर्थात् त्रसभूत प्राणी को मारने का त्याग है, ऐसा प्रतिज्ञा वाक्य कहें तो प्रतिज्ञा भंग का दोष नहीं आ सकता। जैसे कोई व्यक्ति घृत-सेवन का त्याग लेकर यदि दधि खाता है तो उसका व्रत नष्ट नहीं होता, क्योंकि दही में घी होने पर भी वर्तमान में वह घी नहीं है, इसी प्रकार त्रस पद के बाद भूतपद जोड़ देने से भाषा में ऐसी शक्ति आ जाती है, जिससे स्थावर प्राणी के पर्याय में आए हुए त्रस प्राणी के घात से व्रत-भंग या प्रतिज्ञा-भंग नहीं हो सकता। अतः उक्त भाषा में दोष निवारण की शक्ति होते हुए भी जो लोग क्रोध या लोभ के वशीभूत होकर प्रत्याख्यान के वाक्य में त्रस पद के उत्तर में 'भूत' पद को न लगाकर प्रत्याख्यान कराते हैं, वे दोष का सेवन करते हैं। हे गौतम ! क्या प्रत्याख्यान वाक्य में त्रस पद के उत्तर में भूत पद को लगाना न्यायसंगत नहीं है ? क्या यह पद्धति आपको भी पसन्द है ? मेरी तो यह धारणा है कि इस प्रकार प्रत्याख्यान करने-कराने से स्थावररूप से उत्पन्न त्रसों के घात होने पर भी प्रतिज्ञा भंग नहीं होती, अन्यथा प्रतिज्ञा-भंग होने में कोई सन्देह नहीं है।

अभिओगेणं—अभियोग शब्द यहाँ बलात् आज्ञा के अर्थ में है। जैनागम में ५ प्रकार के अभियोग माने जाते हैं—राजाभियोग, गणाभियोग, बलाभियोग, महत्तराभियोग एवं आजीविकाभियोग। राजा की आज्ञा, गण (गणतंत्रात्मक संघीय शासन) की आज्ञा, बलवान् की आज्ञा, माता-पिता आदि बड़ों की आज्ञा तथा आजीविका का भय, इन परिस्थितियों को छोड़कर यानी ये परिस्थितियाँ न हों तो मेरे त्रसजीवों की हिंसा का त्याग है।

गृहपतिचोरविमोक्षणन्याय—किसी राजा ने अपने नगर में यह आज्ञा दी कि आज रात को नगर के बाहर कौमुदी महोत्सव मनाया जाएगा, इसलिए समस्त नगरवासी नगर को छोड़कर सायंकाल ही नगर से बाहर आ जाएँ। जो मेरी इस आज्ञा को न मानकर आज रात्रि में इस नगर में ही रह जाएगा, उसे मृत्युदण्ड दिया जाएगा। इस आज्ञा को सुनकर सभी नगरवासी सूर्यास्त के पूर्व ही नगर के बाहर चले गए, परन्तु एक वैश्य के पाँच पुत्र अपने काम की धुन में नगर से बाहर जाना भूल गये। सूर्यास्त हो जाने पर नगर के सभी फाटक बाहर से बन्द कर दिये गये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस कारण पीछे याद आने पर भी वे नगर के बाहर न जा सके। प्रातःकाल होते ही राजपुरुषों द्वारा वे पकड़े गये। राजा ने उन्हें वध करने की आज्ञा दी। इस भयंकर समाचार को सुनकर उनके पिता के मन में बड़ी बेचैनी हुई। वृद्ध वैश्य ने राजा के पास जाकर अपने पुत्रों को दण्डमुक्त करने के लिए बहुत अनुनय-विनय की। जब राजा ने उसकी एक न सुनी तो उसने राजा से अनुरोध किया—"राजन्! यदि आप मेरे पाँचों पुत्रों को नहीं छोड़ना चाहते तो उनमें से चार को छोड़ दीजिए।" इस पर भी राजा राजी नहीं हुआ। तब उसने तीन को छोड़ने की प्रार्थना की। इस के पश्चात् दो को छोड़ने की प्रार्थना की, परन्तु राजा जब दो को भी छोड़ने को राजी नहीं हुआ, तब उसने गिड़गिड़ाकर कहा—"मैं बिल्कुल निर्वंश हो जाऊँगा, अतः कम से कम एक पुत्र को तो छोड़ देने की कृपा करें ताकि मेरा वंश चलता रहे।' राजा ने उसकी यह प्रार्थना स्वीकार कर ली और उसके एक पुत्र को उसके वंश की रक्षा के लिए छोड़ दिया। यही इस न्याय का स्वरूप है। परन्तु यहाँ यह बात बतानी है कि जैसे वृद्ध वैश्य अपने पाँचों ही पुत्रों को राजदण्ड से मुक्त कराना चाहता था, लेकिन जब उसका मनोरथ पूरा न हुआ तो उसने एक पुत्र को ही छुड़ाकर सन्तोष माना। इसी तरह साधु सभी प्राणियों (षट्काय) के दण्ड का त्याग कराना चाहता है, उसकी यह इच्छा नहीं है कि कोई भी मनुष्य किसी भी प्राणी का घात करे। परन्तु जब वह पुरुष सभी प्राणियों का घात करना नहीं छोड़ना चाहता, तब साधु जितना बन सके उतना ही त्याग करने का उस श्रावक से अनुरोध करता है। अर्थात् इस पर वह छह काया के जीवों के घात में से त्रसकाय के जीवों का घात करना छोड़ता है। इसलिए त्रसकाय के जीवों को मारने का त्याग कराने वाला साधु स्थावर प्राणियों का घात का समर्थक नहीं होता। इसी बात को बताने हेतु गाथापतिचोरविमोक्षणन्याय (दृष्टान्त) दिया गया है।

सारांश

इस सूत्र में उदकपेढालपुत्र ने श्री गौतम स्वामी के समक्ष एक सुझाव प्रस्तुत किया है कि अगर आप लोग प्रत्याख्यान कराते एवं श्रावक द्वारा प्रत्याख्यान करते समय जो वाक्य बोलते हैं, उसमें त्रस के आगे 'भूत' पद जोड़ दें तो वह प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान हो सकता है। आशा है, आप मेरे सुझाव से सहमत होंगे। मुझे यह न्यायसंगत लगता है। आप भी इसे पसन्द करेंगे।

मूल पाठ

सवायं भगवं गोयमे! उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी—'आउसंतो उदगा! नो खलु अम्हे एयं रोयइ, जे ते समणा वा माहणा वा एवमाइक्खंति जाव परूवेंति, णो खलु ते समणा वा णिग्गंथा वा भासं भासंति, अणुतावियं खलु ते भासं भासंति, अब्भाइक्खंति खलु ते समणे समणोवासए वा जेहिं वि अन्नेहिं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवेहिं पाणेहिं भूएहिं सत्तेहिं संजमयंति, ताण वि ते अब्भाइक्खंति, कस्स णं तं हेउं ? संसारिया खलु पाणा, तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति, थावरावि पाणा तसत्ताए पच्चायंति, तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा थावरकायंसि उववज्जंति, थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा तसकायंसि उववज्जंति। तेसिं च णं तसकायंसि उववन्नाणं ठाणमेयं अघत्तं ॥ सू० ७४ ॥

संस्कृत छाया

संवादं भगवान् गौतमः उदकं पेढालपुत्रं एवमवादीत्—आयुष्मन् उदक ! नो खल्वस्मभ्यमेवं रोचते, ये ते श्रमणा वा माहना वा एवमाख्यायन्ति यावत् प्ररूपयन्ति, नो खलु ते श्रमणा वा निर्ग्रन्था वा भाषां भाषन्ते, अनुतापिनीं ते भाषां भाषन्ते, अभ्याख्यान्ति ते श्रमणान् वा श्रमणोपासकान् वा। येष्वपि अन्येषु जीवेषु प्राणेषु भूतेषु सत्त्वेषु संयमयन्ति। कस्य खलु तस्य हेतोः ? सांसारिकाः खलु प्राणाः त्रसा अपि प्राणाः स्थावरत्वाय प्रत्यायान्ति स्थावरा अपि प्राणाः त्रसत्वाय प्रत्यायान्ति त्रसकायतो विप्रमुच्यमानाः स्थावरकायेषूत्पद्यन्ते, स्थावरकायतो विप्रमुच्यमानाः त्रसकायेषूत्पद्यन्ते तेषां च खलु त्रसकायेषूत्पन्नानां स्थानमेतदघात्यम् ॥सू० ७४॥

अन्वयार्थ

(**सवायं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी**) भगवान् गौतमस्वामी ने उदकपेढालपुत्र निर्ग्रन्थ से वाद (युक्ति) सहित इस प्रकार कहा—(**आउसंतो उदगा ! नो खलु एयं अम्हं रोयइ**) आयुष्मन् उदक ! आपका यह कथन (इस प्रकार से प्रत्याख्यान कराने की बात) हमें अच्छी नहीं लगती कि (**जे ते समणा वा माहणा वा एवमाइक्खंति जाव परूवेंति, णो खलु ते समणा वा निग्गंथा वा भासं भासंति, अणुतावियं खलुते भासं भासंति**) जो श्रमण या माहन आपके कथनानुसार कहते हैं, उपदेश देते हैं या प्ररूपणा करते हैं, वे श्रमण निर्ग्रन्थ यथार्थ भाषा नहीं बोलते, अपितु वे अनुतापिनी—संताप उत्पन्न करने वाली भाषा बोलते हैं। (**ते समणे समणोवासए वा खलु अब्भाइक्खंति**) वे लोग उन श्रमणों और श्रमणोपासकों पर व्यर्थ ही दोषारोपण करते हैं, झूठा कलंक लगाते हैं, (**जेहिं वि अन्नेहिं जीवेहिं पाणेहिं भूएहि सत्तेहिं संजमयंति, ताण वि ते अब्भाइक्खंति**) जो (श्रमण या श्रमणोपासक), प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों के विषय में संयम (ग्रहण) करते-कराते हैं, उन पर भी वे दोषारोपण करते हैं। (**कस्स णं तं हेउं ?**) उसका कारण क्या है ? सुनिए। (**संसारिया खलु पाणा**) समस्त प्राणी संसरणशील—परिवर्तनशील हैं, (**तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति, थावरा वि तसत्ताए पच्चायंति**) त्रस प्राणी भी स्थावरत्व के रूप में आते है, स्थावरप्राणी भी त्रसत्व के रूप में आते हैं, (**तसकायाओ दिप्पमुच्चमाणा थावर-**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कायंसि उववज्जंति, थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा तसकायंसि उववज्जंति) तथा वे त्रस शरीर को छोड़कर स्थावरकाय में उत्पन्न होते हैं, इसी तरह स्थावरकाय को त्याग करके त्रसकाय में उत्पन्न होते हैं। (**तेसिं च णं तसकायंसि उववन्नाणं ठाणमेयं अघत्तं**) जब वे त्रसकाय में उत्पन्न होते हैं, तब वे प्रत्याख्यानी पुरुषों के द्वारा हनन करने योग्य नहीं होते।

व्याख्या

उदक निर्ग्रन्थ को गौतमस्वामी का स्पष्ट उत्तर

इस सूत्र में उदक निर्ग्रन्थ की बात सुनकर भगवान् गौतमस्वामी ने युक्तिपूर्वक उससे कहा—"आयुष्मान् उदक ! आपने जो प्रत्याख्यान की रीति सुझाई है, वह हमें जरा भी पसन्द नहीं है। वे श्रमण और माहन जो इस प्रकार (केवल 'त्रस' शब्द के आगे 'भूत' पद लगाकर प्रत्याख्यान वाक्य) बोलते हैं, वैसा उपदेश करते हैं, बताते हैं, प्ररूपणा करते हैं, वे समीचीन (जिन परम्परानुसारिणी) भाषा नहीं बोलते, परन्तु वे निरर्थक और संतापदायिनी भाषा बोलते हैं।

भगवान् गौतम का आशय यह प्रतीत होता है कि आपका जो सुझाव है कि 'त्रस' शब्द के आगे 'भूत' शब्द जोड़ देने से ही प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान हो सकता है, अन्यथा प्रतिज्ञा भंग होती है इत्यादि, यह कथन हमको रुचिकर नहीं लगता, बल्कि श्रमणों—निर्ग्रन्थों एवं श्रमणोपासकों पर आक्षेपात्मक और दोषारोपणकारक प्रतीत होता है। क्योंकि 'त्रस' के पश्चात् 'भूत' पद का प्रयोग करने का आपका सुझाव निरर्थक है, उसका कोई विशेष फल नहीं है। क्योंकि जो अर्थ त्रस पद से प्रतीत होता है, वही त्रसभूत पद से प्रतीत होता है। फिर 'भूत' शब्द जोड़ने का क्या प्रयोजन है। इसके अतिरिक्त 'भूत' शब्द-प्रयोग से अनेक अर्थ भी सम्भव हैं; क्योंकि भूत शब्द उपमा अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। जैसे कि '**देवलोकभूतंनगरमिदम्**' अर्थात् यह नगर देवलोक के तुल्य है। इस प्रकार भूत शब्द का अर्थ उपमा देने से 'त्रसभूत' पद का अर्थ त्रस के सदृश भी हो सकता है और ऐसा अर्थ होने पर 'त्रस के सदृश प्राणी के वध का त्याग' यह प्रत्याख्यान वाक्य का अर्थ होगा, त्रस प्राणी के वध का त्याग नहीं। मगर यह अर्थ यहाँ पर बिल्कुल अभीष्ट नहीं है। अतः त्रसपद के उत्तर में 'भूत' शब्द जोड़ने से जो अनभीष्ट एवं अनिष्ट अर्थ निकलता है, उस अर्थ के होने का संशय उत्पन्न करना ठीक नहीं है।

यदि 'भूत' शब्द यहाँ उपमा (सदृशता) का वाचक नहीं है, तब तो उसका प्रयोग करना निष्प्रयोजन है, बेकार है; क्योंकि 'भूत' शब्द का कोई विशिष्ट अर्थ नहीं होगा। अर्थात्—वैसी स्थिति में भूत शब्द उसी अर्थ का बोधक होगा, जिसका बोधक त्रस शब्द है। जैसे कि '**शीतीभूतमुदकम्**' इस वाक्य में शीत पद के उत्तर में जोड़ा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुआ 'भूत' शब्द गीत अर्थ को ही बताता है, उससे भिन्न अर्थ को नहीं, यानी भूत शब्द किसी न्यून या अधिक अर्थ को प्रगट नहीं करता।

यदि वर्तमान अर्थ में भूत शब्द का प्रयोग माना जाए तो भी कोई फल नहीं है, इसके प्रयोग करने का; क्योंकि जो जीव वर्तमान काल में त्रस शरीर में आया है, वह सदा इसी शरीर में रह नहीं सकता, किन्तु वह स्थावरनामकर्म के उदय से स्थावरकाय में भी जाएगा। और वह स्थावरकाय में जाने पर उक्त त्रसवधप्रत्याख्यानी श्रमणोपासक द्वारा घात करने योग्य होगा, फिर उसकी प्रतिज्ञा अभंग (अखण्डित) कैसे रह सकेगी? एवं जिसने किसी खास जाति या खास व्यक्ति को न मारने की प्रतिज्ञा की है, जैसे कि "मैं ब्राह्मण को न मारूँगा अथवा मैं अमुक सूअर को नहीं मारूँगा" वह जीव यदि ब्राह्मण शरीर या शूकर शरीर को छोड़कर अन्य जाति के शरीर में उत्पन्न हुए उन प्राणियों का घात करता है तो आपके सिद्धान्त के अनुसार उसकी प्रतिज्ञा का भंग क्यों नहीं माना जाएगा?

अतः आप प्रत्याख्यान के पाठ में त्रस शब्द के उत्तर में भूत शब्द को जोड़ने की जो बात कहते हैं, वह उचित नहीं है, वह निरर्थक पुनरुक्तिदोष का सेवन करना है। शिष्ट पुरुषों ने प्रत्याख्यान की जो विधि बताई है, वही हमें रुचिकर लगती है।

जो लोग प्रत्याख्यान पाठ में त्रस पद के बदले 'त्रसभूत' पद का प्रयोग नहीं करते, उन पर आप प्रतिज्ञाभंग का आक्षेप लगाकर व्यर्थ ही दोषारोपण करते हैं। क्योंकि 'भूत' शब्द लगाने का कोई मतलब ही नहीं है, बल्कि ऐसा करके आप उन श्रमणों एवं श्रमणोपासकों को उन-उन प्राणियों के प्रति संयम करने से हतोत्साहित करते हैं, उन पर कलंक लगाकर उन्हें प्रत्याख्यान करने से रोकते हैं। वे लोग जो संयम पालते हैं, उन्हें आप संशय में डालते हैं। उनमें बुद्धिभेद पैदा करके आप एक महान् अनर्थ करते हैं।

ऐसी भाषा, जैसी कि आप बोलते हैं, जिन परम्परानुसारिणी भाषा नहीं है, वह श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए बोलने योग्य नहीं है। उससे श्रमणों और श्रमणोपासकों के हृदय में अनुताप एवं संताप पैदा होता है।

वास्तव में देखा जाए तो वर्तमान में जो त्रस प्राणी हैं, वे भूतकाल में चाहे स्थावर रहे हों या और कोई, अथवा भविष्य में स्थावर बनेंगे या अन्य योनियों में जाएँगे, उनसे प्रत्याख्यानी का कोई वास्ता नहीं, प्रत्याख्यानी के प्रत्याख्यान का सम्बन्ध उनकी वर्तमान जाति से है अर्थात् वर्तमान में जो त्रस के रूप में प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, उन्हीं के वध का वह त्याग करता है। स्थावरकाय प्राणी भी यदि वर्तमान में त्रस रूप में उत्पन्न होंगे तो उनका वध-त्याग भी वर्तमान में त्रस होने के नाते श्रावक अवश्य करेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सारांश

उदकपेढालपुत्र के प्रत्याख्यान सम्बन्धी अटपटे सुझाव को भगवान् गौतमस्वामी ने अमान्य कर दिया और उनका ध्यान निर्ग्रन्थयोग्य भाषा सम्बन्धी दोषों की तरफ खींचा।

इसी बात के विशेष स्पष्टकरण के लिए अगले सूत्र प्रस्तुत किये जाते हैं।

मूल पाठ

सवायं उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी—कयरे खलु ते आउसंतो गोयमा ! तुब्भे वयह तसा पाणा, तसा आउ अन्नहा ? सवायं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी—आउसंतो उदगा ! जे तुब्भे वयह तसभूया पाणा तसा, ते वयं वयामो तसा पाणा। जे वयं वयामो तसा पाणा, ते तुब्भे वयह तसभूया पाणा। एए संति दुवे ठाणा तुल्ला एगट्ठा। किमाउसो ! इमे भे सुप्पणीयतराए भवइ तसभूया पाणा तसा, इमे भे दुप्पणीयतराए भवइ—तसा पाणा तसा, तओ एगमाउसो ! पडिक्कोसह एक्कं अभिणंदह, अयंपि भेदो से णो णेयाउए भवइ।

भगवं च णं उदाहु—संतेगइया मणुस्सा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ—णो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए सावयं णं अणुपुव्वेण गुत्तस्स लिसिस्सामो ते एवं संखवेंति, ते एवं संखं ठवयति, ते एवं संखं ठावयंति, नन्नत्थ अभिओएणं गाहावइचोरग्गहणविमोक्खणयाए तसेहिं पाणेहिं निहाय दंडं, तंपि तेसिं कुसलमेव भवइ॥ सू० ७५॥

तसा वि वुच्चंति तसा तससंभारकडेणं कम्मुणा णामं च णं अब्भुवगयं भवइ, तसाउयं च णं पलिक्खीणं भवइ, तसकायट्ठिइया ते तओ आउयं विप्पजहंति, ते तओ आउयं विप्पजहित्ता थावरत्ताए पच्चायंति। थावरा वि वुच्चंति थावरा थावरसंभारकडेणं कम्मुणा णामं च णं अब्भुवगयं भवइ, थावराउयं च णं पलिक्खीणं भवइ, थावरकायट्ठिइया ते तओ आउयं विप्पजहंति, तओ आउयं विप्पजहित्ता भुज्जो परलोइयत्ताए पच्चायंति, ते पाणावि वुच्चंति, ते तसावि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्ठिइया॥सू० ७६॥

संस्कृत छाया

सवादमुदकः पेढालपुत्रो भगवन्तं गौतममेवमवादीत्—कतरे खलु ते आयष्मन् गौतम ! यूयं वदथ त्रसाः प्राणाः त्रसा उतान्यथा ? सवादं भगवान्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गौतमः उदकं पेढालपुत्रमेवमवादीत्—आयुष्मन् उदक!यान् यूयं वदथ त्रसभूताः प्राणास्त्रसास्तान् वयं वदामस्त्रसाः प्राणाः । यान् वयं वदामस्त्रसाः प्राणाः, तान् यूयं वदथ त्रसभूताः प्राणाः । एते द्वे स्थाने तुल्ये एकार्थे । किमायुष्मन् ! अयं युष्माकं सुप्रणीततरो भवति त्रसभूताः प्राणास्त्रसाः अयं युष्माकं दुष्प्रणीततरो भवति त्रसाः प्राणास्त्रसाः, तत एकमायुष्मन् ! प्रतिक्रोशथ एकमभिनन्दथ अयमपि भेदः स नैयायिको भवति? भगवांश्च पुनराह--सन्त्येककेमनुष्या भवन्ति, तैश्चेदमुक्तपूर्वं भवति—'न खलु वय शक्नुमो मुण्डाः भूत्वा अगारादनगारिकतां प्रतिपत्तुं तद्वयं खलु आनुपूर्व्या गोत्रमुपश्लेषयिष्यामः । एवं ते संख्यापयन्ति एवं ते संख्या स्थापयन्ति, नान्यत्राभियोगेन गाथापतिचोरग्रहणविमोक्षणतया त्रसेषु प्राणेषु निधाय दण्डं, तदपि तेषां कुशलमेव भवति ॥सू० ७५॥

त्रसा अप्युच्यन्ते त्रसास्त्रससम्भारकृतेन कर्मणा नाम च खल्वभ्युपगतं भवति । त्रसायुष्कं च परिक्षीणं भवति त्रसकायस्थितकास्ते तदायुष्कं विप्रजहति ते तदायुष्कं विप्रहाय स्थावरत्वाय प्रत्यायान्ति, स्थावरा अप्युच्यन्ते स्थावराः स्थावरसम्भारकृतेन कर्मणा नाम च खल्वभ्युपगतं भवति, स्थावरायुष्कं च खलु परिक्षीणं भवति स्थावरकायस्थितिकास्तकास्ते तदायुष्कं विप्रजहति, तदायुष्कं विप्रहाय भूयः पारलौकिकत्वेन प्रत्यायान्ति, ने प्राणा अप्युच्यन्ते ते त्रसा अप्युच्यन्ते, ते महाकायास्ते चिरस्थितिकाः ॥ सू० ७६ ॥

अन्वयार्थ

(**उदए पेढालपुत्ते सवायं भगवं गोयमं एवं वयासी**) उदकपेढालपुत्र ने वाद (युक्ति) सहित भगवान् गौतम स्वामी से इस प्रकार कहा कि (**आउसंतो गोयमा ! कयरे खलु ते तुब्भे तसा पाणा तसा वयह आउ अन्नहा**) आयुष्मन् गौतम ! वे प्राणी कौन-से हैं, जिन्हें तुम त्रस कहते हो, तुम त्रस प्राणी को ही त्रस कहते हो या किसी दूसरे को ? (**भगवं गोयमे सवायं उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी**) भगवान् गौतम ने वाद सहित उदकपेढालपुत्र से यों कहा कि (**आउसंतो उदया ! जे तुब्भे वयह तसभूया पाणा तसा ते वयं वयामो तसा पाणा**) आयुष्मन् उदक ! जिन प्राणियों को तुम त्रसभूत त्रस कहते हो, उन्हीं को हम त्रस प्राणी कहते हैं । (**जे वयं वयामो तसा पाणा ते तुब्भे वयह तसभूया पाणा**) और जिन्हें हम त्रस प्राणी कहते हैं, उन्हीं को तुम त्रसभूत कहते हो । (**एए दुवे ठाणे तुल्ले एगट्ठा संति**) ये दोनों ही शब्द समान हैं और एकार्थक हैं । (**किमाउसो इमे मे तसभूया पाणा तसा सुप्पणीयतराए भवइ, तसा पाणा तसा इमे मे दुप्पणीयतराए भवइ**) ऐसी स्थिति में क्या कारण है कि त्रसभूत प्राणी त्रस कहना आप ठीक (शुद्ध)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समझते हैं, और त्रस प्राणी त्रस कहना आप ठीक (शुद्ध) नहीं समझते ? जबकि दोनों समानार्थक हैं। (**ततो आउसो एक्कं पडिक्कोसह एकं अभिणंदह**) ऐसा करके आप क्यों एक (पक्ष) की निन्दा करते हैं और एक पक्ष की प्रशंसा करते हैं ? (**अयंपि भेदो से णो णेयाउए भवइ**) अतः आपका यह पूर्वोक्त भेद (पक्षपात) भी न्यायसंगत नहीं है।

(**भगवं च णं उदाहु**) फिर उदकपेढालपुत्र से भगवान् श्री गौतम स्वामी ने कहा—(**संतेगइया मणुस्सा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ**) हे उदक ! इस जगत् मे ऐसे भी मनुष्य होते हैं, जो साधु के निकट आकर उनसे इस प्रकार कहते हैं —(**वयं मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए णो खलु संचाएमो**) हम मुंडित होकर अर्थात् समस्त प्राणियों को न मारने की प्रतिज्ञा लेकर गृह त्याग करके आगार धर्म से अनगार धर्म में प्रव्रजित होने (दीक्षा लेने) में अभी समर्थ नहीं है, (**सावयं णं आणुपुव्वेणं गुत्तस्स लिसिस्सामो**) किन्तु हम क्रमशः साधुत्व को स्वीकार करेंगे अर्थात् हम प्रथम स्थूल प्राणातिपात (स्थूल प्राणियों की हिंसा) को छोड़ेंगे, इसके पश्चात् सूक्ष्म प्राणातिपात (सर्वसावद्य) का त्याग करेंगे। (**ते एवं संखवेंति ते एवं संखं ठावयंति**) तदनुसार वे अपने मन में ऐसा ही निश्चय करते हैं, और ऐसा ही विचार प्रगट करते हैं (**नन्नत्थ अभिओएण गाहावइचोरग्गहणविमोक्खणयाए तसेहिं पाणेहिं दंडं निहाय**) तदनन्तर वे राजा आदि के अभियोग का आगार (छूट) रखकर गृहपतिचोर-ग्रहणविमोक्षणन्याय से त्रस प्राणियों की हिंसा का त्याग करते हैं और साधुगण यह जानकर कि यह व्यक्ति समस्त सावद्यों को नहीं छोड़ता है तो जितना छोड़े उतना ही अच्छा है, उसे त्रस प्राणियों की हिंसा न करने की प्रतिज्ञा कराते हैं। (**तं पि तेसिं कुसलमेव भवइ**) इतना त्याग भी उसके लिए अच्छा ही होता है ॥ सू० ७५ ॥

(**तसा वि तससंभारकडेणं कम्मुणा तसा वुच्चंति**) त्रस जीव भी त्रसनामकर्म के उदय अर्थात् त्रसनामकर्म का फल भोगने के कारण त्रस कहलाते हैं। (**णामं च णं अब्भुवगयं भवइ**) और वे उक्त कर्म का फल भोगने के कारण ही त्रस नाम को धारण करते हैं (**तसाउयं च णं पलिक्खीणं भवइ**) और उनकी त्रस की आयु क्षीण हो जाती है (**तसकायट्ठिइया ते तओ आउयं विप्पजहंति**) और त्रसकाय में स्थिति रूप (रहने का हेतु रूप) कर्म भी क्षीण हो जाता है, तब वे उस आयुष्य को छोड़ देते हैं। (**ते तओ आउयं विप्पजहित्ता थावरत्ता पच्चायंति**) और वे त्रस का आयुष्क छोड़कर स्थावरत्व को प्राप्त करते हैं, (**थावरा वि वुच्चंति थावरा थावरसंभारकडेण कम्मुणा णामं च णं अब्भुवगयं भवइ**) स्थावर प्राणी भी स्थावर नामक कर्म के फल का अनुभव करते हुए स्थावर कहलाते हैं, और इसी कारण वे स्थावर नाम को भी धारण करते हैं। (**थावराउयं च पलिक्खीणं भवइ थावरकायट्ठिइया ते तओ आउयं विप्पजहंति**) जब उनकी स्थावर की आयु क्षीण हो जाती है और स्थावरकाय में उनकी स्थिति की अवधि पूरी हो जाती है, तब वे उस आयु को छोड़ देते हैं। (**तओ आउयं**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विप्प जाहित्ता भुज्जो परलोइयत्ताए पच्चायंति) और उस आयु को छोड़ कर फिर पारलौकिकरूप से त्रसभाव को प्राप्त करते हैं। (**ते पाणा वि वुच्चंति, ते महाकाया ते चिरट्ठिइया**) वे जीव प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं, और महान् काय वाले तथा चिरकाल तक स्थिति वाले भी होते हैं। सू० ७६ ॥

व्याख्या

प्रश्न उदक निर्ग्रन्थ के, उत्तर गौतम स्वामी के

इन दोनों सूत्रों में पूर्वसूत्र में उक्त त्रस के अर्थ के सम्बन्ध में उदकपेढाल-पुत्र के प्रश्न और गौतम स्वामी के उत्तर अंकित किये गये हैं। उदकपेढालपुत्र निर्ग्रन्थ ने अपनी बात को पुष्ट करने हेतु पुनः भगवान् गौतम स्वामी से पूछा—"आयुष्मन् गौतम ! आप किन जीवों को त्रस कहते हैं, क्या आप त्रस प्राणी को त्रस कहते हैं या अन्य किसी प्राणी को त्रस कहते हैं ? इसके उत्तर में भगवान् गौतम ने युक्तिपूर्वक कहा—देखो, उदक निर्ग्रन्थ ! आप लोग जिन्हें त्रसभूत कहते हैं, उन्हीं को हम त्रस कहते हैं, तथा हम जिन्हें त्रस कहते हैं, उन्हें ही आप लोग त्रसभूत कहते हैं। इन दोनों शब्दों के अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। ये दोनों शब्द एकार्थक हैं। जो प्राणी वर्तमानकाल में त्रस हैं, उन्हीं का वाचक जैसे त्रसभूत पद है, उसी तरह त्रस पद भी है ; तथा जो प्राणी भूतकाल में त्रस थे और भविष्य में त्रस होने वाले हैं, उनका वाचक जैसे त्रसभूत पद नहीं है, उसी तरह त्रसपद भी नहीं हैं। ऐसी स्थिति में आप लोग त्रसभूत शब्द का प्रयोग करना ठीक समझते हैं, त्रस का प्रयोग करना ठीक नहीं समझते, इसका क्या कारण है ? तथा ये दोनों ही शब्द जबकि समान अर्थ के बोधक हैं, तब क्या कारण है कि आप एक की प्रशंसा और दूसरे को निन्दा करते हैं। अतः आपका यह पक्षपात या भेद करना न्यायसंगत नहीं है।

इसके आगे भगवान् गौतम स्वामी ने कहा—हे उदक ! साधु समस्त प्राणियों की हिंसा से स्वयं निवृत्त होकर यही चाहता है कि कोई भी मनुष्य किसी भी प्राणी की हिंसा न करे, परन्तु उसके निकट कितने ही ऐसे लोग भी आते हैं, जो समस्त प्राणियों की हिंसा को नहीं छोड़ना चाहते। वे कहते हैं कि निर्ग्रन्थ गुरुवर ! मैं समस्त प्राणियों की हिंसा का त्याग करके साधुत्व का पालन करने में अभी समर्थ नहीं हूँ किन्तु क्रमशः प्राणियों की हिंसा का त्याग करना चाहता हूँ, इसलिए गृहस्थ अवस्था में रहते हुए जितना त्याग मेरे से हो सकता है, उतना ही त्याग करना चाहता हूँ। यह सुनकर साधु विचार करता है कि यह सभी प्राणियों की हिंसा से निवृत्त होना यदि नहीं चाहता, तो जितने प्राणियों की हिंसा से निवृत्त हो, उतना ही सही, इसलिए साधु उसे त्रस प्राणियों के न मारने की प्रतिज्ञा कराता है और इस प्रकार त्रस प्राणियों के घात से निवृत्ति की प्रतिज्ञा करना भी उस पुरुष के लिए अच्छा ही होता है, क्योंकि जहाँ वह सबका घात करता था, वहाँ वह कुछ तो छोड़ता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही है। इस प्रकार उस पुरुष को त्याग कराने वाले साधु को शेष प्राणियों के मारने का अनुमोदन नहीं होता, क्योंकि वह तो सभी के घात का त्याग कराना चाहता है, परन्तु जब वह पुरुष ऐसा करने के लिए तैयार नहीं है, तो जितने को वह छोड़े, उतने तो बचेंगे, यह आशय साधु का होता है। अतः उसे शेष प्राणियों के घात का अनुमोदन नहीं लगता है। यह ७५वें सूत्र का आशय है।

पहले उदकपेढालपुत्र ने श्री गौतम स्वामी से पूछा था—कोई श्रावक त्रसजीवों के घात का त्याग करके भी स्थावरकाय में उत्पन्न हुए उसी त्रस प्राणी को मारता है तो उसका व्रत भंग क्यों नहीं हो सकता है? जो मनुष्य नागरिक पुरुष की हत्या न करने की प्रतिज्ञा करके नगर से बाहर गए हुए उस नागरिक पुरुष की हत्या करता है तो उसकी प्रतिज्ञा जैसे भंग हो जाती है, उसी तरह त्रसकाय को न मारने की प्रतिज्ञा किया हुआ श्रावक यदि स्थावरकाय में गये हुए उस त्रस प्राणी का घात करता है तो उसकी प्रतिज्ञा भंग हो जाती है, ऐसा क्यों न माना जाए? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् गौतम स्वामी कहते हैं—हे उदक निर्ग्रन्थ! जीव अपने कर्मों का फल भोगने के लिए जब त्रस पर्याय में आते हैं, तब उनकी त्रस संज्ञा होती है और वे जब अपने कर्मों का फल भोगने के लिए स्थावर पर्याय में आते हैं, तब उनकी स्थावर संज्ञा होती है। इस प्रकार जीव कभी त्रस पर्याय को छोड़कर स्थावर पर्याय को प्राप्त करते हैं, और कभी स्थावर पर्याय को छोड़ कर त्रस पर्याय को प्राप्त करते हैं। अतः जो श्रावक त्रस प्राणी को मारने का त्याग करता है, वह त्रस पर्याय में आए हुए जीव को मारने का ही त्याग करता है, परन्तु स्थावर पर्याय में आए हुए या भविष्य में आने वाले जीव के घात का त्याग नहीं करता। इसलिए स्थावर पर्याय के घात से उसके पूर्वोक्त प्रत्याख्यान या व्रत का भंग क्योंकर हो सकता है? क्योंकि स्थावर पर्याय के घात का त्याग उसने नहीं किया है। आपने जो नागरिक का दृष्टान्त देकर स्थावर पर्याय के घात से त्रस प्राणी के घात का त्याग करने वाले पुरुष की प्रतिज्ञा का भंग होना कहा है, वह भी अयुक्त है, क्योंकि नगरनिवासी पुरुष नगर से बाहर जाने पर भी नागरिक ही कहलाता है क्योंकि उसकी पर्याय बदली नहीं है। इसलिए उसका घात करने से नागरिक के घात का त्याग करने वाले व्यक्ति का व्रत भंग हो जाता है। परन्तु वह नागरिक यदि नगर में रहना बिल्कुल छोड़कर गाँव में रहने लग जाता है तो वह ग्रामीण कहलाने लगता है, उसकी नागरिक पर्याय भी बदल जाती है। ऐसी दशा में उसकी हिंसा से जैसे नागरिक को न मारने का व्रत ग्रहण किये हुए पुरुष का व्रत भंग नहीं होता, उसी तरह त्रस पर्याय को त्यागकर जो प्राणी स्थावर पर्याय में चला गया है, उसके घात से त्रस पर्याय के घात का त्याग किये हुए पुरुष की प्रतिज्ञा का भंग नहीं हो सकता क्योंकि स्थावर पर्याय के घात का त्याग उसने नहीं किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सारांश

७५वें और ७६वें सूत्र में पूर्वोक्त प्रत्याख्यान के सम्बन्ध में रोचक उदक-गौतम-प्रश्नोत्तर प्रस्तुत किये गये हैं। उदक निर्ग्रन्थ से गौतम स्वामी ने पूछा कि आप त्रस प्राणी को त्रस कहते हैं या अन्य किसी प्राणी को? इसके उत्तर में गौतम स्वामी ने स्पष्ट उत्तर दिया कि जिनको आप त्रसभूत कहते हैं, उन्हीं को हम त्रस कहते हैं। दोनों शब्द एकार्थक हैं। अतः भूत शब्द लगाकर विभेद या बुद्धिभेद पैदा करना ठीक नहीं। बहुत-से मनुष्य साधुवृत्ति ग्रहण करने में समर्थ नहीं होते, वे यदि गृहस्थ श्रावक के अहिंसाणुव्रत का ग्रहण करके त्रसजीवों की हिंसा का ही साधुओं के त्याग ग्रहण करते हैं तो लिकुल त्याग न करने की अपेक्षा, थोड़ा सा हिंसा का त्याग भी अच्छा ही है। उदक ने पहले जो आक्षेप किया था कि जिसने त्रसजीवों की हिंसा का त्याग किया था, उसका व्रत-भंग होता है, जबकि त्रसजीव मरकर स्थावर हो जाते हैं, या भविष्य में, जो स्थावर होंगे। इसके उत्तर में गौतम का स्पष्ट उत्तर यह है जो वर्तमान में त्रस पर्याय में हैं, वे चाहे स्थावर में से आये हों, वर्तमान में त्रस पर्याय में होंगे तो उन्हीं की हिंसा का त्याग श्रावक करेगा। जो त्रस से स्थावर हो गये हैं, उनकी तो पर्याय ही बदल गई है। उनकी घात से श्रावक का व्रतभंग नहीं होता।

मूल पाठ

सवायं उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी—आउसंतो गोयमा! णत्थि णं से केइ परियाए जण्णं समणोवासगस्स एग पाणाइवायविरए वि दंडे निक्खित्ते। कस्य णं तं हेउं? संसारिया खलु पाणा, थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चायंति, तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति, थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे तसकायंसि उववज्जंति, तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे थावरकायंसि उववज्जंति। तेसिं च णं थावरकायंसि उववन्नाणं ठाणमेयं घत्तं।

सवायं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी—णो खलु आउसो उदगा! अस्माकं वत्तव्वएणं तुब्भं चेव अणुप्पवादेणं, अत्थि णं से परियाए जे णं समणोवासगस्स सव्वपाणेहिं सव्वभूएहिं सव्वजीवेहिं सव्वसत्तेहिं दंडे निक्खित्ते भवइ, कस्स णं तं हेउं? संसारिया खलु पाणा तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति, थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चायंति, तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे थावरकायंसि उववज्जंति, थावरकायाओ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विप्पमुच्चमाणा सव्वे तसकायंसि उववज्जंति, तेसिं च णं तसकायंसि उववन्नाणं ठाणमेयं अघत्तं, ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्ठिइया, ते बहुयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, ते अप्पयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अप्पच्चक्खायं भवइ, से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्ठियस्स पडिविरयस्स जन्नं तुब्भे वा अन्नो वा एवं वदह—णत्थि णं से केइ परियाए जंसि समणोवासगस्स एगपाणाइवायविरए वि दंडे निक्खित्ते, अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ ॥ सू० ७७ ॥

संस्कृत छाया

सवादमुदकः पेढालपुत्रो भगवन्तं गौतममेवमवादीत् —आयुष्मन् गौतम ! नास्ति खलु स कोऽपि पर्यायो यस्मिन् श्रमणोपासकस्य एक प्राणातिपातविरतेरपि दण्डः निक्षिप्तः । तत् कस्य हेतोः ? सांसारिकाः खलु प्राणाः स्थावरा अपि प्राणाः त्रसत्वाय प्रत्यायांति, त्रसा अपि प्राणाः स्थावरत्वाय प्रत्यायान्ति, स्थावरकायतोविप्रमुच्यमानाः सर्वे त्रसकायेषूत्पद्यन्ते त्रसकायतो विप्रमुच्यमानाः सर्वे स्थावरकायेषूत्पद्यन्ते तेषाञ्च स्थावरकायेषूत्पन्नानां स्थानमेतद् घात्यम् । सवादं भगवान् गौतमः उदकं पेढालपुत्रमेवमवादीत्—न खलु आयुष्मन् उदक ! अस्माकं वक्तव्यत्वेन युष्माकञ्चैवानुप्रवादेन अस्ति खलु स पर्यायः यस्मिन् श्रमणोपासकस्य सर्वप्राणेषु सर्वभूतेषु सर्वजीवेषु सर्वसत्त्वेषु दण्डः निक्षिप्तो भवति । तत् कस्य हेतोः ? सांसारिका खलु प्राणाः त्रसा अपि प्राणाः स्थावरत्वाय प्रत्यायान्ति, स्थावरा अपि प्राणाः त्रसत्वाय प्रत्यायान्ति । त्रसकायतो विप्रमुच्यमानाः सर्वे स्थावरकायेषूत्पद्यन्ते स्थावरकायतो विप्रमुच्यमानाः सर्वे त्रसकायेषूत्पद्यन्ते, तेषां च त्रसकायेषूत्पन्नानां स्थानमेतद् अघात्यम् । ते प्राणा अप्युच्यन्ते, ते त्रसा अप्युच्यन्ते, ते महाकायास्ते चिरस्थितिकाः ते बहुतरकाः प्राणा येषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यातं भवति ते अल्पतरकाः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य अप्रत्याख्यातं भवति । तस्य महतस्त्रसकायादुपशान्तस्य उपस्थितस्य प्रतिविरतस्य यद् यूयमन्योवा वदथ नास्ति स कोऽपि पर्यायः यस्मिन् तस्य श्रमणोपासकस्य एकप्राणातिपातविरतेरपि दण्डः निक्षिप्तो भवति, अयमपि भेदः, नो नैयायिको भवति ॥ सू० ७७॥

अन्वयार्थ

(**उदए पेढालपुत्ते सवायं भगवं गोयमे एवं वयासी**) उदकपेढालपुत्र ने वाद सहित भगवान् गौतम स्वामी से कहा कि (**आउसंतो गोयमा णत्थि णं केई परियाए जण्णं समणोवासगस्स एगपाणाइवायविरए वि दंडे निक्खित्ते**) हे आयुष्मान् गौतम !

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोई भी वह पर्याय नहीं है, जिसको न मारकर श्रावक अपने एक प्राणी को न मारने त्याग को भी सफल कर सके (**कस्स ण तं हेउं**) उसका कारण क्या है ? (**संसारिया खलु पाणा**) प्राणि वर्ग परिवर्तशील हैं। (**थावरा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति**) इसलिए कभी स्थावर प्राणी त्रस हो जाते हैं। (**तसावि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति**) और कभी त्रस प्राणी भी स्थावर हो जाते हैं। (**थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे तसकायंसि उववज्जंति, तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे थावरकायंसि उववज्जंति**) वे सबके सब स्थावरकाय को छोड़कर त्रसकाय में उत्पन्न होते हैं और त्रसकाय को छोड़कर स्थावरकाय में उत्पन्न होते हैं। (**तेसिं च णं थावरकायंसि उववन्नाणं ठाणमेयं घत्तं**) वे सबके सब स्थावरकाय में उत्पन्न होने वाले जीव तब श्रावकों के घात के योग्य हो जाते हैं।

(**सवायं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी**) भगवान् गौतम स्वामी ने वादसहित पेढालपुत्र से इस प्रकार कहा—(**णो खलु आउसो उदया अस्माकं वत्तव्वएणं तुब्भं चेव अणुप्पवादेण**) हे आयुष्मन् उदक ! हमारे वक्तव्य के अनुसार यह प्रश्न नहीं उठता, किन्तु आपके वक्तव्य के अनुसार उठ सकता है। (**अत्थि णं से परियाए जेणं समणोवासगस्स सव्वपाणेहिं, सव्वभूएहिं, सव्वजीवेहिं सव्वसत्तेहिं दंडे निक्खित्ते भवइ**) परन्तु आपके सिद्धान्तानुसार भी यह पर्याय अवश्य है, जिसमें श्रमणोपासक सब प्राणी भूत, जीव और सत्त्वों के घात का त्याग कर सकता है। (**कस्स णं तं हेउं ?**) इसका कारण क्या है ? (**संसारिया खलु पाणा**) प्राणिगण परिवर्तनशील हैं। (**तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति, थावरावि पाणा तसत्ताए पच्चयंति**) इसलिए स्थावर प्राणी, भी त्रस रूप में उत्पन्न हो जाते हैं और कभी त्रस प्राणी भी स्थावर रूप में उत्पन्न हो जाते हैं। (**तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे थावरकायंसि उववज्जंति, थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे तसकायंसि उववज्जंति**) वे सब त्रसकाय को छोड़कर स्थावरकाय में उत्पन्न हो जाते हैं, तथैव कभी स्थावर को छोड़कर सब त्रसकाय में भी उत्पन्न हो जाते हैं। (**तेसिं च णं तसकायंसि उववन्नाणं ठाणमेयं अघत्तं**) वे सब जब त्रसकाय में उत्पन्न होते हैं, तब वह स्थान श्रावकों के लिए घात के योग्य नहीं होता। (**ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति से महाकाया ते चिरट्ठिइया**) वे प्राणी भी कहलाते हैं, वे त्रस भी कहलाते हैं, वे विशाल शरीर वाले और चिरकाल तक स्थित रहने वाले होते हैं। (**ते बहुयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ**) वे प्राणी बहुत हैं, जिनमें श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सफल होता है। (**ते अप्पयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खापं भवइ**) तथा उस समय वे प्राणी होते ही नहीं, जिनके लिए श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नहीं होता (**से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्ठियस्स पडिविरयस्स जन्नं तुब्भे वा अन्नो वा एवं वदह णत्थि णं से केइ परियाए जंसि समणोवासगस्स एगपाणाएइवायविरए वि दंडे णिक्खित्ते**) इस प्रकार वह श्रावक महान् त्रसकाय के घात से शान्त तथा विरत होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। ऐसी दशा में आप या दूसरे लोग, जो यह कहते हैं कि ऐसा एक भी पर्याय नहीं है, जिसके लिए श्रमणोपासकों का यथार्थ प्रत्याख्यान हो सके। (**अयंपि भेद से णो णेयाउए भवइ**) अतः आपका यह भेदात्मक कथन न्यायसंगत नहीं है।

व्याख्या

अटपटी शंका, स्पष्ट समाधान

अब उदकपेढालपुत्र ने गौतमस्वामी के समक्ष अपनी शंका दूसरी तरह से प्रस्तुत की—आयुष्मान् गौतम! मेरी दृष्टि से जीव का ऐसा एक भी पर्याय नहीं है, जिसकी हिंसा का त्याग श्रमणोपासक कर सकता हो। इसका कारण यह है कि संसार के समस्त प्राणियों के पर्याय परिवर्तनशील हैं। वे सदा एक ही काय में नहीं रहते। स्थावर प्राणी मरकर त्रस हो जाते हैं और त्रस मरकर स्थावर हो जाते हैं। अतः जब सब के सब त्रस प्राणी त्रस पर्याय को छोड़कर स्थावरकाय में उत्पन्न हो जाते हैं। उस समय एक भी त्रस जीव नहीं रहता, जिसके घात के त्याग का पालन श्रावक कर सके। अतः श्रावक का व्रत उस जैसे किसी ने ऐसा व्रत लिया कि "मैं नगरवासी मनुष्य को नहीं मारूँगा" कदाचित् दैवयोग से, वह नगर सारा उजड़ गया और सभी नगरवासी नगर छोड़कर वनवासी हो गये, तो ऐसी स्थिति में जैसे नगरनिवासी को न मारने की प्रतिज्ञा करने वाले उसे व्यक्ति की प्रतिज्ञा भी निर्विषय हो जाती है, उसी तरह त्रस को न मारने की प्रतिज्ञा करने वाले श्रावक की प्रतिज्ञा भी जब त्रस प्राणी सब के सब स्थावर हो जाते हैं, तब निर्विषय हो जाती है, इसका क्या समाधान है, आपके पास? यानी वह प्रतिज्ञा प्रयोजनहीन हो जाती है, इसलिए वह प्रतिज्ञा निरर्थक है।

उदक निर्ग्रन्थ की इस अटपटी शंका का समाधान करते हुए गौतम स्वामी ने कहा—"उदकपेढालपुत्र! हमारी मान्यता का अनुसरण किया जाय तो यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। क्योंकि हमारा सिद्धान्त यह है कि सबके सब त्रस एक ही काल में स्थावर हो जाते हैं ऐसा न कभी हुआ है, न होगा और न है। लेकिन थोड़ी देर के लिए आपके सिद्धान्तानुसार अगर ऐसा मान भी लें तो श्रावक का व्रत निर्विषय नहीं हो सकता, क्योंकि आपके मतानुसार सबके सब स्थावर प्राणी भी तो किसी भी समय त्रस हो जाते हैं, उस समय श्रावकों के त्रसहिंसा-त्याग का विषय तो अत्यन्त बढ़ जाता है। उस समय श्रावक का अहिंसाविषयक प्रत्याख्यान सर्वप्राणी-विषयक हो जाता है। अतः आप लोग जो श्रावकों के व्रत को निर्विषय कहते हैं, यह न्यायसंगत नहीं है।

श्रावक का प्रत्याख्यान सर्वप्राणीविषयक क्यों हो जाता है? इसका कारण भी सुन लो। जैसे सभी त्रस प्राणी स्थावररूप में उत्पन्न हो जाते हैं, वैसे ही सब स्थावर प्राणी भी त्रसरूप में उत्पन्न हो जाते हैं। जब सभी जीव त्रसकाय के रूप में उत्पन्न हो जाते हैं तब वह स्थान श्रावक के लिए अहिंसा-पालन योग्य हो जाता है।

इस प्रकार ऐसे प्राणी बहुत-से हैं, जिनके विषय में श्रमणोपासक का त्याग-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्याख्यान सफल होता है। उस समय वे प्राणी होते ही नहीं हैं, जिनके विषय में श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नहीं होता। इस प्रकार वह श्रावक महान् त्रसकाय जीव की हिंसा से उपशान्त एवं निवृत्त होता है। अतः आप या दूसरों का यह कथन न्यायसंगत नहीं है कि ऐसा एक भी पर्याय नहीं है, जिसके विषय में श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सफल हो सके।

सारांश

उदकपेढालपुत्र द्वारा श्रमणोपासक के त्रसजीवहिंसात्याग-विषयक प्रत्याख्यान पर यह आक्षेप लगाया गया कि यदि सभी त्रस जीव एक काल में स्थावर हो गये तो उसका यह प्रत्याख्यान असफल एवं निरर्थक हो जायगा। श्री गौतम स्वामी ने इसका स्पष्ट उत्तर दिया कि ऐसा कभी तीन काल में भी नहीं होता कि सभी त्रस जीव एक साथ स्थावर हो जाएँ, त्रस नाम का कोई प्राणी संसार में रहे ही नहीं। इसके अतिरिक्त तुम्हारे (उदक के) मतानुसार भी तो सभी जीवों को परिवर्तनशील मानकर सबके सब स्थावर त्रस बन जाएँगे तब श्रावक को अहिंसापालन करना अनिवार्य हो जाएगा। अतः त्रसजीव-विषयक अहिंसापालन का व्रत कदापि निर्विषय नहीं होता।

मूल पाठ

भगवं च णं उदाहु णियंठा खलु पुच्छियव्वा—आउसंतो नियंठा ! इह खलु संतेगइया मणुस्सा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ—जे इमे मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए एएसिं च णं आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, जे इमे अगारमावसंति, एएसिं च णं आमरणंताए दंडे णो णिक्खित्ते, केई च णं समणा जाव वासाइं चउपंचमाइं छट्ठदसमाइं अप्पयरो वा भुज्जयरो वा देसं दूईज्जित्ता अगारमावसेज्जा ? हंतावसेज्जा, तस्स णं गारत्थं वहमाणस्स से पच्चक्खाणे भंगे भवइ ? णो इणट्ठे समट्ठे, एवमेव समणोवासगस्स वि तसेहिं पाणेहिं दंडे णिक्खित्ते, थावरेहिं दंडे णो णिक्खित्ते, तस्स णं थावरकायं वहमाणस्स से पच्चक्खाणे णो भंगे भवइ, से एवमायाणह ? णियंठा ! एवमायाणियव्वं ॥

भगवं च णं उदाहु णियंठा खलु पुच्छियव्वा—आउसंतो नियंठा ! इह खलु गाहावइ वा गाहावइपुत्तो वा तहप्पगारेहिं कुलेहिं आगम्म धम्मं सवणवत्तियं उवसंकमेज्जा ? हंता उवसंकमेज्जा, तेसिं च णं तहप्पगाराणं धम्मं आइक्खियव्वे ? हंता आइक्खियव्वे। किं ते तहप्पगारं धम्मं सोच्चा णिसम्म एवं वएज्जा—इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलियं पडिपुण्णं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसुद्धं णेयाउयं सल्लकत्तणं सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं निज्जाणमग्गं निव्वाणमग्गं अवितहमसंदिद्धं सव्वदुक्खपहीणमग्गं एत्थं ठिया जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति, तमाणाए तहा गच्छामो, तहा चिट्ठामो, तहा णिसियामो, तहा तुयट्टामो, तहा भुंजामो, तहा भासामो, तहा अब्भुट्ठामो, तहा उट्ठाए उट्ठेमोत्ति पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं संजमेणं संजमामोत्ति वएज्जा ? हंता वएज्जा । किं ते तहप्पगारा कप्पंति पव्वावित्तए ? हंता कप्पंति, किं ते तहप्पगारा कप्पंति मुंडावित्तए ? हंता कप्पंति, किं ते तहप्पगारा कप्पंति सिक्खावित्तए ? हंता कप्पंति, किं ते तहप्पगारा कप्पंति उवट्ठावित्तए ? हंता कप्पंति । तेसिं च णं तहप्पगाराणं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते ? हंता णिक्खित्ते । से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा जाव वासाइं चउपंचमाइं छट्ठदसमाइं वा अप्पयरो वा भुज्जयरो वा देसं दूइज्जेत्ता अगारं वएज्जा ? हंता वएज्जा । तस्स णं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते ? णो इणट्ठे समट्ठे । से जे से जीवे जस्स परेणं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णो णिक्खित्ते, से जे से जीवे जस्स आरेणं सव्वपाणेहिं जाव सत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते, से जे से जीवे जस्स इयाणिं सव्वपाणेहिं जाव सत्तेहिं दंडे णो णिक्खित्ते भवइ । परेणं असंजए आरेणं संजए. इयाणिं असंजए, असंजयस्स णं सव्वपाणेहिं जाव सत्तेहिं, दंडे णो णिक्खित्ते भवइ, से एवमायाणह णियंठा ! से एवमायाणियव्वं ।

भगवं च णं उदाहु णियंठा खलु पुच्छियव्वा—आउसंतो नियंठा ! इह खलु परिव्वाइया वा परिव्वाइआओ वा अन्नयरेहिंतो तित्थाययणेहिंतो आगम्म धम्मं सवणवत्तियं उवसंकमेज्जा ? हंता उवसंकमेज्जा । किं तेसिं तहप्पगारेणं धम्मे आइक्खियव्वे ? हंता आइक्खियव्वे । तं चेव उवट्ठावित्तए जाव कप्पंति ? हंता कप्पंति । किं ते तहप्पगारा कप्पंति संभुंजित्तए ? हंता कप्पंति । तेणं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा तं चेव जावं अगारं वएज्जा ? हंता वएज्जा । ते णं तहप्पगारा कप्पंति संभुंजित्तए ? णो इणट्ठे समट्ठे । से जे से जीवे जे परेणं नो कप्पंति संभुंजित्तए, से जे से जीवे आरेणं कप्पंति संभुंजित्तए, से जे से जीवे जे इयाणिं णो कप्पंति संभुंजित्तए, परेणं अस्समणे, आरेणं समणे, इयाणिं अस्समणे, अस्समणेणं सद्धिं नो कप्पंति समणाणं निग्गंथाणं संभुंजित्तए, से एवमायाणह, णियंठा से एवमायाणियव्वं ।। सू० ७८ ।।

संस्कृत छाया

भगवांश्च खलु उदाह—निर्ग्रन्थाः खलु प्रष्टव्याः, आयुष्मन्तो निर्ग्रन्थाः इह खलु सन्त्येकतये मनुष्याः भवन्ति, तेषां चैवमुक्तपूर्वं भवति, ये इमे मुण्डाः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूत्वा अगारादनगारित्वं प्रव्रजन्ति । एषां च आमरणान्तो दण्डो निक्षिप्तः । ये इमे अगारमावसन्ति एतेषामारमणान्तो दण्डो नो निक्षिप्तः । केचिच्छ्रमणाः यावद् वर्षाणि चतुःपञ्च षड् दश वा अल्पतरं वा भूयस्तरं वा विहृत्य देशमगारमावसेयुः ? हन्त ! वसेयुः । तस्य तं गृहस्थं घ्नतः तत्प्रत्याख्यानं भग्नं भवति ? नायमर्थः समर्थः एवमेव श्रमणोपासकस्यापि त्रसेषु प्राणेषु दण्डो निक्षिप्तः, तस्य स्थावरकायं घ्नतः तत्प्रत्याख्यानं नो भग्नं भवति, तदेवं जानीत निर्ग्रन्थाः ! एवं ज्ञातव्यम् ।

भगवांश्च उदाह निर्ग्रन्थाः खलु प्रष्टव्याः, आयुष्मन्तो निर्ग्रन्थाः ! इह खलु गाथापतिर्वा गाथावतिपुत्रो वा तथाप्रकारेषु कुलेषु आगत्य धर्मश्रवणार्थमुपसंक्रमेयुः ? हन्त ! उपसंक्रमेयुः । तेषां च तथाप्रकाराणां धर्म आख्यातव्यः ? हन्त ! आख्यातव्यः । किं ते तथाप्रकारं धर्मं श्रुत्वा निशम्य एवं वदेयुः—इदमेव नैर्ग्रन्थ्यं प्रवचनं सत्यमनुत्तरं कैवलिकं परिपूर्णं संशुद्धं नैयायिकं शल्यकर्त्तनं सिद्धिमार्गं मुक्तिमार्गं, निर्याणमार्गं, निर्वाणमार्गं अवितथमसंदिग्धं सर्वदुःखप्रहाणमार्गं अत्र स्थित्वा जीवाः सिद्धयन्ति बुध्यन्ते, मुच्चन्ति, परिनिर्वान्ति, सर्वदुःखनामन्तं कुर्वन्ति, तदाज्ञया तथागच्छामस्तथातिष्ठाम स्तथानिषीदामस्तथा त्वर्वं वर्तयामस्तथा भुंजामहे, तथाभाषामहे, तथाऽभ्युतिष्ठामस्तथा उत्थाय उत्तिष्ठामः इति प्राणानां भूतानां जीवानां सत्त्वानां संयमेन संयच्छाम इति वदेयुः ? हन्त वदेयुः । किं ते तथाप्रकाराः कल्प्यन्ते प्रव्राजयितुम् ? हन्त कल्प्यन्ते । किं ते तथाप्रकाराः कल्प्यन्ते मुण्डयितुम् । हन्त कल्प्यन्ते । किं ते तथाप्रकाराः कल्प्यन्ते शिक्षयितुम् ? हन्त कल्प्यन्ते । किं ते तथाप्रकाराः कल्प्यन्ते उपस्थापयितुम् ? हन्त कल्प्यन्ते । तैश्च खलु, तथाप्रकारैः सर्वप्राणिषु यावत् सर्वसत्त्वेषु दण्डो निक्षिप्तः ? हन्त निक्षिप्तः । ते खलु एतद्रूपेण विहारेण विहरन्तो यावद् वर्षाणि चतुःपंचानि षड्दशानि वा अल्पतरं वा भूयस्तरं वा देशं विहृत्य अगारं व्रजेयुः ? हन्त व्रजेयुः । तैश्च सर्वप्राणेषु यावत् सर्वसत्त्वेषु दण्डो निक्षिप्तः ? नायमर्थः समर्थः । तस्य यः स जीवः येन परतः सर्वप्राणेषु यावत् सर्वसत्त्वेषु दण्डो नो निक्षिप्तः तस्य यः स जीवः येन आरात् सर्वप्राणेषु यावत् सर्वसत्त्वेषु दण्डो निक्षिप्तः, तस्य स जीवः येन इदानीं सर्वप्राणेषु यावत् सर्वसत्त्वेषु दण्डो न निक्षिप्तो भवति, परतोऽसंयतः आरात्संयतः, इदानीमसंयतः, असंयतस्य खलु सर्वप्राणेषु यावत्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वसत्त्वेषु दण्डो नो निक्षिप्तो भवति, तदेवं जानीत निर्ग्रन्थाः तदेवं ज्ञातव्यम् ।

भगवांश्च उदाह—निर्ग्रन्थाः खलु प्रष्टव्या आयुष्मंतो निर्ग्रन्थाः ! इह खलु परिव्राजकाः वा परिव्राजिका वा अन्यतरेभ्यस्तीर्थायतनेभ्य आगत्य धर्मश्रवणप्रत्ययमुपसंक्रमेयुः ? हन्त उपसंक्रमेयुः । किं तेषां तथाप्रकाराणां धर्म आख्यातव्यः ? हन्त आख्यातव्यः । ते चैवमुपस्थापयितुं यावत् कल्प्यन्ते ? हन्त कल्प्यन्ते । किं ते तथाप्रकाराः कल्प्यन्ते संभोजयितुम् ? हन्त कल्प्यन्ते । ते खलु एतद्रूपेण विहारेण विहरन्तस्तथैव व यावदागारं व्रजेयुः ? हन्त व्रजेयुः । ते च तथाप्रकाराः कल्प्यन्ते संभोजयितुम् ? नायमर्थः समर्थः । ते ये ते जीवाः ये परतः नो कल्प्यन्ते संभोजयितुम्, ते ये ते जीवाः आरात् कल्प्यन्ते संभोजयितुम् ? ते ये ते जीवा इदानीं नो कल्प्यन्ते संभोजयितुम्, परतोऽश्रमणां आरात् श्रमणः इदानीमश्रमणः । अश्रमणेन सार्धं नो कल्प्यन्ते श्रमणानां निर्ग्रन्थानां संभोक्तुं तदेवं जानीत निर्ग्रन्थाः तदेवं ज्ञातव्यम् ॥सू० ७८॥

अन्वयार्थ

(भगवं च णं उदाहु) भगवान् गौतम स्वामी कहते हैं कि (**णिग्गंठा खलु पुच्छियव्वा**) निर्ग्रन्थों से यह बात पूछी जाती है, (**आउसंतो नियंठा ! इह खलु संतेगइया मणुस्सा भवंति**) आयुष्मन् निर्ग्रन्थो ! इस जगत् में कई मनुष्य ऐसे होते हैं, (**तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ**) जो इस प्रकार प्रतिज्ञा करते हैं कि (**जे इमे मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए**) ये जो दीक्षा लेकर घरबार छोड़कर अनगार धर्म में प्रव्रजित हो गए हैं, (**एएसिं आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते**) इनको मरणपर्यन्त दण्ड देने का मैं त्याग करता हूँ, (**जे इमे अगारमावसंति एएसिं णं आमरणंताए दंडे णो णिक्खित्तो**) परन्तु जो लोग (ये) गृह में निवास करते हैं—गृहस्थ हैं, उनको मरणपर्यन्त दण्ड देने का त्याग मैं नहीं करता, (**केइ ण णं समणा जाव आसाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं अप्पयरो वा भुज्जयरो वा देसं दूईज्जित्ता अगारमावसेज्जा ?**) अब मैं पूछता हूँ कि उन श्रमणों में से कई श्रमण चार, पाँच, छह या दस वर्ष तक थोड़े या बहुत देशों को विचरकर क्या पुनः गृहस्थ बन जाते हैं ? (**हंता आवसेज्जा**) निर्ग्रन्थ लोग कहते हैं कि हाँ, वे गृहस्थ बन जाते हैं । (**तस्स णं तं गारत्थं वहमाणस्स से पच्चक्खाणे भंगे भवइ ?**) भगवान् गौतम—"उन गृहस्थों की हिंसा करने वाले उस प्रत्याख्यानी पुरुष का वह प्रत्याख्यान क्या भंग हो जाता है ?"(**णो इणट्ठे समट्ठे**) निर्ग्रन्थ नहीं, ऐसी बात सम्भव नहीं है, अर्थात् साधुत्व को छोड़कर पुनः गृहवास स्वीकार करने वाले भूतपूर्व श्रमणों को मारने से भी उस प्रत्याख्यानी का प्रत्याख्यान भंग नहीं होता । (**एवमेव समणोवासगस्स वि तसेहिं पाणेहिं दंडे णिक्खित्ते थावरेहिं पाणेहिं दंडे णो णिक्खित्ते तस्स णं थावरकायं वहमाणस्स से पच्चक्खाणे णो भंगे भवइ**)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री गौतम स्वामी—इसी तरह श्रमणोपासक ने त्रस प्राणियों को दण्ड देने (हिंसा करने) का त्याग किया है, स्थावर प्राणियों को दण्ड देने का त्याग नहीं किया है, इस लिए स्थावरकाय में वर्तमान (स्थावर पर्याय को प्राप्त भूतपूर्व त्रस) को मारने से भी उसका प्रत्याख्यान भंग नहीं होता। (**नियंठा ! से एवमायाणह, एवमायाणियव्वं**) निर्ग्रन्थो ! इसी तरह समझो और इसी तरह इसे समझना चाहिए।

(**भगवं च णं उदाहु णियंठा खलु पुच्छियव्वा**) भगवान् श्री गौतम स्वामी ने कहा कि श्रमणों निर्ग्रन्थों से पूछा जाए कि (**आउसंतो नियंठा ! इह खलु गाहावइ वा गाहावइपुत्तो वा तहप्पगारेहिं कुलेहिं आगम्म धम्मं सवण वत्तियं उवसंकमेज्जा**) आयुष्मान् निर्ग्रन्थो ! इस लोक में गृहपति या गृहपतिपुत्र उस प्रकार के उत्तम कुल में जन्म लेकर धर्म सुनने के लिए क्या साधुओं के पास आ सकते हैं ? (**हंता उवसंकमेज्जा**) निर्ग्रन्थों ने कहा—हाँ, वे आ सकते हैं। (**तेसिं तहप्पगाराणं धम्मं आइक्खियव्वे ?**) गौतम स्वामी ने पूछा—क्या उन उत्तम कुल में उत्पन्न पुरुषों को धर्म का उपदेश करना चाहिए ? (**हंता आइक्खियव्वे**) निर्ग्रन्थ—हाँ, उन्हें धर्म का उपदेश करना चाहिए। (**किं ते तहप्पगारं धम्मं सोच्चा णिसम्म एवं वएज्जा—इणमेव णिग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलियं पडिपुण्णं संसुद्धं णेयाउयं सल्लकत्तणं सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं निज्जाणमग्गं निव्वाणमग्गं अवितहमसंदिद्धं सव्वदुक्खपहीणमग्गं**) वे उस प्रकार के धर्म को सुनकर और समझकर क्या यह कह सकते हैं कि यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है, सर्वोत्तम है, केवलज्ञान को प्राप्त कराने वाला है, परिपूर्ण है, भलीभाँति शुद्ध है, न्याययुक्त है, हृदय के शल्य को नष्ट करने वाला है, सिद्धि का मार्ग है, मुक्ति का मार्ग है, निर्याणमार्ग है, मोक्षमार्ग है, मिथ्यात्वरहित है, सन्देहरहित है, और समस्त दुःखों के नाश का मार्ग है। (**एत्थं ठिया जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणं अंतं करेंति**) और इस धर्म में स्थित होकर जीव सिद्ध होता है, बोध-प्राप्त होता है, निर्वाण को प्राप्त करता है, और समस्त दुःखों का नाश करता है। (**तमाणाए तहा गच्छामो, तहा चिट्ठामो, तहा णिसियामो, तहा तुयट्टामो तहा भुंजामो तहा भासामो तहा अब्भुट्ठामो तहा उट्ठाए उट्ठेमोत्ति पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं संजमेणं संजमामोत्ति वएज्जा ?**) अतः हम इस धर्म की आज्ञा के अनुसार इसके द्वारा विधान की हुई रीति से यतनापूर्वक गमन करेंगे, यतनापूर्वक ठहरेंगे, यथाविधि बैठेंगे, यथाविधि करवट बदलेंगे, विधिपूर्वक आहार करेंगे, नियमपूर्वक बोलेंगे, यथाविधि उठेंगे और उठकर सम्पूर्ण प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों की रक्षा के लिए संयम धारण करेंगे, क्या वे इस प्रकार कह सकते हैं ? (**हंता वएज्जा**) निर्ग्रन्थों ने कहा—हाँ वे ऐसा कह सकते हैं। (**किं ते तहप्पगारा पव्वावित्तए कप्पंति**) क्या वे इस प्रकार के विचार वाले पुरुष दीक्षा देने योग्य हैं ? (**हंता कप्पंति**) हाँ, वे दीक्षा देने योग्य हैं। (**किं ते तहप्पगारा मुंडावित्तए कप्पंति**) क्या वे ऐसे विचार वाले व्यक्ति मुण्डित करने योग्य हैं ? (**हंता कप्पंति**) हाँ, वे मुण्डित करने के योग्य हैं। (**किं ते तहप्पगारा कप्पंति**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिक्खावित्तए ?) क्या वे ऐसे विचार वाले पुरुष शिक्षा देने योग्य हैं ? (**हंता कप्पंति**) हाँ, अवश्य शिक्षा देने योग्य हैं। (**किं ते तहप्पगारा कप्पंति उवट्ठावित्तए** ?) क्या वे ऐसे विचार वाले पुरुष साधुत्व में स्थापित करने योग्य हैं ? (**हंता कप्पंति**) हाँ, वे इस योग्य हैं। (**तेसिं च तहप्पगाराणं सव्वपाणेहिं सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते** ?) तो क्या दीक्षा लेकर उन लोगों ने समस्त प्राणियों यावत् सब सत्त्वों को दण्ड देना (हिंसा करना) छोड़ दिया ? (**हंता णिक्खित्ते**) हाँ, छोड़ दिया। (**से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं वा अप्पयरो वा भुज्जयरो वा देसं दूइज्जेत्ता अगारं वएज्जा** ?) अब वे प्रव्रज्या की अवस्था में स्थित होकर चार, पाँच, छह या दस वर्ष तक थोड़े या बहुत-से देशों में विचरण करके क्या पुनः गृहस्थवास में जा सकते हैं ? (**हंता वएज्जा**) हाँ, जा सकते हैं। (**तस्स णं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते** ?) क्या वे भूतपूर्व अनगार गृहस्थ बन जाने पर समस्त प्राणियों यावत् सम्पूर्ण सत्त्वों को दण्ड देना (घात करना) छोड़ देते हैं ? (**णो इणट्ठे समट्ठे**) निर्ग्रन्थों ने कहा कि ऐसा नहीं होता अर्थात् वे फिर गृहस्थ होकर समस्त प्राणियों को दण्ड देना नहीं छोड़ते, किन्तु दण्ड देना आरम्भ कर देते हैं। (**से जे से जीवे जस्स परेणं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णो णिक्खित्ते**) यह जीव वही है, जिसने दीक्षाग्रहण के पूर्व यानी गृहस्थवास में समस्त प्राणियों और सत्त्वों को दण्ड देने का त्याग नहीं किया था। (**से जे से जीवे जस्स आरेणं सव्वपाणेहिं जाव सत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते**) यह जीव वही है, जिसने दीक्षा धारण करने के पश्चात् समस्त प्राणियों और सत्त्वों को दण्ड देने का त्याग किया था। (**से जे से जीवे जस्स इयाणिं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णो णिक्खित्ते भवइ**) एवं यह जीव वही है, जो इस समय पुनः गृहस्थवास अंगीकार करके समस्त प्राणियों और सब सत्त्वों को दण्ड देने का त्यागी नहीं है। (**परेणं असंजए आरेणं संजए इयाणिं असंजए**) वह पहले तो असंयमी था, बाद में संयमी हुआ और अब यह पुनः असंयमी हो गया है। (**असंजयस्स णं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णो णिक्खित्ते भवइ**) असंयमी जीव समस्त जीवों और समस्त सत्त्वों को दण्ड देने (हिंसा) का त्यागी नहीं होता। अतः वह पुरुष इस समय समस्त प्राणियों और सर्वसत्त्वों को दण्ड देने का त्यागी नहीं होता। (**एवमायाणह णियंठा ! से एवमायाणियव्वं**) निर्ग्रन्थो ! इसी प्रकार समझो और इसी तरह समझना चाहिए।

(**भगवं च णं उदाहु**) भगवान् श्री गौतम स्वामी ने आगे कहा—(**नियंठा खलु पुच्छियव्वा**) मुझे निर्ग्रन्थों से पूछना है, (**आउसंतो नियंठा**) हे आयुष्मन् निर्ग्रन्थो ! (**इह खलु परिव्वाइया वा परिव्वाइआओ वा अन्नयरेहिंतो तित्थाययणेहिंतो आगम्म धम्मं सवणवत्तियं उवसंकमेज्जा** ?) इस लोक में परिव्राजक या परिव्राजिकाएँ किसी दूसरे तीर्थायतन (तीर्थस्थल) में रहकर धर्म सुनने के लिए क्या साधु के पास आ सकती हैं ? (**हंता उवसंकमेज्जा**) निर्ग्रन्थों ने कहा—हाँ, आ सकती हैं। (**तेसिं तहप्पगारेणं**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धम्मे किं आइक्खियव्वे) श्री गौतम स्वामी ने पूछा—क्या ऐसे व्यक्तियों को धर्म सुनाना चाहिए ? (**हंता आइक्खियव्वे**) निर्ग्रन्थों ने कहा—हाँ, सुनाना चाहिए। (**तं चेव उवट्ठावित्तए जाव कप्पंति** ?) भगवान् गौतम ने पूछा—धर्मश्रवण के पश्चात् यदि उनमें वैराग्य पैदा हो और वे साधु से सम्यक्धर्म की दीक्षा लेना चाहें तो क्या उन्हें दीक्षा दे देनी चाहिए ? (**हंता कप्पंति**) हाँ, उन्हें दीक्षा देनी चाहिए, निर्ग्रन्थों ने कहा। (**किं ते तहप्पगारा कप्पंति संभुजित्तए**) क्या वे दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् साधु के साथ सांभोगिक व्यवहार के योग्य हैं ? (**हंता कप्पंति**) हाँ, अवश्य योग्य हैं। (**ते णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा तं चेव जाव अगारं वसेज्जा**) वे दीक्षा पालन करते हुए कुछ काल तक उसी रूप में विहार करके क्या फिर गृहस्थवास में जा सकते हैं ? (**हंता वएज्जा**) हाँ, जा सकते हैं। (**ते णं तहप्पगारा संभुजित्तए कप्पंति**) गृहवास को प्राप्त होकर क्या अब वे सांभोगिक व्यवहार के योग्य हो सकते हैं ? (**णो इणट्ठे समट्ठे**) नहीं, यह बात सम्भव नहीं है, ऐसा नहीं हो सकता। (**से जे से जीवे जे परेणं नो कप्पंति संभुजित्तए**) वह जीव तो वही है, जिसके साथ दीक्षा धारण करने से पहले साधु को सांभोगिक व्यवहार करना उचित नहीं होता है, (**से जे से जीवे आरेणं कप्पंति संभुजित्तए**) और यह वही जीव है, जिसके साथ दीक्षा लेने के पश्चात् साधु को सांभोगिक व्यवहार करना उचित लगता है। (**से जे से जीवे इयाणिं नो कप्पंति संभुजित्तए**) तथा यह वही जीव है जिसने अब साधुत्व का पालन करना छोड़ दिया है, तब उसके साथ साधु को सांभोगिक व्यवहार करना उचित नहीं होता। (**परेणं अस्समणे, आरेणं समणे इयाणिं अस्समणे**) वह जीव पहले (गृहस्थ था तब) अश्रमण था, बाद में श्रमण हो गया और इस समय अश्रमण है। (**अस्समणेणं सद्धिं नो कप्पंति समणाणं निग्गंथाणं संभुजित्तए**) अश्रमण के साथ श्रमण निर्ग्रन्थों को सांभोगिक व्यवहार करना कल्पनीय नहीं होता। (**से एवमायाणह णियंठा एवमायाणियव्वं**) निर्ग्रन्थो ! इसी तरह यथार्थ जानो और ऐसा ही जानना चाहिए।

व्याख्या

निर्ग्रन्थों से श्री गौतम स्वामी के प्रश्न-प्रतिप्रश्न

इस सूत्र में शास्त्रकार ने गौतम स्वामी द्वारा निर्ग्रन्थ स्थविरों से पूछे गये कुछ प्रश्न और उनके द्वारा दिये गये उत्तर अंकित किये हैं। ये प्रश्न उदक निर्ग्रन्थ के द्वारा प्रत्याख्यान के सम्बन्ध में उठाये गये तथा गौतम स्वामी द्वारा समाहित प्रश्न के सिलसिले में ही उसी की पुष्टि के लिए प्रस्तुत किये गये हैं।

भगवान् श्री गौतम स्वामी ने उदक निर्ग्रन्थ के स्थविरों से पूछा—स्थविर निर्ग्रन्थो ! मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि इस लोक में ऐसे भी व्यक्ति होते हैं, ज इस प्रकार की प्रतिज्ञा करते हैं कि जो साधुत्व को अंगीकार करके यानी मुण्डित होकर घरबार छोड़कर अनगारधर्म को स्वीकार करके प्रव्रजित हो गए हैं, उनकी हम जीवन-पर्यन्त हिंसा नहीं करेंगे, परन्तु जो गृहस्थ हैं, उनकी हिंसा का हम जीवनपर्यन्त त्याग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं करते। ऐसी स्थिति में कोई साधु चार, पाँच, छह या दस वर्ष तक या न्यूनाधिक समय तक विभिन्न देशों में विचरण करके क्या पुनः गृहस्थ बन जाते हैं या नहीं ?

निर्ग्रन्थ स्थविर—हाँ, ऐसे कुछ श्रमण पुनः गृहस्थ हो जाते हैं।

गौतम स्वामी—निर्ग्रन्थो ! साधुत्व को छोड़कर पुनः गृहस्थ बने हुए भूतपूर्व श्रमणों को यदि वह (श्रमणों को न मारने की) प्रतिज्ञा का धारक मारता है, तो उसका वह प्रत्याख्यान भंग हो जाता है क्या ?

निर्ग्रन्थ बोले—नहीं जी ! जिसने गृहस्थ को मारने का प्रत्याख्यान नहीं किया, वह पुरुष यदि साधुत्व को छोड़कर गृहस्थ बने हुए पुरुष को मारता है तो उसका प्रत्याख्यान भंग नहीं होता। उसने तो साधु को ही न मारने का प्रत्याख्यान किया है, परन्तु वह पुरुष, जो कि अब साधु पर्याय में नहीं है, गृहस्थ पर्याय में है, अतएव उस गृहस्थ को मारने से साधु को न मारने की प्रतिज्ञा भंग नहीं होती।

श्री गौतम स्वामी ने कहा—निर्ग्रन्थ स्थविरो ! इसी प्रकार श्रमणोपासक ने त्रस जीवों की हिंसा का त्याग किया है, स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग नहीं किया है। अतः स्थावर पर्याय में आए हुए भूतपूर्व त्रस को मारने पर भी श्रावक का उक्त प्रत्याख्यान भंग नहीं होता। क्योंकि वह जीव इस समय त्रस शरीर में नहीं है, किन्तु स्थावर शरीर में है। अतः निर्ग्रन्थ स्थविरो ! यही बात यथार्थ है। इसे ही आपको यथार्थ समझनी चाहिए।

फिर गौतम स्वामी ने इसी बात को स्पष्टतया समझाने हेतु दूसरा प्रश्न उठाया—निर्ग्रन्थो ! मैं आपसे पूछता हूँ कि कोई गृहस्थ या गृहस्थ का पुत्र तथाकथित उत्तम कुलों में जन्म लेकर क्या साधु के पास धर्मश्रवणार्थ आ सकते हैं ?

निर्ग्रन्थ स्थविर—जी हाँ, अवश्य आ सकते हैं।

श्री गौतम स्वामी—क्या उन गृहपति आदि को धर्म का उपदेश देना चाहिए ?

निर्ग्रन्थ—हाँ, साधुओं को उन्हें धर्मोपदेश देना चाहिए।

श्री गौतम स्वामी—क्या वे साधु से धर्मोपदेश सुन-समझकर यों कह सकते हैं कि यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है, यही अनुपम (सर्वोत्तम) है, परिपूर्ण है, केवली द्वारा प्रज्ञप्त है, न्याययुक्त है, संशुद्ध है, माया आदि शल्यों को काटने वाला है, अविचल सुखरूप सिद्धि का मार्ग है, मुक्ति का मार्ग है, समस्त कर्मों से आत्मा को पृथक् करने (निर्याण) का मार्ग है, निर्वाण—समस्त कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने वाले परम सुख का मार्ग है, यही तथ्य है, असंदिग्ध है, समस्त दुःखों के नाश करने का मार्ग है। इस धर्म में स्थित जीव सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होते हैं, परिनिर्वाण प्राप्त करते हैं, शारीरिक-मानसिक आदि सब प्रकार के दुःखों का अन्त करते हैं। अतः हम तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट इस धर्म के विधिविधान के अनुसार ही हम गमन करेंगे, यथाविधि विहार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करेंगे, बैठेंगे, ठहरेंगे, करवट बदलेंगे, यतनापूर्वक आहार लेंगे, बोलेंगे और उठेंगे। इस धर्म में उक्त विधि के अनुसार ही प्राणियों (द्वीन्द्रिय आदि जीवों) भूतों (वनस्पतिकायिक जीवों), जीवों (पंचेन्द्रिय जीवों) एवं सत्त्वों (पृथ्वीकाय आदि) की रक्षा के लिए संयम पालन करेंगे। क्या वे ऐसा कह सकते है ?

निर्ग्रन्थ एक स्वर से बोले—हाँ, वे ऐसा कह सकते हैं।

गौतम स्वामी—क्या इस विचार के लोग साधु दीक्षा ले सकते हैं ?

निर्ग्रन्थ—हाँ, ले सकते हैं, वे दीक्षा देने के योग्य हैं।

गौतम स्वामी—क्या ऐसे विचार के लोग मुंडित हो सकते हैं ?

निर्ग्रन्थ—हाँ, वे अवश्य ही मुण्डित हो सकते हैं।

गौतम स्वामी—क्या वे ग्रहण और आसेवन शिक्षा देने के योग्य हैं ?

निर्ग्रन्थ—हाँ, योग्य हैं।

गौतम स्वामी—क्या वे समस्त प्राणियों यावत् सत्त्वों के प्रति दण्ड देने का त्याग कर सकते हैं ?

निर्ग्रन्थ—हाँ, वे त्याग कर सकते हैं।

गौतम स्वामी ! क्या साधुदीक्षापर्याय में चार, पांच, छह या दस साल तक या कमोवेश समय तक विभिन्न देशों में विचरण करके पुनः उनका गृहवास में आना सम्भव है ?

निर्ग्रन्थ—हाँ, ऐसा सम्भव है।

गौतम स्वामी ! क्या पुनः गृहस्थ हुए वे भूतपूर्व साधु समस्त प्राणियों की हिंसा के त्यागी हो सकते हैं ?

निर्ग्रन्थ—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। पुनः गृहस्थ होने पर वे समस्त प्राणियों की हिंसा के त्यागी नहीं हो सकते।

श्री गौतम स्वामी इस बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—निर्ग्रन्थो ! यह वही पुरुष है, जिसने साधु बनने से पूर्व समस्त प्राणियों की हिंसा का त्याग नहीं किया था, किन्तु वहीं पुरुष दीक्षा ग्रहण करने के बाद समस्त प्राणियों की हिंसा का त्याग कर लेता है, मगर जब वही पुरुष कर्मोदयवश पुनः गृहस्थ बन जाता है, तब वह इस योग्य नहीं रहता कि समस्त प्राणियों की हिंसा का त्याग कर सके। अर्थात् वह पहले गृहस्थावस्था में असंयमी था, फिर साधु बना तो संयमी हो गया, किन्तु हम इस समय साधुजीवन छोड़कर पुनः गृहस्थावस्था में आ जाने से असंयमी हो गया। जो असंयमी है, वह समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों एवं सत्त्वों की हिंसा का त्यागी नहीं हो सकता। निर्ग्रन्थो ! इसी बात को सत्य समझो, और जिनवचनानुसार इसे ही सत्य समझना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तात्पर्य यह है कि प्रत्याख्यान का सम्बन्ध प्रत्याख्यान करने वाले तथा प्रत्याख्यान किये जाने वाले प्राणी के पर्याय के साथ होता है, उसके द्रव्यरूप जीव के साथ नहीं होता। जो व्यक्ति दीक्षा धारण करके साधु पर्याय में रहता है, उसके समस्त जीवों की हिंसा की प्रत्याख्यान होता है, किन्तु जो दीक्षा छोड़कर पुनः गृहस्थ हो जाता है, यानी गृहस्थ पर्याय में आ जाता है, तब उसका समस्त जीवों का हिंसा का प्रत्याख्यान नहीं रहता। साधुत्व की पर्याय में पूर्वोक्त प्रत्याख्यान के साथ सम्बन्ध रहने से वह अपने व्रत (प्रतिज्ञा) में जरा भी दोष लगाता है, तो उसकी शुद्धि के लिए उसे प्रायश्चित्त लेना पड़ता है, परन्तु जब गृहस्थ पर्याय में था, या अशुभ कर्मोदयवश साधुत्व का त्याग करके पुनः गृहस्थ पर्याय में आ जाता है तो उस समय इस प्रत्याख्यान के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। वास्तव में जीव एक ही है, किन्तु उसके पर्याय एक नहीं होते। गृहस्थ-जीवन और साधु-जीवन के पर्याय भिन्न-भिन्न होते हैं। यही कारण है कि जैसे साधुत्व के पर्याय में किये हुए प्रत्याख्यान के साथ गृहस्थ पर्याय का कोई सम्बन्ध नहीं रहता, वैसे ही त्रसपर्याय को न मारने के किये हुए प्रत्याख्यान का त्रसपर्याय को छोड़कर स्थावरपर्याय में आए हुए प्राणी के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता।

इसी बात को श्री गौतम स्वामी दूसरा दृष्टान्त देकर उदक आदि निर्ग्रन्थों को समझाते हैं कि मैं निर्ग्रन्थों से पूछता हूँ कि आयुष्मन् निर्ग्रन्थो! कोई परिव्राजक या परिव्राजिका आश्रम या मठ (तीर्थस्थान) में स्थित साधु के पास धर्म-श्रवणार्थ आ सकते हैं?

निर्ग्रन्थ—हाँ, आ सकते हैं।

गौतम स्वामी—उन्हें धर्मोपदेश देना चाहिए या नहीं?

निर्ग्रन्थ—हाँ, अवश्य ही उन्हें धर्मोपदेश देना चाहिए।

गौतम स्वामी—यदि धर्मोपदेश सुनने के पश्चात् उनकी संसार से विरक्ति हो जाए और वे घरबार छोड़कर अगार धर्म से अनगार धर्म में दीक्षित होना चाहें तो उन्हें दीक्षा देकर साधुधर्म में उपस्थापित करना चाहिए या नहीं?

निर्ग्रन्थ—कर लेना चाहिए।

गौतम स्वामी—यदि वे विरक्त होकर दीक्षा ले लें तो उनके साथ साधु सांभोगिक[1] व्यवहार कर सकते हैं?

निर्ग्रन्थ—अवश्य कर सकते हैं।

गौतम स्वामी—क्या इस प्रकार के साधु ५-१० वर्ष साधु पर्याय में रहकर पुनः गृहस्थ अवस्था में जाने सम्भव हैं?

---

१. समान समाचारी वाले साधु-साध्वियों का वन्दन, आसनप्रदान, भोजनादि के आदान-प्रदान सम्बन्धी व्यवहार को **'संभोग'** या **'सांभोगिक व्यवहार'** कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्ग्रन्थ—हाँ, ऐसा सम्भव है। अशुभ कर्मोदयवश उनका पुनः गृहस्थ बनना सम्भव है।

गौतम स्वामी—साधु का वेष छोड़कर गृहस्थ पर्याय में आए हुए व्यक्ति के साथ क्या साधुओं का सांभोगिक व्यवहार अब रह सकता है ?

निर्ग्रन्थ—जी नहीं, अब उनका सांभोगिक व्यवहार साधुओं के साथ नहीं रहता, न रखना चाहिए।

गौतम स्वामी—निर्ग्रन्थो ! ये वे ही जीव हैं जो दीक्षाग्रहण से पूर्व संभोग-योग्य नहीं थे, किन्तु दीक्षा लेने के बाद संभोगयोग्य बन गए थे, लेकिन अब दीक्षा-त्याग के बाद वे संभोगयोग्य नहीं रहे। ये जीव तो वे ही हैं, जो पहले श्रमण नहीं थे, फिर श्रमण हो गए थे, अब श्रमण नहीं रहे। श्रमणों को अश्रमणों के साथ सांभोगिक व्यवहार उचित एवं कल्पनीय नहीं होता, क्योंकि उनका आचार श्रमणों जैसा नहीं रहा। अतएव निर्ग्रन्थो ! आप इस बात को समझ लीजिए और ऐसा समझकर आपको इसे हृदयंगम कर लेना चाहिए।

निष्कर्ष यह है कि प्रत्याख्यान का सम्बन्ध पर्याय के साथ होता है, द्रव्यरूप जीव के साथ नहीं। केवल श्रावकों के लिए ही नहीं, साधुओं के लिए भी यही बात है। जैसे कोई परिव्राजक धर्मश्रवण करके सम्यग् मुनिदीक्षा ले लेता है, तब उसके साथ मुनिवर सांभोगिक व्यवहार रखते हैं, किन्तु वही जब दीक्षा छोड़कर गृहस्थ हो जाता है तो उसके साथ मुनि किसी प्रकार का सांभोगिक व्यवहार नहीं रखते, क्योंकि दीक्षा छोड़ देने के बाद उनकी पर्याय बदल जाती है। जीव तो उसका वही है, जो दीक्षा लेने के पूर्व या दीक्षित अवस्था में था, मगर दीक्षा छोड़ने के पश्चात् अब वह दीक्षित अवस्था (पर्याय) नहीं है, इसलिए साधु उसके साथ सांभोगिक व्यवहार नहीं रखते।

इसी प्रकार जिस श्रमणोपासक ने त्रस जीव की हिंसा का त्याग किया है, उसके लिए त्रस जीव हिंसा का विषय नहीं रहता। किन्तु वही जीव जब त्रस पर्याय को छोड़कर स्थावर पर्याय में आ जाता है, तब वह उसके प्रत्याख्यान का विषय नहीं रहता। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि प्रत्याख्यान पर्याय की अपेक्षा से होता है, द्रव्य की अपेक्षा से नहीं। इस प्रकार गौतम स्वामी ने उदक आदि निर्ग्रन्थों का प्रत्याख्यान-विषयक समाधान करके उनकी उलझी हुई गुत्थी सुलझाई।

मूल पाठ

भगवं च णं उदाहु—संतेगइया समणोवासगा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ—'णो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए। वयं च णं चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठ पुण्णिमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणा विहरिस्सामो, थूलगं पाणाइवायं पच्चक्खा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस्सामो, एवं थूलगं मुसावायं, थूलगं अदिन्नादाणं, थूलगं मेहुणं, थूलगं परिग्गहं पच्चक्खाइस्सामो, इच्छापरिमाणं करिस्सामो, दुविहं तिविहेणं, मा खलु ममट्ठाए किंचि वि करेह वा करावेह वा, तत्थ वि पच्चक्खाइस्सामो। ते णं अभोच्चा अपिच्चा असिणाइत्ता आसंदीपेढियाओ पच्चारुहित्ता ते तहा-कालगया किं वत्तव्वं सिया—सम्मं कालगतत्ति ? वत्तव्वं सिया, ते पाणा वि वुच्चंति ते तसा वि वुच्चंति ते महाकाया, ते चिरट्ठिइया, ते बहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, ते अप्पयरागा पाणा जेहिं समणो-वासगस्स अपच्चक्खायं भवइ, इति से महयाओ जण्णं तुब्भे वयह, तं चेव जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ।

भगवं च णं उदाहु—संतेगइया समणोवासगा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ-णो खलुवयं संचाएमो मुंडा भवित्ता आगाराओ जाव पव्वइत्तए, णो खलु वयं संचाएमो चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु जाव अणुपालेमाणा विहरित्तए, वयं च णं अपच्छिममारणंतियं संलेहणा-जूसणा-जूसिया भत्तपाणं पडिआइक्खिया जाव कालं अणवक्खमाणा विहरिस्सामो, सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खाइस्सामो, जाव सव्वं परिग्गहं पच्चक्खाइस्सामो तिविहं तिविहेणं। मा खलु ममट्ठाए किंचि वि जाव आसंदीपेढियाओ पच्चोरुहिता एते तहा कालगया किं वत्तव्वं सिया सम्मंकालगयत्ति ? वत्तव्वं सिया, ते पाणा वि वुच्चंति, जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ।

भगवं च णं उदाहु—संतेगइया मणुस्सा भवंति, तं जहा—महइच्छा महारंभा महापरिग्गहा अहम्मिया जाव दुप्पडियाणंदा, जाव सव्वाओ परिग्गहाओ अप्पडिविरया, जावज्जीवाए, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते। ते तओ आउगं विप्पजहंति, ततो भुज्जो सग-मादाए दुग्गइगामिणो भवंति, ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया ते चिरट्ठिइया ते बहुयरगा आयाणसो इति से महयाओ णं जण्णं तुब्भे वयह, तं चेव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ।

भगवं च णं उदाहु—संतेगइया मणुस्सा भवंति, तं जहा—अणारंभा, अपरिग्गहा, धम्मिया, धम्माणुया, जाव सव्वाओ परिग्गहाओ पडिविरया, जावज्जीवाए जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, ते तओ आउगं विप्पजहंति, ते तओ भुज्जो सगमादाए सग्गइगामिणो भवंति, ते पाणा वि वुच्चंति जाव णो णेयाउए भवइ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवं च णं उदाहु—संतेगइया मणुस्सा भवंति, तं जहा—अप्पेच्छा, अप्पारंभा, अप्पपरिग्गहा, धम्मिया, धम्माणुया, जाव एगच्चाओ परिग्गहाओ अप्पडिविरया, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, ते तओ आउगं विप्पजहंति, ततो भुज्जो सग्गमादाए सग्गइगामिणो भवंति, ते पाणा वि वुच्चंति, जाव णो णेयाउए भवइ।

भगवं च णं उदाहु—संतेगइया मणुस्सा भवंति, तं जहा—आरण्णिया, आवसहिया, गामणिमंतिया, कण्हुई रहस्सिया, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते भवइ, णो बहुसंजया णो बहुपडिविरया पाणभूयजीवसत्तेहिं, अप्पणा सच्चामोसाइं एवं विप्पडिवेदेंति—अहं ण हंतव्वो, अन्ने हंतव्वा, जाव कालमासे कालं किच्चा अन्नयराइं आसुरियाइं किब्बिसियाइं जाव उववत्तारो भवंति। तओ विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए तमोरूवत्ताए पच्चायंति, ते पाणा वि वुच्चंति जाव णो णेयाउए भवइ।

भगवं च णं उदाहु—संतेगइया पाणा दीहाउया, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए जाव दंडे णिक्खित्ते भवइ, ते पुव्वामेव कालं करेंति, करेत्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति, ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्ठिइया, ते दीहाउया, ते बहुयरगा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ जाव णो णेयाउए भवइ।

भगवं च णं उदाहु—संतेगइया पाणा समाउया, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए जाव दंडे णिक्खित्ते भवइ, ते समेव कालं करेंति, करित्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति, ते पाणा वि वुच्चंति, तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते समाउया ते बहुयरगा, जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, जाव णो णेयाउए भवइ।

भगवं च णं उदाहु—संतेगइया पाणा अप्पाउया, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए जाव दंडे णिक्खित्ते भवइ, ते पुव्वामेव कालं करेंति, करेत्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति, ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया ते अप्पाउया, ते बहुयरगा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, जाव णो णेयाउए भवइ।

भगवं च णं उदाहु—संतेगइया समणोवासगा भवंति, तेसिं च णं वुत्तपुव्वं भवइ—णो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता जाव पव्वइत्तए, णो खलु वयंसंचाएमो चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठ पुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं अणुपालित्तए, णो खलु वयं संचाएमो अपच्छिमं जाव विहरित्तए। वयं च णं सामाइयं देसावगासियं पुरत्था पाईणं वा पडीणं वा दाहिणं वा उदीणं वा एतावता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाव सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते सव्वपाणभूयजीवसत्तेहिं खेमंकरे अहमंसि, तत्थ आरेणं जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, तओ आउयं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं चेव जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो जाव तेसु पच्छायंति, जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ। ते पाणा वि जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ ॥७६॥

संस्कृत छाया

भगवांश्च खलु उदाह—सन्त्येकतये श्रमणोपासकाः भवन्ति तैश्चैव-मुक्तपूर्वं भवति, न खलु वयं शक्नुमः मुण्डाः भूत्वा अगारादनगारित्वं प्रव्रजितुम्। वयं चतुर्दश्यष्टमीपूर्णिमासु प्रतिपूर्णम् पौषधं सम्यक् परिपालयन्तो विहरिष्यामः। स्थूलं प्राणातिपातं प्रत्याख्यास्यामः, एवं स्थूलं मृषावादं, थूलमदत्तादानं, स्थूलं मैथुनं, स्थूलं परिग्रहं प्रत्याख्यास्यामः। इच्छापरिमाणं करिष्यामो द्विविधं त्रिविधेन। मा खलुमदर्थं किञ्चित् कुरुत वा कारयत वा तत्राऽपि प्रत्याख्यास्यामः। ते अभुक्त्वा अपीत्वा अस्नात्वा आसन्दीपीठिकातः पर्य्यारुह्य ते तथाकालगताः, किं वक्तव्यं स्यात् ? सम्यक् कालगता इति। वक्तव्यं स्यात्। ते प्राणा अप्युच्यन्ते, ते त्रसा अप्युच्यन्ते, ते महाकायास्ते चिरस्थितिकाः। ते बहुतरकाः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यानं भवति। तेऽल्पतरकाः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य अप्रत्याख्यानं भवति। स महतः यथा यूयं वदथ तथैव यावदयमपि भेदः नो नैयायिको भवति।

भगवांश्च खलु उदाह—सन्त्येकतये श्रमणोपासकाः भवन्ति तैश्चैव-मुक्तपूर्वं भवति—'न खलु वयं शक्नुमो मुण्डाः भूत्वा आगाराद् यावत् प्रव्रजितम्। न खलु वयं शक्नुमश्चतुर्दश्यष्टमीपूर्णिमासु यावदनुपालयन्ते विहर्तुम्। वयमपश्चिममरणान्त संल्लेखनाजोषणाजुष्टाः भक्तपानं प्रत्याख्याय यावत्कालममवकांक्षमाणाः विहरिष्यामः, सर्वं प्राणातिपातं प्रत्याख्यास्यामः यावत् सर्वं परिग्रहं प्रत्याख्यास्यामः, त्रिविधं त्रिविधेन, मा किंचिन्मदर्थं यावदासन्दी पीठिकातः प्रत्यारुह्य एते कालगताः किं वक्तव्यं स्यात् ? सम्यक् कालगता इति वक्तव्यं स्यात् ते प्राणा अप्युच्यन्ते, यावदयमपि भेदः स नो नैयायिको भवति।

भगवांश्च खलु उदाह—सन्त्येकतये मनुष्याः भवन्ति, तद्यथा—महेच्छाः महारम्भाः महापरिग्रहाः अधार्मिकाः यावद् दुष्प्रत्यानन्दाः यावत् सर्वेभ्यः परिग्रहेभ्योऽप्रतिविरताः यावज्जीवनम्। येषु श्रमणोपासकस्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदानशः आमरणान्तं दण्डः निक्षिप्तो भवति। ते ततः आयुः विप्रजहति, ततो भूयः स्वकमादाय दुर्गतिगामिनो भवन्ति ते प्राणा अप्युच्यन्ते, ते त्रसा अप्युच्यन्ते, ते महाकायास्ते चिरस्थितिकाः, ते बहुतरका आदानशः इति स महतः येषु वदथ तच्चैव अयमपि भेदः स नो नैयायिको भवति।

भगवांश्च खलु उदाह—सन्त्येकतये मनुष्याः भवन्ति, तद्यथा—अनारम्भाः, अपरिग्रहाः, धार्मिकाः धर्मानुगाः यावत् सर्वेभ्यः परिग्रहेभ्यः प्रतिविरताः, यावज्जीवनं येषु श्रमणोपासकस्य आदानशः आमरणान्तं दण्डः निक्षिप्तः, ते ततः आयुः विप्रजहति, ते ततो भूयः स्वकमादाय सद्गतिगामिनो भवन्ति, ते प्राणा अप्युच्यन्ते ते त्रसा अप्युच्यन्ते यावन्नो नैयायिको भवति।

भगवांश्च खलु उदाह—सन्त्येकतये मनुष्याः भवन्ति, तद्यथा—अल्पेच्छाः अल्पारम्भाः अल्पपरिग्रहाः धार्मिकाः, धर्मानुगाः, यावदेकतः परिग्रहादप्रतिविरताः, येषु श्रमणोपासकस्य आदानतः आमरणान्तं दण्डो निक्षिप्तः ते ततः आयुः विप्रजहति ततो भूयः स्वकमादाय स्वर्गतिगामिनो भवन्ति। ते प्राणा अप्युच्यन्ते, त्रसा अपि यावन्नो नैयायिको भवन्ति।

भगवांश्च खलु उदाह—सन्त्येकतये मनुष्याः भवन्ति, तद्यथा—आरण्यकाः, आवसथकाः ग्रामनिमंत्रिकाः काचिद् राहसिकाः येषु श्रमणोपासकस्य आदानशः आमरणान्ताय दण्डः निक्षिप्तो भवति। नो बहुसंयताः, नो बहुप्रतिविरताः, प्राणिभूतजीवसत्वेभ्य आत्मना सत्यानि मृषा एवं विप्रतिवेदयन्ति, अहं न हन्तव्योऽन्ये हन्तव्याः, यावत् कालमासे कालं कृत्वा उपपत्तारो भवन्ति। ततो विप्रयुच्यमानाः भूयः एलमूकत्वाय तमोरूपत्वाय प्रत्यायान्ति। ते प्राणा अप्युच्यन्ते त्रसा यावन्नो नैयायिको भवति।

भगवांश्च खलु उदाह—सन्त्येकतये प्राणिनो दीर्घायुषः येषु श्रमणोपासकस्य आदानशः आमरणन्ताय दण्डः निक्षिप्तो भवति। ते पूर्वमेव कालं कुर्वन्ति कृत्वा पारलौकिकत्वाय प्रत्यायान्ति। ते प्राणा अप्युच्यन्ते, ते त्रसा अप्युच्यन्ते, ते महाकायास्ते चिरस्थितिकाः, ते दीर्घायुषः, ते बहुतरकाः येषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यानं भवति। यावन्नो नैयायिको भवति।

भगवांश्च खलु उदाह—सन्त्येकतये प्राणिनः समायुषः, येषु श्रमणोपासकस्य आदानशः आमरणान्ताय यावद् दण्डः निक्षिप्तो भवति। ते स्वयमेव कालं कुर्वन्ति, कृत्वा पारलौकिकत्वाय प्रत्यायान्ति। ते प्राणा अप्युच्यन्ते, ते त्रसा अप्युच्यन्ते, ते महाकायास्ते समायुषः, ते बहुतरकाः, येषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यातं भवति, यावन्नो नैयायिको भवति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवांश्च खलु उदाह—सन्त्येकतये प्राणिनोऽल्पायुषो येषु श्रमणोपासकस्य आदानशः आमरणान्ताय यावद् दण्डो निक्षिप्तो भवति। ते पूर्वमेव कालं कुर्वन्ति, कृत्वा पारलौकिकत्वाय प्रत्यायान्ति ते प्राणाः अप्युच्यन्ते, ते त्रसा अप्युच्यन्ते, ते महाकायास्ते अल्पायुषस्ते बहुतरकाः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यातं भवति। यावन्नो नैयायिको भवति।

भगवांश्च खलु उदाह—सन्त्येकतये श्रमणोपासकाः भवन्ति, तैश्चैवमुक्तपूर्वं भवति—'न खलु वयं शक्नुमो मुण्डाः भूत्वा यावत् प्रव्रजितुं, न खलु वयं शक्नुमश्चतुर्दश्यष्टमीपूर्णिमासु परिपूर्णं पौषधमनुपालयितुम्, नो खलु वयं शक्नुमोऽपश्चिमं यावद् विहर्तुं, वयञ्च सामायिकं देशावकाशिकं प्रातरेव प्राच्यां वा प्रतीच्यां वा दक्षिणस्यां वा उदीच्यां वा एतावत् सर्वप्राणेषु यावत् सर्वसत्त्वेषु दण्डो निक्षिप्तः सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वानां क्षेमंकरोऽहमस्मि। तत्र आराद् ये त्रसाः प्राणाः, येषु श्रमणोपासकस्य आदानशः आमरणन्ताय दण्डो निक्षिप्तः, ततः आयुः विप्रजहति, विप्रहाय तत्र आराद् ये त्रसाः प्राणाः, तेषु प्रत्यायान्ति, येषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यानं भवति, ते प्राणा अपि यावद् अयमपि भेदः, स नो नैयायिको भवति ॥ सू० ७६ ॥

अन्वयार्थ

(**भगवं च णं उदाहु**) भगवान् श्री गौतमस्वामी ने कहा—(**संतेगइया समणोवासगा भवंति**) कई श्रमणोपासक बड़े शान्त होते हैं, (**तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ**) वे साधु के पास आकर सर्वप्रथम यह कहते हैं—(**वयं मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए ण खलु संचाएमो**) हम मुंडित होकर गृहवास का त्याग कर आगार धर्म में प्रव्रजित होने में समर्थ नहीं हैं, (**वयं च णं चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणा विहरिस्सामो**) हम तो चतुर्दशी, अष्टमी और पूर्णिमा के दिन परिपूर्ण पौषधव्रत का अच्छी तरह पालन करते हुए विचरण करेंगे। (**थूलगं पाणाइवायं, थूलगं मुसावायं, थूलगं अदिन्नादाणं, थूलगं मेहुणं, थूलगं परिग्गहं पच्चक्खाइस्सामो**) तथा हम स्थूल प्राणातिपात, स्थूल मृषावाद, स्थूल अदत्तादान, स्थूल मैथुन, एवं परिग्रह का प्रत्याख्यान (त्याग) करेंगे। (**इच्छापरिमाणं करिस्सामो**) हम अपनी इच्छा का परिमाण करेंगे, अर्थात् सीमित करेंगे, (**दुविहं तिविहेणं**) हम दो करण और तीन योग से प्रत्याख्यान करेंगे। (**मा खलुमट्ठाए किंचि वि करेह वा करावेह वा**) हमारे लिए कुछ भी मत करो और कुछ मत कराओ (**तत्थ वि पच्चक्खाइस्सामो**) हम ऐसा भी प्रत्याख्यान करेंगे, (**ते णं अभोच्चा अपिच्चा असिणाइत्ता आसंदीपेढियाओ पच्चारुहित्ता ते तहा कालगया किं वत्तव्वं सिया सम्मं**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कालगतत्ति वत्तव्वं सिया) वे श्रमणोपासक बिना खाए, पीए, और बिना स्नान किए आसन से उतरकर सम्यक् प्रकार से पौषध का पालन करके यदि मृत्यु को प्राप्त हो जाएँ तो उनकी मृत्यु (काल) के विषय में क्या कहना होगा ? यही कहना होगा कि वे अच्छी रीति से कालधर्म को प्राप्त हुए, अर्थात् उनकी मृत्यु अच्छी हुई है, इसलिए उनकी गति भी अच्छी हुई है, यही कहा जाएगा। (**ते पाणा वि वुच्चंति**) वे प्राणधारण करने के कारण प्राणी भी कहलाते हैं, तथा (**ते तसा वि वुच्चंति**) त्रस कर्म का उदय होने से वे त्रस भी कहलाते हैं। (**ते महाकाया**) एक लाख योजन के शरीर की विक्रिया कर सकने के कारण वे महाकाय भी कहलाते हैं तथा (**ते चिरट्ठिइया**) २२ सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति होने से वे चिरस्थितिक भी कहलाते हैं। (**ते बहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ**) वे प्राणी संख्या में बहुत हैं, जिनके विषय में श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान कहलाता है। (**ते अप्पयरागा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवइ**) वे प्राणी थोड़े हैं, जिनके विषय में श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नहीं होता। (**इति से महयाओ जण्णं तुब्भे वयह तं चेव जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ**) इस प्रकार वह श्रावक महान् त्रसकाय की हिंसा से निवृत्त है, फिर भी आप उसके प्रत्याख्यान को निर्विषय कहते हैं, आपका यह मन्तव्य न्यायसंगत नहीं है।

(**भगवं च णं उदाहु**) फिर भगवान् गौतम स्वामी ने उदक पेढालपुत्र निर्ग्रन्थ से कहा—(**संतेगइया समणोवासगा भवंति तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ**) कई-कई श्रमणोपासक ऐसे भी होते हैं, जो इस प्रकार कहते हैं कि (**वयं मुंडा भवित्ता अगाराओ पव्वइत्तए णो खलु संचाएमो**) हम मुँडित होकर आगार (गृहस्थ) वास को छोड़कर अनगार धर्म में प्रव्रजित होने में समर्थ नहीं हैं। (**चाउद्दसट्ठपुण्णमासिणीसु जाव अणुपालेमाणा विहरित्तए**) तथा चौदस, अष्टमी और पूर्णमासी, इन तिथियों में प्रतिपूर्ण पौषधव्रत का पालन करते हुए विचरण करने में भी हम समर्थ नहीं हैं। (**वयं च णं अपच्छिममारणंतियं संलेहणा जूसण जूसिया, भत्तपाणं पडिआइक्खिया, जाव काल अणवक्खमाणा विहरिस्सामो**) हम तो अन्तिम समय में मृत्यु का समय आने पर संल्लेखना-संथारा की आराधना करके आहार-पानी का त्याग करके दीर्घकाल तक जीने की इच्छा या शीघ्र मृत्यु को आकांक्षा न करते हुए विचरण करेंगे। (**सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खाइस्सामो जाव सव्वं परिग्गहं पच्चक्खाइस्सामो तिविहं तिविहेणं**) उस समय हम तीनों करणों और तीनों योगों से समस्त प्राणातिपात, मृषावाद आदि से लेकर समस्त परिग्रह का त्याग करेंगे। (**मा खलु ममट्ठाए किंचि वि जाव**) और मेरे लिए कुछ करो मत, कराओ मत, इस प्रकार का प्रत्याख्यान करेंगे (**आसंदी वेढियाओ पच्चोरुहित्ता एते तहाकालगया किं वत्तव्वं सिया सम्मं काल गया इति वत्तव्वं सिया**) इस प्रकार प्रतिज्ञा करके वे श्रावक अपने आसन से उतर कर जब कालधर्म (मृत्यु) को प्राप्त होते हैं, तब तक उनकी मृत्यु के विषय में क्या कहना होगा ? यही कहना होगा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न, उन्होंने अच्छी तरह से मृत्यु पाई है। (**ते पाणा वि वुच्चंति जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ**) वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं, महाकाय और चिरस्थितिक भी कहलाते हैं, इनकी (त्रस) हिंसा से श्रमणोपासक निवृत्त है, इसलिए श्रमणोपासक के व्रत को निर्विषय बताना न्यायसंगत नहीं है।

(**भगवं च णं उदाहु**)आगे फिर भगवान् गौतम ने उदकपेढालपुत्र आदि निग्रन्थों से कहा—(**संतेगइया मणुस्सा भवंति**) इस संसार में कई मनुष्य ऐसे होते हैं, (**महइच्छा महारंभा महापरिग्गहा अहम्मिया जाव दुप्पडियाणंदा**) जो महान् इच्छा, महान् आरम्भ करने वाले, महापरिग्रही, अधार्मिक, यहाँ तक कि बड़ी कठिनाई से प्रसन्न किये जा सकते हैं। (**जाव सव्वाओ परिग्गहाओ अप्पाडिविरिया**) वे अधर्मानुसारी, अधर्मसेवी, अतिहिंसक, अधर्मनिष्ठ यावत् समस्त परिग्रहों से अनिवृत्त होते हैं। (**जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे निक्खित्ते**) श्रावक इन प्राणियों की हिंसा का त्याग व्रत ग्रहण करने से लेकर मृत्युपर्यन्त करता है। (**ते तओ आउगं विप्पजहंति ततो भुज्जो संगमादाए दुग्गइगामिणो भवंति**) किन्तु वे पूर्वोक्त (अधार्मिक आदि) पुरुष मृत्यु के समय अपनी आयु का त्याग कर देते हैं, और अपने पापकर्म को अपने साथ ले जाकर दुर्गति को प्राप्त करते हैं। (**ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया ते चिरट्ठिइया ते बहुयरगा**) वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं, वे महाकाय भी होते हैं और लम्बी आयु होने के कारण चिरस्थितिक भी होते हैं, तथा वे संख्या में भी बहुत होते हैं। (**आयाणसो**) उन प्राणियों को न मारने की प्रतिज्ञा श्रमणोपासक ने व्रतग्रहण से लेकर मरणपर्यन्त (आजीवन) की है, (**इति से महयाओ णं जण्णं तुब्भे वयह, तं चेव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ**) इसलिए इस दृष्टि से वह श्रमणोपासक प्राणियों की हिंसा (दण्ड) देने से विरत है। अतः आप लोग जो श्रावक के व्रत को निर्विषय बतला रहे हैं, आपका यह मन्तव्य न्यायसंगत नहीं है।

(**भगवं च णं उदाहु**) भगवान गौतम आगे कहने लगे—(**संतेगइया मणुस्सा भवंति, तं जहा—अणारंभा अपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया जाव सव्वाओ परिग्गहा पडिविरया जावज्जीवाए**) इस विश्व में ऐसे भी मनुष्य होते हैं, जो सर्वथा आरम्भ-परिग्रह से रहित हैं, धर्म का आचरण करते हैं, दूसरे को धर्माचरण करने की अनुज्ञा देते हैं या धर्म का अनुसरण करते हैं, वे सब प्रकार के प्राणातिपात (जीवहिंसा) से लेकर सब परिग्रहों से जीवनपर्यन्त निवृत्त रहते हैं, (**समणोवासगस्स जेहिं आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते**) उन प्राणियों को दण्ड देने का श्रमणोपासक ने व्रत ग्रहण करने के दिन से लेकर मरणपर्यन्त त्याग किया है। (**तं तओ आउगं विप्पजहंति**) वे पूर्वोक्त धार्मिक पुरुष काल (मृत्यु) का अवसर आने पर अपनी आयु का त्याग करते हैं, (**भुज्जो संगमादाए सग्गइगामिणो भवंति**) फिर वे अपने पुण्यकर्म को साथ लेकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सद्गति (स्वर्गादि गति) में जाते हैं। (**ते पाणा वि वुच्चंति जाव णो णेयाउए भवइ**) वे भी प्राणी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं, महाकाय एवं स्वर्ग में चिरस्थितिक भी होते हैं (चिरकाल तक देवलोक में निवास करते हैं) उन्हें श्रमणोपासक दण्ड नहीं देता (हिंसा नहीं करता) ऐसी स्थिति में आपका यह कथन न्यायसंगत नहीं है कि त्रस के अभाव के कारण श्रावक का व्रत निर्विषय है।

(**भगवं च णं उदाहु**) भगवान् गौतमस्वामी ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया—(**संतेगइया मणुस्सा भवंति, तं जहा—अप्पेच्छा, अप्पारंभा, अप्परिग्गहा, धम्मिया, धम्माणुया जाव एगच्चाओ परिग्गहाओ अप्पडिविरया**) इस जगत् में ऐसे भी मनुष्य होते हैं, जो अल्प इच्छा वाले, अल्प आरम्भ करने वाले, अल्प परिग्रही होते हैं, ऐसे लोग धार्मिक और धर्मानुसारी अथवा धर्माचरण की अनुज्ञा देने वाले होते हैं। वे धर्म से ही अपनी जीविका चलाते हैं, धर्माचरण ही उनका व्रत होता है, धर्म को ही अपना इष्ट मानते हैं, धर्म करके प्रसन्न होते हैं, वे प्राणातिपात से लेकर परिग्रह तक एक अंश में निवृत्त होते हैं, एक अंश में विरत नहीं होते यानी स्थूल प्राणातिपात आदि का प्रत्याख्यान करते हैं। (**जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे निक्खित्ते**) वे श्रमणोपासक के व्रत ग्रहण करने के दिन से लेकर जीवनपर्यन्त (आमरणान्त) अमुक जीवों को दण्ड देने (हिंसा) से निवृत्त होते हैं। (**ते तओ आउगं विप्पजहंति**) मृत्यु का अवसर आने पर अपनी आयु का त्याग करते हैं (**ततो ज्जो सगमादाए सग्गइगामिणो भवंति**) वे फिर वहाँ से अपने पुण्यकर्मों को साथ में लेकर सद्गति को प्राप्त करते हैं। (**ते पाणा वि वुच्चंति, जाव णो णेयाउए भवइ**) वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी, वे महाकाय भी होते हैं। अतः श्रावक के प्रत्याख्यान को निर्विषयक बताना न्यायसंगत नहीं है।

(**भगवं च णं उदाहु**) भगवान् गौतम ने आगे कहा—(**संतेगइया मणुस्सा भवंति तं जहा आरण्णिया, आवसहिया, गामणिमंतिया, कण्हुई रहस्सिया**) इस संसार में कई लोग ऐसे भी होते हैं, जो आरण्यक (वनवासी) होते हैं, आवसथिक (कुटी झोपड़ी आदि बनाकर रहते) होते हैं, ग्राम में जाकर किसी के निमन्त्रण से भोजन करते हैं, कोई किसी गुप्त रहस्य के ज्ञाता होते हैं। (**जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे निक्खित्ते भवइ**) श्रमणोपासक व्रत ग्रहण करने के समय से लेकर जीवनपर्यन्त उन्हें दण्ड देने (हिंसा करने) का त्याग करता है। (**ते णो बहुसंजया, णो बहुपडिविरया पाणभूयजीव सत्तेहिं**) वे पूर्ण संयमी नहीं हैं, तथा वे समस्त सावद्य कर्मों से निवृत्त नहीं हैं, और प्राणी, भूत, जीव, सत्त्वों की हिंसा से भी विरत नहीं हैं, (**ते अप्पणा सच्चामोसाइं एवं विप्पडिवेदेंति**) वे अपने मन से कल्पना करके सच्ची झूठी बात लोगों को इस प्रकार बताया करते हैं। (**अहं ण हंतव्वो, अन्ने हंतव्वा**) जैसे मुझे नहीं मारना चाहिए, दूसरों को भले ही मारा जाए। (**जाव कालमासे कालं किच्चा अन्नयराइं आसुरियाइं किब्विसियाइं जाव उववत्तारो भवंति**) वे मृत्यु का अवसर आने पर मृत्यु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को प्राप्त करके असुरसंज्ञक निकाय में किल्विषी देव के रूप में उत्पन्न होते हैं। (**तओ विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए तमोरूवत्ताए पच्चायंति**) वे वहाँ से शरीर छोड़ कर पुनः बकरे की तरह गूँगे तथा तामसी योनि में जन्म लेते हैं। (**ते पाणा वि वुच्चंति जाव णो णेयाउए भवइ**) वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं। इसलिए श्रमणोपासक को त्रस जीव को न मारने का प्रत्याख्यान निर्विषयक है, यह कहना न्याययुक्त नहीं है।

(**भगवं च णं उदाहु**) भगवान् श्री गौतम ने पुनः कहा—(**संतेगइया पाणा दीहाउया, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए जाव दंडे णिक्खित्ते भवइ**) इस संसार में बहुत-से प्राणी दीर्घायु (चिरकाल तक जीने वाले) होते हैं, जिनके विषय में श्रमणोपासक व्रत ग्रहण से लेकर मृत्युपर्यन्त दण्ड(हिंसा) का प्रत्याख्यान (त्याग) करता है। (**ते पुव्वामेव कालं करेंति करेत्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति**) उन प्राणियों की मृत्यु पहले ही हो जाती है और वे यहाँ से मृत्यु प्राप्त करके परलोक में जाते हैं। (**ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति ते महाकाया दीहाउया ते चिरट्ठिइया**) वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं, वे महाकाय और चिरस्थितिक (दीर्घायु) होते हैं। (**ते बहुयरगा पाणा**) वे प्राणी संख्या में बहुत होते हैं। (**जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ**) इसलिए श्रमणोपासक का व्रत प्रत्याख्यान इन प्राणियों की अपेक्षा से सुप्रत्याख्यान होता है। (**जाव णो णेयाउए भवइ**) अतः श्रावक के त्रस हिंसा-प्रत्याख्यान को निर्विषय बताना न्यायोचित नहीं है।

(**भगवं च णं उदाहु**) भगवान् गौतम स्वामी ने फिर कहा—(**संतेगइया पाणा समाउया**) इस जगत् में बहुत-से प्राणी समायुष्क होते हैं (**जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए जाव दंडे णिक्खित्ते भवइ**) श्रमणोपासक ने व्रत ग्रहण करने के दिन से लेकर मृत्युपर्यन्त जिनके वध (दण्ड) का त्याग (प्रत्याख्यान) किया है। (**ते सयमेव कालं करेंति करित्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति**) वे प्राणी अपने आप ही अपनी मृत्यु से मरते हैं और मरकर परलोक में जाते हैं। (**ते पाणा वि वुच्चंति तसा वि वुच्चंति**) वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं। (**ते महाकाया, ते समाउया ते बहुयरगा**) वे प्राणी विशालकाय, समान आयु वाले तथा संख्या में बहुत हैं, (**जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, जाव णो णेयाउए भवइ**) इन प्राणियों के विषय में श्रमणोपासक का अहिंसाविषयक प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान (सविषयक) होता है, इसलिए श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान को निर्विषयक बताना न्याययुक्त नहीं है।

(**भगवं च णं उदाहु**) भगवान् गौतम ने कहा—(**संतेगइया पाणा अप्पाउया**) इस विश्व में बहुत से प्राणी ऐसे भी हैं, जो अल्पायु होते हैं। (**जेहिं समणोवागस्स आयाणसो आमरणंताए जाव दंडे णिक्खित्ते भवइ**) जिनको श्रमणोपासक व्रतग्रहण करने के दिन से लेकर मृत्युपर्यन्त दण्ड देने (मारने) का त्याग (प्रत्याख्यान) करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(**त पुव्वामेव कालं करेंति, करित्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति**) वे अल्पायु होने के कारण पहले ही मृत्यु को प्राप्त कर लेते हैं, मृत्यु प्राप्त करके वे परलोक में जाते हैं। (**ते पाणा वि वुच्चंति, तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया ते अप्पाउया ते बहुयरगा पाणा**) वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं, वे विशालकाय भी होते हैं, किन्तु वे अल्पायु होते हैं, वे संख्या में बहुत होते हैं। (**जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ**) जिनके विषय में श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है। (**जाव णो णेयाउए भवइ**) अतः श्रावक के प्रत्याख्यान को निर्विषय कहना न्यायसंगत नहीं है।

(**भगवं च णं उदाहु**) अन्त में भगवान् गौतम स्वामी बोले—(**संतेगइया समणोवासगा भवंति**) जगत् में कई श्रमणोपासक होते हैं, (**तेसिं च णं वुत्तपुव्वं भवइ**) जो इस प्रकार का संकल्प करते हैं—(**णो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता जाव पव्वइत्तए**) हम मुण्डित होकर गृहस्थ अवस्था को छोड़कर साधुधर्म में प्रव्रजित होने में समर्थ नहीं है। (**णो खलु वयं चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं अणुपालित्तए संचाएमो**) तथा चतुर्दशी, अष्टमी और पूर्णमासी के दिन प्रतिपूर्ण पौषध पालन करने में भी समर्थ नहीं हैं, (**वयं अपच्छिमं जाव विहरित्तए णो खलु संचाएमो**) एवं हम मृत्यु काल में आमरण अनशनपूर्वक संलेखना संथारा करने में भी समर्थ नहीं हैं, (**वयं च णं सामाइयं देसावगासियं पाईणं वा पडीणं वा दाहिणं वा उदीणं वा एतावता जाव सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते**) अतः हम सामायिक तथा देशावकाशिक व्रतों को ग्रहण करेंगे, इसी प्रकार हम प्रातःकाल प्रतिदिन पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण दिशाओं में या देशावकाशिक मर्यादाओं को स्वीकार करके उस मर्यादा से बाहर के समस्त प्राणियों को दण्ड देना छोड़ देंगे। (**अहं सव्वपाणभूयजीवसत्तेहिं खेमंकरे असि**) मैं समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों का क्षेम करने वाला बनूंगा। (**तत्थं आरेणं जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिखित्ते**) व्रत ग्रहण करने के समय स्वीकृत मर्यादा से बाहर रहने वाले जो त्रस प्राणी हैं जिन्हें हमने श्रावकव्रत धारण करने के समय से लेकर मृत्युपर्यन्त दण्ड देने का त्याग (प्रत्याख्यान) कर दिया है। (**तओ आउयं विप्पजहंति विप्पजाहित्ता तत्थ आरेणं चेव जे तसा पाणा**) वे प्राणी अपनी आयु को छोड़कर श्रावक द्वारा ग्रहण की हुई मर्यादा से बाहर के क्षेत्रों (प्रदेशों) में जब त्रसरूप में उत्पन्न होते हैं। (**जेहिं समणोवासगस्स आयणसो जाव तेसु पच्चायंति**) जिन्हें श्रमणोपासक के व्रत ग्रहण करने के समय से लेकर जीवनपर्यन्त दण्ड देने त्याग किया है। (**जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ**) तब श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान उनमें सुप्रत्याख्यान होता है। (**ते पाणावि जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ**) वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं, अतः श्रावकों के व्रत को निर्विषय बताना न्यायसंगत नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या

श्रमणोपासक का त्रसहिंसाप्रत्याख्यान निर्विषय नहीं

पूर्वसूत्रों में उदकपेढालपुत्र निर्ग्रन्थ द्वारा यह प्रश्न उठाया गया था कि त्रस जीव सभी स्थावर हो जाएँगे तो संसार में त्रसजीव रहेंगे ही नहीं, इस प्रकार श्रमणोपासक द्वारा किया गया त्रसजीवों की हिंसा का प्रत्याख्यान निर्विषय, निष्फल और निरर्थक हो जाएगा। यद्यपि श्री गौतम स्वामी ने इसका प्रतिवाद पिछले सूत्र में किया है तथापि श्री गौतमस्वामी दूसरे प्रकार से इस प्रश्न का विश्लेषणपूर्वक समाधान करते हुए कहते हैं—हे उदक ! यह संसार कभी त्रसजीवों से खाली नहीं होता, क्योंकि त्रसजीवों की उत्पत्ति संसार में अनेक प्रकार से होती है। दिग्दर्शन के रूप में कुछ बातें मैं आपके समक्ष प्रस्तुत करता हूँ।

(१) इस संसार में बहुत-से शान्त श्रावक होते हैं, जो साधु के पास आकर कहते हैं—"भंते ! हम गृहवास त्यागकर मुण्डित होकर अनगार धर्म में प्रव्रजित होने में समर्थ नहीं हैं, अतः हम अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णिमा आदि तिथियों में परिपूर्ण पौषधव्रत का आचरण करते हुए साधु की तरह दिनचर्या व्यतीत करके अपने को पवित्र करेंगे। तथैव स्थूल प्राणातिपात, स्थूल मृषावाद, स्थूल अदत्तादान, स्थूल मैथुन एवं स्थूल परिग्रह का प्रत्याख्यान दो करण-तीन योग से करेंगे, तथा इच्छा का परिमाण भी हम दो करण-तीन योग से करेंगे। तथा पौषधव्रत के दिन हम दो करण-तीन योग से करने-कराने, पकने-पकवाने से निवृत्ति करेंगे। अर्थात् हम उस दिन अपने परिवार को इन्कार कर देंगे कि हमारे लिए कुछ भी मत करो और न कराओ। इस प्रकार प्रतिज्ञा (प्रत्याख्यान) करके वे श्रमणोपासक बिना खाये-पीये और स्नान आदि किये, आसन से उतरकर तथा सम्यक् प्रकार से पौषध का पालन करके यदि मृत्यु को प्राप्त हो जाएँ, तो यही कहना होगा कि उनकी मृत्यु उत्तम ढंग से हुई। यानी इस प्रकार की उत्तम मृत्यु जिनकी हुई है, वे प्राणी देवलोक में उत्पन्न हुए हैं, यही मानना पड़ेगा। देवलोक में उत्पन्न वे प्राणी त्रस हैं, वे महाकाय भी हैं और चिरकाल तक उनकी देवलोक में स्थिति है। त्रसहिंसा का प्रत्याख्यानी श्रावक उन प्राणियों का घात नहीं करता, इसलिए उसका वह प्रत्याख्यान निर्विषय नहीं है, सविषय है। इसलिए श्रावकों के उक्त प्रत्याख्यान को त्रस जीवों के अभाव में निर्विषय बताना न्यायोचित नहीं है।

(२) दूसरा दृष्टान्त लीजिए—इस संसार में ऐसे भी श्रावक होते हैं, जो गृहस्थ-अवस्था का त्याग करके अनगार वृत्ति स्वीकार करने में समर्थ नहीं होते, तथा वे अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णिमा आदि पर्वतिथियों में भी प्रतिपूर्ण पौषधव्रत का आचरण करने में अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं लेकिन यह स्वीकार करते हैं कि हम अपनी जिंदगी के अन्तिम समय में अनशनपूर्वक संलेखना-संथारा धारण करके समस्त पापों का सर्वथा (त्रिकरण-त्रियोग से) प्रत्याख्यान करके चिरकाल तक जीने या शीघ्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मरने की आकांक्षा न करते हुए इस देह को छोड़ेंगे। इस प्रकार की प्रत्याख्यान-प्रतिज्ञा करने के पश्चात् उन श्रावकों की मृत्यु जब इस रीति से होती है तो उस मृत्यु को उत्तम मृत्यु ही कहा जाएगा तथा यह भी निर्विवाद है कि वे मरकर अवश्य ही किसी उत्तमगति—देवलोक में उत्पन्न हुए हैं। यद्यपि वे श्रावक देव होने के कारण किसी मनुष्य के द्वारा मारे जाने योग्य तो नहीं हैं, तथापि वे त्रस तो कहलाते ही हैं। अतः जिस श्रमणोपासक ने त्रसजीवों के घात का प्रत्याख्यान किया है, उसके प्रत्याख्यान के विषय तो वे देव भी होते ही हैं। अतः त्रस जीवों के अभाव के कारण श्रावक के प्रत्याख्यान को निराधार बताना न्यायसंगत नहीं है। यह श्री गौतम स्वामी का आशय है।

(३) श्री गौतमस्वामी तीसरा दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—इस जगत् में बहुत से मनुष्य बड़ी-बड़ी इच्छाएँ रखते हैं, वे अत्यन्त आरम्भ करते हैं, महापरिग्रही एवं अधार्मिक होते हैं। यहाँ तक कि उन्हें कितना ही मनाया जाए, वे बड़ी मुश्किल से राजी होते हैं, इतना ही नहीं, वे जिंदगीभर तक हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह, इन पांच महापापों से निवृत्त नहीं होते। ऐसे प्राणी मृत्यु का अवसर पाने पर मरते हैं, और अपने पापकर्मों के फलस्वरूप नरकगति में जाते हैं। जहाँ वे चिरकाल तक निवास करते हैं। शरीर से भी वे विशाल होते हैं, वे भी त्रस प्राणी कहलाते हैं, वे संख्या में भी बहुत होते हैं। प्रत्याख्यानी श्रमणोपासक व्रतग्रहण करने के समय से लेकर मृत्युपर्यन्त उन प्राणियों की हिंसा का प्रत्याख्यान (त्याग) करते हैं। अतः आप लोग जो श्रावक के उक्त (त्रसवधविषयक) प्रत्याख्यान को निराधार बता रहे हैं, वह न्यायसंगत नहीं है।

(४) इसके अनन्तर श्री गौतमस्वामी अपने सिद्धान्त के समर्थन में कहते हैं—इस जगत् में बहुत-से मनुष्य आरम्भ-परिग्रह से दूर रहते हैं, वे धर्माचरणशील और धर्म के पक्षपाती होते हैं। वे आजीवन समस्त प्राणातिपात से लेकर समस्त परिग्रहों से निवृत्त रहते हैं। ऐसे धार्मिक व्यक्ति मृत्यु समय उपस्थित होने पर सुख-शान्तिपूर्वक मृत्यु का वरण करते हैं और पूर्वोपार्जित पुण्यों के फलस्वरूप उत्तम गति प्राप्त करते हैं। वे प्राणी देव होते हैं या मनुष्य होते हैं। वे प्राणी एवं त्रस कहलाते हैं। उन (त्रस) प्राणियों को श्रावक व्रतग्रहण करने के दिन से लेकर मृत्युपर्यन्त दण्ड नहीं देता, अर्थात् उनकी हिंसा नहीं करता। इसलिए श्रावक का त्रसहिंसाविषयक प्रत्याख्यान सविषय है, उसे निर्विषय कहना न्याययुक्त नहीं है।

(५) और भी लीजिए—संसार में ऐसे भी मनुष्य होते हैं, जिनकी इच्छा परिमित होती है, जिनका आरम्भ और परिग्रह भी अल्प होता है, वे धार्मिक और धर्मानुगामी होते हैं, धर्मपूर्वक आजीविका करते हैं, धर्म को ही अपना इष्ट समझते हैं। इस दृष्टि से वे प्राणातिपात से लेकर परिग्रह तक कुछ अंश में विरत और कुछ अंश में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अविरत होते हैं। यानी स्थूल प्राणातिपात आदि का तो प्रत्याख्यान करते हैं लेकिन सूक्ष्म प्राणातिपात आदि का प्रत्याख्यान नहीं कर सकते। यों वे श्रमणोपासक व्रतग्रहण के समय से लेकर जीवनपर्यन्त त्रसजीवों की हिंसा के त्यागी होते हैं। इसलिए मृत्युसमय में अपने शरीर को शान्तिपूर्वक विसर्जन कर देते हैं। वे स्वोपार्जित पुण्यों के फलस्वरूप अच्छी गति को प्राप्त होते हैं, जिस स्वर्गादि गति में वे जाते हैं, वहाँ वे त्रस प्राणी कहलाते हैं। और श्रावक उनकी हिंसा का त्याग करता है, इसलिए श्रावक के त्रसहिंसा व्रत (प्रत्याख्यान) को निर्विषय बताना किसी भी प्रकार से न्याययुक्त नहीं है।

(६) इसी के सन्दर्भ में श्री गौतमस्वामी ने आगे कहा—इस जगत् में ऐसे भी मानव होते हैं, जो वन में कंदमूल फल आदि खाकर निवास करते हैं, झौंपड़ी बनाकर रहते हैं, कोई ग्राम में किसी के निमंत्रण पर भोजन करके अपना जीवन व्यतीत करते हैं। ये लोग अपने आपको मोक्ष का अराधक बतलाते हैं, परन्तु वास्तव में वे वैसे हैं नहीं। वे आरम्भ-जनित हिंसा का त्याग नहीं कर सकते हैं, वे पूरे संयमी नहीं हैं, जीव-अजीव का इन्हें विवेक नहीं है। ये लोग सच्ची-झूठी बातों का उपदेश लोगों को दिया करते हैं, जैसे कि हम तो अवध्य हैं, परन्तु दूसरे प्राणी अवध्य नहीं हैं; हमें अपनी आज्ञा में नहीं चलाना चाहिए, दूसरे प्राणियों की आज्ञा में चलाना चाहिए, हमें गुलाम आदि बनाकर न रखना चाहिए, दूसरे प्राणियों को रखना चाहिए इत्यादि। इस प्रकार के ऊटपटांग उपदेशक लोग स्त्रीभोग तथा अन्य सांसारिक विषयों में भी आसक्त रहते हैं। इस प्रकार जिंदगी भर सांसारिक विषयभोग का उपभोग करके मृत्यु के समय मृत्यु प्राप्त करके अपनी अज्ञान तपस्या के प्रभाव से अधम आसुरी या किल्विषी देव-योनि में उत्पन्न होते हैं, अथवा प्राणियों के घात का उपदेश देने के कारण ये लोग नित्य अन्धकार से परिपूर्ण अतीव तामस एवं अत्यन्त यातनापूर्ण नरकों में जाते हैं। ये लोग देवता हों चाहे नारकी दोनों ही अवस्थाओं में त्रसत्व को नहीं छोड़ते। ये लोग स्वर्ग एवं नरक की आयु भोगकर फिर इस लोक में अन्धे, बहरे और गूंगे होते हैं, या फिर बकरे आदि तिर्यंच योनियों में जन्म लेते हैं। दोनों ही अवस्थाओं में त्रस ही कहलाते हैं। यद्यपि द्रव्य से देवों और नारकों को मारना सम्भव नहीं है, तथापि भाव से इनको मारना सम्भव है। इसलिए त्रसप्राणी को न मारने का व्रत (प्रत्याख्यान) जो श्रमणोपासक ने ग्रहण किया है, तदनुसार श्रावकों के लिए ये पूर्वोक्त देव-नारक-तिर्यंच-मनुष्यरूप त्रस प्राणी अवध्य है। अतः श्रावक के त्रसहिंसा के प्रत्याख्यान को निर्विषय बताना न्याययुक्त नहीं है।

(७) इसके पश्चात् श्री गौतम स्वामी ने फिर उदक निर्ग्रन्थ से कहा—इस जगत् में ऐसे भी प्राणी होते हैं, जो लम्बी आयु वाले हैं जिनके विषय में श्रमणोपासक अपने व्रतग्रहण काल से लेकर मृत्युपर्यन्त हिंसा का प्रत्याख्यान करता है। वे प्राणी पहले ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मर जाते हैं, और मरकर परलोक में किसी ऐसी गति में जन्म लेते हैं, जहाँ वे त्रस कहलाते हैं। वे महाकाय, दीर्घायु और बहुसंख्यक होते हैं। इसलिए उनकी अपेक्षा से श्रमणोपासक का त्रसहिंसाप्रत्याख्यान निर्विषयक नहीं है। उसे निर्विषय बताना न्यायोचित नहीं।

(८) इसी तरह संसार में कुछ जीव सम-आयुष्क होते हैं। उनकी मृत्यु समय पर स्वयमेव होती है। वे मरकर परलोक में जाते हैं। वहाँ भी वे प्राणी त्रस ही कहलाते हैं। वे विशालकाय, समायु तथा बहुसंख्यक होते हैं। उनकी हिंसा का प्रत्याख्यान श्रमणोपासक व्रतग्रहणकाल ही करता है और जीवनपर्यन्त उसे निभाता है। ऐसी स्थिति में त्रसजीवहिंसा-विषयक प्रत्याख्यान को निर्विषय बताना न्यायसंगत नहीं है।

(९) इसी प्रकार संसार में कई प्राणी अल्पायु होते हैं, वे जब तक जीते रहते हैं, तब तक त्रसप्रत्याख्यानी श्रावक उन्हें नहीं मारता। वे फिर मरकर जब पुनः त्रसयोनि में उत्पन्न होते हैं तब भी श्रावक अपने स्वीकृत प्रत्याख्यान के अनुसार उन्हें नहीं मारता। इसलिए श्रावक का प्रत्याख्यान निर्विषयक वहीं, सविषय है। त्रसाभाव का तर्क प्रस्तुत करके श्रावक के प्रत्याख्यान को निर्विषय बताना न्याय्य नहीं है।

अन्त में श्री गौतम स्वामी इस सूत्र का उपसंहार करते हुए प्रकारान्तर से श्रावक के प्रत्याख्यान को सविषयक सिद्ध करते हैं। देखिए उदक निर्ग्रन्थ! कई श्रमणोपासक ऐसे भी होते हैं, जो गृहवास को छोड़कर अनगारधर्म में दीक्षित होने तथा अष्टमी, चतुर्दशी एवं पूर्णिमा आदि पर्वतिथियों में प्रतिपूर्ण पौषध व्रत को स्वीकार करने में अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं। किन्तु सामायिक एवं देशावकाशिक दोनों व्रतों को स्वीकार तथा पालन कर सकते हैं। जिस श्रावक ने पहले सौ योजन तक चारों दिशाओं की मर्यादा स्वीकार करके दिग्व्रत ग्रहण किया है, वह प्रतिदिन अपनी मर्यादा को कम करता हुआ जो योजन, गव्यूति (दो कोस), एक कोस, ग्राम या घर तक की मर्यादा करता है, उसे देशावकाशिकव्रत कहते हैं। इस व्रत को ग्रहण करने वाला श्रमणोपासक प्रतिदिन प्रातःकाल इस प्रकार से प्रत्याख्यान करता है—"मैं आज पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा में इतने कोस या इतनी दूर से अधिक नहीं जाऊँगा।" इस प्रकार वह श्रावक प्रतिदिन गमनागमन की मर्यादा निश्चित करता है। उक्त श्रमणोपासक ने गमनागमन की जितनी भूमि की मर्यादा (सीमा) निर्धारित की है, उस मर्यादा से बाहर रहने वाले प्राणियों को दण्ड देना, वह वर्जित करता है। वह श्रावक अपने मन में यह निश्चित करता है कि मैं ग्रहण की हुई मर्यादा से बाहर रहने वाले प्राणियों को दण्ड देने (हिंसा करने) का प्रत्याख्यान करता हूँ। इसलिए मैं उन प्राणियों का रक्षक एवं क्षेमंकर हूँ। वे प्राणी जब तक जीवित रहते हैं, तब तक श्रावक उनकी रक्षा करता है और वे प्राणी मरकर अगले जन्म में यदि श्रावक की निश्चित की हुई मर्यादा से बाहर के प्रदेशों में जन्म लेते हैं, तो श्रावक उनकी हिंसा से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुनः विरत रहता है, उनको दण्ड देना वर्जित करता है। इसलिए श्रावक के त्रसहिंसा के प्रत्याख्यान को निर्विषयक कहना कथमपि न्यायसंगत नहीं है।

सारांश

इस सूत्र में श्री गौतम स्वामी ने उदकपेढालपुत्र निर्ग्रन्थ आदि को श्रावक के त्रस जीवों की हिंसा के प्रत्याख्यान को सविषय सिद्ध करने हेतु एक से एक बढ़कर ९ दृष्टान्त प्रस्तुत किये हैं। वास्तव में श्री गौतम स्वामी के इस विश्लेषणपूर्वक कथन के बाद किसी प्रकार की कोई गुंजाइश नहीं रहती कि कोई श्रावक के प्रत्याख्यान को निर्विषयक कहने का साहस कर सके। निष्कर्ष यह है कि संसार के समस्त त्रसजीव मरकर सभी स्थावर हो जाएँगे, यह शंका ही निराधार है। ऐसा कदापि सम्भव नहीं है। इसी बात को सिद्ध करने के लिए श्री गौतम स्वामी ने बताया है कि त्रसजीव मरकर नारकी, देवता, मनुष्य तथा तिर्यंच में पंचेन्द्रिय योनियों में पैदा होते हैं, जो स्थावर नहीं होते, किन्तु त्रस ही कहलाते हैं, जब श्रावक उन सब त्रसों को मारने का त्याग (प्रत्याख्यान) करता है, उनका पालन करता है, ऐसी स्थिति में त्रस-जीवघात का प्रत्याख्यान निर्विषय कैसे हो सकता है? अतः सभी (९) मुद्दों के अन्त में, श्री गौतम गणधर ने कहा है, उक्त प्रत्याख्यान को निर्विषय या निराधार कहना अन्याय करना है, सत्य का गला घोंटना है।

मूल पाठ

तत्थ आरेणं जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, ते तओ आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं चेव जाव थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते, अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति। तेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते, अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते। ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि ते चिरट्ठिइया जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ।

तत्थ जे आरेणं तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, ते तओ आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता तत्थ परेणं जे तसा थावरा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, ते पाणा वि जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ।

तत्थ जे आरेणं थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते, अणट्ठाए णिक्खित्ते, ते तओ आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्थ आरेणं चेव जे तसा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति। तेसु समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, ते पाणा वि जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ।

तत्थ जे ते आरेणं जे थावरा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते, अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते। ते तओ आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता ते तत्थ आरेणं चेव जे थावरा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते, अणट्ठाए णिक्खित्ते, तेसु पच्चायंति। तेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए अणट्ठाए ते पाणा वि जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ।

तत्थ जे ते आरेणं थावरा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते, अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते, तओ आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता तत्थ परेणं जे तसथावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ। ते पाणा वि जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ।

तत्थ जे ते परेणं तसथावरा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते ते तओ आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता, तत्थ आरेणं जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, ते पाणा वि जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ।

तत्थ जे ते परेणं तसथावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते ते तओ आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं जे थावरा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति, जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए अणिक्खित्ते, अणट्ठाए णिक्खित्ते जाव ते पाणा वि जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ।

तत्थ जे ते परेणं तसथावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते ते तओ आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता ते तत्थ परेणं चेव जे तसथावरा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति। जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ। ते पाणा वि जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ।

भगवं च ण उदाहु—णं एयं भूयं, ण एयं भव्वं, ण एयं भविस्संति, जण्णं तसा पाणा वोच्छिज्जिहिंति, थावरा पाणा भविस्संति, थावरा पाणा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वि वोच्छिज्जिहिंति तसा पाणा भविस्संति। अवोच्छिन्नेहिं तस थावरेहिं पाणेहिं जण्णं तुब्भे वा अन्नो वा एवं वदह—णत्थि णं से केइ परियाए जाव णो णेयाउए भवइ ॥सू० ८०॥

संस्कृत छाया

तत्र आराद् ये त्रसाः प्राणाः, येषु श्रमणोपासकस्य आदानश आमरणान्ताय दण्डो निक्षिप्तस्ते तत आयुः विप्रजहति विप्रहाय तत्र आराच्चैव यावत्स्थावराः प्राणाः, येषु श्रमणोपासकस्यार्थाय दण्डोऽनिक्षिप्तः, अनर्थाय दण्डो निक्षिप्तस्तेषु प्रत्यायान्ति। तेषु श्रमणोपासकस्यार्थाय दण्डोऽनिक्षिप्तः, अनर्थाय दण्डो निक्षिप्तः। ते प्राणा अप्युच्यन्ते ते त्रसा अप्युच्यन्ते, ते चिरस्थितिकाः यावदयमपि भेदः स नो नैयायिको भवति।

तत्र ये आरात् त्रसाः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य आदानश आमरणान्ताय दण्डो निक्षिप्तः, ते तत आयुः विप्रजहति विप्रहाय तत्र परेण ये त्रसाः स्थावराश्च प्राणाः, येषु श्रमणोपासकस्य आदानश आमरणान्ताय दंडो निक्षिप्तस्तेषु प्रत्यायान्ति तेषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यानं भवति, ते प्राणा अपि यावदयमपि भेदः स नो नैयायिको भवति।

तत्र आराद् ये स्थावराः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्यार्थाय दण्डोऽनिक्षिप्तः, अनर्थाय दण्डो निक्षिप्तः, ते तदायुः विप्रजहति, विप्रहाय तत्र आराच्चैव ये त्रसाः प्राणाः, येषु श्रमणोपासकस्य आदानश आमरणान्ताय दण्डो निक्षिप्तस्तेषु प्रत्यायान्ति, तेषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यानं भवति। ते प्राणा अपि यावदयमपि भेदः स नो नैयायिको भवति।

तत्र ये ते आराद् ये स्थावराः प्राणाः, येषु श्रमणोपासकस्य अर्थाय दण्डोऽनिक्षिप्तोऽनर्थाय दण्डो निक्षिप्तः। ते तदायुः विप्रजहति विप्रहाय ते तत्र आराच्चैव ये स्थावराः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य अर्थाय दण्डोऽनिक्षिप्तोऽनर्थाय दण्डो निक्षिप्तस्तेषु प्रत्यायान्ति। तेषु श्रमणोपासकस्य अर्थाय दण्डोऽनिक्षिप्तोऽनर्थाय निक्षिप्तः। ते प्राणा अप्युच्यन्ते, ते यावदयमपि भेदः स नो नैयायिको भवति।

तत्र ये ते आरात् स्थावराः प्राणाः, येषु श्रमणोपासकस्य अर्थाय दण्डोऽनिक्षिप्तोऽनर्थाय निक्षिप्तः। तत आयुः विप्रजहति विप्रहाय तत्र परेण ये त्रसस्थावराः प्राणाः, येषु श्रमणोपासकस्यादानश आमरणान्ताय दण्डो निक्षिप्तस्तेषु प्रत्यायान्ति, तेषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यानं भवति। ते प्राणा अपि, यावदयमपि भेदः स नो नैयायिको भवति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्र ये ते परेण त्रसस्थावराः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य आदानश आमरणान्ताय दण्डो निक्षिप्तः तत आयुः विप्रजहति विप्रहाय तत्र आराद् ये त्रसाः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य आदानश आमरणान्ताय दण्डो निक्षिप्तः तेषु प्रत्यायान्ति, तेषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यानं भवति, ते प्राणा अपि यावद् अयमपि भेदः स नो नैयायिको भवति ।

तत्र ये ते परेण त्रसस्थावराः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य आदानश आमरणान्ताय दण्डो निक्षिप्तः । ते तत आयुः विप्रजहति विप्रहाय तत्र आराद् ये स्थावराः प्राणाः, येषु श्रमणोपासकस्य अर्थाय दण्डोऽनिक्षिप्तोऽनर्थाय निक्षिप्तः तेषु प्रत्यायान्ति । येषु श्रमणोपासकस्य अर्थाय अनिक्षिप्तः, अनर्थाय निक्षिप्तः, यावत् ते प्राणा अप्युच्यन्ते, यावदयमपि भेदः, स नो नैयायिको भवति ।

तत्र ये ते परेण त्रसस्थावराः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य आदानश आमरणान्ताय दण्डो निक्षिप्तः, ते तत आयुः विप्रजहति विप्रहाय ते तत्र परेण चैव ये त्रसस्थावराः प्राणाः, येषु श्रमणोपासकस्य आदानशः आमरणान्ताय दण्डो निक्षिप्तस्तेषु प्रत्यायान्ति । येषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यानं भवति । ते प्राणा अपि यावद् अयमपि भेदः स नो नैयायिको भवति।

भगवांश्च उदाह—नैतद् भूतं, नैतद् भाव्यं, नैतद् भवति, यत् त्रसाः प्राणाः व्युच्छेत्स्यन्ति, स्थावरा भविष्यन्ति, स्थावरा अपि प्राणाः व्युच्छेत्स्यन्ति त्रसाः प्राणाः भविष्यन्ति । अव्युच्छिन्नेषु त्रसस्थावरेषु प्राणेषु यद् यूयमन्यो वा एवं वदथ—'नास्ति स कोऽपि पर्यायः' यावद् नो नैयायिको भवति ॥ सू० ८० ॥

अन्वयार्थ

(**तत्थ आरेणं जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते**) वहाँ समीप प्रदेश में रहने वाले जो त्रस पाणी हैं और जिनको दण्ड देना (घात करना) श्रमणोपासक ने व्रत ग्रहण करने के समय से लेकर जीवन भर के लिए छोड़ दिया है (**ते तओ आउ विप्पजहंति विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं चेव जाव थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति**) वे उस त्रस शरीर को छोड़ देते हैं और छोड़कर उसी निकट के प्रदेश में स्थावर प्राणियों में उत्पन्न होते हैं, जिनको श्रावक ने अनर्थदण्ड देना (व्यर्थ ही अकारण घात करना) वर्जित किया है परन्तु अर्थदण्ड (सप्रयोजन घात करना) देना वर्जित नहीं किया है। (**तेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते, अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते**) उनको श्रावक अर्थदंड ही देता है अनर्थदण्ड नहीं देता (**ते पाणा वि वुच्चंति ते तसा वि ते**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चिरट्ठिइया जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ) वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं, वे चिरकाल तक स्थित रहते हैं। श्रावक उस त्रस प्राणियों को दण्ड नहीं देता, इसलिए श्रावक के व्रत को निर्विषयक बताना न्यायोचित नहीं है।

(**तत्थ जे आरेणं तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते**) वहाँ निकट प्रदेश में रहने वाले जो त्रस पाणी हैं, जिनको श्रावक ने व्रत ग्रहण के समय से जीवन भर के लिए दण्ड देना त्याग दिया है (**ते तओ आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता तत्थ परेणं जे तसा थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति**) वे त्रस प्राणी अपनी उस आयु को समाप्त करके उस देश से दूर के प्रदेश में रहने वाले जो त्रस स्थावर प्राणी हैं, जिनको दण्ड देना श्रावक ने व्रत-ग्रहण के समय से मरणपर्यन्त तक के लिए त्याग दिया है, उन त्रस-स्थावर प्राणियों में उत्पन्न होते हैं (**तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ**) उन प्राणियों के सम्बन्ध में श्रावक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है (**ते पाणा वि जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ**) वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं, उन्हें श्रावक दण्ड नहीं देता। अतः श्रावकों के प्रत्याख्यान को निर्विषयक कहना न्याय-पूर्ण नहीं है।

(**तत्थ जे आरेणं थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते**) वहाँ समीप के प्रदेश में जो स्थावर प्राणी हैं, जिनको श्रावक ने प्रयोजनवश दण्ड देने का त्याग नहीं किया है और बिना प्रयोजन के दण्ड देने का त्याग कर दिया है (**ते तओ आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं चेव जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति**) वे प्राणी अपनी उस आयु को छोड़ देते हैं और छोड़कर उस समीप के प्रदेश में जो त्रस पाणी हैं, जिनको श्रावक ने व्रतग्रहण के क्षण से लेकर मरणपर्यन्त दण्ड देने का त्याग कर दिया है, उनमें आकर उत्पन्न होते हैं (**तेसु समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ**) उन प्राणियों की अपेक्षा से श्रावक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है (**ते पाणा वि जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ**) वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं। इसलिए त्रस प्राणियों का कल्पित अभाव मानकर श्रावक के प्रत्याख्यान को निर्विषयक बताना सर्वथा अनुचित है।

(**तत्थ जे ते आरेणं जे थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते**) वहाँ, वे समीपवर्ती स्थावर प्राणी हैं, जिन्हें श्रावक ने प्रयोजनवश दण्ड देना तो नहीं छोड़ा है किन्तु बिना प्रयोजन के दण्ड देने का त्याग कर दिया है (**ते तओ आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता ते तत्थ आरेणं चेव जे थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति**) वे स्थावर प्राणी अपनी उस आयु को त्याग करके, वहाँ जो स्थावर प्राणी हैं, जिन्हें श्रावक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने प्रयोजनवश तो दण्ड देना नहीं छोड़ा है किन्तु बिना प्रयोजन के दण्ड देना छोड़ दिया है, उनमें उत्पन्न होते हैं (**तेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए अणट्ठाए ते पाणा वि जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ**) उन्हें श्रावक प्रयोजनवश ही दण्ड देता है, निष्प्रयोजन दण्ड नहीं देता, इसलिए श्रावक के प्रत्याख्यान को निर्विषय कहना न्यायोचित नहीं है।

(**तत्थ जे ते आरेणं थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते**) वहाँ जो समीपवर्ती स्थावर प्राणी हैं, जिनको श्रमणोपासक ने प्रयोजनवश दण्ड देना नहीं छोड़ा है (**तओ आउं विप्पजहंति**) वे स्थावर प्राणी अपनी आयु को छोड़ देते हैं (**विप्पजहित्ता**) उस आयु को छोड़कर (**तत्थ परेणं जे तस थावरा**) वहाँ से दूर देश में जो त्रस स्थावर प्राणी हैं (**जेहिं समणोवासगस्स**) जिनको श्रमणोपासक ने (**आयाणसो आमरणंताए**) व्रत ग्रहण करने के समय से लेकर मृत्युपर्यन्त (**दंडे णिक्खित्ते**) दण्ड देने का प्रत्याख्यान किया है (**तेसु पच्चायंति**) उनमें उत्पन्न होते हैं (**तेहिं समणोवासगस्स**) उनमें श्रावक का (**सुपच्चक्खायं भवइ**) सुप्रत्याख्यान होता है (**ते पाणा वि जाव अयंपि भेदे**) वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं अतः श्रावक के प्रत्याख्यान को (**से णो णेयाउए भवइ**) निर्विषय कहना न्यायोचित नहीं है।

(**तत्थ जे ते परेणं तस थावरा पाणा**) वहाँ जो श्रावक के द्वारा व्रत ग्रहण किए हुए देश परिमाण से दूरवर्ती तथा अन्य प्रदेश में त्रस स्थावर प्राणी हैं (**जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दण्डे णिक्खित्ते**) जिनको श्रावक ने व्रतारम्भ से लेकर आयु-पर्यन्त दण्ड देने का त्याग कर दिया है (**ते तओ आउं विप्पजहंति**) वे जीव वहाँ से अपनी आयु पूर्ण कर देते हैं (**विप्पजहित्ता**) और आयु पूर्ण करके (**तत्थ आरेणं जे तसा पाणा**) श्रावक के द्वारा ग्रहण किये हुए देश-परिमाण में अर्थात् श्रावक ने जितने क्षेत्र की मर्यादा ग्रहण की है, उस क्षेत्र में रहने वाले जो त्रस प्राणी हैं (**जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते**) जिनको श्रावक ने व्रत ग्रहण करने के समय से लेकर अपनी आयुपर्यन्त अर्थात् जीवन भर दण्ड देने का परित्याग कर दिया है (**तेसु पच्चायंति**) उनमें उत्पन्न होते हैं (**तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ**) उनमें श्रावक का सुप्रत्याख्यान होता है (**ते पाणा वि जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ**) वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं, इसलिए श्रावक के व्रत को निर्विषय बताना न्याययुक्त नहीं है।

(**तत्थ जे ते परेणं तस थावरा पाणा**) वहाँ जो वे त्रस-स्थावर प्राणी, जो श्रावक द्वारा ग्रहण की हुई क्षेत्र मर्यादा से बाहर दूरवर्ती अथवा अन्य देश में रहने वाले हैं (**जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते**) जिनको श्रावक ने व्रतारम्भ से लेकर मरणपर्यन्त दण्ड देने का त्याग कर दिया है (**ते तओ आउं विप्पजहंति**) वे प्राणी (त्रस-स्थावर प्राणी) अपनी उस आयु को छोड़ देते हैं (**विप्पजहित्ता**) और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छोड़कर (**तत्थ आरेणं जे थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति**) वहाँ जो समीपवर्ती (श्रावक द्वारा ग्रहण की हुई मर्यादा क्षेत्र के अन्तर्गत) स्थावर प्राणी हैं, जिनको श्रावक ने प्रयोजनवश दण्ड देना नहीं छोड़ा है और निष्प्रयोजन दण्ड देना छोड़ दिया है, उनमें उत्पन्न हो जाते हैं (**जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते**) जिनको श्रमणोपासक प्रयोजनवश दण्ड देना नहीं छोड़ सका है और निष्प्रयोजन दण्ड देने का त्याग कर चुका है (**जाव ते पाणावि जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए**) वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं, इसलिए श्रावक के व्रत को निर्विषय कहना अयोग्य है।

(**तत्थ जे ते तसथावरा पाणा परेणं जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणताए दंडे णिक्खित्ते**) उस समय जो त्रस और स्थावर प्राणी श्रावक के द्वारा ग्रहण किये हुए देश परिमाण अर्थात् प्रत्याख्यान किये हुए क्षेत्र से बाहर के यानी अन्य देश में रहने वाले हैं, जिनको श्रावक ने व्रत ग्रहण करने के समय से आजीवन दण्ड देने का त्याग कर दिया है (**ते तओ आउं पिप्पजहंति**) वे अपनी आयु को छोड़ देते है, अर्थात् पूरी कर लेते हैं (**विप्पजहित्ता ते तत्थं परेणं चेव**) और आयु पूर्ण करके श्रावक द्वारा मर्यादित क्षेत्र से अन्य क्षेत्रवर्ती (**जे तसथावरा पाणा**) जो त्रस-स्थावर प्राणी हैं (**जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति**) जिनको श्रावक ने व्रत-ग्रहण के समय से लेकर आयुपर्यन्त दण्ड देने का त्याग कर लिया है, उनमें उत्पन्न होते हैं (**जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ**) उनमें श्रावक का सुप्रत्याख्यान होता है (**ते पाणा वि जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ**) वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं इसलिए श्रावक के व्रत को निर्विषय कहना न्यायोचित नहीं है।

(**भगवं च णं उदाहु**) भगवान गौतम स्वामी ने कहा—(**णं एवं भूयं**) पूर्व काल यानी भूतकाल में यह नहीं हुआ (**णं एयं भव्वं**) न अनागत काल यानी भविष्य काल में यह होगा (**ण एयं भविस्संति**) और न वर्तमान काल में यह होता है (**जण्णं तसा पाणा वोच्छिज्जिहिति थावरा पाणा भविस्संति**) कि त्रस प्राणी सर्वथा उच्छिन्न हो जायँ और सबके सब स्थावर हो जायँ (**थावरा पाणा वि वोच्छिज्जिहिति तसा पाणा भविस्संति**) और त्रस प्राणी सर्वथा उच्छिन्न हो जायँ और सबके सब स्थावर हो जायँ (**अवोच्छिन्नेहिं तस थावरेहिं**) त्रस और स्थावर प्राणियों के सर्वथा उच्छिन्न न होने पर (**जण्णं तुब्भे अन्नो वा वदह**) जैसा कि तुम तथा अन्य लोग कहते हैं कि (**णत्थि णं से केइ परियाए जाव**) कोई पर्याय नहीं है जिसमें श्रावक का सुप्रत्याख्यान हो (**णो णेयाउए भवइ**) वह कथन न्यायोचित नहीं है।

व्याख्या

विभिन्न पहलुओं से श्रावक के प्रत्याख्यान की सार्थकता

इस सूत्र में शास्त्रकार ने श्री गौतमस्वामी द्वारा उदक निर्ग्रन्थ के कथन के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिवाद के रूप में नौ पहलुओं द्वारा प्रतिपादित मन्तव्य अंकित किये हैं। नौ पहलुओं की व्याख्या क्रमशः इस प्रकार समझनी चाहिए—

(१) श्रमणोपासक ने जितने क्षेत्र (देश) की मर्यादा की है, उस क्षेत्र के अन्तर्गत (समीपवर्ती) जो त्रसप्राणी निवास करते हैं, वे जब मरकर उसी देश (क्षेत्र) में त्रसरूप में उत्पन्न होते हैं, तब वे श्रावक के प्रत्याख्यान के विषय होते हैं, क्योंकि श्रावक ने व्रतग्रहण के समय से लेकर मरणपर्यन्त त्रसजीवों की हिंसा का प्रत्याख्यान किया है। अतः श्रावक के प्रत्याख्यान को निर्विषय कहना ठीक नहीं है, यह इस सूत्र के पहले भाग का आशय है।

(२) इस सूत्र के दूसरे भाग का तात्पर्य यह है कि श्रावक ने जितने देश (क्षेत्र) की मर्यादा की है, उस क्षेत्र में रहने वाले त्रस प्राणी अपने त्रस शरीर को छोड़ कर उसी क्षेत्र में जब स्थावर योनि में जन्म लेते हैं, तब श्रावक उन्हें अनर्थदण्ड देना (उनकी निरर्थक हिंसा करना) वर्जित करता है, क्योंकि स्थावर जीवों को अनर्थ दण्ड देने का उसने प्रत्याख्यान किया है। इस प्रकार उसका प्रत्याख्यान सविषयक होता है, निर्विषयक नहीं।

(३) इस सूत्र के तीसरे भाग का भाव यह है कि श्रावक के द्वारा ग्रहण की हुई क्षेत्र-मर्यादा के अन्दर रहने वाले जो स्थावर प्राणी हैं, वे जब उस मर्यादा से बाह्य देश में त्रस और स्थावर योनि में उत्पन्न होते हैं, तब उनमें श्रावक का सुप्रत्याख्यान होता है, क्योंकि त्रस जीवों की हिंसा का उसने प्रत्याख्यान किया है और स्थावर जीवों की निरर्थक हिंसा का भी उसने प्रत्याख्यान किया है। अतः श्रावक के प्रत्याख्यान को निर्विषय बताना न्यायसंगत नहीं है।

(४) इस सूत्र के चौथे भाग का आशय यह है कि श्रावक के द्वारा गृहीत क्षेत्र मर्यादा के अन्तर्गत रहने वाले जो स्थावर प्राणी हैं, वे मरकर उस क्षेत्र मर्यादा (सीमा) के अन्दर जब त्रसयोनि में उत्पन्न होते हैं, तब उनमें श्रावक का सुप्रत्याख्यान होता है, क्योंकि त्रसवध का तो उसके प्रत्याख्यान (त्याग) है ही। इस दृष्टि से श्रावक के प्रत्याख्यान को निर्विषय बताना न्यायोचित नहीं।

(५) इस सूत्र के पाँचवें भाग का तात्पर्य यह है कि श्रावक के द्वारा स्वीकृत क्षेत्र-सीमा (मर्यादा) के अन्दर रहने वाले जो स्थावर प्राणी हैं, वे मरकर जब उसी क्षेत्र (देश) में रहने वाले स्थावर जीवों में उत्पन्न होते हैं, तब उन्हें अनर्थदण्ड देना श्रावक वर्जित करता है, अर्थात् उन्हें अनर्थदण्ड नहीं देता। अतः श्रावक के प्रत्याख्यान को निर्विषय कहना अन्याय है।

(६) इस सूत्र के छठे भाग का तात्पर्य यह है कि श्रावक के द्वारा निर्धारित क्षेत्र-मर्यादा से बाहर रहने वाले जो स्थावर प्राणी हैं, वे जब उस मर्यादा के अन्दर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहने वाले त्रस और स्थावर प्राणियों में उत्पन्न होते हैं, तब उनमें श्रावक का सुप्रत्याख्यान होता है, क्योंकि त्रस जीवों की हिंसा का और स्थावर जीवों की अनर्थक हिंसा का वह त्यागी होता है। इसलिए भी उसका प्रत्याख्यान निर्विषय नहीं माना जा सकता।

(७) इस सूत्र के सातवें भाग का आशय यह है कि श्रावक के द्वारा गृहीत क्षेत्र-मर्यादा से बाहर रहने वाले त्रस और स्थावर प्राणी जब उसी मर्यादा के अन्दर रहने वाले त्रस प्राणियों में उत्पन्न होते हैं तब उनमें श्रावक का प्रत्याख्यान सार्थक होता है, क्योंकि उसने जीवनपर्यन्त त्रसहिंसा का प्रत्याख्यान किया है। इसलिए उसे निर्विषय कहना अन्याययुक्त है।

(८) इस सूत्र के आठवें भाग का भाव यह है कि श्रावक के द्वारा ग्रहण की हुई क्षेत्र-सीमा से बाहर रहने वाले त्रस और स्थावर प्राणी, जब मर्यादित क्षेत्र के अन्दर रहने वाले स्थावर प्राणियों में उत्पन्न होते हैं, तब वह उन्हें अनर्थदण्ड नहीं देता, क्योंकि उसके स्थावर जीवों को अनर्थदण्ड देने का त्याग है। इसलिए उसके प्रत्याख्यान को निर्विषय न्यायसंगत नहीं है।

(९) इसके पश्चात् सूत्र के नौवें भाग का निष्कर्ष यह है कि श्रावक के द्वारा निश्चित की हुई क्षेत्र-मर्यादा से बाहर रहने वाले त्रस और स्थावर प्राणी जब मर्यादा से बाह्य देश में ही त्रस और स्थावर रूप में उत्पन्न होते हैं, तब उनमें श्रावक का सुप्रत्याख्यान होता है, क्योंकि त्रसवध को सर्वथा और स्थावरवध को निरर्थक रूप में करने का उसके प्रत्याख्यान होता है।

इस सूत्र में जहाँ-जहाँ त्रस प्राणियों का उल्लेख है, वहाँ-वहाँ सर्वत्र व्रत ग्रहण के समय से लेकर मरणपर्यन्त उन प्राणियों को श्रावक दण्ड नहीं देता, यह आशय जानना चाहिए। जहाँ स्थावर पद का उल्लेख है, वहाँ श्रावक के द्वारा उन्हें अनर्थ-दण्ड देना वर्जित करना समझना चाहिए।

इस प्रकार अनेक दृष्टान्तों के द्वारा श्रावक के प्रत्याख्यान को सविषयक सिद्ध करने के लिए अब भगवान् गौतम स्वामी उदक निर्ग्रन्थ के प्रश्न को ही सर्वथा असंगत बताते हुए कहते हैं—हे उदक निर्ग्रन्थ! अनन्त अतीत काल में ऐसा कभी नहीं हुआ, तथा अनागत अनन्तकाल में ऐसा कभी नहीं होगा, एवं वर्तमानकाल में ऐसा नहीं हो सकता है कि सभी त्रस प्राणी सर्वथा उच्छिन्न हो जाएँ और सभी स्थावर शरीर में जन्म ग्रहण कर लें, तथा ऐसा भी न हुआ, न होगा, और न है कि सभी स्थावर प्राणी सर्वथा उच्छिन्न हो जाएँ और सभी त्रसयोनि में जन्म ग्रहण कर लें। यद्यपि कभी त्रस प्राणी स्थावर होते है और स्थावर प्राणी कभी त्रस होते हैं, इस प्रकार इनका परस्पर संक्रमण अवश्य होता है परन्तु सब के सब त्रस स्थावर हो जाएँ या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सभी स्थावर एक ही काल में त्रस हो जायँ, ऐसा कभी नहीं होता। ऐसा त्रिकाल में भी सम्भव नहीं है कि एक प्रत्याख्यान करने वाले श्रावक को छोड़कर बाकी के नारक, देव, मनुष्य तथा द्वीन्द्रियादि तिर्यञ्च का सर्वथा अभाव हो जाए। प्रत्याख्यानी श्रावक का प्रत्याख्यान तभी निर्विषय हो सकता है, यदि प्रत्याख्यानी श्रावक के जीवन-काल में ही सभी नारक आदि त्रस प्राणी उच्छिन्न हो जाएँ। मगर पूर्वोक्त रीति से यह बात सम्भव नहीं है। तथा स्थावर प्राणी अनन्त हैं, और अनन्त स्थावर प्राणियों का असंख्यात त्रस प्राणियों में उत्पन्न होना सम्भव नहीं है, यह बात अति प्रसिद्ध है। इस प्रकार जब कि त्रस और स्थावर प्राणी सर्वथा उच्छिन्न नहीं होते, तब आप या दूसरे लोगों का यह कहना कि 'इस जगत में ऐसा एक भी पर्याय नहीं है, जिनमें श्रावक का एक भी त्रस के विषय में दण्ड देना वर्जित किया जा सके,' सर्वथा युक्तिविरुद्ध है, न्यायसंगत नहीं है।

मूल पाठ

भगवं च णं उदाहु आउसंतो उदगा ! जे खलु समणं वा माहणं वा परिभासेइ मित्ति मन्नंति आगमित्ता णाणं, आगमित्ता दंसणं, आगमित्ता चारित्तं, पावाणं कम्माणं अकरणयाए से खलु परलोगपलिमंथत्ताए चिट्ठइ, जे खलु समणं वा माहणं वा णो परिभासइ मित्ति मन्नंति, आगमित्ता णाणं, आगमित्ता दंसणं, आगमित्ता चारित्तं पावाणं कम्माणं अकरणयाए से खलु परलोगविसुद्धीए चिट्ठइ। तए णं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं अणाढायमाणे जामेव दिसिं पाउब्भूए, तामेव दिसिं पहारेत्थ गमणाए।

भगवं च णं उदाहु—आउसंतो उदगा ! जे खलु तहाभूतस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा निसम्म अप्पणो चेव सुहुमाए पडिलेहाए अणुत्तरं जोगखेमपयं लंभिए समाणे सो वि ताव तं आढाइ परिजाणेइ, वंदइ नमंसइ सक्कारेइ संमाणेइ जाव कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासइ।

तए णं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी—एएसिं णं भंते ! पदाणं पुव्वि अन्नाणयाए असवणयाए अबोहिए अणभिगमेणं अदिट्ठाणं असुयाणं अमुयाणं अविन्नायाणं अव्वोगडाणं अणिगूढाणं अविच्छिन्नाणं अणिसिट्ठाणं अणिब्बूढाणं अणुवहारियाणं एयमट्ठ णो सद्दहियं, णो पत्तियं, णो रोइयं। एएसिं णं भंते! पदाणं एण्हिं जाणयाए सवणयाए बोहिए जाव उवाहरणयाए, एयमट्ठं सद्दहामि पत्तियामि, रोएमि, एवमेव से जहेयं तुब्भे वयह।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तए णं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी—सद्दहाहि णं अज्जो! पत्तियाहि णं अज्जो ! रोएहि णं अज्जो ! एवमेयं जहा णं अम्हे वयामो। तए णं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी—'इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अंतिए चाउज्जामो धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।

तए णं से भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं गहाय जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तए णं से उदए पेढालपुत्ते समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करित्ता वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए। तए णं समणे भगवं महावीरे उदयं एवं वयासी—अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेहि।

तए णं से उदए पेढालपुत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ त्ति बेमि ॥सू० ८१॥

संस्कृत छाया

भगवांश्च उदाह—आयुष्मन् उदक ! यः खलु श्रमणं वा माहनं वा परिभाषते मैत्रीं मन्यमानः आगम्य ज्ञानम् आगम्य दर्शनम् आगम्य चारित्रम् पापानां कर्मणामकरणाय स खलु परलोक परिमन्थाय तिष्ठति। यः खलु श्रमणं वा माहनं वा न परिभाषते, मैत्रीं मन्यमानः आगम्य ज्ञानं, आगम्य दर्शनं, आगम्य चारित्रं पापानां कर्मणामकरणाय स खलु परलोकविशुद्धया तिष्ठति। ततः खलु स उदकः पेढालपुत्रः भगवन्तं गौतममनाद्रियमाणः यस्या एव दिशः प्रादुर्भूतः, तामेव दिशं प्रधारितवान् गमनाय।

भगवांश्च खलु उदाह—आयुष्मन् उदक ! यः खलु तथाभूतस्य श्रमणस्य वा माहनस्य वाऽन्तिके एकमपि आर्यं धार्मिकं सुवचनं श्रुत्वा निशम्य आत्मनश्चैव सूक्ष्मया प्रत्युपेक्ष्य अनुत्तरं योगक्षेमपदं लम्भितः सन् सोऽपि तावत् तमाद्रियते, परिजानाति, वन्दते, नमस्करोति, सत्करोति, सम्मन्यते यावत् कल्याणं मंगलं दैवतं चैत्यं पर्युपासते।

ततः खलु स उदकः पेढालपुत्रः भगवन्तं गौतममेवमवादीत्—एतेषां भदन्त ! पदानां पूर्वमज्ञानाद् अश्रवणतयाऽबोध्याऽनभिगमेन अदृष्टानामश्रुतानामस्मृतानामविज्ञातानाम निर्गूढानामविच्छिन्नानामनिसृष्टा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नामनिर्व्यूढानामनुपधारितानामेषोऽर्थो न श्रद्धितः, न प्रतीतः, न रोचितः, एतेषां खलु भदन्त ! पदानामिदानीं ज्ञाततया श्रवणतया, बोध्या, यावदुपधारणतया एतमर्थं श्रद्धामि, प्रत्येमि,रोचयामि एवमेव तद्यथा यूयं वदथ।

ततः खलु भगवान् गौतमः, उदकं पेढालपुत्रमेवमवादीत्—श्रद्धत्स्व आर्य ! प्रतीहि खलु आर्य। रोचय खलु आर्य ! एवमेतद् यथा खलु वयं वदामः। ततः स उदकः पेढालपुत्रः भगवन्तं गौतममेवमवादीत्—इच्छामि भदन्त ! युष्माकमन्तिके चातुर्यामाद्धर्मात् पंचमहाव्रतिकं सप्रतिक्रमणं धर्ममुपसम्पद्य विहर्तुम्।

ततः खलु भगवान् गौतमः उदकं पेढालपुत्रं गृहीत्वा यत्रैव श्रमणो भगवान् महावीरस्तत्रैव उपागच्छति। उपागत्य ततः खलु स उदकः पेढालपुत्रः श्रमणं भगवन्तं महावीरं त्रिःकृत्वः आदक्षिणं प्रदक्षिणां कृत्वा वन्दते, नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य एवमवादीत्—इच्छामि भदन्त ! तवान्तिके चातुर्यामाद्धर्मात् पञ्चमहाव्रतिकं सप्रतिक्रमणं धर्ममुपसम्पद्य खलु विहर्तुम्। ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरः उदकमेवमवादीत्—यथासुखं देवानुप्रिय ! मा प्रतिबन्धं कुरु। ततः खलु स उदकः पेढालपुत्रः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अन्तिके चातुर्यामाद् धर्मात् पञ्चमहाव्रतिकं सप्रतिक्रमणं धर्ममुपसम्पद्य खलु विहरतीति ब्रवीमि ॥ सू० ८१ ॥

अन्वयार्थ

(**भगवं च णं उदाहु**) भगवान् गौतम स्वामी ने कहा—(**आउसंतो उदगा**) आयुष्मन् उदक ! (**जे खलु समणं वा माहणं वा परिभासेइ**) जो व्यक्ति श्रमण अथवा माहन की निन्दा करता है, (**से खलु मित्तिं मन्नन्ति**) वह साधुओं के प्रति मैत्री रखता हुआ भी (**आगमित्ता णाणं, आगमित्ता दंसणं, आगमित्ता चारित्तं**) ज्ञान को पाकर भी, दर्शन को प्राप्त करके एवं चारित्र को प्राप्त करके भी, (**पावाणं कम्माणं अकरणयाए, से खलु परलोगपलिमंथत्ताए चिट्ठइ**) पाप कर्मों को न करने के लिए प्रयत्नशील होने पर भी अपने परलोक का विनाश (विघात) करता है। (**जे खलु समणं वा माहणं वा णो परिभासइ मित्तिं मन्नन्ति**) जो व्यक्ति श्रमण या माहन की निन्दा नहीं करता है, अपितु उसके साथ मैत्री रखता है, तथा (**आगमित्ता णाणं आगमित्ता दंसणं आगमित्ता चारित्तं कम्माणं अकरणयाए**) ज्ञान, दर्शन और चारित्र को प्राप्त करके पापकर्मों को न करने के लिए उद्यत है। (**से खलु परलोगविसुद्धीए चिट्ठइ**) वह पुरुष निश्चय ही परलोक की विशुद्धि के लिए डटा हुआ है। (**तए णं से उदए पेढालपुत्ते**) उसके बाद उस उदकपेढालपुत्र निर्ग्रन्थ ने (**भगवं गोयमं**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अणाढायमाणे जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पहारेत्थ गमणाए) भगवान् श्री गौतम स्वामी को आदर नहीं देते हुए जिस दिशा आया था, उसी दिशा में जाने के लिए निश्चय किया।

(भगवं च णं उदाहु) भगवान् गौतम ने उससे कहा—**(आउसंतो उदगा)** आयुष्मन् उदक! **(जे खलु तहाभूतस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा निसम्म अप्पणो चेव सुहुमाए पडिलेहाए अणुत्तरं जोगखेमपयं लंभिए समाणे)** जो पुरुष श्रमण या माहन से एक भी आर्य धार्मिक सुवचन को सुनकर एवं समझकर उसके पश्चात् अपनी सूक्ष्मबुद्धि से यह विचार कर कि इन्होंने मुझे सर्वोत्तम कल्याणकारी योगक्षेम पद को प्राप्त कराया है, **(सो वि ताव तं आढाइ परिजाणेइ, वंदइ नमंसइ सक्कारेइ सम्माणेइ जाव कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासइ)** अतः वह उन्हें आदर देता है, अपना उपकारी मानता है, उन्हें वन्दन-नमस्कार करता है, सत्कार-सम्मान करता है, उन्हें कल्याणरूप, मंगलरूप, देवरूप एवं सम्यग्ज्ञान (चैतन्य) रूप मानकर उनकी पर्युपासना करता है।

(तए णं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी) इसके पश्चात् उदक पेढालपुत्र निर्ग्रन्थ ने भगवान् श्री गौतम स्वामी से यों कहा—**(भंते ! पुव्विं एएसिं णं पदाणं अन्नाणयाए असवणयाए अबोहिए)** हे भदन्त ! मैंने इन पदों को कभी नहीं जाना था, न कभी सुना था, और न ही समझा था, **(अणभिगमेणं अदिट्ठाणं असुयाणं अमुयाणं अविन्नायाणं अव्वोगडाणं अणिगूढाणं अविच्छिन्नाणं अणिसिट्ठाणं अणिबूढाणं अणुवहारियाणं)** मैंने इन्हें हृदयंगम नहीं किए, न इन्हें कभी देखे हैं, न कभी सुने हैं, सचमुच ये पद मेरे द्वारा अभी तक अज्ञात थे, स्मरण नहीं किये हुए थे, न ही गुरुमुख इन्हें प्राप्त किया था, ये पद मेरे लिए गूढ़ थे, मेरे द्वारा ये पद निःसंशय रूप से भी ज्ञात या निर्धारित न थे, इनका निर्वाह मैंने नहीं किया, इनका बुद्धि में निर्धारण मैंने नहीं किया, **(एयमट्ठं णो सद्दहियं णो पत्तियं णो रोइयं)** इन पदों में निहित बात पर मैंने श्रद्धा नहीं की, न प्रतीति (विश्वास) की और न ही रुचि की, **(एएसिं णं भंते पदाणं एण्हिं जाणयाए सवणयाए बोहिए जाव उवहारणयाए)** भन्ते ! मैंने इन पदों को अभी जाना है, अभी सुना है, अभी समझा है, यहाँ तक कि अभी ही मैंने इनमें निहित बात का निश्चय किया है। इसलिए **(एयमट्ठं सद्दहामि पत्तियामि रोएमि एवमेव से जहेयं तुब्भे वयह)** अतः अब इन पदों में निहित बात पर श्रद्धा करता हूँ, विश्वास करता हूँ, इन पर रुचि करता हूँ, यह बात वैसी ही है, जैसी आप कहते हैं।

(तए णं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी) यह सुनने पश्चात् भगवान् गौतम उदकपेढालपुत्र से यों कहने लगे—**(अज्जो ! जहा णं अम्हे वयामो सद्दहाहि**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अज्जो पत्तियाहि, अज्जो रोएहि णं) हे आर्य! जैसा हम कहते हैं, उस पर उसी प्रकार श्रद्धा करो, हे आर्य ! वैसी ही प्रतीति करो, आर्य ! वैसी ही इनमें रुचि रखो। **(तए णं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी)** उसके बाद उदक पेढालपुत्र ने भगवान् गौतम से इस प्रकार कहा—**भन्ते! तुब्भं अंतिए चाउज्जामो धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए इच्छामि**) भन्ते ! मैं आपके पास चातुर्याम धर्म को छोड़कर प्रतिक्रमणसहित पंच महाव्रतों से युक्त धर्म का स्वीकार करके विचरना चाहता हूँ।

(तए णं से भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं गहाय जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ) इसके बाद भगवान् गौतम उदकपेढालपुत्र को लेकर जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ पहुँचे। **(उवागच्छइत्ता तए णं उदए पुढालपुत्ते समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करित्ता वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी)**—भगवान् महावीर के पास पहुँचकर पेढालपुत्र निर्ग्रन्थ ने श्रमण महावीर की तीन बार दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा की, यह करके फिर वन्दना की, नमस्कार किया, वन्दन-नमस्कार के पश्चात् उदक ने भगवान् से इस प्रकार कहा—**(भंते ! तुब्भ अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सप्पडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए इच्छामि)** हे भगवन् ! मैं आपके समक्ष चातुर्याम धर्म का त्याग कर प्रतिक्रमण सहित पंच महाव्रत वाले धर्म का स्वीकार करके विचरण करना चाहता हूँ। **(तए णं समणे भगवं महावीरे उदयं एवं वयासी)** उसके पश्चात् उदक निर्ग्रन्थ से श्रमण भगवान् महावीर ने इस प्रकार कहा—**(अहासुहं देवाणुप्पिया मा पडिबंधं करेहि)** हे देवानुप्रिय उदक ! जैसा तुम्हें सुख हो वैसा करो, किन्तु शुभकार्य में रुकावट मत डालो, ढील न करो।

(तए णं से उदए पेढालपुत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपिडक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ) इसके पश्चात् वह उदकपेढालपुत्र निर्ग्रन्थ चातुर्याम धर्म को छोड़कर श्रमण भगवान् महावीर से प्रतिक्रमण सहित पंचमहाव्रतरूप धर्म का स्वीकार करके विचरण करने लगे। **(त्ति बेमि)** इस प्रकार मैं कहता हूँ।

व्याख्या

उदक निर्ग्रन्थ का जीवन-परिवर्तन

इस अध्ययन के प्रस्तुत अन्तिम सूत्र में शास्त्रकार ने उदक निर्ग्रन्थ के जीवन में उतार-चढ़ाव और अन्त में परिवर्तन की घटना अंकित की है। श्री गौतम स्वामी ने पूर्वसूत्रों में उदक निर्ग्रन्थ की विवादास्पद शंका का विविध दृष्टान्तों द्वारा समाधान किया था, अतः इस सूत्र में समुच्चय रूप में वस्तुस्वरूप बताने की दृष्टि से वे कहते हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आयुष्मन् उदक ! जो साधक वैसे तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त करके कर्मक्षय करने में अहर्निश प्रवृत्त है, तथा पापकर्मों को न करने में संलग्न है, सुविहित साधुओं के साथ औपचारिकरूप से मैत्री रखता है, किन्तु अपनी क्षुद्र एवं अभिमानी प्रकृति के कारण पण्डित न होने पर भी अपने आपको पण्डित मानने वाला, वह साधक यदि शास्त्रोक्त आचार का परिपालन करने वाले उत्तम विचारक श्रमणों या उत्तम ब्रह्मचर्य से युक्त माहनों की निन्दा करता है, उन पर झूठे आक्षेप लगाकर उन्हें बदनाम करता है, लोगों की नजरों में उन्हें गिराना चाहता है, तो वह सुगतिस्वरूप परलोक तथा उसके कारणस्वरूप सुसंयम का अवश्य ही विनाश कर डालता है। इसके विपरीत जो साधक सुचारित्रवान् साधुओं के साथ हार्दिक मैत्री रखता है सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की सम्यक् आराधना करके कर्मों को विनष्ट करने में अहर्निश प्रवृत्त है, वह महासत्त्वसम्पन्न, उदारहृदय तथा समुद्र के समान गम्भीर साधक तथारूप उत्तम श्रमणों तथा माहनों की निन्दा नहीं करता, उन्हें बदनाम करने तथा लोगों की दृष्टि में उन्हें नीचा दिखाने का प्रयत्न नहीं करता, वह साधक पर-निन्दा के त्याग के कारण परलोक की विशुद्धि यानी अपने अशुभ कर्मों का क्षय करने में समर्थ होता है।

श्री गौतम स्वामी के द्वारा इस प्रकार परनिन्दा का, विशेषरूप से चारित्रसम्पन्न साधुओं की निन्दा या आक्षेप द्वारा बदनाम करने का त्याग और यथार्थ वस्तुस्वरूप का कथन उदक निर्ग्रन्थ की आँखें खोलने वाला था। स्वाभिमानी उदक निर्ग्रन्थ ने इसे अपने प्रति श्री गौतमस्वामी का व्यंग्यात्मक या आक्षेपात्मक कथन समझा, इसे सुनते ही उदक निर्ग्रन्थ के कान खड़े हो गये और उनकी बात की उपेक्षा करके वह जहाँ से आया था वहीं वापस लौटने के लिए उतावला हो गया। किन्तु महाज्ञानी एवं आकृति मनोविज्ञान में दक्ष श्री गौतम स्वामी ने उदक निर्ग्रन्थ की चेष्टाओं एवं मनोभावों को जानकर उदक से धर्मस्नेहपूर्वक कहा—आयुष्मन् उदक ! मेरी एक हितकर बात सुन लो, फिर तुम्हें जो कुछ करना हो सो करना। बात यह है कि श्रेष्ठ पुरुषों का यह परम्परागत आचार रहा है कि जो व्यक्ति किसी भी तथारूप सुचारित्र श्रमण या माहन से एक भी आर्य (संसारसागर से पार उतारने वाला), धार्मिक एवं परिणाम में हितकर सुवचन सुनकर उसे हृदयंगम करता है, और अपनी सूक्ष्म विश्लेषणकारिणी प्रज्ञा से उस पर चिन्तन करके जब अपने दिल-दिमाग में यह तौल लेता है कि मुझे इस परम हितैषी पुरुष ने सर्वोत्तम कल्याणकारी योगक्षेम रूप पद को उपलब्ध कराया है, तो उस योगक्षेम पद के उपदेशक के प्रति कृतज्ञ होकर उनका उपकार मानता है। जो वस्तु प्राप्त नहीं हैं, उसे प्राप्त करने के उपाय को 'योग' कहते हैं और जो प्राप्त है, उसकी रक्षा के उपाय को 'क्षेम' कहते हैं। जिसके द्वारा 'योग' और 'क्षेम' होते हों, उस पद को योगक्षेमरूप पद कहते हैं।

श्री गौतम स्वामी द्वारा इस योगक्षेमरूप पद को प्राप्त करने का माहात्म्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बताने का आशय यह है—वह योगक्षेमरूप पद आर्य-अनुष्ठान का हेतु होने से 'आर्य' है, अथवा मोक्ष में पहुँचाने वाला होने से 'आर्य' है, वह धर्माचरण का कारण है, इसलिए धार्मिक है, तथा वह सुगति का कारण होने से सुवचन है अथवा आज तक रत्नत्रय के सम्बन्ध में जो ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ था उसकी प्राप्ति का कारण होने से वह योग रूप है, तथा जो कुछ भी आज तक साधना के द्वारा प्राप्त किया है, उसकी रक्षा का कारण होने से क्षेमरूप भी है। अतः ऐसे योगक्षेमरूप पद को सुन-समझकर जब साधक अपनी पैनी बुद्धि से हृदय में यह विचार करता है तो उसे यह प्रतीत होने लगता है कि 'इस श्रमण या माहन ने मुझे परम कल्याणकारी योगक्षेमरूप पद का उपदेश दिया है,' वह साधक उक्त उपदेशदाता या योगक्षेमकर पद को उपलब्ध कराने वाले का आदर करता है, उसे हृदय से वन्दन-नमस्कार करता है, वह उसका सत्कार-सम्मान करता है, यहाँ तक कि वह उसे कल्याणरूप, मंगलरूप मानकर देवता की तरह अपने हृदय में बिठा लेता है। उसे ज्ञानस्वरूप एवं पूज्य मानकर उसकी उपासना करता है। यद्यपि वह पूज्यनीय पुरुष बदले में कुछ भी नहीं चाहता, तथापि कृतज्ञ साधक का यह कर्तव्य है कि वह उस परमोपकारी पुरुष को यथाशक्ति आदर दे।

सरल हृदय उदक निर्ग्रन्थ ने जब यह सुना तो उसके मन-मस्तिष्क के बन्द द्वार खुल गए, उसके कानों की खिड़कियाँ खुल गईं, उसके हृदय में श्री गौतमस्वामी के प्रति भावोर्मियाँ उछलने लगीं। मन ही मन गौतम स्वामी की महानता की सराहना करते हुए उदक निर्ग्रन्थ ने कहा—भगवन्! सचमुच आपने जो परमकल्याणकर योग-क्षेमरूप पद कहे, उन्हें मैंने पहले कभी जाना नहीं था, न ही इन्हें सुना और समझा था, न ही इन पदों को मैंने हृदय में धारण किया था। वस्तुतः ये पद मैंने पहले कभी देखे, सुने, जाने या स्मरण किये नहीं थे। गुरुमुख से भी मैंने पहले इन्हें प्राप्त नहीं किये थे, ये पद मेरे लिए आज तक गूढ़ ही रहे, मैं इन्हें संशयरहित नहीं जान सका, मैंने इन्हें अपने लिए श्रेयस्कर नहीं माने, न इनका निर्वाह किया था, न कभी हृदय से इनके बारे में निश्चय ही किया था। इसीलिए इन पदों के प्रति आज तक मैंने श्रद्धा, प्रतीति और रुचि नहीं की। मैं कितना भुलावे में रहा। भगवन्! अब मैंने इन पदों को आपसे जाना है, समझा है, हृदय में धारण किया है, तथा मन-मस्तिष्क में इन्हें बिठाया है, इनकी योगक्षेमकारकता का निश्चय कर लिया है, इसलिए अब मैं आपसे इन पदों को जान-सुनकर तथा भली-भांति समझकर हृदय में धारण करके इन पर श्रद्धा करता हूँ, इन पर प्रतीति करता हूँ तथा इनमें अब मेरी रुचि बढ़ गई है।

सरल सरस हृदय उदक निर्ग्रन्थ के शुद्ध हृदय से निकले हुए उद्गारों को सुन कर तथा हृदय परिवर्तन जानकर श्री गौतम स्वामी भी अत्यन्त प्रभावित हुए और उन्होंने कहा—हे आर्य! जो मैंने कही हैं, ये मनगढंत बातें नहीं हैं, वे सर्वज्ञों के वचन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। उन पर श्रद्धा करो, उनके प्रति प्रतीति रखो और उनमें अपनी दिलचस्पी रखो। हमने जो कुछ कहा है, वह आप्तवचन होने से तथ्य-सत्यरूप है।

उदक निर्ग्रन्थ ने अपने हृदय-परिवर्तन को कार्यान्वित करने की दृष्टि से श्री गौतम स्वामी से कहा—"भगवन् ! अब तो यही इच्छा होती है कि मैं आपका अभिन्न बन जाऊँ। किसी प्रकार की आचार-विचार सम्बन्धी भिन्नता न रखूँ। इसके लिए यही उचित है कि मैं अपनी चातुर्याम धर्म-परम्परा छोड़कर भगवान् महावीर की परम्परा में समाविष्ट प्रतिक्रमण सहित पंचमहाव्रतरूप धर्म को स्वीकार कर लूँ।"

भगवान् महावीर की परम्परा में अपनी परम्परा के विलीनीकरण की बात सुनकर गौतम स्वामी मन ही मन उदक निर्ग्रन्थ की सरलता से अत्यन्त प्रभावित हुए। उन्होंने जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहीं उदक निर्ग्रन्थ को ले जाना उचित समझा। अतः वे उदक निर्ग्रन्थ को भगवान् महावीर के पास ले गए। वहाँ पहुँचते ही उदक ने भ० महावीर से प्रभावित होकर स्वेच्छा से अपनी जीवन-संशुद्धि करने का फैसला कर लिया। उदक ने भ० महावीर की तीन बार प्रदक्षिणा देकर वन्दना की, नमस्कार किया और तब स्वयं कहा—"भगवन् ! अब मैं चाहता हूँ कि अपनी भूतपूर्व चातुर्याम परम्परा को छोड़कर आपकी सप्रतिक्रमण पंचमहाव्रत-परम्परा का आपसे स्वीकार करके विचरण करूँ।" भगवान् महावीर ने तटस्थभाव से फरमाया—"आयुष्मन् ! तुम्हें जैसा सुख हो, वैसा करो, किन्तु इस कार्य में प्रतिबन्ध न करो।"

परम्परा-परिवर्तन में उद्यत उदक निर्ग्रन्थ ने भगवान् की सहमति पाकर उनके समक्ष अपनी चातुर्याम-परम्परा का विसर्जन कर दिया और उनसे प्रतिक्रमणसहित पंचमहाव्रतरूप-परम्परा अंगीकार की।

यह है, अथ से इति तक उदक निर्ग्रन्थ के हृदय-परिवर्तन की कहानी ! जिससे नालन्दीय अध्ययन का सारा चित्रण समझ में आ जाता है।

सूत्रकृतांगसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध का सप्तम नालन्दीय अध्ययन अमरसुखबोधिनी व्याख्या सहित सम्पूर्ण हुआ।

॥ सूत्रकृतांग सूत्र का द्वितीय श्रुतस्कन्ध समाप्त ॥

॥ सूत्रकृतांगसूत्र सम्पूर्ण ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान महावीर ने कहा है

सच्चं मि धिइं कुव्वहा

सत्य में स्थिर रहो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्रकृतांग

व्याख्याकार-
मुनि श्री हेमचन्द्र जी
सम्पादक-
श्री अमर मुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org